M.A. G.E./M. Sc. G.E.-07

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

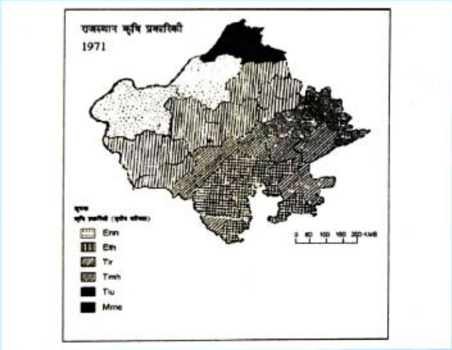

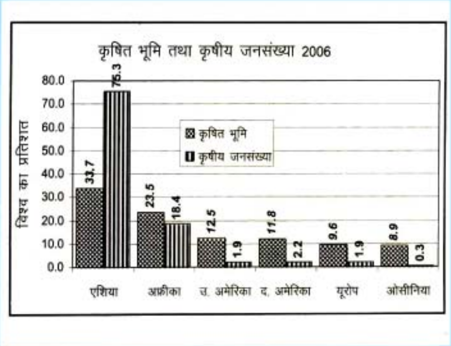

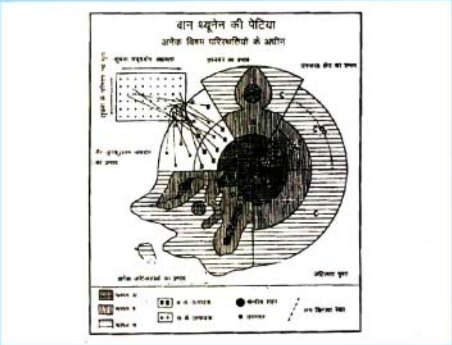

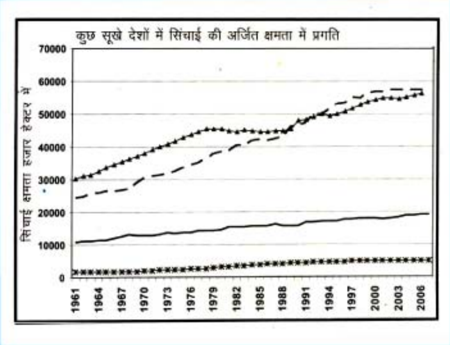

कृषि भूगोल

M.A./M.Sc. G.E.-07

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

कृषि भूगोल

पाठ्यक्रम अभिकल्प समिति

अध्यक्ष

प्रो. (डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

संयोजक/समन्वयक

समन्वयक / सलाहकार
प्रोफेसर (डॉ.)एस.सी. कलवार
पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर(राज.)

प्रभारी विज्ञान कार्यक्रम
डॉ. अशोक शर्मा
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

सदस्य

1. **प्रोफेसर एच.एस. शर्मा**
अधिष्ठाता विज्ञान संकाय
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर(राज.)

2. **प्रोफेसर सन्तोष शुक्ला**
डीन, अप्लाइड साइंसेज एवं निदेशक, जनसंख्या शोध केन्द्र एवं विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग
एच.एस. गौड़ केन्द्रीय विश्वविद्यालय,सागर
(मध्य प्रदेश)

3. **प्रोफेसर सूर्यकान्त**
विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ (पंजाब)

4. **प्रोफेसर (डॉ.) एन.एल. गुप्ता**
पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग
मोहनलाल सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर(राज.)

5. **प्रोफेसर के.एस. सोहल**
विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग
पंजाबी विश्वविद्यालय, पटियाला (पंजाब)

सम्पादन तथा पाठ लेखन

सम्पादक
प्रोफेसर (डॉ.)एस.सी. कलवार
पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,भूगोल विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,जयपुर (राज.)

लेखक

1. **प्रोफसर श्री कमल शर्मा**
इमेरिटस फ़ेलो एवं पूर्व,विभागाध्यक्ष,
भूगोल विभाग
पूर्व निदेशक जनसंख्या शोध केन्द्र
एच.एस.गौड़ विश्वविद्यालय,
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय,)सागर (म.प्र.)

2. **डॉ. सी.के. जैन**
एसोसिएट प्रोफेसर, भूगोल विभाग
एच.एस.गौड़ विश्वविद्यालय,
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय,)सागर (म.प्र.)

3. **प्रोफेसर नूर मोहम्मद**
पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,भूगोल विभाग
देलही स्कूल ऑफ इकोनॉमिक्स
दिल्ली विश्वविद्यालय , दिल्ली

4. **प्रोफेसर एल.सी. खत्री**
भूगोल विभाग
एम.एल.सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

5. **डॉ. एन.के. जेतवाल**
विभागाध्यक्ष, भूगोल विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बून्दी

6. **प्रोफेसर (डॉ.)एस.सी. कलवार**
पूर्व प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष,भूगोल विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,जयपुर (राज.)

7. **प्रोफेसर (श्रीमती) साधना कोठारी**
भूगोल विभाग
एम.एल.सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

8. **डॉ. एम.ज़ेड.ए. खान**
वरिष्ठ व्याख्याता, भूगोल विभाग
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, कोटा

9. **डॉ. सूबेसिंह यादव**
मुख्य प्रबन्धक, बैंक ऑफ बड़ौदा
लखनऊ (उत्तर प्रदेश)

10. **डॉ. रामकुमार गुर्जर**
असिस्टेंट प्रोफेसर, भूगोल विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,जयपुर (राज.)

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो.(डॉ.) नरेश दाधीच
कुलपति
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा

प्रो. (डॉ.) एम.के. घड़ोलिया
निदेशक
संकाय विभाग

योगेन्द्र गोयल
प्रभारी
पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल
सहायक उत्पादन अधिकारी,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा(राज.)

उत्पादन-पुनः मुद्रण : अक्टूबर, 2012 ISBN NO- 13/978-81-8496-208-6

इस पाठ्यक्रम का कोई भी अंश को वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा की लिखित अनुमति प्राप्त किये बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
निदेशक (अकादमिक) द्वारा वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

M.A./M.Sc. GE-07

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

कृषि भूगोल

इकाई संख्या		इकाई	पृष्ठ संख्या
इकाई - 1	:	कृषि भूगोल : प्रकृति एवं विकास	8–36
इकाई - 2	:	कृषि का उद्भव, प्रसार एवं विकास	37–62
इकाई - 3	:	कृषि भूगोल में क्षेत्र-सर्वेक्षण एवं मानचित्र	63–77
इकाई - 4	:	कृषिय भूमि उपयोग के भौगोलिक निर्धारक : धरातल एवं जलवायु	78–115
इकाई - 5	:	मृदाएँ	116–136
इकाई - 6	:	कृषि के मानवीय अवधारक	137–167
इकाई - 7	:	कृषि भूगोल के मॉडल/प्रतिरूप	168–198
इकाई - 8	:	कृषि नवाचारों का प्रसरण	199–217
इकाई - 9	:	भूमि उपयोग एवं भूमि क्षमता वर्गीकरण	218–236
इकाई - 10	:	कृषि दक्षता/ उत्पादकता	237–256
इकाई - 11	:	कृषि मूल्यांकन प्रविधियाँ : शस्य श्रेणी, शस्य गहनता, शस्य विविधता एवं शस्य संयोजन प्रदेश	257–282
इकाई - 12	:	कृषि प्रादेशीकरण	283–321
इकाई - 13	:	कृषि प्रकारिकी	320–349
इकाई - 14	:	हरित क्रान्ति	350–371
इकाई - 15	:	भारत मे क्कृशी परिदृश्य	372–419
इकाई - 16	:	कृषि जलवायु प्रदेश : भारत एवं राजस्थान	420–443
इकाई - 17	:	भारत मे कृषि नीति	444–465

परिचयात्मक

कृषि एक ऐसा आर्थिक कार्य है जिसका विकास तो लेखन कला से पूर्व ही हो चुका था, परन्तु आज के सुपरटेक्योलोजौ के युग में भी अपरिहार्य बना हुआ है। कृषि सभी छोटे-बड़े, विकसित एवं विकासशील देशों में की जाती है । यह अन्य आर्थिक कार्यों की तुलना में अधिक सार्वभौमिक है क्योंकि कृषि खाद्य वस्तुओं का लगभग एक मात्र सोत् है । कृषि प्रधान राष्ट्रों में खाद्य असुरक्षा चिन्तनीय विषय है । इसके विपरीत विकसित राष्ट्रों में खाद्यान्नों की कमी नहीं है । सन 2004 में विश्व की 44.7 प्रतिशत जनसंख्या की जौविका कृषि पर निर्भर थी । विकासशील देशों में राष्ट्रीय आय का मुख्य स्रोत कृषि होती है जबकि अविकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था ही कृषि पर निर्भर रहने के उपरान्त भी खाद्य असुरक्षा बनी रहती है । भारत की 64.5 प्रतिशत जनसंख्या प्रत्यक्ष रूप से कृषि में संलग्न है और 2008 - 09 में घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा 17.1 प्रतिशत है ।

वर्तमान समय में जलवायु परिवर्तन, घटता जलस्तर, हरित क्रान्ति के कुप्रभावों से निजात पाने के लिए दूसरी हरित क्रान्ति की आवश्यकता, प्रति व्यक्ति खाद्यान्नों की उपलब्धता में कमी व बढ़ती जनसंख्या इत्यादि कृषि के समक्ष चुनौतियाँ है और इस सुपरटेक्योलोजौ के युग में भी कृषि अधिकांशत: भौगोलिक पर्यावरण की अनुकूलता के अनुरूप ही उत्पादित की जाती है ।

उक्त लक्ष्यों को ध्यान में रखते हुए प्रस्तुत पुस्तक की पाठ्य सामग्री को 17 इकाईयों में विभक्त किया गया है । प्रथम इकाई में कृषि भूगोल की परिभाषा व प्रकृति तथा दूसरी इकाई में विश्व में कृषि का उद्भव, प्रसार एवं विकास के बारे में बताया गया है । ढ़ापे में फील्ड सर्वेक्षण व मानचित्रण सम्बन्धी जानकारियाँ इकाई तीन में दी गई है । अगली तीन इकाइयों (4,5,6) में कृषि के भौतिक व मानवीय निर्धारकों का विस्तार से वर्णन किया गया है । इकाई सात में कृषि से सम्बन्धित माडल्स की विवेचना की गई है जबकि इकाई आठ में कृषि नवाचार प्रसरण की व्याख्या की गई है । कृषि नियोजन के लिए भूमि उपयोग / प्रयोग, भूमि क्षमता, कृषि उत्पादकता व शस्य संयोजन का प्रादेशिक प्रतिरूप ज्ञात करने की आवश्यकता होती है अत: इकाई नौ में भूमि उपयोग / प्रयोग, भूमि क्षमता का वर्गीकरण एवं इकाई दस व ग्यारह में कृषि दक्षता / उत्पादकता, शस्य संयोजन निर्धारित करने की विभिन्न विधियों का सोदाहरण विश्लेषण किया गया है । कृषि प्रादेशीकरण की प्राचीन व अर्वाचीन विधियों का विवरण इकाई बाहर व तेरह में दिया गया है । कृषि की वर्तमान स्थिति की जानकारी के लिए हरित क्रान्ति का प्रभाव व भारतीय कृषि परिदृश्य का इकाई 14 व 15 में वर्णन किया गया है जबकि कृषि नियोजन के लिए भारत व राजस्थान के कृषि जलवायु प्रदेशों का विवेचन किया गया है । अन्तिम इकाई भारतीय कृषि नीति से सम्बन्धित है ।

इस पाठ्य सामग्री को तैयार करने के लिए देश के उपलब्ध प्रतिष्ठित कृषि भूगोलवेत्ताओं का सहयोग लेकर सरल भाषा में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । आशा है यह पुस्तक वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय ही नहीं बल्कि देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के एम. ए. व एम फिल के विद्यार्थियों के साथ -साथ राज्य व राष्ट्रीय स्तर की प्रतियोगिता परीक्षाओं के लिए उपयोगी सिद्ध होगी ।

इकाई 1: कृषि भूगोल: प्रकृति एवं विकास (Agriculture Geography: Nature and Development)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 कृषि भूगोल की परिभाषाएँ
1.3 कृषि भूगोल का महत्व
1.4 कृषि भूगोल की प्रकृति
 1.4.1 विषय वस्तु
 1.4.2 अध्ययन के उपागम
  1.4.2.1 क्रमबद्ध उपागम
  1.4.2.2 वस्तुपरक उपागम
  1.4.2.3 प्रादेशिक उपागम
  1.4.2.4 सेद्धान्तिक उपागम
1.5 कृषि भूगोल का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध
1.6 कृषि भूगोल का विकास
1.7 कृषि भूगोल के नियम एवं संकल्पनाएँ
 1.7.1 कृषि भूगोल के नियम
 1.7.2 प्रमुख संकल्पनाएँ
  1.7.2.1. भूमि उपयोग की संकल्पना
  1.7.2.2. कृषि भूदृश्य की संकल्पना
  1.7.2.3. कृषि के प्रादेशीकरण की संकल्पना
  1.7.2.4. कृषि के विकास की संकल्पना
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची
1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर
1.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.0 उद्देश्य(Objectives):

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे:

- कृषि भूगोल की परिभाषा,
- कृषि भूगोल का महत्व
- कृषि भूगोल की प्रकृति, विषय क्षेत्र एवं उपागम,
- कृषि भूगोल का विकास

- कृषि भूगोल का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध,
- कृषि भूगोल की संकल्पनाएं।

1.1 प्रस्तावना (Objectives):

भूगोल की अनेक शाखाएँ हैं और उन्हीं में से एक कृषि भूगोल है। कृषि भूगोल की प्रकृति को समग्र भूगोल विज्ञान की प्रकृति से ही समझा जा सकता हे। सामान्यतया पृथ्वी पर पाई जाने वाली विभिन्नताओं का क्रमबद्ध और तार्किक विश्लेषण एवं व्याख्या ही भूगोल है। विश्व में प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक तत्वों और उनमें अन्तर्क्रिया से उत्पन्न भूदृश्यों में विविधता होती है। इन्हीं विभिन्नताओं को समझने की उत्सुकता ने ही भूगोल विज्ञान को जन्म दिया है। संक्षेप में इस तरह कहा जा सकता है कि " भूगोल पृथ्वी की सतह पर वस्तुओं एवं क्रियाओं के स्थानीकरण, वितरण तथा मानव और प्रकृति के सम्बन्धों का विश्लेषण करता है जिसका उद्देश्य प्रदेशों के व्यक्तितत्त्व को स्पष्ट करना होता है।

1.2 कृषि भूगोल की परिभाषाएँ (Definition of Agriculture Geography)

कृषि भूगोल में कृषि के सभी पक्षों का भौगोलिक वातावरण के संदर्भ में, उनकी क्षेत्रीय विशेषताएँ निर्धारित करने और प्रादेशीकरण करने के दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाता है। एक पृथक शाखा के रूप में इस का विकास बीसवीं शताब्दी के आरंभ से हुआ।

एच. बर्नहार्ड (Bernhard, 1915): "कृषि भूगोल कृषि की स्थानिक विभिन्नताओं एवं उनके कारणों को स्पष्ट करता है (Agriculture Geography strives to bring light to the spatial variations in agriculture and the reasons for them).

रीड्स (Reeds, 1964): के अनुसार "विस्तृत अर्थो में कृषि भूगोल कृषि की क्षेत्रीय विभिन्नता का वर्णन एवं व्याख्या करता है। (Agriculture Geography, in its broadest sense, seeks to describe and explain areal differentiation in English)

ओट्रेम्बा (Otremba, 1964) ने भी कृषि के विभिन्न तत्वों के स्थानिक विन्यास को कृषि भूगोल के अन्वेषण का उद्देश्य माना है (Area as an object of investigation (by agricultural geography) is understandable only in the perception of the spatial arrangement of its material filling).

साइमन्स (Symons, 1968) ने लिखा है कि कृषि भूगोल मनुष्य द्वारा भूमि पर कृषि कार्यकलापों का भूगोल है। (Agricultural Geography........ as the Geography of man's husbandry of land).

कॉपाक (Coppock, 1968) ने स्पष्टत: कहा है कि "कृषि भूगोलवेत्ता विश्व में कृषि सम्बन्धी क्रियाओं के प्रतिरूप में पाई जाने वाली विभिन्नता की दशाओं का अध्ययन करते हैं। (The agricultural geographers thus study the ways in which the pattern of agricultural acitivity varies throughout the world).

ब्रूकफील्ड (Brookfield, 1962) नें तो बी.एच. फरमर का उद्धरण देते हुए इसे खेती का भूगोल कहा है जिसके अंतर्गत केवल फसलों का वितरण का ही अध्ययन नहीं होता, बल्कि कृषि से संबन्धित अनेक पहलुओं की क्षेत्रीय विभिन्नता का अध्ययन किया जाता है। कृषि भूगोल केवल वितरण तक सीमित नहीं है बल्कि भूमि स्वामित्व सरकारी नीतियों जैसे तथ्यों के प्रादेशिक वितरण से भी संबन्धित है जिनके बिना कृषि भूगोल को नहीं समझा जा सकता। (Agrarian geography is concerned not only with the distribution, but also with regional variations in such things as land tenure and government legislation without which indeed, agricultural geography, the geography of cultivation, cannot be understood).

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कृषि भूगोल कृषि–कार्यो के स्थानिक वितरण, उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा अन्य स्थानिक तत्वों से पारस्परिक क्रियाओं का विश्लेषण कर प्रादेशिक स्वरूप की व्याख्या करने वाला भौगोलिक विज्ञान है।

1.3 कृषि भूगोल का महत्व (Significance of Agricultural Geography):

कृषि भूगोल पृथ्वी तल पर स्थित उस आर्थिक क्रिया का अध्ययन करता है जो अत्यंत व्यापक एवं विविध रूप है। इसके अंतर्गत कुदाल पर आधारित जौवननिर्वाह वाली खेती से लेकर मशीनों द्वारा वैज्ञानिक विधियों का प्रयोग करके व्यापारिक उद्देश्य से कीं जाने वाली कृषि तक आती है। इतनी व्यापक और विषम अर्थ को बताने के लिए ही बुकानन (Bucanan 1959, p.1) ने 'कृषि शब्द को मिश्र शब्द (Portmanteau word) कहा है जिसका बड़ा व्यापक अर्थ है और इसके अंतर्गत मानव के प्रयोग के लिए खाद्य पदार्थ अथवा कच्चा माल उत्पन्न करने के लिए मिट्टी का उपयोग करने वाली अत्यंत साधारण से लेकर अत्यंत जटिल तक विधियाँ आती हैं। इसी तथ्य को मेकार्टी (McCarty 1966, 204) ने साधारण शब्दों में रखा है कि "सोद्देश्य फसलोत्पादन एवं पशुपालन को कृषि कहते हैं।

कृषि के इस व्यापक अर्थ को उसका अंग्रेजौ समानार्थी शब्द 'Agricultural' की व्युत्पत्ति से आंशिक रूप से समझा जा सकता है। यह शब्द लैटिन भाषा के 'एगर' (Ager - field or soil) तथा 'कल्चर' (culture, the care of the tilling) मिल कर बना है। इसका अर्थ भूमि को जोतकर फसल पैदा करना है परंतु कृषि शब्द की संकल्पना में भूमि से फसल उत्पन्न करने के साथ ही पशुपालन, सिंचाई आदि क्रियाएँ सम्मिलित हैं। साथ हो अंतर्निहित भाव यह भी है कि पौधों एवं पशुओं की उन प्रजनन प्रक्रियाओं पर भी मानव का नियंत्रण होता है, जो उनके (पौधों एवं पशुओं के) विकास में सहायक होती हैं। निश्चित रूप से कृषि का संबंध स्थायी निवासियों से है। इन तथ्यों के आधार पर कृषि की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है की 'कृषि मानव के उन उत्पादक प्रयासों को कहते हैं जिनके द्वारा वह भूमि पर बस कर ....उसके उपयोग की कोशिश करता है 'और यथा संभव पौधों एवं पशुओं के प्राकृतिक प्रजनन एवं वृद्धि की प्रक्रिया को तीव्र एवं विकसित करता हें। इन सभी कार्यो का उद्देश्य मानव के लिए आवश्यक या उसके द्वारा वांछित वानस्पतिक एवं पशु उपजें उत्पन्न करना होता है' (जिमरमन 1951 पृ. 148)।

इसी तरह के विचार जसबीर सिंह के (1974) हैं। उन्होंने कृषि की सविस्तार व्याख्या की है। उनके अनुसार 'कृषि फसलोत्पादन से अधिक व्यापक है। यह मानव द्वारा ग्रामीण पर्यावरण का रूपांतरण है जिससे कतिपय उपयोगी फसलों एवं पशुओं के लिए संभव अनुकूल दिशाएँ सुनिश्चित की जा सकें। इनकी (फसलों एवं पशुओं की) उपयोगिता सतर्क चयन से कढ़ाई जाती है। इसमें इन सभी पद्धतियों (system) को सम्मिलित किया जाता है जिनका उपयोग कृषक भूमि के विभिन्न तत्वों को विवेकपूर्ण ढंग से संगठित करने और अनुकूलतम उपयोग में करता है।'

इस प्रकार कृषि प्राकृतिक वातावरण पर आधारित है, जिनका मानव अपनी क्षमता तथा आवश्यकतानुसार विकासोन्मुख दिशा की ओर संशोधन करता है। यह उपयुक्तता जलवायु, धरातल, अपवाह, मिट्टी तथा जैविक तत्वों द्वारा निर्धारित होती है। विश्व के विभिन्न भागों में इन कारकों में समानता नहीं है जिससे विभिन्न प्रकार की कृषि मिलती हैं। प्राकृतिक वातावरण के इन तत्वों को भी इस तरह संशोधित करने की कोशिश की जाती है कि उनकी उपयोगिता बढ़ सके। ये सभी कार्य प्राकृतिक वातावरण के साथ ही कृषक की सामाजिक, आर्थिक एवं तकनीकी विकास के स्तर पर भी निर्भर होते हैं। सम्पन्न, विकासोन्मुख क्षेत्रों में तकनीकी तथा अन्य रूपों में निवेशों का अधिक उपयोग करने वाली कृषि की संरचना एवं उद्देश्य पुरातन तकनीकी तथा पूँजीरहित कृषि की संरचना एवं उद्देश्य से पूर्णत: भिन्न होता है। उदाहरणस्वरूप पश्चिमी विकसित देशों में कृषि पद्धति और तकनीकी में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए हैं तथा विज्ञान का प्रवेश उसके सभी पक्षों में हुआ है। इसके विपरीत दक्षिणपूर्वी एशिया में गहन कृषि होती है, परंतु कई शताब्दियों से कृषि–पद्धति और तकनीकी में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ और पश्चिमी देशों की तुलना में कृषि पिछड़ी हुई है। इसी तरह उष्ण कटिबंध के कई भागों में आदिम (Primitive) कृषि का स्वरूप देखने को मिलता है। यहाँ कृषि उत्पादन, उसकी अर्थव्यवस्था तथा पद्धतियाँ विश्व के अन्य भागों में नितांत भिन्न है। इस प्रकार कृषि प्राकृतिक तथा मानवीय तत्वों एवं प्रक्रियाओं के पारस्परिक प्रतिक्रियाओं (Interaction) का परिणाम है। इन तत्वों एवं प्रक्रियाओं में स्थानीय एवं क्षेत्रीय विभिन्नताओं के कारण इनका अंतर्सबंध भी विभिन्न स्थानों एवं क्षेत्रों में भिन्न – भिन्न प्रकार का होता है। इतनी विभिन्नता का प्रतिफल है कि कृषि–प्रक्रियाओं में स्थानीय तथा प्रादेशिक अंतर पाया जाता है तथा इन्हीं प्रक्रियाओं के फलस्वरूप अलग –अलग प्रकार के ग्रामीण भूदृश्यों (Rural landscape) विकसित होते हैं। इन्हीं कृषिगत विभिन्नताओं तथा उसके कारणों का विश्लेषण रण व्याख्या कृषि भूगोल का एक महत्वपूर्ण विषय है।

मानवीय आर्थिक कार्यो में कृषि कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यह एक ऐसा आर्थिक कार्य है जिसका विकास तो लेखन कला से पूर्व हुआ था, परंतु आज 'सुपर टेक्नोलोजी' के युग में भी अपरिहार्य बना हुआ है। कृषि सभी छोटे–बड़े, विकसित तथा विकासशील देशों में की जाती है अत: अन्य आर्थिक कार्यो की तुलना में यह अधिक सार्वभौमिक है क्योंकि कृषि उपभोक्ता वस्तुओं विशेषत: खाद्य वस्तुओं का लगभग एक मात्र स्रोत है। इन वस्तुओं की विकासशील तथा घने बसे देशों में सर्वाधिक माँग है तथा इनकी कमी प्रमुख समस्या है। यह उल्लेखनीय है कि इन भागों में आय का अधिकाधिक भाग भोजन और वस्त्र पर व्यय किया जाता है। ये दोनों कृषि के ही उत्पाद हैं। इतने व्यय के बाद भी इन क्षेत्रों के निवासियों का भोजन संतुलित नहीं होता है। यहाँ कृषि की प्रधानता और: खाद्य असुरक्षा विचारणीय प्रश्न है। विकासशील देशों के विपरीत विकसित देशों में खाद्य वस्तुओं की कमी नहीं होती है। यद्यपि कुछ देश आयातक हैं तो कुछ अन्य अधिक

उत्पादन के क्षेत्र हैं। इस प्रकार कृषि–उत्पादन में विकासशील और विकसित देशों का ध्रुवीकरण हुआ है।

विश्व में औद्योगीकरण और नगरीकरण में तीव्र वृद्धि होते हुए भी कृषि ही एक ऐसी आर्थिक क्रिया है जिससे सर्वाधिक क्रियाशील जनसंख्या लगी हुई है। सन् 2004 विश्व में कार्यरत जनसंख्या का 44.7 प्रतिशत भाग जौविका के लिए इस पर निर्भर हैं। विकासशील देशों में राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत कृषि होती है। उदाहरण के तौर पर सन् 2003 – 04 में भारत की कुल घरेलू उत्पाद का 22 प्रतिशत भाग कृषि से प्राय हुआ था।

कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जिसके लिए उत्पादन की प्रति इकाई के लिए अधिक भूमि की आवश्यकता होती है। इस कारण पृथ्वी के एक बड़े भाग को मानचित्र पर कृषि के अंतर्गत दिखाया जा सकता है। मानचित्र पर इस व्यवसाय के प्रादेशीकरण का चित्रण भी संभव है। आर्थिक काय के रूप में कृषि को दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है – एक, जौविका अर्जित करने के साधन के रूप में दूसरा, एक विशिष्ट प्रकार के जौवन के रूप में (way of life, बुकानन, 1959, P.1)

प्रथम रूप में कृषि एक उद्योग के रूप में है तथा कृषि प्रक्रिया से कृषक का जौवन सम्बद्ध नहीं है। परंतु दूसरे रूप में दूषक के जौवन के सभी पक्ष कृषि से जुड़े हुए हैं। दोनों प्रकार की कृषि का स्वरूप प्राकृतिक तथा मानवीय तत्वों के अंतर्सम्बंधों का ही परिणाम है, केवल अंतर इन तत्वों के सापेक्ष प्रभात को तीव्रता' तथा कृषि और कृषक जौवन के पारस्परिक सम्बन्धों की गहनता में होता है। उद्योग के रूप में कृषि का मूल उद्देश्य व्यापार होता हे। इस दृड्काण का आधुनिक रूप विशिष्ट कृषि (specialized agriculture) है जिनमें उत्पादन के आर्थिक तथा मानवीय उपादानों (पूँजी, बाजार, यातायात, वैज्ञानिक विधि एवं तकनीकी, कुशल श्रमिक तथा परिष्कृत उरकरण) का अधिक निवेश (input) और महत्व होता है। इससे उत्पादन की स्थिरता बढ़ जाती है। दूसरे प्रकार की कृषि जौवननिर्वाह का एक साधन है और जौवन की अभिव्यक्ति भी है। ऐसे कृषकों की गतिविधियाँ अर्थशास्त्र के नियमों पर आधारित नहीं होतीं। भूदृश्य (landscape) विभेदन में कृषि के दोनों रूप महत्वपूर्ण हैं जिससे इनका अध्ययन भूगोल का महत्वपूर्ण अंग बन गया है।

भोजन का स्रोत होने के साथ ही कृषि अन्य कार्यो के विकास में भी सहायक होती है। कई उद्योगों के लिए कृषि कच्चे मालों का स्रोत है जैसे सूती, ऊनी एवं जूट वस्त्रोद्योग, शक्कर उद्योग, फल सब्जियों पर आधारित उद्योग, रबर उद्योग आदि। यही कारण है कि उन क्षेत्रों में औद्योगिक विकास की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं जहाँ कृषि उन्नत होती है और उससे समुचित मात्रा में कच्चा माल प्राप्त होता है। साथ ही औद्योगिक विकास में सहायक होने के साथ ही विकसित कृषि में औद्योगिक उत्पाद निवेश के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार कृषि उन उद्योगों के विकास में भी परोक्ष रूप से सहायक होती है। इन दृष्टियों से भी कृषि का भौगोलिक अध्ययन समीचीन है।

कृषि विकास के साथ ही यातायात तथा व्यापार जैसे आर्थिक कार्य भी विकसित होते हैं। कृषि उपजों को बाजार तक लाने और कृषि के विकास के लिए आवश्यक वस्तुओं का कृषि क्षेत्रों तक पहुँचाने के लिए यातायात के साधनों की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए उत्तरी अमेरिका के प्रेयरी प्रदेश में यातायात का विस्तार कृषि–विकास से संबंध रहा है। उत्तर भारत में आवागमन के साधनों के विकास में वहाँ की अपेक्षाकृत विकसित कृषि सहायक है। स्थानीय, प्रादेशिक तथा

अंतर्राष्ट्रीय व्यापारों में कृषि उत्पादन महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। गाँवों से नगरों की मंडियों को कृषि–उत्पादन भेजा जाता है। इसी प्रकार वे वस्तुएँ, जो देश के एक भाग में उत्पन्न होती हैं, अन्य भागों में भेजौ जाती है जैसे चाय, मसाले तथा शीतोष्ण कटिबंधीय फल भारत के कुछ ही भागों में उत्पन्न किये जाते हैं, परंतु सभी भागों में वितरित किये जाते हैं। कृषि उत्पादों का अंतर्राष्ट्रीय आदान–प्रदान भी कम नहीं होता है। उत्तरी अमेरिका, अर्जेन्टाइना तथा ऑस्ट्रेलिया से गेहूँ, भारत तथा श्रीलंका से चाय, ब्राजील तथा अफ्रीका से कहवा, नारियल, मलेशिया में रबर इनके उपयुक्त उदाहरण हैं। वितरण की यह संपूर्ण जटिल व्यवस्था यातायात के साधनों के विकास पर निर्भर होती है। इस प्रकार कृषि किसी क्षेत्र के आर्थिक क्रियाकलापों को बड़ी सीमा तक प्रभावित करती है। इसलिए विभिन्न भागों में आर्थिक भूदृश्यों के विश्लेषण के लिए कृषि का भौगोलिक विवेचन आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है।

1.4 कृषि भूगोल की प्रकृति (Nature of Agriculture Geography)

कृषि भूगोल का सम्बन्ध पृथ्वी की सतह पर कृषि सम्बन्धी दशाओं एवं कृषिय उत्पादन के क्षेत्रीय वितरण की व्यवस्था के विश्लेषण करने से है। किसी भी विज्ञान की प्रकृति मूलतः तीन बातों पर निर्भर करती है, एक अध्ययन की विषय सामाग्री (contents), दूसरा, अध्ययन का उपागम (approach) तथा तीसरा अध्ययन के लिए उपयोग की जाने वाली विधियाँ एवं तकनीकी (methods and techniques)। अस्तु कृषि भूगोल की प्रकृति जानने के लिए इन बातों पर विचार करना आवश्यक है। समग्र भूगोल के अध्ययन के उपागम, विधियाँ एवं तकनीकी सभी शाखाओं में उपयोग में आती है। उनमें विभेद अधिक नहीं है। परंतु विषय सामग्री के आधार पर भूगोल का विभिन्न शाखाओं में विभाजन हुआ है। अस्तु इस शाखा को भूगोल की अन्य शाखाओं एवं अन्य संबन्धित विज्ञानों से अंतर करने के लिए विषय सामग्री पर विचार आवश्यक है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कृषि भूगोल के इन तीनों आयामों में परिवर्तन होता रहा है, विशेषकर सन, 1950 के दशक के बाद परिवर्तन में काफी गति आयी है। वैज्ञानिक प्रगति, अंतर विषयक अध्ययन, विद्यार्थियों की क्षमता और अनुभूति में वृद्धि के कारण वितरण की व्याख्या के रूप में परिवर्तन आया है। वितरण के प्रतिरूप के वर्णन के स्थान पर उन प्रतिरूपों को जन्म देने वाली प्रक्रियाओं के विश्लेषण पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। इसके लिए अन्य विज्ञानों के अंर्तसंबंधों के कारण अन्य विज्ञानों के शब्दकोष एवं ज्ञान का अधिकाधिक उपयोग होने लगा है। इससे वर्णन एवं विश्लेषण में अधिक शुद्धता आ सकी है । विषय की उपयोगिता और सार्थकता पर ध्यान दिया गया है। वहीं सिद्धांत बनाने की ओर भी अभिरुचि बढ़ी है। ऐसे परिवर्तन के समय कृषि भूगोल के स्वरूप को जानना आवश्यक है।

1.4.1 विषय वस्तु (Subject Matter)

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कृषि की परिधि में आने वाले प्रमुख विषयः (1) फस्लोत्पादन तथा पशुपालन के लक्ष्य से किया गया भूमि उपयोग, (2) भूमि उपयोग का स्थानीकरण तथा उसके निर्णय की प्रक्रिया, (3) विभिन्न कृषि पद्धतियों का निर्धारण (4) कृषि पद्धतियों में स्थानिक एवं कालिक अंतर, तथा (5) विभिन्न प्रकार की कृषि पद्धतियों का स्थानीय पर्यावरण के सम्बन्ध एवं

पारस्परिक क्रियाओं का विवेचनात्मक अध्ययन है। इनका सार कृषि–उद्यम (Farm enterprise) तथा कृषि की प्रक्रियाओं (Farm operations) के क्षेत्रीय विशेषताओं को जानना, समझना और उनका विश्लेषण एवं व्याख्या करना है। कृषि पद्धति वास्तव में पारिस्थितिक तत्र (ecosystem) का संशोधित रूप होता है। यह संशोधन वांच्छित उपज पाने के लक्ष्य के पारिस्थितिक तंत्र की प्रक्रियाओं के नियंत्रण द्वारा किया जाता है। कृषि पद्धति का वास्तविक स्वरूप तीन समूहों के कारकों पर निर्भर करता है, एक कृषि क्षेत्र की वन्य पारिस्थितिक तंत्र जिसे फार्म की स्थानीय विशेषताएँ कहा जाता है, दूसरे फार्म की सापेक्षिक स्थिति तथा तीसरे, कृषक की वैयक्तिक सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विशेषताएँ इस प्रकार कृषि पद्धतियाँ प्राकृतिक तथा मानवीय वातावरण के तत्वों के संबंधों का परिणाम होती है।

भौगोलिक कारक कृषि की बाह्य सीमाएँ निर्धारित करते हैं। इन कारकों में सबसे महत्वपूर्ण जलवायु है जो एक ओर कृषि की 'प्रक्षांशीय सीमा तथा ऊँचाई की सीमा निर्धारित करती है तो दूसरी ओर फसलों का प्रादेशिक वितरण तथा उत्पादन की सभी प्रक्रियाएँ इस पर निर्भर होती हैं। अनुकूल जलवायु के क्षेत्रों में भी धरातल की प्रकृति कृषि की संभावनाओं को निश्चित करती है। कृषि पर धरातल का प्रभाव ऊँचाई, ढाल की प्रवणता एवं उच्चावच के माध्यम से पड़ता है। तीसरा प्रमुख प्राकृतिक कारक मिट्टी है। इसकी भौतिक, रासायनिक तथा जौवीय विशेषताएँ कृषि को विभिन्न रूपों में प्रभावित करती हैं। कृषि की स्थानीय संरचना और प्रादेशिक विभिन्नता को उत्पन्न करने वाले इन प्राकृतिक कारकों का अध्ययन कृषि भूगोल का अंग है।

कृषि केवल प्राकृतिक कारकों का परिणाम नहीं है, बल्कि मानव निर्मित दशाएँ – सामाजिक तथा आर्थिक, इसके प्रतिरूप को निश्चित करने में महत्वपूर्ण हैं। भूमि स्वामित्व, खेतों का आकार, क्षेत्रफल एवं वितरण, कृषि श्रमिकों की उपलब्धि, कृषि के उपयोग में आने वाले औजार (उपकरण), सिंचाई की सुविधा, बाजार की स्थिति, यातायात के साधन एवं कृषकों के दृष्टिकोण आदि कृषि भूमि के उपयोग को प्रभावित करते है। इस कारण इन कारकों का अध्ययन भी कृषि भूगोल की परिधि में आता है। साथ ही वर्तमान शताब्दी में वैज्ञानिक, तथा तकनीकी ज्ञान के उपयोग द्वारा प्राकृतिक अवरोधों पर नियंत्रण पाने का प्रयास हो रहा है। जैसे सिंचाई, रासायनिक उर्वरकों, कीटाणुनाशक एवं रोगनाशक रसायनों का उपयोग, उन्नत बीज, यंत्रीकरण तथा स्वचालित मशीनों का उपयोग। कृषि के स्वरूप ' और प्रादेशिक वितरण को प्रभावित करने वाली इन प्रवृत्तियों का अध्ययन कृषि भूगोल का विषय है।

कृषि व्यवसाय को प्रभावित करने वाले इन कारकों के सापेक्षिक महत्व को भूमि उपयोग एवं कृषि के स्थानीकरण के सिद्धांत मॉडल के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इतना ही नहीं कृषि की नवीन विधियाँ, उपकरण एवं निवेश के फैलने की प्रक्रिया को समझना भी आवश्यक होता है, जिससे कृषि के आधुनिकीकरण के मार्ग में आने वाली बाधाओं को हटाया जा सके।

विश्व के विभिन्न भागों में भूमि उपयोग, उत्पादित फसल कृषि की विधि, उद्देश्य एवं अर्थव्यवस्था के स्वरूप में बहुत अधिक प्रादेशिक अंतर है। डस अंतर को समझने के लिए दो मुख्य काम किये जाते हैं – एक कृषि का प्रकार निर्धारित करना, दूसरे कृषि प्रदेश सीमांकित करना। कृषि का प्रकार उसके अंर्तनिहित गुणों पर आधारित होता है। इसी तरह कृषि प्रदेश बनाने के लिए भूगोल की अन्य शाखाओं में उपयोग की जाने वाली समानता एवं सम्बद्धता (Homogeneity and connectivity) दोनों विधियों का उपयोग किया जाता है। उल्लेखनीय है कि सामाजिक, आर्थिक

और तकनीकी विकास के कारण सभी भागों के कृषि के स्वरूप में परिवर्तन हो रहा है। फलत: कृषि के प्रकार एवं कृषि प्रदेशों में भी समय के साथ बदलाव आता रहता है। इस बदलाव की दिशा, मात्रा एवं परिणामों का अध्ययन भी कृषि भूगोल में आता है।

अंत में कृषि की समस्याएँ एवं नियोजन को भी कृषि भूगोल में स्थान मिला है। यद्यपि कृषि नियोजन कई विषयों के विशेषज्ञों के सामूहिक प्रयत्नों से संभव होता है, तथापि भूगोलवेत्ता का अपना योगदान होता है। यह भूमि सर्वेक्षण, भूमि के मूल्यांकन वर्गिकरण, मानचित्रण आदि माध्यमों द्वारा समस्याप्रद प्रदेशों को सीमांकित करके उपयुक्त भूमि उपयोग तथा उनके विकास की विधियों को सुझा सकता है।

1.4.2 अध्ययन के उपागम (Approaches to study)

कृषि भूगोल की विषय–सामग्री में विविधता है तथा इस शाखा का उद्देश्य कृषि क्रियाओं के स्थानीकरण एवं वितरण तथा उनका पर्यावरण से सम्बन्ध स्थापित करना है। इस उद्देश्य से विषय–सामग्री को कई तरह से देखा एवं विश्लेषित किया जाता है। विषय विश्लेषण के इस दृष्टिकोण को ही उपागम कहा जाता है। भूगोल की अन्य शाखाओं की भाँति कृषि भूगोल में भी अध्ययन के लिए मुख्यत: निम्न उपागमों का उपयोग किया जाता है;

1. क्रमबद्ध उपागम (Systematic Approach)
2. प्रादेशिक उपागम (Regional Approach)
3. 3 सेद्धान्तिक उपागम (Theoretical Approach)
4. आगमनिक एवं निगमन विधियाँ (Empirical & Deductive Approach)
5. 5 कृषि तंत्र—उपागम (Agricultural System Approach)

1.4.2.1 क्रमबद्ध उपागम (systematic Approach)

भूगोल पृथ्वी तल के विभिन्न तत्वों के स्थानिक वितरण का वर्णन एवं व्याख्या है। इस तरह इसमें तत्व एवं स्थान दोनों का अध्ययन सम्मिलित है। तत्वों का वर्णन एवं व्याख्या क्रमबद्ध उपागम तथा स्थानों/क्षेत्रों का अध्ययन प्रादेशिक उपागम कहा जाता है। आधुनिक भूगोल के विकास काल में हम्बोल्ट और रिटर इसके जन्मदाता समझे जाते हैं। हम्बोल्ट संपूर्ण ब्रहमांड को एक जौवन्त इकाई मानकर विभिन्न तत्वों का भूतल पर अंतर्संबंध स्पष्ट करने पर जोर देते थे। दूसरी ओर रिटर पृथ्वी के विभिन्न खण्डों का अध्ययन करके तत्वों के अंतर्संबंधों को स्पष्ट करना चाहते थे। बाद में इनके शिष्यों ने भूगोल के अध्ययन की इन दोनों पद्धतियाँ को एक दूसरे से भिन्न माना। इन्हीं से क्रमबद्ध एवं प्रादेशिक अध्ययन की दो अलग–अलग परम्पराएँ विकसित हुई।

कृषि भूगोल में भी यही स्थिति है। कृषि के स्वरूप की व्याख्या के लिए क्रमबद्ध उपागम के अंतर्गत कृषि के किसी तत्व को आधार मानकर अध्ययन किया जाता है अर्थात् यह विषयपरक (Topical) अध्ययन होता है। ये तत्व प्राकृतिक अथवा गैर प्राकृतिक अथवा इनका अंतर्संबंधित समुदाय हो सकते हैं जो कृषि को प्रभावित करते है अथवा कृषि के स्वरूप को प्रकट करते है। यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि न तो कोई भी अकेला प्रभावित करने वाला तत्व और न ही कृषि का कोई एक गुण उस कृषि के संपूर्ण स्वरूप` को बता सकता है। इसके लिए सभी तत्वों एवं सभी

गुणों को एक साथ देखना आवश्यक होता है साथ ही कृषि को प्रभावित करने वाले कारकों का अध्ययन एवं विश्लेषण केवल कृषि के दृष्टिकोण से किया जाता है, अन्य दृष्टिकोण से नही ।

कृषि प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक दोनों पर्यावरण के तत्वों एवं दशाओं से प्रभावित होती है। कृषि भूगोल में भी इन दोनों वर्गो के तत्वों के सापेक्षिक महत्व पर मतभेद है। यहां भी वातावरण विश्ववाद, संभववाद और नवनिश्चयवाद की छाप दिखाई देती है। आंरभिक काल (सन् 1950 के पूर्व) में प्राकृतिक वातावरण के प्रभावों को सबसे प्रधान माना जाता था। इस कारण प्राकृतिक के प्रभावों को प्राथमिकता दी जाती थी। साइमन ने अपने 'पारिस्थतिकी एवं भूमि उपयोग' के निबंध (1966) में पर्यावरणीय किया है। इसी कारण कृषि भूगोल की आरभिंक पुस्तकों (जैसे लेजली साइमन, 1968) में कृषि का प्रभावित वाले प्राकृतिक तत्वों के अध्ययन पर अपेक्षत: अधिक जोर दिया गया है।

संसद में संभववाद की विचारधारा पनपी और कृषि पर मानवीय तत्वों के प्रभावों को महत्व मिला और कृषि के गुणों के प्रादेशिक अंतर की व्याख्या कृषि के सांस्कृतिक तत्वों द्वारा की जाने लगी। मानव अपने सतत् बढ़ते हुए वैज्ञानिक ज्ञान, तकनीकी, सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के माध्यम से कृषि के स्वरूप को बदलने में सफल हुआ। यहां तक कि विषम परिस्थितियों को बदलकर कृषि के योग्य बनाया। इस कारण कृषि को प्रभावित करने वाले सामाजिक–आर्थिक कारकों को अधिक महत्व दिया गया। शीघ्र ही यह सामने आया कि कृषि में प्रकृति की अवहेलना नहीं की जा सकती है। इस कारण प्राकृतिक एवं मानवीय दोनों पक्षों को समुचित स्थान मिलने लगा है। यह स्वीकार किया गया कि कृषि प्राकृतिक एवं सामाजिक–आर्थिक तत्वों के अंतर्सबंधों का परिणाम है। इस अंर्तसंबंध को समझने के लिए तीन प्रकार के उपागम उपयोग में लाए जाते हैं, एक, सामाजिक–आर्थिक तत्वों को स्थिर मानते हुए विभिन्न प्राकृतिक तत्वों का अध्ययन, दूसरे, प्राकृतिक दशाओं को समान मानते हुए सामाजिक–आर्थिक कारको के प्रभावों का अध्ययन, एवं तीसरे, इन दोनों वर्गों के कारकों की मदद से कृषि के स्वरूप को समझना।

1.4.2.2 वस्तुपरक उपागम (Commodity approach)

प्रभावित करने वाले कारकों के अलावा स्वयं कृषि के गुण भी अध्ययन के विषय रहे हैं। इसमें फसल, कृषि पद्धति, फसलों का उपयोग आदि मुख्य हैं। कृषि उत्पादों के प्रतिरूपों के अध्ययन को वस्तुपरक उपागम (Commodity approach) कहा जाता है। इसमें कृषिगत वस्तुओं को अध्ययन का विषय बनाया जाता है जैसे चावल, गेहूँ रबर, बागानी, कृषि की उपजे आदि। ऐसे अध्ययनों में संदर्भित फसल के सभी पक्षों का अध्ययन किया जाता है। जाता है जैसे कि अनुकूल दशाएँ, वितरण, संकेन्द्रण, उत्पादन विपणन आदि अध्ययन के मुख्य पक्ष होते हैं। इस उपागम के मुख्य पक्षधर पश्चिमी यूरोप के भूगोलवेत्ता थे। इनका उद्देश्य विश्व में उनके लिए आवशयक कृषिय वस्तुओं के उत्पादन के क्षेत्रों को पहचानना एवं विकसित करना था। इस उद्देश्य में फसलों का अध्ययन सहायक रहा है। वॉन रोयेन (1954) का "विश्व के कृषिय संसाधन" का एटलस इस उपागम का बड़ा उदाहरण है।

क्रमबद्ध और वस्तुपरक अध्ययनों का क्षेत्र विश्व होता है। यह उपागम प्रादेशिक उपागम का विरोधी नहीं है। वास्तव में तत्वों के वितरण के प्रतिरूप के आधार पर इस उपागम में भी प्रदेश बनाए

जाते हैं। इसे ऐसा कहा जा सकता है कि क्रमबद्ध उपागम में तत्वों के प्रादेशिक विभिन्नता का विश्लेषण किया जाता है।

1.4.2.3 प्रादेशिक उपागम (Regional Approach)

अध्ययन की प्रादेशिक विधि भूगोल के साथ कृषि भूगोल में भी काफी महत्वपूर्ण रही है क्योंकि क्रमबद्ध उपागम में संपूर्ण विश्व अध्ययन का क्षेत्र होता है, परंतु इतने बड़े क्षेत्र का गहन अध्ययन संभव नही होता और न ही किसी क्षेत्र के तत्वों का संश्लेषण है। इस उद्देश्य से प्रादेशिक अध्ययन किए गए। इन अध्ययनों में विश्लेषण केवल एक क्षेत्र (प्रदेश) तक ही सीमित होता है। परंतु यह विश्लेषण एक तत्व का न होकर संपूर्ण कृषि–भूदृश्य का होता है, जिसमें उस क्षेत्र के कृषि को प्रभावित करने वाले भौतिक – मानवीय कारक, फसलोत्पादन, उत्पादन की विधि आदि सम्मिलित होते हैं। सामान्यतया ऐसे अध्ययनों में एक ही क्षेत्र की दशाओं का विश्लेषण होता है, परंतु कभी कभी प्रादेशिक विशिष्टता एवं असंतुलन संबंधी अध्ययनों में कई क्षेत्रों पर भी विचार किया जाता है।

कृषि के प्रादेशिक अध्ययनों में प्रदेश का आकार महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता है। ये किसी भी आकार के हो सकते हैं, यद्यपि छोटे क्षेत्रीय अध्ययन अधिक होने लगे हैं। ये प्राकृतिक प्रदेश जैसे– महाद्वीप अथवा भूआकृतिक प्रदेश, राजनैतिक भूभाग (जैसे देश) अथवा प्रशासनिक इकाई क्षेत्र (जैसे जिला आदि) हो सकते हैं। अध्ययन– क्षेत्र का आकार कुछ भी हो, सभी क्षेत्रों में अध्ययन के लिए चुने गये विषय वही होते हैं। उदाहरण के लिए चाहे भारत की कृषि का भौगोलिक अध्ययन किया जाए अथवा उसके किसी एक छोटे भाग का, उसमें सम्मिलित विषय लगभग एक से होते हैं। सभी प्रादेशिक अध्ययनों में कृषि को प्रभावित करने वाले कारकों, भूमि उपयोग, शस्य प्रतिरूप, शस्य विविधता, उत्पादकता, पशुधन एवं उपविभाग विश्लेषण के मुख्य विषय होते हैं। इस प्रकार प्रादेशिक अध्ययन एवं विश्लेषणों का उद्देश्य अध्ययन के क्षेत्र की कृषि की विशेषताओं का संयुक्त चित्र प्रस्तुत करना होता है। साथ ही इस उपागम द्वारा कृषि की समस्याओं एवं उनके हल भी ढूंढे जा सकते हैं।

कभी–कभी कृषिय प्रादेशिक अध्ययनों में सभी विषयों को न रखकर एक वस्तु का अध्ययन किया जाता है। इन्हें वस्तुपरक प्रादेशिक अध्ययन कहा जाता है। क्यूबा में गन्ना (वेयर, 1939), उत्तरी अमेरिका में गेहूँ – संस्कृति (ब्राइथम, 1910), अंगोला का कहवा (डोंजेन, 1961), मैक्सिकों की कपास (गैवलॉक, 1944), भारत की कपास एवं जूट (किर्क, 1956), भारत में चाय तथा भारत का जूट (सेनगुप्ता 1956) आदि अध्ययन इसके उदाहरण हैं।

प्रादेशिक अध्ययन और प्रादेशीकरण में काफी समता दिखाई देती है, परंतु इनमें अंतर है। प्रादेशीकरण अर्थात् प्रदेश निर्धारित करना केवल प्रादेशिक अध्ययनों तक सीमित नहीं होता, बल्कि इसका क्रमबद्ध अध्ययनों में भी उतना ही अधिक उपयोग होता है जितना कि प्रादेशिक अध्ययनों में। वास्तव में प्रादेशीकरण का उपयोग क्षेत्रीय विषमता को प्रकट करने के लिए किया जाता है। यह कृषि के गुणों के आधार पर बनाए जाते हैं। इस प्रकार कृषि के अंतर्निहित गुणों में समान क्षेत्र को कृषि–प्रदेश कहा जाता है। ह्विटलासी (1936) ने इसी सिद्धांत पर विश्व के कृषि प्रदेश निर्धारित किए थे। इन प्रदेशों को आधार मानकर भी कृषि की दशाओं का विश्लेषण किया जाता है परंतु अधिकतर कृषि के प्रादेशिक अध्ययनों में प्राकृतिक इकाइयों अथवा प्रशासनिक इकाइयों को

अध्ययन का क्षेत्र माना गया है। भारत में राज्य अथवा जिले को प्रदेश मानकर बहुसंख्यक अध्ययन किए गए हैं। जसवीर सिंह एवं बी. के. शर्मा (1976) का "हरियाणा का कृषि भूगोल," जैन का (1989) मध्यप्रदेश के कृषिय विकास संबंधी अध्ययन अथवा गोपालन (1937) का 'तंजौर जिले का कृषिय भूगोल' और रामकृष्णन् (10) का 'कोयम्बटूर का कृषि भूगोल' इसके चुने हुए उदाहरण हैं तथापि प्राकृतिक प्रदेशों को आधार मानकर भी अध्ययन हुए हैं, जैसे कि शफी का पूर्वी उत्तर प्रदेश में भूमि उपयोग (1960) और विशाल मैदान की उत्पादकता का अध्ययन (1972) हैं। इस तरह अध्ययन एवं विश्लेषण की प्रादेशिक उपागम के लिए प्रदेश–निर्धारण पूर्व शर्त नहीं है। प्रादेशिक कृषिय अध्ययनों में भी क्रमबद्ध कृषिय भूगोल की भाँति समता और सम्बद्धता के आधार पर प्रदेश बनाए जाते हैं।

1.4.2.4 सेद्धान्तिक उपागम (Theoretical Approach)

भूगोल को अधिक वैज्ञानिक बनाने की इच्छा वाले अधिकांश भूगोलवेत्ताओं का कार्यक्षेत्र कृषि भूगोल रहा है। इनमें बोमैन (1925), कॉलवी (1936) तथा लियो वैबेल (1933) उल्लेखनीय हैं। ऐसे कृषि–भूगोलवेत्ता कृषि भूगोल के मुख्य उद्देश्य प्रादेशीकरण के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि क्षेत्रीय अन्तर स्पष्ट करने के लिये आर्थिक कार्यो के स्थानीकरण संबंधी सिद्धांत तथा नियम विकसित करना अधिक उचित होगा। ऐसा करने में प्रादेशिक उपागम असमर्थ हैं। इसी कारण सेद्धान्तिक उपागम में कृषि के स्थानीकरण, उसके वर्गीकरण तथा वितरण की व्याख्या के नियम तथा सिद्धांतों के बनाने पर जोर दिया जाता है। मॉडल बनाना भी एक उद्देश्य है। ऐसे सेद्धान्तिक अध्ययन छोटे क्षेत्रों एवं आदर्श फार्मो पर आधारित होते हैं। सेद्धान्तिक भूगोलवेत्ता स्थानीकरण की व्याख्या में चरों (Variables) के साहचर्य (Associations) पर विशेष जोर देते हैं, स्थानीकरण के कारणों पर कम। ऐसी स्थिति में विचारणीय चरों की संख्या अपेक्षाकृत कम हो जाती है। सेद्धान्तिकरण में गणितीय एवं सांख्यिकीय विधियों का उपयोग अधिक हुआ है। वास्तव में सेद्धान्तिक अध्ययनों में एक आदर्श स्थिति की कल्पना की जाती है। कृषि भूगोल के इस उपागम पर काफी मतभेद है।

संपूर्ण भूगोल में, अतः कृषि भूगोल में सेद्धान्तिक और वैज्ञानिक बनाने की लहर शेफर (1953) के लेख 'भूगोल में अपवादवाद' के प्रकाशन के बाद तेज हुई। इस निबंध में उन्होंने भूगोल की परम्परागत संकल्पना को अवैज्ञानिक सिद्ध किया तथा एक वैकल्पिक वैज्ञानिक संकल्पना को ढूँढने की आवश्यकता पर बल दिया। इसी तरह अकरमन ने भूगोल को विज्ञान बनाने के उद्देश्य से सन् 1958 में अपनी पुस्तक 'भूगोल एक आधारभूत शोध विज्ञान' में अनेकों सुझाव दिये। बुंजौ ने 'सेद्धान्तिक भूगोल' (1962) शीर्षक पर पुस्तक लिखकर इस उपागम को आगे बढ़ाया। कृषि भूगोल के क्षेत्र में मैकार्टी (1954 ब), ग्रोटवाल्ड (1959) तथा वार्ज्ज (1959) के सेद्धान्तिक कार्य विशेष उल्लेखनीय हैं। सेद्धान्तिक कृषि – भूगोलवेत्ता तीन प्रकार के – भौगोलिक, आकारिकी परक तथा प्रक्रियात्मक–नियम बनाने पर बल देते हैं। भौगोलिक नियम प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों का उपयोग पृथ्वीतल की दशाओं तथा उनकी क्षेत्रीय विभिन्नता की व्याख्या करने में करते हैं। आकारिकीपरक नियम विभिन्न आर्थिक कार्यो की स्थिति का विश्लेषण करते हैं और प्रक्रियात्मक नियम क्षेत्रीय स्वरूप के क्रमिक विकास को समझने में सहायक होते हैं। कृषि भूगोल के इन

सेद्धान्तिक अध्ययनो को हेंशैल (1968 पृ. 425 – 258) ने मॉडल के शीर्षक के अंतर्गत प्रस्तुत किया है।

सेद्धान्तिकरण के विरोधियों ने आशंका पैदा की है कि मानवीय क्रियाकलापों में सब जगह समानता न होने के कारण उनको संचालित करने वाले सार्वभौमिक नियम (Laws) नहीं बनाए जा सकते। इस संदर्भ में हार्टशोर्न (1959 पृ. 150) ने लिखा है कि भूगोल में अन्य विज्ञानों की भाँति नियम नहीं निर्धारित किए जा सकते, क्योंकि इसका अध्ययन प्रयोगशाला में नियंत्रित न होकर ब्राह्य क्षेत्र में होता है, जिससे घटनाओं में समानता नहीं हो सकती। साथ ही इनके पारस्परिक सम्बंधों का विश्लेषण भी कठिन होता है। चीन में चावल की खेती के लिए सामान्य परिकल्पनाएँ और सिद्धांत बनाए जा सकते हैं, परंतु वे सर्वत्र लागू नहीं हो सकते। इसी भाँति रॉबिन्स (1961 पृ. 182) को सिद्धांत शब्द से ही आपत्ति है। प्रमुख आक्षेप यह है कि सेद्धान्तिक भूगोलवेत्ता उन्हीं समस्याओं का अध्ययन करना चाहते हैं जिनमें सांख्यकीय मात्रात्मक विधियों का उपयोग किया जा सके। इस प्रवृत्ति से भोगोलिक अन्वेषण को काफी नुकसान हो सकता है। दूसरे, सभी भूगोलवेत्ता अपने उपागम पर सहमत नहीं हैं। उदाहरण के लिए मैकार्टी (1954 ब. पृ. 96) का कहना है कि सिद्धांत बनाने की संभावना छोटे से बड़े क्षेत्रों की ओर बढ़ने में अधिक है। इसके विपरीत वांर्ज (Warntz 1959, पृ. 74–75) ने सेद्धान्तिक भूगोल की तुलना वृहद् (Macro) आर्थिक भूगोल से तथा परम्परागत भूगोल को लघु (Micro) आर्थिक भूगोल से की है।

इन आरोपों का खंडन भी सेद्धान्तिक भूगोलवेत्ताओं ने किया है। हार्वे इनमें प्रमुख हैं। उन्होंने कृषिय भूमि उपयोग की अवधारणाओं की चर्चा करते हुए इस आरोप का खण्डन किया कि चर्चा करते हुए इस आरोप का खण्डन किया की "मानवीय विचलकों के लिए नियम ढूँढना कठिन है" उत्तर दिया है। उन्होंने लिखा है कि इन आलोचनाओं में "व्यवहार विज्ञानों में हुई प्रगति की अवहेलना की गई है। इन प्रगतियों के कारण सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक वास्तविकताओं पर आधारित कृषि के प्रतिरूपों के लिए सेद्धान्तिक मॉडल बनाल संभव हो सकता है" (Harvey, 1966, पृ. 306) इन मॉडलों से निर्णय की प्रक्रियाओं को समझना आसान होता है।

बोध प्रश्न– 1

1. कृषि भूगोल का एक शाखा के रूप में विकास कब हुआ ?

   ....

   ....

2. रिड्स के अनुसार कृषि भूगोल का उद्देश्य क्या है?

   ....

   ....

3. कृषि किसे कहते है?

   ....

   ....

.4 विश्व में कृषि में कार्यरत जनसंख्या का कितना प्रतिशत है?

   ....

   ....

5.	जौवन–शैली के रूप में कृषि का क्या अभिप्राय है?	
6.	कृषि पर आधारित पांच मुख्य उद्योगों के नाम बताइए।	
.7	अगर विश्वस्तर पर चावल की कृषि का अध्ययन किया जाये तो वह कौनसा उपागम होगा?	
.8	भारत का कृषि भूगोल का कौन सा उपागम होगा?	

1.5 कृषि भूगोल का अन्य विषयों से संबन्ध (Related of Agriculture Geography with other Subjects)

कृषि तथा उसके विभिन्न पक्षों का अध्ययन भूगोल से अतिरिक्त अर्थशास्त्र और कृषि विज्ञानों में भी किया जाता है। इस कारण कृषि भूगोल की सापेक्षिक स्थिति की विवेचना होती रही है। कृषि के प्रारंभिक भौगोलिक लेखों में 'प्रादेशिक विभिन्नता का वर्णन एवं व्याख्या' भूगोल का लक्ष्य था और विश्व की आर्थिक सूचना एकत्रित करना, न कि उनका प्रकृति और मानव से सम्बन्धों की व्याख्या करना अर्थशास्त्र का उद्देश्य था। इस प्रकार के विचार हेटनर (A. Hettner, 1905) श्ल्युटर (Schluter 1906) और फ्रेडरिक (E. Friedrich, 1907) के थे। परंतु इसके विरोध में अर्थशास्त्रियों ने कहा कि केवल आर्थिक विज्ञानों में ही प्राकृतिक वातावरण के विभिन्न तत्वों का आर्थिक कार्यो के रूप–निर्धारण पर पड़ने वाले प्रभाव का सम्यक् अध्ययन हो सकता है।

बर्नहार्ड (H. Bernhard 1915, पृ. 100 – 103) ने कृषि भूगोल को कृषि विज्ञान तथा भूगोल दोनों माना है, क्योंकि अध्ययन का विषय कृषि विज्ञान का है और उपागम भूगोल का। उन्होने हार्मस (B. Harms, 1912) के इस दावे का भी विरोध किया है कि आर्थिक भूगोल को अर्थशास्त्र की एक शाखा 'सामाजिक आर्थिक भूगोल में मिला देना चाहिए। बर्नहार्ड के अनुसार आर्थिक कार्यो के प्रादेशिक विभिन्नता के कारणों का विश्लेषण करने में भूगोलवेत्ता सक्षम हैं न कि अर्थशास्त्री। बर्नहार्ड के कृषि भूगोल को कृषि विज्ञानों के अधिक निकट और आर्थिक भूगोल से स्वतंत्र रूप में प्रस्तावित किया। उन्होने कृषि–विज्ञानों को: निम्न प्रकार से प्रस्तुत करके कृषि भूगोल का स्थान निर्धारित किया है:

व्यवस्थित दृष्टिकोण

(अ) कृषि तकनीकी क्षेत्र

1. पौधों का उत्पादन

2. पशु उत्पादन
3. कृषि–तकनीकी सम्बन्धित क्षेत्र

(ब) कृषि अर्थशास्त्र

1. ऐतिहासिक दृष्टिकोण: कृषि का इतिहास
2. भोगोलिक दृष्टिकोण: कृषि भूगोल

इस प्रकार बर्नहार्ड ने कृषि के व्यवस्थित अध्ययन में ऐतिहासिक पक्ष को प्रथम स्थान दिया है। तदनन्तर कृषि भूगोल का स्थान है जिसमें विश्व तथा प्रादेशिक कृषि की वर्तमान दशाओं तथा प्राकृतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक कार्यो का' विश्लेषण किया जाता है। इसमें प्रादेशिक विभिन्नताओं तथा उपर्युक्त पक्षों के सापेक्ष महत्व पर भी बल दिया जाता है। कृषि के अध्ययन का व्यवस्थित दृष्टिकोण वास्तव में कृषि विज्ञान की अंतिम कड़ी है जिसमें भविष्य को ध्यान में रखकर कृषि की सफल' विधियों का अध्ययन करते हैं। इस प्रकार बर्नहाड के अनुसार कृषि विज्ञान के व्यवस्थित एवं सम्यक् अध्ययन में कृषि भूगोल का न्यायसंगत स्थान है जिसके बिना कृषि विज्ञान अधूरा रह जाता है।

वेबेल (1933 पृ. 8 – 11) ने कृषि भूगोल को अपेक्षाकृत अधिक सेद्धान्तिक एवं उपयोगी (utilitarian) कृषि विज्ञानों से अलग रखा है। उन्होंने भूदृश्य में कृषि की प्रादेशिक विभिन्नताओं और विशेषताओं को कृषि भूगोल का लक्ष्य बताया और कृषि भूगोल को तीन शाखाओं में रखा है।

1. सांख्यकीय कृषि भूगोल **(Statistical Agricultural Geography)**
2. परिस्थितिकीय **(Ecological)**
3. आकृति – सम्बंधी **(Physiognomic)**

प्रथम शाखा में आँकड़ो के आधार पर फसलों तथा पशुओं के वितरण तथा उनके संकेन्द्रण के अन्वेषण को सम्मिलित किया जाता है। दूसरी शाखा का लक्ष्य कृषि में फसलों और पशुओं का पारस्परिक संबन्ध, उनका प्रादेशिक वितरण और वातावरण से संबन्ध निर्धारण है। तीसरी शाखा में कृषि द्वारा निर्धारित भूदृश्य जैसे, फसल, सड़क, पगडंडी तथा कृषक के घरों के वर्णन के साथ हो विभिन्न भूदृश्य के स्थानिक संरचना तथा उनके प्रादेशिक वितरण के निर्धारण को भी सम्मिलित किया जाता है।

सन् 1946 – 49 के मध्य फांचर ने कृषि भूगोल को 'प्रादेशिक अध्ययन 'के आधार पर कृषि विज्ञानों से अलग किया तथा आर्थिक भूगोल से भी अलग कृषि भूगोल को एक स्वतंत्र शाखा बताया। कृषि वैज्ञानिक का मुख्य लक्ष्य उत्पादन की तकनीकी और उनके संवर्धन के तरीकों को खोजना होता है। इसके विपरीत कृषि भूगोलविद् कृषि–प्रक्रिया के स्थान पर कृषि–कार्य के परिणामों को देखता है। कृषि–उत्पादों की प्रवृत्ति, उनके प्राप्त करने की अनुकूल आर्थिक परिस्थितियाँ, 'कृषक का जौवन, ग्रामीण भूदृश्य की विशेषताएँ एवं रूपांतरण उसके अध्ययन के मुख्य विषय हैं। फ़ॉचर ने इसे 'एग्रेरियन ज्योग्राफी कहा है।

ओट्रेम्बा ने तो कृषि भूगोल को भूगोल की अन्य शाखाओं से अलग करना समस्याप्रद बताया। कृषि भूगोल और अर्थशास्त्र में उतनी ही उभयनिष्ठता (Overlapping) है जितनी कृषि भूगोल और भूगोल की अन्य शाखाओं में। इसलिए इन विषयों की स्पष्ट सीमा निर्धारित करना उचित नहीं है। कृषि भूगोल सीमावर्ती सह–सम्बंधित विज्ञानों का एक विशिष्ट उदाहरण है।

1.6 कृषि भूगोल का विकास (Development of Agricultural Geography)

कृषि की परंपरा यद्यपि भारत में भी बहुत प्राचीन है तथापि ज्ञान के विषय के रूप में इसका विकास पाश्चात्य देशों से हुआ, जिनमें ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के भूगोलवेत्ताओं का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। ग्रीस और रोम के लेखकों –स्ट्रैबो, सीजर, प्लीनी आदि के ग्रन्थों में गाल तथा जर्मेनिया की कृषि का विस्तृत वर्णन हैं, परंतु ये अध्ययन न तो पूर्ण हैं और न ही व्यवस्थित। मध्य युग में भी इस शाखा का विकास नहीं हो पाया। अठारहवीं शताब्दी में शोधकर्ताओं ने कृषि का भौगोलिक दृष्टिकोण से अध्ययन आरम्भ किया। इस शताब्दी के प्रतिनिधि विद्वान इंग्लैण्ड के आर्थर यंग और जर्मनी के जे.एन. स्मरेइज़ थे। उन्नीसवीं शताब्दी में प्रादेशिक अध्ययन पर विशेष बल दिया जाने लगा और फस्लोत्पादन तथा अन्य कृषि विषमताओं की ओर भी इंगित किया गया। परंतु एक शाखा के रूप में कृषि भूगोल की विषय सामग्री पर विचार बीसवीं शताब्दी में क्रिजमोवॉस्की (Krzymowshy 1911) तथा लियो वैबेल (L. Waibel 1933) द्वारा प्रारंभ किया गया। इस प्रकार कृषि भूगोल का इतिहास केवल एक शताब्दी पुराना है।

इसी काल के आरंभ में ही कृषि भूगोल के लक्ष्य तथा विषय–वस्तु की विवेचनाएँ हुई हैं; जिनमें हेटनर (1905) तथा फ्रेडरिक (1907) के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी परिभाषाओं में इस तथ्य पर बराबर बल दिया गया है कि कृषि की प्रादेशिक विभिन्नता का अध्ययन केन्द्रीय विषय है परंतु कृषि भूगोल के ऐतिहासिक विकास के परीक्षण से यह स्पष्ट है कि इस तथ्य पर पूर्ण सहमति नहीं है कि किन संदर्भो में इन विभिन्नताओं का अध्ययन किया जाए। कुछ विद्वान केवल आर्थिक लक्षणों को प्रादेशिक सम्मिश्रण (Regional complex) के संदर्भ में देखना चाहते हैं। कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि यह अध्ययन कृषि तथा प्राकृतिक वातावरण के सम्बन्धों तक ही सीमित होना चाहिए। किन्तु कुछ अन्य लोगों का कहना है कि इस प्रकार के विश्लेषण को केवल प्राकृतिक वातावरण तक सीमित नहीं रखा जा सकता, क्योंकि अन्य कारक जैसे आर्थिक एवं सांस्कृतिक भी कृषि की प्रकृति निर्धारण में महत्वपूर्ण होते हैं। सेद्धान्तिक भूगोलवेत्ता तो सामान्य नियम एवं सिद्धांत के प्रतिपादन को ही लक्ष्य मानते हैं। यहाँ तक कि कृषि भूगोल का एक व्यावहारिक पक्ष भी है, इस बात पर भी विद्वान एकमत नहीं है।

विषय सामग्री, उपागम (approach) और विधि को ध्यान में रखकर कृषि भूगोल के इतिहास को दो कालों में विभक्त किया जा सकता है: (1) पूर्वकाल– सन् 1950 से पूर्व, तथा (2) उत्तर काल– सन् 1950 के बाद।

पूर्व काल प्रारंभिक काल में पूर्व वर्णित विद्वानों के अतिरिक्त कई महत्वपूर्ण भूगोलशास्त्रियों ने कृषि को अपने अध्ययन का विषय बनाया। दोनों विश्व युद्धों की मध्यावधि में बेकर (O.E. Baker, 1926–33), जॉनसन (1923–26), सी.ए. जोन्स (1928 – 30), जौ. टेलर (1930) और एस.वी. बाल्केनवर्ग (1931–36) द्वारा किये गये विश्व के विभिन्न भागों के अध्ययन (तथा इकॉनामिक ज्योग्राफी में प्रकाशित) अग्रणी कार्य रहे हैं। वे कृषि प्रदेशों के विस्तृत विवरणात्मक अध्ययन हैं। अधिकांश अध्ययनों में उन कारकों की विवेचना प्रधान थी जो कृषि को प्रभावित करते हैं। यह खोजने का प्रयास किया गया कि किस तरह वातावरण कृषि के प्रादेशिक प्रतिरूप को

प्रभावित करता है। प्राकृतिक वातावरण तथा कृषि के सम्बन्धों वाले अध्ययनों की अधिकता थी। यह उल्लेखनीय है कि इन कारकों के प्रभावों की विवेचना एक ही प्रदेश की एक अथवा अनेक फसलों को ध्यान में रखकर की गई है। कृषि भूगोल पर प्रारंभ से ही जर्मन विचारधारा का प्रभाव था। इस कारण इस अवधि के अध्ययनों पर पर्यावरण निश्चयवाद (Environment Determinism) का प्रभाव पड़ा। आर्थिक भूगोल (तथा कृषि भूगोल) का उद्देश्य पृथ्वी के विभिन्न भागों को 'व्यापारिक क्रियाओं के आधार' के रूप में देखना था। सन् 1926 में एस. पसार्जे ने लिखा कि ' आर्थिक भूगोल में आर्थिक भूदृश्यों की पृथ्वी के गुणों पर निर्भरता तथा उन गुणों का मानव की क्रियाओं द्वारा रूपांतरण का अध्ययन होना चाहिए। इस विचारधारा के लोग कृषि की प्रकृति की विभिन्नता का कारण प्राकृतिक कारकों को मानते रहे। इनके उदाहरण बेकर (1929), सेंम्पुल (Semple), अनस्टेड (Unstead, 1912), रोज़ (Rose, 1936), अकरमन (Ackerman 1938), मीड (Mead, 1939), विशर (1940), वीवर (Weaver, 1943), डेजौ (Deasy, 1941), रिड्स (Reeds, 1946), काक्स (Cox, 1920) तथा वियर्ड, (Beard, 1936) के अध्ययन हैं। यह उल्लेखनीय है कि इस अवधि में भी विटलसी (Whittlesey, 1936), हार्टशोन तथा डिकेन (Hartshorne & Dicken, 1935) के कृषि प्रादेशीकरण के अध्ययनों मे आर्थिक कारकों को सर्वाधिक महत्व मिला है। व्यावहारिक दृष्टि से स्टैम्प (L.D Stamp, 1931) का भूमि उपयोग सर्वेक्षण विषयक कार्य अविस्मरणीय है। ट्रिवार्था (Trewartha, 1948) ने भी स्टैम्प की विधि का अनुकरण करके अमेरिकन फार्मस्टेड की विवेचना की।

भारत में भी इस अवधि में क्षेत्रीय विवरण ही प्रमुख रहा। दक्षिण भारत के विभिन्न जिलों का कृषि भूगोल मद्रास ज़्यॉग्राफीकल एसोसियेशन की शोध पत्रिका में प्रकाशित हुआ। इसमें रामकृष्णन (Ramkrishnan, 1930), सौरीरजन (Sourirajan, 1931), राजामनीक्कम (1933), श्रीनिवास (Sriniwas, 1935), गोपालन (Gopalan, 1937) और देशपांडे (Deshpande, 1942) के निबंध उल्लेखनीय हैं। उत्तर भारत में मुखर्जी (Mukerji, 1942) तथा दयाल (P.न Dayal, 1950) के कार्य प्रमुख रहे हैं।

उत्तर काल: सन् 1950 के बाद कृषि भूगोल की विषय–सामग्री, अध्ययन–विधि तथा उपागम में परिवर्तन हुए। विषय को अधिक वैज्ञानिक बनाने के लिये सेद्धान्तिकरण तथा सामान्य नियम बनाने पर जोर दिया जाने लगा। बुंज (Bunge, 1962) तथा बर्टन (Burton, 1963) के सेद्धान्तिक उपागम संबंधी अध्ययनों से न केवल कृषि भूगोल बल्कि भूगोल की अवधारणा में भी परिवर्तन हुआ। इसी बीच मैकार्टी (McCarty, 1954), बुकानन (1959) तथा रीड्स (1964) के कृषि काल के ऐतिहासिक विकास संबंधी लेखों ने जहाँ एक ओर पूर्ववर्ती अध्ययनों का समालोचनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया वहीं भविष्य के लिए विषय – सामग्री का भी संकेत दिया। हार्वे (Harvey, 1966) ने कृषि भूमि उपयोग सम्बन्धी मॉडलों को प्रस्तुत कर मानवीय पक्षों को समाहित करने की संभावना का परीक्षण किया है। सांख्यकीय विधियों का उपयोग प्रारंभ हुआ। ऐसे अध्ययनों में वीबर (1954), स्कॉट (Scott, 1957) और हेलबर्न (Helburn, 1957) के कृषि के अध्ययन प्रमुख हैं। छोटे – क्षेत्रों के गहन अध्ययन (Micro studies) के लिये प्रादर्श अथवा निदर्श फार्म अध्ययनों का अधिक महत्व दिया जाने लगा। स्थानीकरण, कृषि प्रकार (Kostrowicki, 1974, 1976, 1980) तथा कृषि नियोजन के साथ ही भोजन तथा पोषण का भूगोल भी अध्ययन के विषय बने। इनके अध्ययनों में कृषि संबंधी अन्य विज्ञानों की विधियों

तथा विषय सामग्री का उपयोग प्रारंभ हुआ। प्रादेशिक उपागम के स्थान पर सामान्य विषय–वस्तुगत उपागम का महत्व बढ़ा। कृषि के परम्परागत भौगोलिक अध्ययनों में इस अवधि में हुये परिवर्तनों को हेन्शैल (Henshall, 1968, पृ. 425–26) ने निम्न शीर्षकों के अंतर्गत रखा है: –

1. भौगोलिक विवरण तथा प्रादेशिक अद्‌वितीयता की अपेक्षा सेद्धान्तिक तथा विषयवस्तुगत उपागम का अधिक उपयोग।
2. तथ्यों की व्याख्या में निश्चयवादी दृष्टिकोण से हटकर सम्भववादी तथा व्यावहारिक दृष्टिकोणों की ओर मुड़ना।
3. अनुक्षेत्रीय तथा प्रतिदर्शी (Sample) अध्ययन उपागम का अपेक्षाकृत अधिक महत्व।
4. सांख्यकीय विधियों के बढ़ते उपयोग से अन्वेषण के क्षेत्रों में विस्तार, और
5. अन्तर्विषयक उपागम की सजगता।

पूर्ववर्ती निश्चयवाद के विरोध में संभववाद (Possibilism) के लोग हैं। इस वर्ग के विद्‌वानों का कहना है कि यह सत्य है कि प्रकृति अपनी विभिन्न दशाओं जैसे धरातल. मिट्टी, जलवायु आदि के द्‌वारा कृषि के विकास की संभावनाएँ निर्धारित करती हैं, परंतु इन संभावनाओं का कितना और कैसे उपयोग हो रहा है, यह मानवीय क्षमताओं पर निर्भर है। ये विचार तो हेटनर (1905) के हैं, परंतु मानवीय पक्ष का कृषि में अधिक महत्व पिछले तीन दशकों में बढ़ा है। थामन ने (1962) तो 'मानव संस्कृति' के पारस्परिक सम्बन्ध को महत्ता दी है।

ओट्रेम्बा ने 'मानव –अर्थव्यवस्था–प्रकृति' के त्रिकोणीय सम्बन्ध पर बल दिया है। पी. जॉर्ज (1956) कृषि भूगोल में तीन प्रकार के सम्बन्धों को रखते हैं। ये सम्बन्ध प्रथम, प्राकृतिक वातावरण और कृषि की प्रक्रियाओं के बीच, दूसरा, जनसंख्या का घनत्व और कृषि के लिये उपलब्ध क्षेत्र के बीच तथा तीसरा, ऐतिहासिक सम्बन्ध हैं। जॉर्ज द्‌वारा प्रस्तावित पहले प्रकार के सम्बन्ध का अध्ययन कृषि भूगोल में इसलिए मौलिक है, क्योंकि इससे भूमि की कृषि के लिये उपयुक्तता या अनुपयुक्तता का ज्ञान होता है। जनसंख्या के घनत्व और कृषि क्षेत्र का सम्बन्ध तो प्रत्यक्षत: भूमि उपयोग की गहनता, फसलों का चुनाव, कृषि–विधियाँ, पशुपालन और फसलोत्पादन के सापेक्षिक महत्व तथा अधिवास के प्रकार और स्थिति का परिणाम है। ऐतिहासिक सम्बन्धो का अध्ययन इसलिए आवश्यक है क्योंकि ग्रामीण किसान अपनी रूढ़िवादिता के कारण एक बार अपनाई गई आदतों को लम्बी अवधि तक बनाए रखता है। इन तत्वों का क्या पास्परिक सम्बन्ध है? इसकी अपेक्षा ये किस प्रकार के ग्रामीण भूदृश्य को रूप देते हैं, यह ज्यादा प्रमुख उद्देश्य है।

भारत में भी कृषि भूगोल की विषय सामग्री, उपागम और विधि में इसी दिशा में परिवर्तन हुए। अध्ययन कै प्रमुख विषय जनसंख्या तथा खाद्‌य समस्या (एस. पी. चटर्जी 1952, कुरियन 1965), फसलों के प्रतिरूपों में परिवर्तन, कृषि गहनता, शस्य संयोजन, फसलों का संकेन्द्रण या विविधता, कृषि की क्षमता तथा कृषि का वर्गीकरण रहे हैं। इन अध्ययनों में सांख्यिकी का भी बढ़ता प्रभाव दिखाई देता है। उदाहरण के लिये, शफी (M. Shafi, 1960), भाटिया (Bhatia, 1967), सिन्हा (Sinha, 1968) तथा जसवीर (1972) के अध्ययनों में सांख्यकीय विधियों का प्रचुर उपयोग देखा जा सकता है। यहाँ भी प्रकाशित आँकड़ो का उपयोग करके कॉपाक (Coppock, 1964) के इंग्लैण्ड और वेल्स के कृषि एटलस के अनुरूप जसबीर सिंह (1974) ने भारत का कृषि एटलस तैयार किया। कृषि नियोजन को भी अध्ययन का विषय बनाया गया है।

विषय सामग्री में विकास होने के साथ ही अध्ययन के उद्देश्य में परिवर्तन होता रहा है। कृषि और पर्यावरण का सहसम्बन्ध तो मुख्य विषय रहा है, साथ ही कुछ अन्य विचार भी सामने आये। इनमें एक तो सामान्य नियम निर्धारित करना अथवा सेद्धान्तीकरण तथा दूसरे, कृषि भूगोल की शैक्षणिक तथा व्यावहारिक उपयोगिता के सम्बन्ध में है। सेद्धान्तीकरण की चर्चा की जा चुकी है। अब भी इस पर सहमति नहीं है। इसी तरह यह भी विवादास्पद है कि कृषि भूगोल के अध्ययन का लक्ष्य केवल शैक्षणिक हो अथवा व्यावहारिक भी। कोई स्पष्ट दिशा नहीं दिखाई देती। केवल शुद्ध शैक्षणिक उद्देश्य से कृषि के भौगोलिक अध्ययन के पक्षधर कृषि वैज्ञानिक बर्नहार्ड (1915 पृ. 13) हैं। वे भौगोलिक पक्षों के अध्ययन में विश्वास रखते हैं, भले ही उसके परिणाम उपयोगी न हों। जर्मन विद्वान रूहेल (Ruhl, 1938, पृ. 65) ने आर्थिक भूगोल की व्याख्या करे हुए सामाजिक उपयोगिता को निरर्थक उद्देश्य बताया। इसके विपरीत गोत्ज (Gotz, 1982) ने आर्थिक भूगोल के क्षेत्र का विश्लेषण करते हुए शैक्षणिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्षों के महत्व पर जोर दिया है। बारोस (1923, पृ. 9) ने भी दोनों पक्षों के महत्व की विवेचना की है और कहा कि बिना क्षेत्रीय संदर्भ में देखे हुए संसाधनों के उपयोग की समस्या को अच्छी तरह न समझा और न हल किया जा सकता है।

इस विषय में तीसरा मत भी है। ये लोग मानते हैं कि शुद्ध शैक्षणिक अध्ययन व्यावहारिक अध्ययनों के पूर्व आवश्यक होते हैं। बर्नहार्ड के चार वर्ष पूर्व कृषि–वैज्ञानिक क्रिजमोवॉस्की (1911, पृ. 258) ने कृषि भूगोल का समर्थन करते हुए कहा है कि भौगोलिक अध्ययन इसलिए आवश्यक है, क्योंकि कृषि–वैज्ञानिक को यह जानना जरूरी होता है कि कृषक ने अपनी कृषि की प्रक्रियाओं को किस तरह पर्यावरण के अनुकूल बना रखा है। इस प्रकार की सूचनाएँ एकत्रित करना स्वयं में एक शैक्षणिक लक्ष्य है, परंतु कृषिविदों द्वारा इन आँकड़ो का उपयोग सिद्धांत निर्धारित करने में किया जाता है। मैकार्टी तथा लिंडवर्ग (McCarty & Lindenberg, 1966, पृ. v) भी इससे सहमत हैं। साइमन्स (1968, पृ. 358) ने भी व्यावहारिक तथा शैक्षणिक दोनों पक्षों का प्रमुख माना है। उनका कहना है कि यद्यपि शोधार्थियों के सामने शैक्षणिक महत्व की अनेक समस्याएँ आती हैं, उनमें भी अधिक वे समस्याएँ हैं जो मानवहित की हैं। अंतत: कृषि भूगोलवेत्ता का यह योगदान जो इन समस्याओं में सबसे बड़ी समस्या– भूख को हल करने में सहायक हो, शैक्षणिक औचित्य से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

कृषि भूगोल को मुख्यत: व्यावहारिक विषय मानने वालों में ग्रेनेडन, बेकर तथा बोमन प्रमुख हैं। ग्रेनेडन ने (1903, पृ. 2) कृषि भूगोल (फ्रेंच में) पर पुस्तक लिखते हुए उपयोगितावादी दृष्टिकोण को सामने रखा था। कई दशकों बाद अमेरिकी भूगोलवेत्ता बेकर ने लिखा कि संसाधनों के अधिकतम उपयोग को संभव बनाने वाली सूचनाएँ प्राप्त करना ही भविष्य में भूगोल का लक्ष्य होना चाहिए। बोमेन (Bowman, 1932, पृ. 93) ने कहा कि अगर भूगोल राजनैतिक और सामाजिक नीतियों को प्रभावित करना चाहता है तो इसमें उन विचारों की चर्चा होनी चाहिए जो सरकार तथा समाज के लिये अति महत्वपूर्ण हों तथा उन शब्दों में हो जिसे नेता समझ सकें।

इस प्रकार कृषि भूगोल के व्यावहारिक पक्ष के समर्थक नवीन तथा पुराने भूगोलवेत्ता तथा कृषि वैज्ञानिक रहे हैं। परंतु कुछ लोगों ने व्यावहारिक विधि को अपनाने में सावधानी रखने के लिये सचेत किया है। उनका कहना है कि भूगोल का काम आवश्यकताएँ, संभावनाएँ तथा विकल्प

प्रस्तुत करना है तथा उनको कार्य रूप देना प्रशासन का काम है। इस संदर्भ में स्टैम्प (1960, पृ. 19) ने कहा कि भूगोलवेत्ता का कार्य 'सर्वेक्षण और विश्लेषण के साथ समाप्त हो जाता है।'

1.7कृषि भूगोल के नियम एवं संकल्पनाएँ (Laws and Concepts of Agricultural Geography)

1.7.1 कृषि भूगोल के नियम

कृषि का वर्तमान स्वरूप कई घटकों का योग होता है। इन घटकों में कृषक वैयक्तिक गुणों तथा सामाजिक कारकों से लेकर आर्थिक एवं प्राकृतिक दशाएँ तक आती हैं। इनमें प्राकृतिक कारकों संबंधी नियम नहीं बनाए जा सके हैं। केवल उनकी अनिश्चतता के विश्लेषण के लिए खेल सिद्धांत (Game theory) के उपयोग को प्रस्तावित किया गया है। कृषक की मनोवृत्ति एवं उसके वैयक्तिक गुणों के प्रभाव के विश्लेषण के लिए आत्मतुष्टि प्रतिमानों (Satisfying models) का उपयोग होने लगा है। इन्ही पर आधारित अभिज्ञानों के प्रसरण (Diffusion of innovations) का सिद्धांत है। इनके विपरीत कृषि को एक आर्थिक क्रिया के रूप मे मानकर उसकी समस्त क्रियाओं के विश्लेषण के लिए अर्थशास्त्र के नियमों एवं सिद्धांतों का उपयोग किया जाता है। इन मौलिक आर्थिक सिद्धांतों को मार्गन तथा 5+++ (1974 पृ. 6) ने चार वर्गों में रखा है: –

1. संसाधनों के उपयोग सम्बन्धी सिद्धांत
2. विकल्पों को नियंत्रित करने वाले नियम,
3. वस्तुओं एवं पूँजी का आदान–प्रदान, तथा
4. संसाधनों की कमी के कारण उपलब्ध साधनों का सर्वोत्तम उपयोग की आवश्यकता सम्बन्धी नियम।

इस प्रकार अर्थशास्त्र की सभी शाखाओं – उपयोग, उत्पादन विनिमय एवं वितरण के नियमों का कृषि भूगोल में उपयोग किया जाता है। इन सिद्धांतों और नियमों में भी माँग –पूर्ति और मूल्य के नियम, सापेक्षिक लाभ का सिद्धांत, ह्रासमान प्रतिफल का नियम तथा आर्थिक लागत के सिद्धांत का सर्वाधिक उपयोग किया गया है।

अगर शुद्धरूप से अर्थशास्त्रीय शब्दों में कहा जाए तो कृषि –उत्पादन अथवा कृषि–वस्तुओं की पूर्ति उनकी माँग द्वारा संचालित होती है। माँग और पूर्ति का सीधा प्रभाव उनके मूल्य पर पड़ता है और यही मूल्य पुन: माँग पूर्ति को प्रभावित करता है। इस कारण उस आर्थिक क्रिया का स्थानीकरण माँग और पूर्ति के नियमों द्वारा संचालित होता है जिसके सभी उपादान आर्थिक होते है। जब पूर्ति स्थिर हो और माँग बढ़ रही हो तो मूल्य भी बढ़ता है। इसके विपरीत अगर माँग स्थिर हो और पूर्ति बढ़ रही हो तो कीमत घटती है। ऊँची कीमत होने पर क्रेताओं की संख्या कम हो जाती है। सेद्धान्तिकरूप से पूर्ण विकसित बाजार होने पर क्रेताओं–विक्रेताओं की क्रियाएँ एक संतुलित मूल्य के ईद–गिर्द घटने–बढ़ने वाली कीमतों द्वारा निर्धारित होती हैं। संतुलित मूल्य वह मूल्य है जिस पर क्रेता खरीदने और विक्रेता बेचने के लिए तैयार हो। माँग अथवा पूर्ति में परिवर्तन के साथ इस संतुलित मूल्य में भी परिवर्तन होता है। स्थानीकरण को समझने के लिए यह कल्पना की जा सकती है कि किसी एक नगर की माँग की पूर्ति एक निश्चित संख्या के फार्मो द्वारा की जाती है। अगर इस नगर की माँग बढ़ती है तो पूर्ति हेतु अन्य फार्मो पर उत्पादन बढ़ाना आवश्यक होगा। इसके विपरीत माँग घटने पर उत्पादन क्षेत्र को कम करना होगा। साथ ही

बढ़ती माँग गहन कृषि द्वारा की जाती है तथा घटती माँग के कारण सभी फार्मो पर कृषि की गहनता कम हो सकती है। इसी भाँति कृषि उपजदर बढ़ाने वाली तकनीकी के आने पर स्थिर माँग की पूर्ति के लिए उत्पादन का क्षेत्रफल कम करना पड़ सकता है।

इन नियमों का प्रभाव विश्वस्तर पर भी देखा जा सकता है। बढ़ती जनसंख्या. ऊँचे उठते हुए जौवनस्तर और उद्योगों के लिये कच्चे मालों की बढ़ती माँग के कारण कृषि का उत्पादन बढ़ रहा है। परंतु इस वृद्धि में बहुत अधिक प्रादेशिक विभेद है जिसका सीधा संबंध माँग और पूर्ति की स्थिति से है। जैसे कि विकसित देशों में प्रति व्यक्ति खाद्य वस्तुओं, का उपयोग लगभग स्थिर है, जनसंख्या भी लगभग स्थिर सी है, उत्पादकों को बाह्य प्रतिस्पर्धा से सुरक्षा है, फलतः खाद्य उत्पादन क्षेत्र भी स्थिर हैं। ऐसी दशा में अगर कोई ऐसी तकनीकी विधि ढूँढ ली जाए जिसके उपयोग से प्रति हैक्टर उपज बढ़ा ली जाए तो क्षेत्रफल निश्चित रूप से घट सकता है। ब्रिटेन की बागवानी कृषि में ऐसा ही हुआ है। इन फसलों की बढ़ती उपजदर के द्वारा ही बढ़ती माँग को पूरा किया गया है, क्षेत्रफल नहीं बढ़ा है (वेस्ट तथा गैसन 1966, 56 – 58)

स्थानीकरण में सापेक्षिक लाभ (Comparative advantage) नियम भी महत्वपूर्ण होता है जैसे कि फसल उत्पन्न की जाए या पशुपालन किया जाए अथवा मिश्रित कृषि अपनाई जाए आदि का निर्णय इनसे संभावित लाभ के आधार पर किया जाता है। इसी भाँति फसलोत्पादन एवं पशुपालन में भी अधिक लाभ देने वाली वस्तु का उत्पादन किया जाता है।

ह्रासमान प्रतिफल (Law of Diminishing return) का नियम भी कृषि के स्थानीकरण में लागू होता है। ह्रासमान प्रतिफल का नियम है कि अन्य बातें, समान रहने पर श्रम तथा पूँजी की प्रति अगली इकाई के उपयोग से उत्पादन में होने वाली वृद्धि आनुपातिक वृद्धि से कम होती हैं। यह नियम उत्पादकता वाली भूमि के लिये भी लागू होता है। सामान्यतया बाद में उपयोग में लाई जाने वाली भूमि कम उपजाऊ होती है। अतः समान निवेश (input) देने पर भी इस भूमि से अपेक्षाकृत कम उपज होती है। इस तरह कहा जा सकता है कि निवेशों की प्रति अतिरिक्त इकाई अथवा क्रमशः कम उपजाऊ भूमि की प्रति अतिरिक्त इकाई की उत्पादकता क्रमशः घटती जाती है और एक अवस्था ऐसी आती है कि प्रति इकाई निवेश अथवा प्रति इकाई अतिरिक्त भूमि से लाभ नहीं होता है। ऐसी दशा को उत्पादन की सीमा (margin of production) कहते हैं तथा निवेश की अंतिम इकाई को सीमान्त इकाई (margin unit) कहते हैं। यह सीमांत भूमि से भिन्न है। सीमान्त भूमि का तात्पर्य प्राकृतिक कारणों से कम उपजाऊ भूमि से है जबकि सीमान्त इकाई का निर्धारण लाभ के नियमों द्वारा होता है।

ह्रासमान प्रतिफल न केवल घटती उपज दर बल्कि बढ़ती हुई लागत का भी परिणाम होता है। अगर अच्छी भूमि और कम उपजाऊ भूमि से समान उत्पादन प्राप्त करना हो तो कम अच्छी भूमि पर अच्छी भूमि की तुलना में अधिक निवेश लगाना पड़ता है। इन निवेशों का उपयोग घटाकर लागत को कम किया जा सकता है। ऐसा करने पर आय बनाये रखने के लिये अधिक भूमि पर कृषि का विस्तार करना पड़ता है। इसी कारण विस्तृत अन्य उत्पादन या पशुचारण कम उपजाऊ भूमि पर किया जाता है। इस तरह कृषि को सीमित करने वाली अधिक लागत, न्यून उत्पादकता, न्यून लाभ धारणाओं को विस्तीर्ण सीमा (extensive margin) कहा जाता है। यह सीमा बाजार – मूल्य के साथ बदलती रहती है। इसके विपरीत ऐसी भी परिस्थिति हो सकती है जब लागत घटने आदि के कारण अन्य गहन प्रकार की कृषि प्रारंभ करना लाभप्रद हो जाता है।

इसे गहन सीमा (intensive margin) कहा जाता है (चिजम 1966, पृ. 51 –53) यह भी संभव है कि एक उद्यम की विस्तीर्ण सीमा दूसरे उद्यम की गहन सीमा हो और जब दोनों सीमान्त सम्पाती होते हैं तो उन्हें स्थानांतरण सीमा (margin of transference) कहा जाता है।

सीमान्त और ह्रासमान प्रतिफल का उपयोग स्थानीकरण के कई सिद्धांतो में किया गया है। इन सिद्धांतों में भूमि के गुणों के अंतर को बहुत कम स्थान मिला है जबकि तथ्य यह है कि कृषि कि स्थानीकरण में इसका निर्णायक महत्व है और कृषि भूगोलवेत्ता भौतिक कारकों के विश्लेषण को बहुत महत्व देते हैं। ऐसे आरम्भिक सिद्धांतों में रिकार्डो का (1817) आर्थिक लगान का सिद्धांत है। आर्थिक लगान वास्तविक लगान से भिन्न होता है। आर्थिक लगान में केवल भूमि के उपयोग हेतु लगान की कल्पना होती है जबकि राजस्व लगान में इसके साथ भूमि पर उपलब्ध सुविधाओं का भी लगान सम्मिलित होता है। आर्थिक लगान की विभिन्नता का कारण भूमि की गुणवत्ता में अंतर होना है। सिद्धांतत: सीमांत उत्पादन वाली भूमि का कोई आर्थिक लगान नहीं होता, क्योंकि इस भूमि पर उत्पादन–लागत और उत्पादन के कुल मूल्य में अतर नगण्य होता है। भूमि की प्रति इकाई सीमांत उत्पादन बढ़ने के साथ लगान भी बढ़ता है। किसी भूमि का आर्थिक लगान उस भूमि की सीमांत उत्पादकता और सीमांत भूमि की उत्पादकता का अंतर होता है। सीमांत उत्पादन लागत और मूल्य का अंतर होता है। इस प्रकार लगान औसत उत्पादन से निश्चित होकर सीमांत उत्पादन से निश्चित होता है। इसके निर्धारण में परिवहन व्यय और बाजार से दूरी का भी प्रभाव पड़ता है।

इसी भाँति कृषि कि विभिन्नता के कारणों में प्राकृतिक तत्वों को महत्वपूर्ण समझा जाता है, लेकिन उन्हें नियम के रूप में नही रखा जा सका है। यह प्रवृत्ति पाई गई है कि वातावरण के अनुकूलता के आधार पर फसलों का चयन किया जाता है। वास्तव में इस अनुकूलता के लिये कुछ प्राकृतिक तत्वों की न्यूनतम दशा का होना आवश्यक होता है। अगर ये न्यूनतम दशाएँ नहीं हैं तो उत्पादन बहुत महँगा होगा, जैसे कि वर्षा, ताप, तुषार, ढाल की मात्रा आदि को फसलों के चयन के समय नहीं नकारा जा सकता। विभिन्न तकनीकियों के उपयोग के लिये भी न्यूनतम अनुकूल दशाओं का होना आवश्यक होता है। प्रकृति द्वारा निर्धारित ब्रह्मा सीमाओं के साथ सामाजिक तथा व्यक्तिगत कारक भी कृषि की प्रक्रियाओं में महत्वपूर्ण होते हैं। इस संदर्भ में दो प्रतिमानों का उल्लेख आवश्यक है। प्रथम, हैगरस्ट्रेड (1953) का प्रसरण सिद्धांत है जिसमें आर्थिक विचारों के अलावा सामाजिक एवं वैयक्तिक विचारों को महत्वपूर्ण माना गया है। कृषि के संदर्भ में इसका काफी उपयोग हुआ है (रोजर्स 1962, हार्वे 1966 तथा मिश्रा 1966 एवं 1968) दूसरा नियम खेल सिद्धांत का है। इसमें स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति अधिकतम लाभ चाहते हुए भी उसके अनुकूल निर्णय संयोग के खेल (game of change) के समान लेता हे। कृषि के संदर्भ में गोल्ड (Gould 1963) ने अफ्रीका में भूमि उपयोग के अध्ययन में इस सिद्धांत का उपयोग किया। इसकी मदद से विषम परिस्थतियों में अधिकतम लाभ देने वाली फसलों के चुनाव में सहायता मिलती है। इस नियम का उपयोग भारत के मिश्रित कृषि को समझने में किया जा सकता है।

इस प्रकार कृषि के स्थानीकरण को समझने के लिये जिन सिद्धांतों को समझना आवश्यक हे उनमे उपयोगिता तथा उससे सम्बन्धित नियम, दूरी तथा पारगम्यता, एकत्रीकरण (aggalomeration), परस्पर क्रिया–प्रतिक्रिया तथा संतुष्टि के नियम हैं जैसे कि कहा जा चुका है कि भूमि से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिये उपयोगिता के नियमों का अनुसरण किया जाता है। बाजार

तथा निवेश के प्राप्ति स्थलों से दूरी और पारगम्यता का प्रभाव भूमि के उपयोग, उसकी गहनता तथा कृषि की संरचना पर पड़ता है। समान भौगोलिक परिस्थितियों के कारण क्षेत्र विशेष में एक प्रकार की कृषि केन्द्रित हो जाती है जो अंततः एक कृषि प्रदेश का स्वरूप ले लेती है। व्यापारिक कृषि के लिये बाजार का पूर्ण ज्ञान तथा उपलब्ध सुविधाओं की ज्ञान आवश्यक होता है जो पारस्परिक क्रिया–प्रतिक्रिया से संभव होता है। बाजार की यांत्रिक व्यवस्था के अलावा कृषक की भावनाएँ तथा उसकी आत्मतुष्टि का भी कृषि के स्थानीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

1.7.2 प्रमुख संकल्पनाएँ (Important Concepts)

भूगोल की सामान्य संकल्पनाओं के साथ ही कृषि भूगोल में कुछ अन्य संकल्पनाओं का विकास हुआ है। ये संकल्पनाएँ विषय–
सामग्री को सरल ढंग से प्रस्तुत करती हैं। इन संकल्पनाओं में निम्न प्रमुख है:

1. भूमि उपयोग की संकल्पना (Concept of Land use)
2. कृषि भूदृश्य की संकल्पना (Concept of Agricultural Landscape)
3. कृषि प्रदेश की संकल्पना (Concept of Agricultural Region)
4. कृषि विकास की संकल्पना (Concept of Agricultural Development)

1.7.2.1 भूमि उपयोग की संकल्पना (Concepts of Land Use)

भूमि उपयोग के अध्ययन में भूगोलवेत्ता काफी अभिरुचि लेते रहे हैं। किसी देश का उचित और लाभदायक उपयोग का आधारभूत महत्व है। भूमि उपयोग का सामान्य अर्थ भूखण्ड का किसी रूप में उपयोग है। यह स्वतः स्पष्ट होता है लेकिन अंग्रेजौ में इस हेतु दो शब्दों के उपयोग से भ्रम उत्पन्न होता है। प्रथम शब्द Use (प्रयोग) तथा दूसरा Utilization (उपयोग) है। इन शब्दों को लोगों ने अलग–अलग अर्थों में प्रयोग किया है। 'प्रयोग' शब्द का प्रयोग भूमि के वृहद् उपयोगों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है जैसे कि भूमि का कृषि के लिए प्रयोग, चारागाह, वन, अधिवास आदि के लिए प्रयोग। इस तरह भूमि के प्रयोग के आधार पर किये जाने वाले प्राथमिक विभाजन को बताने के लिये 'भूमि प्रयोग' शब्द का प्रयोग किया जाता है। परंतु भूमि के उपयोग को अधिक विस्तार से बताने के लिए 'भूमि उपयोग' शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रयोग के बड़े वर्गो से स्वाभाविक प्रयोग का ही आभास मिलता है। ये वर्ग उपयोगों के समूह होते हैं। इन समूहों में सम्मिलित उपयोंगों को बताने के लिये 'भूमि उपयोग' शब्द का प्रयोग होता है जैसे कि कृषि के लिए प्रयोग (cropped land) की जाने वाली भूमि का उपयोग फसलोत्पादन और पशुचारण के लिए हो सकता है। पुनः फसलोत्पादन अलग प्रकार का हो सकता है – सिंचित. असिंचित आदि। इस प्रकार भूमि के प्रयोग की विशदता को बताने के लिए ही भूमि उपयोग शब्द का प्रयोग किया जाता है (एफ.ए.ओ. 1976, पृ. 11)

इन्हीं से सम्बन्धित भूमि–उपयोग की गहनता (intensity of land use) अथवा बहु भूमि प्रयोग (Multiple land use) शब्द हैं। भूमि उपयोग की गहनता से तात्पर्य लूँ कि निरा फसल के क्षेत्र का कितना अधिक पुनः उपयोग किया जाता है। कुल फसलों के क्षेत्रफल को निरा फसल के क्षेत्रफल के प्रतिशत के रूप में रखकर भूमि उपयोग की गहनता व्यक्त करने की एक विधि है। शस्य की गहनता (intensity of cropping) भी इसी से मिलती–जुलती संकल्पना है। एक कृषि–

वर्ष की अवधि में एक ही खेत से कितनी फसलें पैदा की जाती हैं उन्हें बताने के लिए कृषि की गहनता शब्द का प्रयोग होता है। 'बहु–प्रयोग' बन तात्पर्य हें कि एक ही भूमि का एक साथ कई तरह से प्रयोग होना। जैसे कि वनों का इमारती लकडी के साथ पर्यटन और वन्य जौवों के संरक्षण के लिए भी प्रयोग किया जाना बहु–प्रयोग है। संयुक्त प्रयोग (Combined use) का विचार इससे भिन्न है जैसे कि अगर एक ही फार्म पर भूमि का दो अथवा दो से अधिक प्रयोग किए जाये तो इसे संयुक्त प्रयोग कहेंगे। इस तरह एक ही फार्म के कुछ भाग पर फसलोत्पादन और कुछ भाग पर चारागाह का विकास किया जाए तो यह संयुक्त प्रयोग है। दोनो प्रयोगों के भूखंड अलग–अलग होते हैं। इसके विपरीत बहु–प्रयोग में एक ही भूभाग का एक ही साथ कई तरह से उपयोग किया जाता है। जैसे कि एक ही भूमि पर चावल की खेती, मछली पालन और केला उत्पादन भूमि का बहू प्रयोग है।

1.7.2.2 कृषि भूदृश्य की संकल्पना (Concept of Agricultural Landscape)

कृषि भूमि उपयोग, उपयोग की विधि, उपयोग की व्यवस्था आदि के फलस्वरूप एक विशिष्ट प्रकार की दृश्यावली दिखाई देने लगती है, जिसे कृषि–भूदृश्य कहते हैं। डस प्रकार कृषि के गोचर स्वरूप के बताने के लिये यह शब्द प्रयोग किया जाता हैं।इसमें फसलों तथा पशुपालन के अलावा खेत तंत्र, अधिवासों के स्वरूप तथा स्थानीय परिवहन तंत्र आदि को भी सम्मिलित किया जाता है। यह स्वरूप प्राकृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दशाओं पर आधारित होता है तथा इन दशाओं में सतत् परिवर्तन होता रहता है। फलत: कृषि भूदृश्य भी परिवर्तित होते रहते हैं।

1.7.2.3 कृषि के प्रदेश की संकल्पना (Concept of Agriculture Region)

भूगोल की अन्य शाखाओं की भाँति कृषि भूगोल में अध्ययन के प्रादेशिक उपागम का लंबे समय से उपयोग हो रहा है, जिसकी चर्चा की जा चुकी है। कृषि प्रदेश मुख्यत: समरूपता के सिद्धांत के आधार पर बनाए गए हैं, यद्यपि अब प्रकार्यात्मक प्रदेशों पर ध्यान दिया जाने लगा है। ऐसा क्षेत्र जहाँ समान परिस्थितियों के कारण समान प्रकार की कृषि का विकास हुआ हो कृषि प्रदेश कहा जा सकता है। यह संकल्पना स्थानिक समाकलन तथा क्षेत्रीय विभेदन के सिद्धांतों पर आधारित है। प्रादेशीकरण के लिए विभिन्न भागों में भिन्न–भिन्न मापदण्ड लिए गए हैं, फलत: कृषि प्रदेश कई प्रकार से निश्चित किए गए हैं। जिनकी चर्चा कृषि प्रदेश के अध्याय में की गई है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि कृषि प्रदेश कृषि के स्वयं के लक्षणों के आधार पर बनाए जाने चाहिए।

1.7.2.4 कृषि के विकास की संकल्पना (Concept of Agricultural Development)

सामान्यरूप से कृषि के विकास से तात्पर्य उसकी उत्पादकता में वृद्धि से लिया जाता है। यह वृद्धि कृषि में वैज्ञानिक विधियों तथा उत्पादकतावर्धक निवेशों के उपयोग से संभव होती है। इसी आधार पर कृषि–विकास को 'उत्पादकता में वृद्धि' ही माना जाता रहा है। परन्तु अब इस विचार में परिवर्तन हो गया है और उत्पादकता में होने वाले परिवर्तन के लिए वृद्धि (growth) शब्द का उपयोग किया जाता है तथा विकास शब्द (development) का अपेक्षाकृत अधिक व्यापक अर्थ में उपयोग होने लगा है (गोपाल किशन 1980)। यह माना जाने लगा है कि विकास का अर्थ केवल वृद्धि नही है। विकास एक बहुआयामी संकल्पना है, जिसमें उत्पादकता की बुद्धि के साथ वृद्धि का

समान सामाजिक वितरण तथा पारिस्थिकीय संतुलन (ecological balance) बनाए रखने पा भी विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार कृषि विकास से तात्पर्य उस उत्पादकता की वृद्धि से है जिसका लाभ समाज के सभी वर्गो को मिले तथा जिसके कारण पर्यावरण का अवांच्छनीय विरूपण न हो। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब कृषि के स्वरूप को निर्धारित करने वाले सभी करको का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाय। वर्तमान समय तक विकास के अर्न्तगत आने वाले तीनों तथ्यों – उत्पादकता वृद्धि, सामाजिक न्याय तथा पारिस्थितिक संतुलन –में से प्रथम पर अधिक जोर दिया जाता रहा है जिससे असंतुलन उत्पन्न होते रहे हैं। इनको दूर करने के प्रयास भी किए जाने लगे हैं। भारत में इस असंतुलन को दूर करने के लिए विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं मे अनेकों उपाय किए गए जिनमें सामुदायिक विकास योजना से लेकर गहन कृषि विकास क्षेत्र, सुखोन्मुख क्षेत्र विकास, सीमान्त एवं लघु कृषक विकास योजना आदि उल्लेखनीय हैं। इन्हें अब एकीकृत ग्रामीण विकास योजना के अर्न्तगत रखते हैं। इस तरह विकास की संकल्पना का कृषि के अध्ययन में उपयोग होता है।

बोध प्रश्न – 2

1. कृषि भूगोल के इतिहास को दो भागों में बांटने के आधार क्या है?

   ....

   ....

2. सन् 1950 के बाद कृषि भूगोल के उपागम में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन क्या हुआ?

   ....

   ....

3. ह्रासमान प्रतिफल का नियम क्या है?

   ....

   ....

4. उत्पादन की सीमा क्या होती है?

   ....

   ....

5. भूमि उपयोग तथा भूमि प्रयोग में अन्तर बताइए।

   ....

   ....

6. भूमि उपयोग गहनता और बहु भूमि उपयोग का क्या अभिप्राय है?

   ....

   ....

1.8 सारांश (Summary)

कृषि भूगोल कृषि–कार्यो के स्थानिक वितरण, उनके पारस्परिक सम्बन्धों तथा अन्य स्थानिक तत्वों से पारस्परिक क्रियाओं का विश्लेषण कर प्रादेशिक स्वरूप की व्याख्या करने वाला भौगोलिक विज्ञान है। वे सभी कार्य कृषि के अन्तर्गत आते हैं जिनका उद्देश्य मानव के लिए आवश्यक या उसके द्वारा वांछित वानस्पतिक एवं पशु उपजें उत्पन्न करना होता है। औद्योगीकरण और नगरीकरण में तीव्र वृद्धि होते हुए भी कृषि ही एक ऐसी क्रिया है जिससे सर्वाधिक क्रियाशील जनसंख्या लगी हुई है। विकासशील देशों में राष्ट्रीय आय का प्रमुख स्रोत कृषि होती है। कृषि के लिए उत्पादन की प्रति इकाई के लिए अपेक्षाकृत अधिक भूमि की आवश्यकता होती है। आर्थिक कार्य के रूप में कृषि को दो दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है – एक, जौविका अर्जित करने के साधन के रूप में; दूसरा, एक विशिष्ट प्रकार के जौवन के रूप में। कई उद्योगों के लिए कृषि कच्चे मालों का स्रोत है।

कृषि की परिधि में आने वाले प्रमुख विषय फसलोत्पादन तथा पशुपालन के लक्ष्य से किया गया भूमि उपयोग, भूमि उपयोग का स्थानीकरण तथा उसके निर्णय की प्रक्रिया, विभिन्न कृषि पद्धतियों का निर्धारण, कृषि पद्धतियों में स्थानिक एवं कालिक अंतर, तथा विभिन्न प्रकार की कृषि पद्धतियों का स्थानीय पर्यावरण के सम्बन्ध एवं पारस्परिक क्रियाओं का विवेचनात्मक अध्ययन हैं। भूगोल की अन्य शाखाओं की भाँति कृषि भूगोल में भी अध्ययन के लिए मुख्यतः क्रमबद्ध उपागम, प्रादेशिक उपागम और सेद्धान्तिक उपागम का उपयोग किया जाता है। प्रादेशिक विभिन्नता के विश्लेषण के कारण यह अन्य विज्ञानों से भिन्न है। परंतु एक शाखा के रूप में कृषि भूगोल की विषय सामग्री पर विचार बीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार कृषि भूगोल का इतिहास केवल एक शताब्दी पुराना है। सन् 1950 के बाद कृषि भूगोल की विषय–सामग्री, अध्ययन–विधि तथा उपागम में परिवर्तन हुए। भूगोल की सामान्य संकल्पनाओं के साथ ही कृषि भूगोल में कुछ अन्य संकल्पनाओं का विकास हुआ है। इन संकल्पनाओं में भूमि उपयोग की संकल्पना, कृषि भूदृश्य की संकल्पना, कृषि प्रदेश की संकल्पना तथा कृषि विकास की संकल्पना प्रमुख हैं।

1.9 शब्दावली (Glossary)

- **स्थानीय विन्यास:** क्षेत्र में तत्व/तत्वों के वितरण का स्वरूप
- **ग्राम्य भूदृश्य:** कृषि–प्रक्रियाओं के कारण ग्रामीण क्षेत्रों में निर्मित गांव का दिखने वाला सम्पूर्ण स्वरूप ग्रामीण भूदृश्य (Rural landscape) कहलाता हैं।
- **विशिष्ट कृषि:** केवल कुछ चुनी फसलों के उत्पादन में दक्षता रखने वाली कृषि
- **निवेश**: उत्पादन में पूँजी, श्रम एवं वस्तु के रूप में लगने वाली लागत
- **पारिस्थितिक तंत्र:** जैव समुदाय तथा निर्जीव परिस्थितियों के ऐसे प्राकृतिक तंत्र को, जिसमें विभिन्न संघटकों के बीच पारस्परिक क्रिया होती है तथा जिनमें पदार्थो का आदान–प्रदान होता है, पारिस्थितिक तंत्र कहते है।
- **क्रमबद्ध उपागम:** कृषि के किसी तत्व को आधार मानकर किया गया अध्ययन क्रमबद्ध उपागम कहा जाता है। यह विषयपरक (Topical) अध्ययन होता है।

- **वस्तुपरक उपागम (Commodity approach):** कृषि उत्पादों के वितरण प्रतिरूपों के अध्ययन को वस्तुपरक उपागम (Commodity approach) कहा जाता है।
- **प्रादेशिक उपागम:** किसी क्षेत्र (प्रदेश) विशेष के संपूर्ण कृषि–भूदृश्य का विश्लेषण प्रादेशिक उपागम कहलाता है। इसमें उस क्षेत्र के कृषि को प्रभावित करने वाले भौतिक–मानवीय कारक, फसलोत्पादन, उत्पादन की विधि आदि सभी सम्मिलित होते हैं।
- **सेद्धान्तिक उपागम:** सेद्धान्तिक उपागम में कृषि के स्थानीकरण, उसके वर्गीकरण तथा वितरण की व्याख्या के नियम तथा सिद्धांतों के बनाने पर जोर दिया जाता है। मॉडल बनाना भी एक उद्देश्य है।
- **निश्चयवादी:** प्राकृतिक वातावरण के तत्वों को कृषि के स्वरूप का निर्धारक मानने वाला दृष्टिकोण निश्चयवादी कहा जाता है।
- **सम्भववादी:** मानव अपने सतत् बढ़ते हुए वैज्ञानिक ज्ञान, तकनीकी, सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति के माध्यम से प्राकृतिक वातावरण के प्रभाव को कम कर कृषि के स्वरूप को बदलने में सफल हुआ। इसे सम्भववादी दृष्टिकोण कहा जाता है।
- **ह्रासमान प्रतिफल:** ह्रासमान प्रतिफल का नियम है कि अन्य बातें समान रहने पर श्रम तथा पूँजी की प्रति अगली इकाई के उपयोग से उत्पादन में होने वाली वृद्धि आनुपातिक वृद्धि से कम होती हैं।
- **भूमि उपयोग:** भूमि उपयोग का सामान्य अर्थ भूखण्ड का किसी रूप में उपयोग है। इस हेतु अंग्रेजौ में दो शब्दों का उपयोग होता है। प्रथम शब्द Use (प्रयोग) तथा दूसरा Utilization (उपयोग) है। इन शब्दों को लोगों ने अलग– अलग अर्थों में उपयोग किया है। 'प्रयोग' शब्द का प्रयोग भूमि के वृहद् उपयोगों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है जैसे किए भूमि का कृषि के लिए उपयोग, चारागाह, वन, अधिवास आदि के लिए प्रयोग। परंतु भूमि के उपयोग को अधिक विस्तार से बताने के लिये 'भूमि उपयोग शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रयोग के बड़े वर्गो से स्वभाविक प्रयोग का ही आभास मिलता है। ये की उपयोगों के समूह होते हैं। इन समूहों में सम्मिलित उपयोगों को बताने के लिए ही 'भूमि उपयोग' शब्द का प्रयोग होता है।
- **भूमि–उपयोग की गहनता (intensity of land use):** से तात्पर्य है कि निरा फसल के क्षेत्र का कितना अधिक भाग पुन: उपयोग किया जाता है। कुल फसलों क्षेत्रफल को निरा फसल के क्षेत्रफल के प्रतिशत के रूप मे रखकर भूमि उपयोग की गहनता व्यक्त करने की एक विधि है।
- **शस्य की गहनता (intensity of cropping)** एक कृषि–वर्ष की अवधि में एक ही खेत से कितनी फसले पैदा की जाती है उन्हें बताने के लिए कृषि गहनता शब्द का उपयोग होता है।
- **बहु–प्रयोग (Multiple land use):** बहु प्रयोग का तात्पर्य है कि एक ही भूमि का एक साथ कई तरह से प्रयोग होना। जैसे कि वनों का इमारती लकड़ी के साथ पर्यटन और वन्य जौवों के संरक्षण के लिए भी प्रयोग किया जाना बहु– प्रयोग है। ऐसे ही एक ही भूमि पर चावल की खेती, मछली पालन और केला उत्पादन भूमि का बहु प्रयोग है।
- **संयुक्त प्रयोग (Combined use)** अगर एक ही फार्म पर भूमिका दो अथवा दो से अधिक प्रयोग किए जाय तो इसे संयुक्त प्रयोग कहेंगे। इस तरह एक ही फार्म के कुछ भाग पर

फसलोत्पादन और कुछ भाग पर चारागाह का विकास किया जाए तो यह संयुक्त प्रयोग है। दोनो प्रयोगों के भूखंड अलग–अलग होते हैं।

- **कृषि भूदृश्य:** कृषि भूमि उपयोग, उपयोग की विधि, उपयोग की व्यवस्था आदि के फलस्वरूप एक विशिष्ट प्रकार की दृश्यावली दिखाई देने लगती है, जिसे कृषि–भूदृश्य कहते हैं।
- **कृषि प्रदेश:** ऐसा क्षेत्र जहाँ समान परिस्थितियों के कारण समान प्रकार की कृषि का विकास हुआ हो कृषि प्रदेश कहा जा सकता है।
- **कृषि विकास** कृषि विकास से तात्पर्य उस उत्पादकता की वृद्धि से है जिसका लाभ समाज के सभी वर्गो को मिले तथा जिसके कारण पर्यावरण का अवांच्छनीय विरूपण न हो।

1.10 संदर्भ (Reference Books)

1. Bernhard, H. (1915) Die Agarrgeographicals Wissenschaft–liche Discipline in *Petermanns Mitteilungen*, Vol. 61 as cited by H.F Gregor, 1970, p 2.
2. Buchanan, R.O (1959) Some reflections of agriculture geography, Geog. 44, pp 1–13
3. Coppock, J.T. (1968) The Goegraphy of Agriculture *Jour. Agr. Eco.* 19, pp 153–175
4. Gregor, H.F. (1970) *Agriculture Geography*. Prentice Hall: Englewood Cliff, N.J
5. Husain, Majid (1986) *Agricultural Geography*. New Delhi: IIP.
6. Kishan, Gopal (1980) The concept of agricultural development, pp 77–85 in Noor Mohammad, ed, *Perspectives in Agricultural Geography*. Concept Pub. Co.I New Delhi
7. Mohammad, Noor, ed. (1992) *New Dimensions in Agricultural Geography.* Concept Pub. Co., New Delhi
8. Morgan, W.G. and R.J.C Munton (1974) *Agricultural Geography.* London: Methuen & Co. Ltd.
9. Otremaba, E. (1964) Die Landwritschaftswissenschaften in Beziehung zur Landwirtschafts geography, *Erde*. 95, as cited by H.F. Gregor (1970) p.2.
10. Reeds L.G. (1964) Agriculture Geography: Progress and prospects, *Canadian Gregr*. 8, pp 51–63.
11. Singh Jasbir and S.S. Dhillon (1984, 1987, 1994) *Agricultural Geography*. New Delhi: Tata McGraw - Hill Pub.
12. Symons, L. (1968) *Agriculture Geography.* London: G. Bell and Sons. Ltd.
13. Tarrant, J.R. (1974) *Agricultural Geography*. Newton Abot Davi & Charies.
14. Waible L. (1933) *Problems der Land wirtscha ftsgeographie,* Breslau Hirst, as quotted by H.F. Gregor (1970)

15. Zimmerman, E.W. (1951) *World Resources and Industries.* New York: Harper and Brothers
16. कुमार, प्रमीला एवं श्रीकमल शर्मा: कृषि भूगोल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल, 2008.
17. साइमन, लेसली कृषि भूगोल (अनुवादक एस कटारे), मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल.
18. सिंह, ब्रजभूषण, कृषि भूगोल, ज्ञानोदय प्रकाशन, गोरखपुर
19.तिवारी आर सी तथा बी एन सिंह कृषि भूगोल, प्रयाग पुस्तक सदन इलाहाबाद

1.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. कृषि भूगोल का एक शाखा के रूप में विकास बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ।
2. रिड्स के अनुसार ' विस्तृत अर्थों में कृषि भूगोल कृषि की क्षेत्रीय विभिन्नता का वर्णन एवं व्याख्या करना है।
3. "सोद्देश्य फसलोत्पादन एवं पशुपालन को कृषि कहते हैं।"
4. सन् 2004 में विश्व की 44.7 प्रतिशत जनसंख्या कृषि में कार्यरत है।
5. इस प्रकार की कृषि में कृषि – प्रक्रिया से कृषक का जौवन सम्बद्ध होता है। अर्थात् कृषक के जौवन के सभी पक्ष कृषि से जुडे हैं।
6. कृषि पर आधारित उद्योग हैं - सूती, ऊनी एवं जूट वस्त्रोद्योग, शक्कर उद्योग तथा फल – सब्जियों पर आधारित उद्योग।
7. क्रमबद्ध,
8. प्रादेशिक

बोध प्रश्न–2

1. विषय सामग्री, उपागम और विधि के अन्तर लगन में रखकर कृषि भूगोल के इतिहास को दो कालों में विभक्त किया जाता है।
2. सेद्धांतीकरण तथा सामान्य नियम बनाने पर जोर दिया जाने लगा।
3. ह्रासमान प्रतिफल का नियम है कि अन्य बातें समान रहने पर श्रम तथा पूँजी की प्रति अगली इकाई के उपयोग से उत्पादन में होने वाली वृद्धि आनुपातिक वृद्धि से कम होती है।
4. वह दशा जब प्रति इकाई निवेश अथवा प्रति इकाई अतिरिक्त भूमि से लाभ नहीं होता है, उसे उत्पादन की सीमा (margin of production) कहते हैं।
5. 'प्रयोग ' शब्द भूमि के वृहद् उपयोगों को व्यक्त करने के लिए किया जाता है जैसे कि भूमि का कृषि के लिए प्रयोग,चारागाह, वन, अधिवास आदि के लिए प्रयोग। परंतु भूमि के उपयोग को अधिक विस्तार से बताने के लिये 'भूमि उपयोग' शब्द का प्रयोग किया जाता है।
6. भूमि–उपयोग की गहनता (intensity of land use) से तात्पर्य है कि निरा फसल के क्षेत्र का कितना अधिक पुन: उपयोग किया जाता है। कुल फसलों के क्षेत्रफल को निरा फसल के क्षेत्रफल के प्रतिशत के रूप में रखकर भूमि उपयोग की गहनता व्यक्त करने की एक विधि है। बहु भूमि प्रयोग (Multiple land use) का तात्पर्य है कि एक ही भूमि का एक साथ कई

तरह से प्रयोग होना। जैसे कि वनों का इमारती लकड़ी के साथ पर्यटन और वन्य जौवों के संरक्षण के लिए भी प्रयोग किया जाना बहु–प्रयोग है।

1.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कृषि भूगोल की परिभाषा दीजिए तथा इसके क्षेत्र का विश्लेषण कीजिए।
2. कृषि भूगोल की प्रकृति एवं विकास की विवेचना कीजिए।
3. कृषि भूगोल के अध्ययन के लिए अपनाए जाने वाले उपागमों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
4. कृषि भूगोल की प्रकृति, विषय– क्षेत्र एवं महत्व का परीक्षण कीजिए।
5. कृषि भूगोल के अध्ययन के लिए अपनाए गए वस्तुपरक तथा प्रादेशिक उपागमों की व्याख्या कीजिए।
6. विस्तृत अर्थो में कृषि भूगोल कृषि की क्षेत्रीय विभिन्नता का वर्णन एवं व्याख्या करता है। इस कथन की व्याख्या कीजिए।

इकाई 2: कृषि का उद्भव, प्रसार एवं विकास (Origin Dispersal and Development of Agriculture)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 कृषि का अभ्युदय एवं प्रसार
  2.2.1 चाइल्ड के विचार
  2.2.2 ब्रेड के विचार
  2.2.3 सी. ओ. सावर के विचार
  2.2.4 वेवीलोव के विचार
2.3 ऐतिहासिक कृषि क्रांतियाँ
  2.3.1 प्रथम कृषि क्रांति
  2.3.2 कांस्ययुगीन द्‌वितीय कृषि क्रांति
  2.3.3 रोमनयुगीन तृतीय कृषि क्रांति
  2.3.4 ब्रिटेन में कृषि क्रांति
  2.3.5 अमेरिका में कृषि क्रांति
  2.3.6 यूरोप में कृषि क्रांति
2.4 आर्थिक तथा कृषि विकास
  2.4.1 पश्चिमी यूरोप में कृषि तथा आर्थिक विकास
  2.4.2 पूर्वी यूरोप में कृषि का नियोजित विकास
  2.4.3 विश्व में नवीन देश
    2.4.3.1 संयुक्त राज्य अमेरिका
  2.4.4 अल्पविकसित देशों की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का स्थान
    2.4.4.1 अफ्रीकी देश
    2.4.4.2 लैटिन अमेरिकी देश – अर्जेन्टाइना
    2.4.4.3 एशियाई देश
    2.4.4.4 भारत में कृषि : एक ऐतिहासिक समीक्षा
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 संदर्भ ग्रंथ
2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

2.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे: –

- कृषि की उत्पत्ति एवं प्रसार सम्बन्धी विभिन्न विद्वानों के विचार,
- पुरानी तथा नवीन दुनिया के विभिन्न भागों में कृषि का क्रमिक विकास,
- ऐतिहासिक कृषि–क्रान्ति: कारण एवं परिणाम, तथा
- भारत में ऐतिहासिक काल में कृषि–पद्धति रख विकास।

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

किसी भी देश की अर्थव्यवस्था तथा आर्थिक विकास में कृषि का बहुत महत्वपूर्ण योगदान होता है। अन्य आर्थिक कार्यो की तुलना में कृषि का क्या सापेक्ष स्थान है, यह इस बात पर निर्भर करता है कि देश आर्थिक विकास के किस सोपान पर है। विकास के प्रारम्भिक काल में अर्थव्यवस्था का आधार कृषि तथा अन्य संबंधित कार्य, जैसे पशुपालन, मछली पकड़ना, शिकार करना इत्यादि होते हैं। अधिकांश जनसंख्या को जौविका इन्हीं कार्यो से मिलती है, जैसा कि आज भी अल्पविकसित तथा विकासशील देशों में पाया जाता है। विकास के साथ अन्य प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग होने लगता है, यथा खनिज तथा वनसंपदा। परिणामस्वरूप उद्योग, व्यापार तथा सेवा कार्य भी महत्वपूर्ण कार्य हो जाते हैं। धीरे धीरे ये जनसंख्या के अधिकाधिक प्रतिशत की जौविका के साधन हो जाते हैं। कृषि तथा अन्य सम्बन्धित कार्यो पर निर्भरता कम हो जाती है। पश्चिमी यूरोप के देश इस विशेषता के अच्छे उदाहरण हैं। उपर्युक्त तथ्य से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि विकसित देशों में कृषि का महत्व कम हो जाता है। वास्तविकता तो यह है कि कुछ दृष्टिकोणों से अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्व किसी प्रकार कम नहीं हो सकता।

आज के विकसित देशों के इतिहास से स्पष्ट होता है कि आर्थिक विकास के प्रारंभ में कृषि का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। कृषि– उत्पादन के बढ़ने से औद्योगिक विकास को कई ढंगों से सहायता मिली है। कृषि से हटकर कुछ मजदूर औद्योगिक केन्द्रों में काम कर सके, साथ ही भोजन उत्पादन का भार उनके ऊपर नहीं रहा और उन्हें भोजन मिलता रहा। कृषि–उत्पादन बढ़ने से प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि हुई अत: क्रय क्षमता बढ़ी। परिणामत: बाजार का विस्तार हुआ। इससे औद्योगिक उत्पादन की अधिक खपत हो सकी। इससे अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि औद्योगिक विकास के प्रारंभिक काल में कृषि तथा ग्रामीण क्षेत्रों से पूँजी प्राप्त हुई। अतिरिक्त कृषि–उत्पादन का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार भी किया गया, जो पुन: पूँजी के एकत्रण में सहायक हुआ तथा उसने विदेशी औद्योगिक कंपनियों को भी आकर्षित किया। परिणामस्वरूप आवश्यक भोजन –सामग्री तथा औद्योगिक सामग्री का आयात संभव हो सका अत: यह स्पष्ट है कि आर्थिक विकास की पहली सीढ़ी कृषि विकास है।

2.2 कृषि का अभ्युदय एवं प्रसार (Origin and Dispersal of Agricultural)

अत्र–उत्पादन और पशुपालन संभवत: 8000 ई. पू. से प्रारंभ हुआ। यह विवादास्पद विषय है कि कृषि का मूल क्षेत्र कौन सा है? विद्वानों के एक बड़े समुदाय का मानना है कि कृषि का आरंभ ईरान–मेसोपोटामिया की नदी–घाटी और लोएस मिट्टी क्षेत्र पर हुआ। इस वर्ग के विद्वानों में

सांस्कृतिक इतिहासकार–चाइल्ड और नृतत्वशास्त्री ब्रेडवुड (Braidwood, 1952), है। सी.ओ. सावर (C.O. Sauer, 1952) और एच. वी. विसमन (Wismann, 1956) जैसे भूगोलशास्त्री इस मत के विरोध में हैं। इस संबंध में निम्नलिखित विद्वानों के विचार दृष्टव्य हैं।

2.2.1 चाइल्ड के विचार

2.2.2 बेड के विचार

2.2.3 सी. ओ. सावर के विचार

सावर ने अपनी पुस्तक कृषिय उद्भव एवं प्रसार (1952) में लिखा कि कृषि के पारम्परिक उद्भव स्थलों के अलावा नवीन तथा पुरानी दुनिया के क्षेत्रों में दो अलग–अलग कृषि के आरंभ के क्षेत्र रहे हैं। उनके अनुसार पुरानी दुनिया में कृषि का उद्भव क्षेत्र दक्षिणी एशिया में था तथा नवीन दुनिया में उत्तरी एण्डीज की घाटियों तथा निम्न भू भाग में थे। सावर ने इन क्षेत्रों को पाँच लक्षणों के आधार पर चुना है।

1. कृषि का जन्म उन समुदायों में नहीं हुआ जिनमें भोज्य पदार्थो की कमी थी क्योंकि इसके लिए परीक्षण की आवश्यकता होती है जिसके लिए लम्बे समय तक पर्याप्त खाद्य पदार्थ की आवश्यकता होती है। इस कारण उनके द्वारा कृषि आरंभ की गई जिनको परीक्षण करने की पर्याप्त स्वतंत्रता थी।
2. पौधों तथा पशुओं का पालन उन क्षेत्रों में आरंभ हुआ जहाँ प्रकृति में इनकी विविधता थी जिनका उपयोग शंकर किस्म की प्रजाति विकसित करने में किया जा सका।
3. आदिम कृषि का जन्म नदियों की घाटियों में नहीं हुआ, क्योंकि यहाँ बाढ़, दलदल आदि की समस्यायें थीं। यह पहाड़ी क्षेत्रों में विकसित हुई है।
4. कृषि के लिए भूमि साफ करने तथा मिट्टी खोदने की सरलता के कारण कृषि का प्रारंभ वन्य प्रदेशों में हुआ। यहाँ वनों को जला कर भूमि पाना सरल था।
5. कृषि के जन्मदाता स्थायी रहने वाले होने चाहिए, क्योंकि फसलोत्पादन के लिए निरंतर सुरक्षा तथा मेहनत आवश्यक थी। कृषि के जन्मदाताओं ने पहले ही इसकी विधि की कुशलता प्राप्त कर ली थी, परंतु घुमंतू आखेटकों में यह प्रवृत्ति नहीं थी और न ही उनके निवास – क्षेत्र में उपरोक्त दशाएं मिलती थीं।

इन गणों के आधार पर सावर ने कृषि के अन्वेषण के लिए उपयुक्त पर्यावरण को ढूंढ़ा। इस प्रकार की दशाएँ केवल दक्षिण पूर्वी एशिया में उपलब्ध थीं। अस्तु दक्षिण' पूर्वी एशियाई क्षेत्र कृषि की उत्पत्ति का मूल स्थान होना चाहिए। दूसरा उत्तरी एंण्डीज की भी दशाएं इसके अनुकूल थीं। सावर के अनुसार बीज पर आधारित मध्यपूर्व, चीन और मध्य अमेरिका में कृषि का उद्भव बाद के समय में हुआ है। दक्षिणपूर्वी एशिया के पक्ष में सावर द्वारा प्रस्तुत तथ्यों के प्रमुख आलोचक हेलबैक (Helback) हैं। इन्होंने इस कल्पना पर ही प्रश्न चिन्ह लगाया है कि पौधों की विविधता वाले क्षेत्र ही फसल वाले पौधों के उद्रम स्थान हैं। उनका कहना है कि इन पौधों में पाई जाने वाली विविधता कई अन्य कारणों से हो सकती है, जैसा कि मानवीय आवास–प्रवास एवं पौधों का परसंसेचन (Cross–fertilization)।

यह भी विवादास्पद विषय है कि प्रारंभिक काल में फसल के उत्पादन और पशुपालन का पारस्परिक सम्बन्ध क्या था? एक मत है कि पशुपालन का प्रारम्भ अन्नोंत्पादन के साथ दक्षिणपश्चिमी एशिया में हुआ तथा प्रमुख पशु भेड़, बकरी एवं गाय थीं। दूसरे सिद्धांत के अनुसार अन्नोंत्पादन एवं पशुपालन की शुरूआत दो विभिन्न क्षेत्रों में हुई। बाद में दोनों अर्थव्यवस्थाएँ एक दूसरे से मिलजुल कर मिश्रित कृषि के रूप में विकसित हुई।

सावर के अनुसार कृषि के जन्मदाता संभवत: विकासशील मछली पकड़ने वाले लोग थे जो अपेक्षया सम जलवायु के क्षेत्रों में स्वच्छ जल के जलाशयों के निकट रहते थे। उनके अनुसार कृषि का मूल स्थान दक्षिणपूर्वी एशिया है। आरंभिक पालतू पशु, कुत्ते, सुअर, मुर्गी, बत्तख तथा हंस थे। ये पशु–पक्षी दक्षिणपश्चिमी एशियाई पशुओं से भिन्न थे। दक्षिणपूर्वी एशिया में ही मनुष्य ने पौधों को उगाने तथा वानस्पतिक वस्तुओं के उत्पादन की विधियाँ पहले सीखी तथा बोना बाद में प्रारंभ हुआ।

मूल स्थान से पौधे एवं पशु किन मार्गो का अनुसरण करके विश्व के विभिन्न भागों में वितरित हुए, इस विषय में भी असहमति है। फिर भी सावर द्वारा प्रस्तावित मार्ग अधिकांश लोगों को मान्य हैं। सावर तथा अन्य भूगोलशास्त्री इस बहुचर्चित मत के भी विरूद्ध है कि नवीन तथा पुरानी दुनिया में कई केन्द्रों पर स्वतंत्र रूप से समानान्तर कृषि विकसित हुई। उनके अनुसार दक्षिणपूर्वी एशिया से ही इसका विभिन्न भागों में प्रसार हुआ है। इसका प्रसार प्रशांत तटीय क्षेत्र में चीन तक, हिन्दमहासागर के चारों ओर अफ्रीका तक तथा भूमध्यसागरीय क्षेत्र से होकर यूरोप तक हुआ। मैक्सिको और मध्य अमेरिका की सीमावर्ती क्षेत्र बीज–उत्पन्न का प्रमुख उद्रम स्थल था। हाल ही (1964) में मैक्नीश (Mac Neish) ने मैक्सिको में लगभग 7000 ई. पू. के प्राचीन पौधे के अवशेष की खोज करके इस बात को पुन: बल दिया है कि इस भाग में भी पुरानी दुनिया के समकाल में कृषि विकसित हो रही थी

2.2.4 वेवीलोव के विचार

रूसी विद्वान वेविलोव (N.I. Vavilove, 1951) ने कृषि के उद्भव पर बहुत उल्लेखनीय शोध किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में पहला सिद्धान्त दिया कि विश्व में पौधों की प्रजातियों का वितरण समान नही है। कुछ भागों में असंख्य जाति के पौधे हैं। इनमें दक्षिणपूर्वी चीन, हिन्दचीन, मलाया, भारत, दक्षिणपश्चिमी एशिया, इथियोपिया, मध्य अमेरिका, दक्षिण अमेरिका का एण्डीज क्षेत्र तथा दक्षिणी मैक्सिको में पौधों की बहुत अधिक प्रजातियां मिलती हैं। वेवीलोव ने विश्व के विभिन्न भागों से पौधों का संग्रह किया तथा उनका वानस्पतिक विधियों का उपयोग कर विश्लेषण किया। साथ ही इन पौधों के विकास की पारिस्थितिकी तथा जलवायवी दशाओं का भी अध्ययन किया। इनके अलावा पुरातत्व, इतिहास तथा भाषाविज्ञान की सूचनाओं पर भी विचार किया।

इन विश्लेषणों के आधार पर वेवीलोव ने पहले छ: और बाद में आठ कृषि के उद्भव के मूल स्थलों का निर्धारण किया हैं। ये आठ केन्द्र हैं (चित्र – 2.1) -

1. चीन (मध्य तथा पश्चिमी भाग),
2. भारत (आसाम तथा वर्तमान म्यांमार सहित),
3. मध्य एशिया (इसमें उत्तरपश्चिम भारत, अफगानिस्तान, तजाकिस्तान, उजबेकिस्तान तथा पश्चिमी तियान शान सम्मिलित हैं)

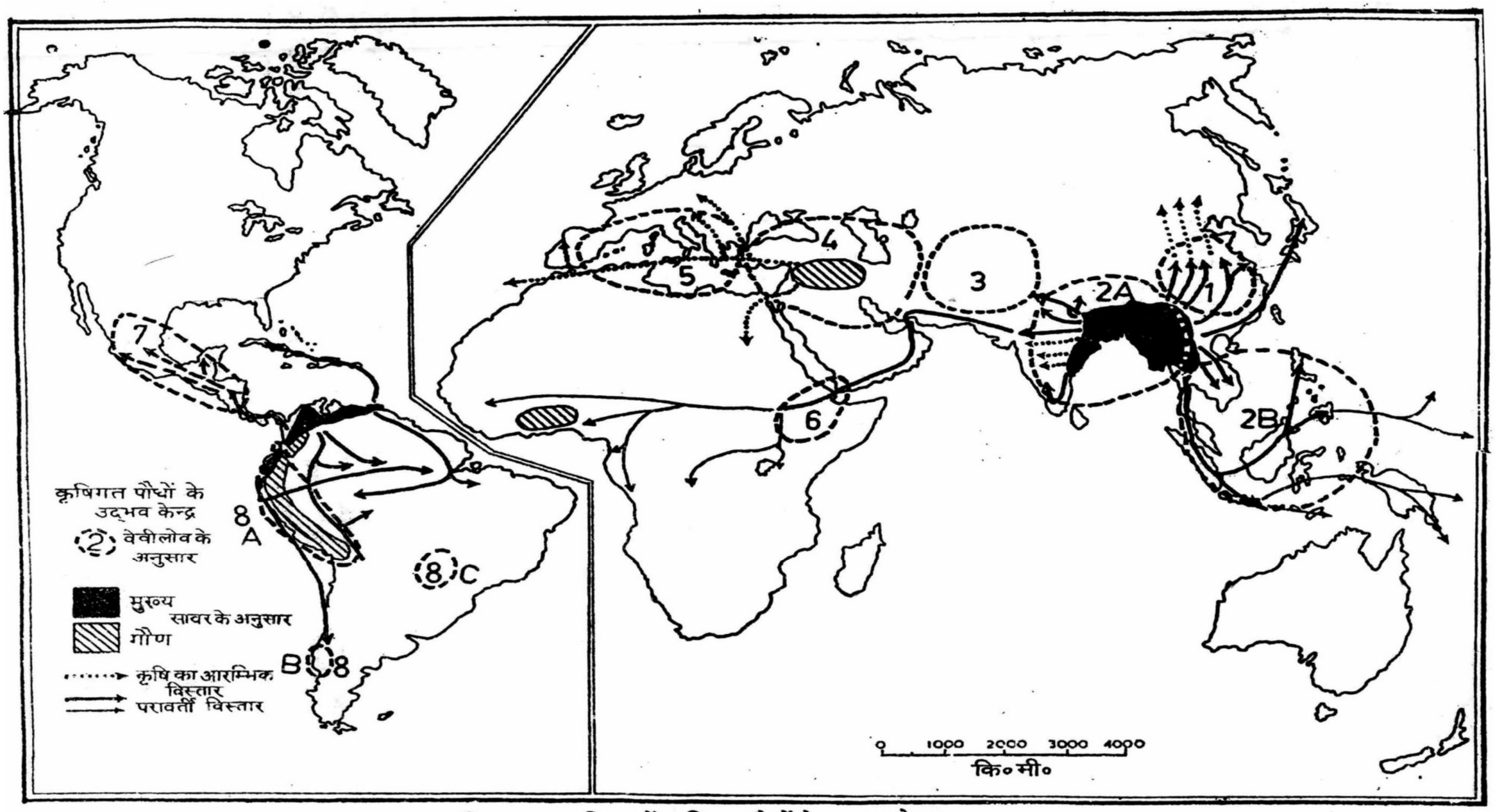

चित्र–2.1 : विश्व में कृषिगत पौधों के उद्भव केन्द्र

4. मध्यपूर्व (एशिया माइनर, काकेशस क्षेत्र, ईरान तथा तुर्कमेनिस्तान का उच्च भाग),
5. भूमध्यसागरीय क्षेत्र,
6. पूर्वी इथियोपिया,
7. दक्षिणी मैक्सिको तथा मध्य अमेरिका (दक्षिणी मैक्सिको, ग्आटेमाला, होंडुरस तथा कोस्टारिका), तथा
8. दक्षिणी अमेरिका।

वेवीलोव की सूची के अनुसार कृषिगत अनेक पौधों का उद्भव एशिया में हुआ है। कुल 600 मुख्य फसलों में से 400 का उत्पत्तिस्थल एशिया को माना है और केवल 100 फसलों का उद्भव दोनों अमेरिकी महाद्वीपों में हुआ है। इनका मानना था कि ये आठ केन्द्र एक दूसरे से स्वतंत्र विकसित हुए हैं। ईरान तथा ईराक केन्द्रों पर कुछ समानता मिलती है।

प्रारंभिक कृषि में घास वाले पौधे (अन्न के लिए), फली वाले पौधे (प्रोटीन तथा चर्बी के लिए) तथा संभवतः रेशे वाले पौधे (कपास) सम्मिलित थे। साथ ही पूर्वी भूमध्यसागरीय क्षेत्र में पशुपालन भी प्रारंभ हो गया था। यह मिश्रित कृषि 5000 ई. पू. तक प्रारंभ हो चुकी थी। इसके एक हजार वर्षों बाद यूरोप में कृषि का प्रसार हुआ। यह आदिम प्रकार की कृषि थी। नव पाषाण युग के अंतिम चरण में ही पशुपालन का महत्व बढ़ा। लगभग 2000 ई. पू. तक अन्न उत्पादन तथा पशु पालन का प्रचलन आयरलैण्ड तक हो चुका था।

कांस्य युग (1500 – 500 ई. पू.) में उत्तरी यूरोप में कृषि के औजारों, जैसे हल आदि का विकास हुआ। लौह युग में हल में लोहे के उपयोग से अपेक्षा भारी मिट्टी पर भी कृषि प्रारंभ हो गई। लगभग 800 ई. पू. तक ग्रीस में लोहे के हल्के उपयोग से कृषि का इतना विकास हुआ कि आवश्यकता से बहुत अधिक फसलें पैदा होने लगी। फलस्वरूप नगरों का अभ्युदय संभव हुआ। सीढ़ीनुमा खेतों में अंगूर और जैतून लगाया जाने लगा था। यहाँ से उत्तम नस्ल के पशु, अन्न और फल उपनिविशों में भेजे जाते थे; जिनका विस्तार मिस्त्र तथा क्रीमिया से आइबेरियन प्रायद्वीप तक था। बदले में कुछ नये पौधे और पशु ग्रीस लाये गये। चौथी शताब्दी ई. पू. तक कृषि तथा उसका संचालन एक कला समझा जाता था।

ग्रीस तथा रोम के उपनिवेश–विस्तार काल में कृषि उत्पादन तथा कृषि सम्बन्धी विचारों का आदान–प्रदान होने लगा था। तभी कृषि–वस्तुओं का व्यापार प्रारम्भ हुआ। कृषि तथा भूमि सुधार की वैज्ञानिक विधियों का आविष्कार भी हुआ, जिनमें सिंचाई का विकास प्रमुख है। दूसरी शताब्दी तक रोमन कृषि की विधियों, औजारों, पौधों तथा पशुओं का विस्तार आयरलैण्ड, स्कैण्डिनेविया तथा साइबेरिया तक हो चुका था।

2.3 ऐतिहासिक कृषि क्रांतियाँ (Historical Agriculture Revolutions)

2.3.1 प्रथम कृषि क्रांति (First Agriculture Revolution)

कृषि की परंपरा आदिम मानव से जुड़ी हुई है। ज्ञान की वृद्धि के साथ कृषि की विद्या, पशुपालन आदि में क्रांतिकारी परिवर्तन होते रहे हैं, जिसे वैज्ञानिक कृषि क्रांति में नामांकित करते हैं। रंधावा (1974) ने कृषि का इतिहास का प्रारंभ उर्वर पेटी (Fertile crescent) में बताया जो इजराइल,

अनातोलिया; मेसोपोटामिया (ईराक) तथा ईरान के पठार तक फैली है। यहाँ प्रथम कृषि क्रांति 7000 ई. पू. में आरंभ हुई और यूरोप तक 2000 ई. पू. में पहुँची। यहाँ से गेहूँ तथा जौ और पालतू जानवर जैसे, गाय, भेड़, बकरी तथा सुअर संसार के अन्य भागों में फैले। नव प्रस्तरकाल (Neolithic age) की संस्कृति यहाँ से ही भूमध्यसागरीय प्रदेशों, उत्तरी यूरोप तथा दक्षिण में भारत तक आई। अफगानिस्तान में काकेशस के मध्य के पर्वतीय भाग में कपास, फ्लैक्स तिलहन, प्याज, आलूबुखारा, आड़ू बादाम, चेरी, सेब, नाशपाती, अंगूर, अखरोट, स्ट्रॉबेरी आदि भी विश्व के अन्य भागो में पहुँचे। मेसोपोटामिया में तब खेत बनाने के लिए एक टेड़ी लकड़ी का उपयोग होता था जिसमें नुकीला पत्थर बाँधा जाता था। कृषि तथा पशुपालन के अतिरिक्त नव प्रस्तर काल में पत्थर के औजार बनाना, लकड़ी तथा मिट्टी की वस्तुएँ बनाना, कपड़ा तथा मकान बनाना भी प्रचलित हो गया था।

पूर्वी भारत के पर्वतीय प्रदेशों से दक्षिणी मध्य चीन तक के भूभाग में चाय, सोयाबीन, लीची तथा निम्बू प्रजाति के फलों की खेती प्रारंभ हुई। चीन के नव प्रस्तर काल में चावल तथा चाय की खेती कृषि क्रांति के आधार थे। नयी दुनिया में कृषि क्रांति मैक्सिको, पेरू और बोलिविया से आरंभ हुई। लगभग 3000 ई. पू. में आलू टमाटर, शकरकन्द, कसावा, कोको, मूँगफली, मिर्च, पपीता, अनन्नास, अमरूद, काजू आदि की कृषि यहाँ आरंभ हुई। मक्का यहाँ का प्रमुख भोजन था जिसकी कृषि 2000 ई. पू. के लगभग आरंभ हुई।

लगभग 2500 ई. पू. पंजाब, सिन्धु, गुजरात तथा राजस्थान के कुछ भागों में गाँव बस गये थे जिनके निकट जौ तथा गेहूँ की खेती होने लगी थी। यहीं पर पत्थर के औजारों के बाद पीतल तथा ताँबे के औजारों का उपयोग आरंभ हुआ। खानाबदोश पशुपालन के बाद यहाँ ही अनाज की खेती आरंभ हुई। सिचांई भी की जाने लगी। बाढ़ का पानी जलाशयों में एकत्रित किया जाता था तथा नहरों से सिंचाई होती थी। यहाँ के निवासी विभिन्न धातुओं की वस्तुएँ बनाने लगे थे तथा अनाज की कृषि के अतिरिक्त गाय, भैंस, ऊँट, भेड़, सुअर, मुर्गी आदि पालने लगे। पहिये के आविष्कार के बाद गाड़ी का उपयोग परिवहन में होने लगा था। लगभग 2000 ई. पू. में धान की खेती उड़ीसा तथा बंगाल से देश के अन्य भागों में फ़ैली। कृषि क्रांति के परिणामस्वरूप जनसंख्या का विस्फोट भी हुआ।

2.3.2 कांस्ययुगीन द्वितीय कृषि क्रांति (Second Agriculture Revolution of Bronze Age)

द्वितीय कृषि क्रांति आर्य जाति से सम्बन्ध है। कांस्य युग (Bronze age) के इन लोगों ने मोहन जोदड़ो, हड़प्पा और रोपड़ में बसी जातियों पर विजय प्राप्त की तथा गंगा और सिन्धु की घाटी में जौ की खेती आरंभ की। घोड़े, गाय भेड़, बकरी पाली जाने लगी। लौह युग के आरंभ होने पर (100 ई. पू.) द्वितीय कृषि क्रांति हुई। लोहे के हल से बड़े प्रदेश को जोतना संभव हुआ तथा यह पद्धति संसार के सभी भागों में फैल गई। गंगा के मैदान में भी विस्तृत भागों के वन साफ किये गये और कृषि आरंभ हुई। खादों तथा बैल से खींचने वाले हल का उपयोग इसी समय आरंभ हुआ। रंधावा के अनुसार (1974, पृ. 5) इस काल में कृषि का अधिक विकास इसलिए नहीं हुआ क्योंकि जाति प्रथा आरंभ हो गई थी। बुद्धिजौवी तथा शारीरिक श्रमिकों के अलग वर्ग बन गये थे।

2.3.3 रोमनयुगीन तृतीय कृषि क्रांति (Third Agriculture Revolution of Roman Period)

तृतीय कृषि क्रांति का श्रेय रोमन लोगों को है। भूमध्यसागर के तटीय प्रदेशों में ओट्स, चुकन्दर, अंजौर, फ्लैक्स, बन्दगोभी तथा फूलगोभी तथा फली (Legumes) की कृषि प्रारम्भ हुई। यहाँ से ही फसलों का आवर्तन तथा भूमि को पड़ती छोड़ने की पद्धति का विस्तार हुआ। पड़ती पर छोड़ी हुई भूमि चारागाह तथा फली के लिए उपयोग में आती थी। रोमन काल में कृषकों का महत्व सेनिकों के समान ही समझा जाता था। उस काल की कृषि से सम्बन्धित कई अन्य ग्रंथ मिलते है। वारो (50 ई. पू.) कोमेला तथा प्लीनी के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

2.3.4 ब्रिटेन में कृषि क्रांति (Agriculture Revolution in Britain)

ब्रिटेन में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास के बाद ही कृषि क्रांति तथा उसके पश्चात् औद्योगिक क्रांति हुई। कृषि क्रांति 17वीं शताब्दी में आरंभ हुई। फसलों का आवर्तन तथा यूरोप से लाये गये औजारों का उपयोग प्रारंभ हुआ। स्पेनिश क्लोवर तथा यूरोप से लाई गई अन्य उत्तम घासों की किस्मों तथा टर्निप की खेती प्रमुख विशेषताएँ थी फलों तथा सब्जियों की कृषि आरंभ की गई। अनाजों की कृषि पद्धति भी बेहतर की गई। यूरोप में कृषि उत्पादन की बढ़ती हुई माँग ने कृषि के विस्तार में सहायता दी। व्यापार तथा उद्योगों से अर्जित पूँजी का कृषि में विनियोग हुआ तथा बड़े पैमाने पर कृषि भूमि सुधारी गई।

कृषि क्रांति का अनुकूल प्रभाव पशु उद्योग पर भी हुआ। पहले केवल कुछ पशुओं को रखकर अन्य को जाड़े के पूर्व काट लिया जाता था, क्योंकि चारे की कमी हो जाती थी। किन्तु फसल आवर्तन पद्धति के परिमाणस्वरूप अधिक भूमि पर घास तथा चारे की फसलें होने लगीं अत: गायों तथा भेड़ों के लिए जाड़े का चारा भी मिलने लगा। कृषि का चरम विकास का काल सन् 1870 में आ गया था। इसके पश्चात् नयी दुनिया से अनाज का आयात होने लगा अत: ब्रिटेन में कृषि उपेक्षित होने लगी।

2.3.5 अमेरिका में कृषि क्रांति (Agriculture Revolution in America)

16वीं तथा 17वीं शताब्दी में बड़ी संख्या में यूरोपीय कृषक अमेरिका में आकार बसने लगे और उन्होंने कृषि का विस्तार किया। वर्ष 1840 – 50 के बाद रेलों द्वारा भीतरी भाग अटलांटिक तट से जोडे गये अत: भीतरी मैदानों पर भी कृषि की संभावनाएँ बढ़ती गयीं। यहाँ समस्या भूमि की नहीं, श्रम की थी। अधिक भूमि पर थोड़े से किसान किस प्रकार कृषि करें। साथ ही फसलों के चुनाव, पशुओं के चारे, सिंचाई तथा जल निकास संबंधी अनेक समस्याएँ थीं। कृषि विद्यालयों ने कृषि सम्बन्धी समस्याओं के निदान में समुचित कार्य किया। भोगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप फसलों के चुनाव के सुझाव दिये। पशुओं और उनके चारे के संबंध में सहायता दी। अच्छे किस्म के बीजों तथा बेहतर नस्ल के पशुओं का विकास किया। प्राकृतिक क्षमता के अनुसार भूमि के वर्गीकरण का काम भी किया गया।

सन् 1890 में कृषि कार्य के लिए ट्रैक्टर का आविष्कार हुआ। प्रथम विश्व युद्ध के काल में खेतिहर भूमि पर मजदूरों की और भी कमी हो गई अत: उसकी पूर्ति ट्रैक्टर से की गई तथा घोड़ों तथा खच्चरों की संख्या कम होती गई। जो भूमि जानवरों के चारे के लिए उपयोग में आती थी उसकी

भी कमी होती गई। अमेरिका में अब कृषि कार्य के लिए पशुपालन नहीं के बराबर है। द्वितीय विश्व युद्ध के काल में मजदूरों की कमी और भी अधिक हो गई तथा भोज्य सामग्री की माँग बढ़ने के कारण ट्रैक्टरों का प्रचलन बढ़ता गया। ग्रेन ड्रिल (Grain drill) के आविष्कार के बाद एक एकड़ को बोने में केवल कुछ मिनटों की आवश्यकता रह गई और एक एकड़ भूमि में गेहूँ की उपज केवल कुछ घंटों के कार्य से संभव हो सकी। इस प्रकार के यंत्रीकरण के लिए अमेरिका की विरल जनसंख्या तथा विस्तृत कृषि भूमि उपयुक्त थी। यंत्रीकरण को लाभप्रद बनाने के लिए बड़े फार्म आवश्यक हैं। साथ ही भूमि, यंत्र तथा पशु का संयुक्त मूल्य भी बहुत अधिक होता है अत: अमेरिका में कृषि एक व्यवसाय हो गया है; जौवन का प्रतिरूप नहीं। इस प्रकार के यंत्रीकरण का एक महत्वपूर्ण प्रभाव यह हुआ कि कुल जनसंख्या का एक बहुत छोटा भाग कृषि में लगा है। अधिकतर जनसंख्या नगरों में बसती है। इसके बाद भी उत्पादन का एक बड़ा भाग निर्यात होता है।

2.3.6 यूरोप में कृषि क्रांति (Agriculture Revolution in Europe)

यंत्रीकरण तथा भूमि सुधार के अतिरिक्त वर्तमान शताब्दी में कृषि क्रांति का मुख्य पक्ष था रासायनिक उर्वरकों और कीटाणुनाशक रसायनों का उपयोग। जर्मनी में लगभग तीस साल के शोध का यह परिणाम हुआ कि वायु से प्राप्त नाइट्रोजन का उपयोग अमोनिया के द्वारा उर्वरक के रूप में होने लगा। सन् 1873 में अमोनिया का पहला संयंत्र लुडविगहाफ्रेन में लगाया गया। पिछली शताब्दी तक अमोनिया नाइट्रोजन, अमोनिया क्लोसइड, कैल्शियम नाइट्रेड इत्यादि प्रमुख नाइट्रोजन उर्वरक थे। सन् 1922 में यूरिया का उत्पादन व्यापारिक पैमाने पर आरंभ किया गया जो अमोनिया तथा कार्बन ऑक्साइड से बनाया गया।

फॉस्फोरस की कमी मिट्टी की एक अन्य समस्या रही है। यह ज्ञात हो चुका था कि फॉस्फोरस की कमी से पौधों की बढ़वार रुकती है और उत्पादन गिरता है। परंपरागत रूप से इसके लिए हड्डी का चूरा खेतों में दिया जाता था। सन् 1842 में इंग्लैंड में पहली बार सुपरफॉस्फेट का उत्पादन हुआ। फॉस्फेट चट्टानें इसकी प्रमुख स्रोत थीं और अब अधिकतर देशों में इनके भण्डार मिल गये हैं। तीसरा महत्वपूर्ण उर्वरक तत्व है पोटेशियम जो कि मिट्टी को म्युरियट ऑफ पोटाश अथवा पोटेशियम सल्फेट के द्वारा मिलता है। जर्मनी में संसार के अधिकतर पोटेशियम के भण्डार थे किन्तु अब कनाडा पर निर्भर रहना पड़ता है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व कीटाणु रसायन बहुत सीमित मात्रा में उपयोग में आते थे। सन् 1930 में कृत्रिम (Synthetic) खियोसाइनेट्स तथा साइक्लो–हेलेमाइनस का कृत्रिम उत्पादन आरंभ हुआ। किन्तु सन् 1939 में डी.डी.टी. का उत्पादन इस दिशा में ठोस कदम था तथा बी.एच.सी. का उपयोग अन्य महत्वपूर्ण पक्ष था। सन् 1945 – 48 के मध्य अनेक रासायनों का परीक्षण किया गया तथा अब तक अनेक कीटाणुनाशक रसायन बाजार में आ गए। भारत में बी.एच.सी. का एक कारखाना सन् 1952 में खोला गया। उसके पश्चात् भारत का उत्पादन निरंतर बढ़ रहा है।

बोध प्रश्न– 1

1. सावर ने कृषि के उद्भव के दो मुख्य केन्द्र कौन से बताया है?

   ....

....

2. वेवीलोव ने किन आधारों पर कृषि उद्भव केन्द्रों को पहचाना है?

....

....

3. फसलों की सर्वाधिक प्रजातियों का उद्भव किस महाद्वीप में हुआ है?

....

....

4. प्रथम कृषि क्रान्ति किन क्षेत्रों में आई?

....

....

5. यूरोपीय कृषि क्रान्ति की मुख्य विशेषताएँ बताइए।

....

....

2.4 (Economics and Agricultural Development)

पाश्चात्य विकसित देशों में औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व तक कृषि का पर्याप्त विकास हो चुका था। ये निर्यातक देश बन गए थे। बढ़ते जनसंख्या के दबाव के कारण यहाँ से बर्ड संख्या में लोग बाहर गए।

2.4.1 पश्चिमी यूरोप में कृषि तथा आर्थिक विकास (Agricultural and Economic Development in Western Europe)

पश्चिमी यूरोप के देशों में आर्थिक विकास सन् 1760 से 1850 के बीच प्रारंभ हुआ, जो औद्योगिक क्रांति के नाम से पुकारा जाता है। इस काल के पूर्व कृषि का पर्याप्त विकास हो चुका था। अधिक उत्पादक फसलें; जैसे टरनीप तथा आलू पैदा होने लगी थीं तथा पशुओं से गोश्त तथा डेयरी उत्पादन बढ़ाया जा चुका था। यहाँ जनसंख्या की तीव्र वृद्धि उस समय हुई जब इन देशों में आर्थिक विकास तेजौ से हो रहा था तथा अतिरिक्त जनसंख्या 'नयी दुनिया' के देशों में भी चली गई, जिससे जनसंख्या की वह गंभीर समस्या कभी नहीं रही; जैसी कि आज भारत के विकास की आरंभिक अवस्था में है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक (सन् 1875) इतना अधिक कृषि उत्पादन यूरोप को निर्यात होने लगा कि कृषि के विकास की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। नयी दुनिया का सबसे अधिक लाभ इंग्लैण्ड को हुआ। फ़्रांस बेल्जियम, जर्मनी तथा स्वीडेन इत्यादि में आर्थिक विकास अपेक्षाकृत देर से प्रारंभ हुआ और इन देशों को भी बढ़ते हुए कृषि उत्पादन का लाभ मिला तथा बड़ी संख्या में लोग नयी दुनिया में जाकर बसे। फिर भी इन देशों ने कृषि की ओर विशेष ध्यान दिया। जर्मनी का प्रयत्न रहा है कि देश कृषि उत्पादन की दृष्टि से आत्मनिर्भर हो जाये। डेन्मार्क, हालैण्ड तथा बेल्जियम में पशुपालन के विकास तथा उत्पादन में विशेष महत्व दिया गया।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता के परिणामस्वरूप विभिन्न देशों में कृषि दास प्रथा को समाप्त किया गया। इस परिवर्तन के कारण यूरोप में सामाजिक दृष्टि से कृषि का विकास हो सका। भूमि का अधिकार व्यक्ति को मिला, उसे भूमि खरीदने, बेचने व दूसरे स्थान पर बसने का अधिकार प्राप्त हुआ। इस काल के पश्चात् सभी देशों में कृषि पद्धतियों का निरंतर विकास होता रहा और संपूर्ण 19वीं शताब्दी में कृषि उत्पादन बढ़ता गया। 19वीं शताब्दी के अंत से ही पश्चिमी यूरोप की अर्थव्यवस्था में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए, जिनके कारण कृषि पर विपरीत प्रभाव हुआ। अमेरिका से कृषि उत्पादन के आयात के कारण स्थानीय उत्पादन के दाम गिरने लगे और कृषि में पूँजी के विनियोग तथा तकनीकी के विकास की प्रेरणा कम हो गई। सन् 1873 – 1880 तक यूरोप में विपरीत मौसम के कारण उत्पादन कम हुआ और उसकी तुलना में अमेरिका में उत्पादन कहीं अधिक हुआ। गेहूँ का आयात 19वीं शताब्दी के अंत तक बढ़ गया। परिणामत: घास की कृषि और स्थायी रूप में चारागाहों का क्षेत्रफल बढ़ता गया। पशुओं का पालन भी बढ़ा, किन्तु इस नयी प्रवृत्ति के लिये पूँजी का विनियोग अधिक नहीं हुआ। साथ ही कृषि का मूल्य कम होने लगा तथा जमींदारों को भूमि से किराया भी कम मिलने लगा। यह प्रवृत्ति सन् 1373 – 74 से सन् 1910 – 14 तक मिलती है।

2.4.2 पूर्वी यूरोप में कृषि का नियोजित विकास (Planned Agricultural Development in Eastern Europe)

जब पश्चिमी यूरोप के देशों में कृषि तथा उद्योग का विकास हो रहा था तब पूर्वी यूरोप में जार का शासन था तथा कृषि उन्हीं प्राचीन ढंगों तथा बँधे–बँधाए 'सर्फ' के अनुसार होती थी। कृषि के विकास का कोई अवसर नहीं था, क्योंकि अधिकतर भूमि बड़े जमींदारों के अधिकार में थी, जो मजूदरों की सहायता से खेती करते थे। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी यूरोप से संपर्क बढ़ा, जिससे व्यापार और उद्योगों के द्वारा धन अर्जित करने की महत्वाकांक्षा बलवती हुई। दूसरी ओर, जमींदार कृषि दासों के स्थान पर मजदूरों से काम कराने में अधिक सुविधा का अनुभव करने लगे, क्योंकि इन दासो के भोजन के प्रबंध की जिम्मेदारी भी उनकी थी। सन् 1854 – 56 के क्रीमिया युद्ध के बाद कृषि दास–प्रथा समाप्त हुई। कृषि पर निर्भर जनसंख्या निरंतर बढ़ रही थी। फिर भी सन् 1860 के कृषि संबंधी पुनर्गठन से पूर्वी यूरोप की कृषि में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। करों इत्यादि के देने के लिए कृषि उत्पादन का पश्चिमी यूरोप से व्यापार प्रारंभ हुआ था तथा ऐसी फसलों का उत्पादन बढ़ता गया जिनकी बाजार में माँग थी अत: कृषि द्वारा देश में पूँजी एकत्रित होने में सहायता मिली।

विस्तृत प्रदेश जौवननिर्वाह कृषि की (Subsistence agricultural) प्रणाली प्रचलित थी। ऐसे प्रदेशों से रूसी सरकार ने लोगों को साइबेरिया जाने और बसने को प्रोत्साहित किया। बोल्शेविक क्रांति के बाद इस देश में वास्तविक कृषि क्रांति हुई। किसानों ने जमींदारों की भूमि तथा पशु आपस में बाँट लिये। धीरे–धीरे कृषि ही नहीं, बल्कि सभी आर्थिक कार्यो का विकास सरकार ने अपने हाथ में लिया। सन् 1918 – 21 में किसानों से आवश्यक अनाज ले लिया जाता था। बाद के काल में उत्पादन का कुछ हिस्सा किसानों से कर के रूप में लिया जाता था, फिर भी उनके पास पर्याप्त उत्पादन खुले बाज़ार में बेचने के लिए बचा रहता था। इससे उन्हें अधिक से अधिक उत्पादन के लिए प्रेरणा मिली। धीरे संपूर्ण प्रदेश में संयुक्त फार्म (collective farm) की पद्धति

अपनाई गई। लक्ष्य यह था कि थोड़े काल में कृषि का बहुमुखी विकास हो सके, विकास संबंधी योजनाएँ लागू की जा सकें और कृषि–पद्धति अधिक वैज्ञानिक हो सके। परिणामस्वरूप सन् 1926 – 38 के बीच कृषि उत्पादन 25 – 30 प्रतिशत बढ़ सका। साथ ही 15 – 20 प्रतिशत कृषि मजदूर अन्य विकासशील उद्योगों में लग सके। कृषि उत्पादन सरकार के हाथ में आने से पूँजी के संचय में सहायता मिली। विकास के इस काल में तेजौ से बढ़ती हुई जनसंख्या को भोजन मिल सका। निर्यात द्वारा मशीनों तथा औद्योगीकरण के लिये अन्य आवश्यक वस्तुओं का आयात भी हो सका। खाद्यान्नों के उत्पादन पर विशेष बल दिया गया और इसी के साथ घोड़ों के स्थान पर ट्रैक्टरों का उपयोग बढ़ाया गया। इस पद्धति से भोजन के लिए अधिक सामग्री मिल सकी।

इन प्रयत्नों के पश्चात् भी रूस में कृषि का विकास पश्चिमी देशों की तुलना में पिछड़ा हुआ है। रूसी किसान कुशलता की दृष्टि से भी पिछड़े हुए हैं। वर्षो के नियोजित विकास के बाद भी कृषि उत्पादन प्रचुर मात्रा में नहीं होता। फिर भी रूस में किसान की गति सराहनीय है और आर्थिक विकास के लिए आशा है कि कृषि विकास की ओर समुचित ध्यान दिया जायेगा। इस विशाल देश में अब भी कृषि विकास के लिए पर्याप्त प्राकृतिक संसाधन तथा क्षेत्र हैं।

2.4.3 विश्व में नवीन देश (New Countries of the world)

नये देशों में आर्थिक विकास यूरोप की तुलना में भिन्न परिस्थितियों में हुआ। इस वर्ग में संयुक्त राज्य, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा अर्जेन्टाइना जैसे देशों को रखा जा सकता है। यहाँ के अधिकतर भागों को यूरोपीय लोगों ने बसाया। प्रारंभ में ही जनसंख्या की तुलना में कृषियोग्य भूमि कहीं अधिक थी। अत: बड़े–बड़े फार्म बने सके। मजदूरों की कमी के कारण या 'तो अन्य देशों से दास लाए गये अथवा जल्दी ही मशीनों का उपयोग होने लगा। प्रति मनुष्य कृषि उत्पादन प्रारंभ से ही इतना अधिक था कि बड़ी मात्रा में उसका निर्यात हो सका और अल्पकाल में ही पूँजी एकत्र होने लगी। प्राकृतिक संसाधनों की बहुलता के कारण यूरोपीय देशों से भी पूँजी आकर्षित हुई, जो प्रारंभ में कृषि तथा बाद में उद्योगों तथा यातायात के साधनों में लगाई गई। इन देशों के विकास में एक महत्वपूर्ण कारण यह भी रहा किए बहुत प्रारंभिक काल से ही ये देश स्वतंत्र हो गये। अत: यूरोपीय देशों का वह भार इन पर नहीं रहा जो भारत अथवा अन्य अफ्रीकी देशों पर रहा। उसके विपरीत यूरोपीय देशों का विशाल बाजार इन देशों के कृषि उत्पादन को तथा बाद में अन्य औद्योगिक उत्पादनों को मिला, जो इन देशों के आर्थिक विकास में सहायक हुआ। अत: नये देशों में कृषि उत्पादन प्रारंभ से ही स्थानीय आवश्यकता से अधिक रहा तथा कृषि में कुशलता के साथ निरंतर बढ़ता गया। इन देशों में कृषि विकास न केवल आर्थिक विकास में सहायक ही हुआ, बल्कि अर्थव्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग बना रहा।

2.4.3.1 संयुक्त राज्य अमेरिका (United states of America)

आर्थिक विकास की दृष्टि से संयुक्त राज्य के इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है सन् 1789 – 1800, सन् 1820 – 1830 तथा सन् 1867 – 1896 तक। प्रथम काल में ही संयुक्त राज्य में उत्पादन की संभावनायें इतनी अधिक थीं कि सन् 1803 में लुइसियाना प्रदेश को नेपोलियन से खरीदने के लिए भी 11, 250 हजार डालर यूरोप से लाये गये। द्वितीय काल में संयुक्त राज्य से यूरोपीय कारखानों के लिए कपास का निर्यात भी प्रारंभ हो गया। साथ

ही यूरोपीय देशों में इस देश की इतनी साख थी कि विकास एवं निर्माण की योजनाओं, जैसे पुल, सड़को, रेलों और नहरों के निर्माण के लिए यूरोपीय पूँजीपतियों ने धन दिया। सन् 1865 में गृह युद्ध के बाद जब पूर्व से पश्चिम को जोड़ने के लिए मार्गो का निर्माण हुआ तब भी यूरोपीय पूँजीपतियों से सहायता मिली। इस विकास के साथ–साथ भीतर के कृषि प्रदेश बन्दरगाहों से जुड़ सके और यातायात का मूल्य कम हो गया। साथ ही मशीनीकरण के फलस्वरूप विस्तृत प्रदेशों में कृषि उत्पादन बढ़ा और गेहूँ आटा तथा मांस सस्ती दरों पर यूरोपीय देशों को निर्यात होने लगा। बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण एवं उपर्युक्त विकास के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में संयुक्त राज्य विकास की दृष्टि से यूरोप से भी आगे बढ़ गया।

इस विवेचना से यह स्पष्ट है कि यूरोपीय देशों में आधुनिक आर्थिक विकास के लिए कृषि से पर्याप्त पूँजी तथा अन्य आवश्यक सामग्री मिली। आर्थिक विकास का प्रथम चरण कृषि का विकास है और यह भी इस सीमा तक कि स्थानीय आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो सके। कृषि विकास के साथ ही खाली श्रमिकों के लिए अन्य आर्थिक कार्यो का विकास किया गया।

2.4.4 अल्पविकसित देशों की आर्थिक व्यवस्था में कृषि का स्थान (Place of Agriculture in Economic System of Developed Countries)

एशियाई, अफ्रीकी एवं दक्षिणी अमेरिकी देशों में स्वतंत्र होने के पश्चात् आर्थिक विकास के अथक प्रयत्न हो रहे हैं, किन्तु अब भी अधिकांश देश विकास के प्रथम चरण तक नहीं पहुँच सके हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि यहाँ की कृषि पद्धतियों, कृषि – व्यवस्था तथा सामाजिक परिस्थितियाँ भी अत्यधिक प्राचीन हैं। साथ ही इन देशों की पृष्ठभूमि में लंबा उपनिवेश काल है, जब आर्थिक विकास के स्थान पर आर्थिक शोषण हुआ है। परिणामस्वरूप विकास प्रारंभ होने के पूर्व ही जनसंख्या का विस्फोट हो गया, जिससे उत्पादन और माँग का ऐसा वृत्त बन गया कि ये देश उसको तोड़कर आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। जितना उत्पादन होता है, बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण उससे अधिक माँग बढ़ती जाती है। फलस्वरूप न अतिरिक्त कृषि उत्पादन हो पाता है और न पूँजी ही एकत्रित हो पाती है। आज भी इन विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति आय विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है।

2.4.4.1 अफ्रीकी देश (African Countries)

यूरोपीय उपनिवेश बनने के पूर्व अफ्रीकी देशों में परंपरागत रूप से स्थानीय निवासी कृषि करते थे। परम्परागत रूप से अफ्रीकी देशों में कृषक स्वयं अपने परिवार की मदद से कृषि कार्य करता है। कुछ भागों में अभी भी बहुत सा कार्य, जैसे जंगल साफ करना, पूरा कबीला करता है। मजदूरों से कृषि कार्य करवाना भी अब प्रचलित हो गया है। इन सभी परिस्थितियों में जोत साधारणत: 2 – 8 एकड़ से बड़े नहीं होते। इससे बड़े–बड़े जोत में केवल मानवीय श्रम से खेती करना संभव नहीं होता। कई भागों में कृषि कार्य के लिए जानवरों तथा मशीनों का उपयोग स्थायी रूप से कृषि करना, प्रचलित हो गया है। किन्तु विस्तृत भागों में अभी भी कृषि–भूमि कबीले की होती है, व्यक्ति का धन नहीं।

अधिकांश अफ्रीकी देशों में कृषि किसान केवल अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही करते हैं। कुछ अतिरिक्त उत्पादन बेचने अथवा बदलकर अन्य वस्तुएँ लेने की पद्धति प्रचलित है। अधिक

उत्पादन का अर्थ होता है अधिक श्रम। इसलिए किसान अपना समय अन्य तथा मनोविनोद के लिए रखना चाहते हैं। साथ ही उत्पादित वस्तुओं का यहाँ बड़ा बाजार भी नही है। भंडारण, परिवहन आदि की सीमित सुविधाएँ कृषि उत्पादन को बढ़ाने में बाधाएँ हैं। यही कारण है कि भोजन की कमी और अकाल यहाँ साधारण बात है, किन्तु जिन देशों में परिवहन की सुविधा, नगरीय बाजार तथा निर्यात संभव हुआ है, परंपरागत किसानों ने ही पूर्ति की है। सेंकेगल तथा घाना जैसे देशों में अवश्य आयात के द्वारा कृषि उत्पादन की कमी पूरी की गई है।

अफ्रीकी कृषि को साधारणत: जौवननिर्वाह कृषि के अंतर्गत रखा जाता है। इसके भी कई उपभेद मिलते हैं – (1) प्रत्येक किसान अपने परिवार की आवश्यकता के लिए उत्पादन करता है। (2) अपनी पूर्ति के अतिरिक्त उत्पादन को अन्य आवश्यकता की वस्तुओं के बदले में दिया जाता है। (3) अतिरिक्त उत्पादन बाजारों में बेचा जाता है, जिससे कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्यो में लगी जनसंख्या को भोजन मिलता है। जौवननिर्वाह कृषि के अन्य कई रूप अफ्रीका में मिलते है। इसमें स्थानांतरी कृषि, पड़ती वाली आवर्तन पद्धति (Rotational bush fallow), बाढ़ के मैदान की कृषि, पशुपालन तथा मिश्रित कृषि उल्लेखनीय हैं।

खानाबदोश पशुपालन निम्न अंक्षाशीय अफ्रीका में परम्परागत रूप से मिलता है अत: पशुपालन यहाँ कृषि का अंग भी है तथा कुछ भागों में मिश्रित कृषि का एक स्वरूप भी उभरा है। कुछ निश्चित स्थानों पर ये लोग मिलते हैं जहाँ सामाजिक मेल–जोल, उत्पादन का आदान–प्रदान, टैक्स देना, आवश्यकता की वस्तुएँ, जैसे कपड़ा, आभूषण, बर्तन आदि खरीदना प्रमुख लक्ष्य होता है। अधिकतर लोग थोड़ी भूमि में कृषि भी करते है।

नगरों तथा नगरीय बाजारों के विकास का समुचित प्रभाव जौवननिर्वाह कृषि पर हुआ है। यहाँ भोज्य वस्तुओं, रेशे वाली वस्तुओं, औषधियों आदि की बड़ी माँग थी। यह परिवर्तन विशेष रूप से नगरों के चारों ओर के कृषि प्रदेश में दृष्टिगत होता है तथा पश्चिमी अफ्रीकी देशों, जैसे नाइजौरिया. घाना तथा आइवरी कोस्ट में देखा जा सकता है।

अफ्रीका के किसान अतिरिक्त व्यापारिक फसलों का उत्पादन करने लगे हैं, जिनमें उल्लेखनीय हैं – तिलहन व नारियल, कहवा तथा चाय और कपास। इसके परिणामस्वरूप इनकी अर्थव्यवस्था में परिवर्तन हुआ है। निर्यात के कारण देश की अर्थव्यवस्था में सुधार हुआ है। अफ्रीकी देशों में कृषि के प्रतिरूप के परिवर्तन में कई कारक महत्वपूर्ण रहे हैं। जिनमें बाजार का विकास, फसलों के नये प्रकार, परिवहन मार्ग, जनसंख्या का स्थानांतरण प्रमुख कहे जा सकते हैं। सर्वप्रथम सेंनेगल में तथा बाद में कई स्थानों पर पोधों पर अनेक प्रयोग किये गये तथा नयी किस्मों का आविष्कार हुआ। फसलों के निरीक्षण, उत्पादकों की सोसाइटी बनाना, मूल्य नियमन इस दिशा में अन्य प्रयत्न थे। भूमि संरक्षण के ढंग अपनाये गये तथा भोगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप फसलें उत्पादन के सुझाव दिये गये। उर्वरकों तथा कीटाणुनाशक रसायनों का उपयोग भी बढ़ा है।

विदेशी आधिपत्य तथा कृषि: अफ्रीका के विभिन्न देश उपनिवेश काल में यूरोपीय देशों के आधिपत्य में रहे तथा वर्तमान शताब्दी मे धीरे–धीरे स्वतन्त्र हुए। यहाँ यूरोपीय लोगों के आधिपत्य तथा बसने के कारण कृषि में कई परिवर्तन हुए। कृषि– उत्पादन के निर्यात ने व्यापारिक फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहित किया। वानस्पतिक तेल, तिलहन, रेशे वाली फसलें तथा पेय पदार्थ, जैसे कोको, चाय तथा कहवा के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में जाने के कारण परिवहन तथा व्यापारिक संस्थाओं का विकास हुआ। उपादकों के कोऑपरेटिव, उत्पादन की उत्तमता के

निरीक्षण आदि की पद्धतियों ने अफ्रीकी किसान को कृषि के आधुनिक ढंगों को अपनाने को प्रोत्साहित किया। यह विकास विशेष रूप से उन भागों में हुआ जहाँ जनसंख्या का घनत्व बढ़ रहा था। भूमि पड़ती छोड़ने के स्थान पर उर्वरकों तथा खाद का उपयोग बढ़ने लगा। ढलवाँ भूमि अ सीढ़ीनुमा खेत बनाने की पद्धति भी अपनाई जाने लगी। साथ ही दलदली भूमि में चावल की खेती आरम्भ की गई।

बागानी कृषि का विकास भी उपनिवेश काल में हुआ। इसके परिणामस्वरूप कुछ भागों में तो स्थानीय निवासियों से भूमि ली गई तथा अन्य भागों में अर्धशुष्क प्रदेशों तथा पठारों पर कृषि आरंभ की गई। साथ ही नई फसलों के कारण कबीले की भूमि के स्थान पर व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व का भी विकास हुआ। बागानों के स्थापन से परिवहन का भी विकास हुआ तथा स्थानीय निवासियों को जौविका के साधन मिले। विदेशी पूँजी का विनियोग हुआ तथा कृषि–कुशलता भी बढ़ी। अफ्रीका से निर्यात के आँकड़े बागानी कृषि के प्रादेशिक वितरण की ओर इंगित करते हैं। इन बागानों के विकास से व्यापार तथा सेवा कार्यो का भी विकास हुआ और नगरों का विकास भी इनसे सम्बद्ध रहा है।

पुर्तगाली आधिपत्य अंगोला और मोजोम्बीक तथा पुर्तगीज गिनी में सन् 1951 तक रहा। इन देशों में पुर्तगालियों को विशाल ताल्लुके दिये जाते थे। किन्तु सन् 1690 के बाद ही इनका विकास संभव हुआ जब इन ताल्लुकों की नीलामी की पद्धति आरंभ हुई और खरीदने वाले को सरकार को टैक्स देना तथा कृषि–भूमि का विकास करना होता था। सन् 1962 में मोजेम्बीक में 2500 यूरोपीयन फार्म थे, जिन पर अफ्रीकी मजदूरों की सहायता से कृषि होती थी। अंगोला में सन् 1837 में ब्राज़ील से काफी आई तथा उसके बागान आरंभ हुए तथा अब भी काफी तथा सीसल यहाँ के प्रमुख बागानी उत्पादन हैं। बेल्जियम कांगों में यूरोपीय लोगों के कृषि आरंभ करने पर अफ्रीकी मज़दूरों को फार्मों में लगाया गया जिससे ग्रामीण जनसंख्या कम होने लगी। इससे परंपरागत स्थानांतरी कृषि पर नियंत्रण भी संभव हुआ। सन् 1958 में लगभग 10 लाख एकड़ भूमि पर व्यापारिक फसलों की खेती होती थी।

फ्रांस का आधिपत्य अल्जीरिया, ट्नीसिया, फ्रेंच वेस्ट अफ्रीका तथा फ्रेंच इक्केटोरियल अफ्रीका पर था। मध्य तथा पश्चिमी अफ्रीकी देशों में सबसे गंभीर समस्या परिवहन की थी तथा भीतरी भागों से बंदरगाहों तक परिवहन मार्गो के बनने से कृषि का विकास तथा कृषि उत्पादन का निर्यात आरंभ हुआ। किन्तु यहाँ बागानों के विकास के स्थान पर स्थानीय किसानों को ही प्रोत्साहन दिया गया। वर्तमान शताब्दी के आरंभ में कपास, कहवा तथा कोको का निर्यात होता था। बाद में मूँगफली, तम्बाकू, सीसल आदि का भी निर्यात होने लगा। फिर भी पूँजी की कमी कृषि के विकास में प्रमुख बाधा रही।

ब्रिटिश शासित प्रदेशों में प्रारंभ में व्यापारी तथा मिशनरी पहुँचे। बाद में धीरे धीरे विभिन्न देशों का स्वरूप विकसित हुआ। दक्षिणी रोडेशिया, कीनिया, दक्षिणी अफ्रीका, यूगांडा तथा सूडान प्रमुख शासित प्रदेश थे। यहाँ बसने वाले ब्रिटिश लोगों के लिये भूमि आदिवासियों से ली गई। इसके अतिरिक्त भूमिस्वामित्व की दृष्टि से कई अन्य वर्गो में बाँटी गई। दक्षिणी अफ्रीका में लगभग 90% भूमि यूरोपीय लोगों के लिए ले ली गई, जबकि दक्षिणी रोडेशिया में यह प्रतिशत केवल 50 था। विकास संबंधी अनेक योजनाएँ लागू की गई अत: विस्तृत भागों में कृषि स्थायी रूप से होने

लगी। साथ ही ब्रिटेन में बसने वालों ने आधुनिक ढंग से अपने फार्म विकसित किये तथा बेहतर नस्ल के पशु भी आयात किये। बागानी कृषि का स्वरूप भी यहाँ विकसित हुआ।

अफ्रीका के गिनी तट पर स्थित दो देश – घाना तथा नाइजौरिया – कृषि उत्पादन तथा निर्यात के लिए महत्वपूर्ण रहे हैं। घाना को वर्ष 1957 में स्वतंत्रता मिली, इसके पूर्व यह ब्रिटिश साम्राज्य का भाग था। यह प्रमुख कृषि प्रधान देश है। कृषि घाना का सबसे विकसित अधिक कार्य है तथा कोको और केला यहाँ के निर्यात किए जाते हैं। यहाँ तक कि अंतर्राष्ट्रीय बाजार में कोको के मूल्य घाना के द्वारा निर्धारित होते हैं। कुछ भागों को छोड़कर अभी भी यहाँ कृषि आदिम तथा अकुशल ढंगों से होती है। कृषि आवर्तन पद्धति में भूमि अभी भी लंबे काल के लिए पड़ती छोड़ी जाती है। जनसंख्या की वृद्धि के साथ यह पद्धति संभव नहीं हो पा रही है और उर्वरकों का उपयोग आवश्यक हो गया है। बागानों के अतिरिक्त जोत बहुत छोटे हैं। भूमिस्वामित्व परिवार का होता है। घाना के उत्पादन का बाजार तटवर्ती नगर विशेष रूप से आक्रा है। कसावा, मक्का तथा साग–सब्जियों के अतिरिक्त तम्बाकू तथा काजू व्यापारिक फसलें हैं। उत्तरी सवाना में जौवन निर्वाह कृषि की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। प्रमुख उत्पादन मोटे अनाज, मक्का, कसावा, चावल, मूँगफली तथा याम हैं। पशु उत्पादन याम तथा तम्बाकू देश के अन्य भागों में भेजौ जाती है। यहाँ की अर्थव्यवस्था में पशुपालन का विशेष महत्व है।

नाइजौरिया – अफ्रीका देशों में नाइजौरिया सबसे सघन आबाद देश है और महाद्वीप की लगभग 20% जनसंख्या यहाँ बसती है। स्वतंत्रता के पश्चात सरकार की नीति देश का आर्थिक विकास तथा प्रति व्यक्ति आय बढ़ाने का है। यहाँ की अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान है। दक्षिणी भागों से उत्तर की ओर भौगोलिक परिस्थितियाँ बदलती जाती हैं। उत्तरी भाग में वर्षा सुनिश्चित मौसम में होती है, तभी कृषि संभव है। उन भागों में एक फसल पर निर्भर रहना होता है अथवा किसान जौविका के लिये अन्य भागों में जाते हैं अत: उत्तरी भागों में अब भी भोजन की कमी हो जाती है। पिछले वर्षो में व्यापारिक फसलों के उत्पादन बढ़ाने को प्रोत्साहित किया गया है, जिससे इनका निर्यात हो सके। इनमें नारियल, कोको, कहवा तथा रबर विशेष उल्लेखनीय हैं। सवाना प्रदेश से मूँगफली, कपास तथा बेनीसीड का निर्यात होता है। नाइजौनिया के कुल निर्यात में लगभग 55% ये वस्तुएँ होती हैं।

यहाँ भूमिस्वामित्व अभी भी परिवार का है तथा भूमि पीढ़ी दर –पीढ़ी बंटती जाती है। अत: जोत छोटे और बिखरे हुए हैं। भूमि का क्रय–विक्रय कठिन होता है। इसलिए मशीनीकरण भी संभव नहीं होता। परंपरागत रूप से बीच–बीच में कृषि भूमि लंबे काल के लिए पड़ती पर छोड़ी जाती है। इससे भूमि का तीव्र अपरदन होता है और निरा बोया गया क्षेत्र बहुत कम हो जाता है। पशुपालन की यहाँ प्राचीन परंपरा नहीं है, जैसा अन्य निकटवर्ती देशों में मिलता हैं। खानाबदोशों में पशुचारण अवश्य मिलता है, किन्तु इन खानाबदोशों को स्थायी रूप से बसाने की समस्या है। तथापि चमड़ा यहाँ का एक प्रमुख निर्यात की वस्तु है। स्वतंत्रता के बाद विकास योजनाओं के द्वारा सिंचाई के विकास तथा बागानी कृषि के उत्पादन को बढ़ाने पर विशेष बुल दिया गया है जिससे कृषि उत्पादन पर निर्यात बढ़ सके।

2.4.4.2 लैटिन अमेरिकी देश – अर्जेन्टाइना (Latin American Country–Argentina)

लैटिन अमेरिकी देशों में कृषि के विकास का इतिहास अफ्रीकी देशों से अधिक भिन्न नहीं रहा, क्योंकि इन देशों पर भी विदेशी आधिपत्य रहा तथा ये यूरोपीय देशों के उपनिवेश बने रहे। लैटिन अमेरिकी देशों में कृषि की दृष्टि से अर्जेण्टाइना का विशेष महत्व रहा है; क्योंकि विरल जनसंख्या और विशाल कृषि भूमि के कारण यह बराबर निर्यातक देश रहा है। कई यूरोपीय देश अर्जेन्टाइना की कृषि पर निर्भर रहे हैं।

अमेरिका की खोज के पश्चात् स्पेन पुर्तगाल में टार्डेसिल्ला की संधि (Treaty of Tordesilla, सन् 1494 में) हुई और उसके अनुसार केपवर्ड द्वीप के पश्चिम के अमेरिकी देशों की खोज तथा आधिपत्य का अधिकार स्पेन को मिला तथा पूर्व के भागों को पुर्तगाल को अत: ब्राज़ील में पुर्तगालियों तथा अर्जेन्टीना में स्पेनिश लोगों ने अपना विस्तार बढ़ाया। बाद में स्पेन ने लैटिन अमेरिका में अपने राज्य को चार भागों में बाँटा: लाप्लाटा, पेरू, न्यू ग्रान्डा तथा न्यू स्पेन (मेक्सिको तथा मध्य अमेरिका) । इस प्रकार अर्जेन्टीना लाप्लाटा का भाग रहा। अमेरिकी क्रांति के पश्चात् लैटिन अमेरिकी को स्वतंत्र होते गये। अर्जेन्टीना सन् 1816 में स्वतंत्र हुआ।

लैटिन अमेरिकी देशों में आज भी अर्थव्यवस्था का आधार कृषि है, किन्तु कृषि में कार्यरत जनसंख्या की उत्पादन क्षमता अन्य आर्थिक कार्यो से कम है। पिछले दशकों में कृषि का विकास भी बहुत मंद गति से हुआ। कृषि भूमि का सघन उपयोग भी नहीं होता है और न सभी कृषियोग्य भूमि पर कृषि होती है। उर्वरकों का सीमित उपयोग, मानवीय और पशु श्रम का कृषि में उपयोग, सिंचाई का सीमित विकास, प्रति हेक्टर अपेक्षया कम उत्पादन तथा उत्पादन का बहुत थोड़ा भाग बाजार में पहुँचना यहाँ की खेती के लक्षण हैं। बड़े फार्मों में लगे किसानों को मजदूरी के रूप में थोड़ी कृषि भूमि तथा भोज्य सामग्री मिलती है अत: ऐसी जनसंख्या का आर्थिक स्तर भी नीचा है। औद्योगिक उत्पादन को देश में बाजार नहीं मिल पाता। दूसरी ओर बड़े फार्मों के मालिक देश की अर्थव्यवस्था को टैक्सों के द्वारा समुचित सहायता नहीं देते। ये लोग अपनी आय का अधिक भाग जौवनयापन में व्यय करते हैं अथवा विदेशों में विनियोग करते हैं। इस प्रकार लैटिन अमेरिकी देशों में कृषि अर्थव्यवस्था को मजबूत करने तथा उसके विकास में सहायक नहीं हो सकी है।

लैटिन अमेरिका देशों में अर्थव्यवस्था विदेशी मुद्रा कथा अंतर्राष्ट्रीय बाजार पर निर्भर रही है। इनमें संयुक्त राज्य का विशेष हाथ रहा है, जो लैटिन अमेरिकी वस्तुओं का बाजार रहा है। यह भी एक कारण है कि कृषि उत्पादन में एक विशिष्ट व्यापारिक फसल का विशेष महत्व रहा है, जैसे ब्राज़ील में कहवा अथवा अर्जेन्टाइना मे गेहूँ। इनका मूल्य अंतर्राष्ट्रीय बाजार में निर्धारित होता रहा है, जिसका प्रभाव देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ता रहा है। इसका कृषि पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव कृषि का विकास है जो जौवन निर्वाह कृषि के बीच आधुनिक कृषि का नमूना सा लगता है।

अर्जेन्टाइना में प्रारंभिक अधिवास प्लेट नदी के किनारे बसे; किन्तु यहाँ के स्थानीय निवासियों ने विदेशियों को युद्ध करके भगाया। अंत में सन् 1580 मे ब्योनस एयर्स बसाया गया। यह बंदरगाह बाद में संपूर्ण पश्चिमी भाग के व्यापार का केंद्र बन गया। पेरू, जो उस समय धन का भंडार माना जाता था, का मार्ग ब्योनस एयर्स के द्वारा ही था। अत: बाद में अन्य देशों का व्यापार भी इस बंदरगाह से होने लगा तथा यहाँ से चमड़े, ऊन, मास, पंख तथा फर आदि का निर्यात होने

लगा। सन् 1857 के बाद ब्योनस एयर्स की पृष्ठभूमि के आकर्षण में बड़ी संख्या में विदेशी बसने लगे। यह प्रथम विश्व युद्ध तक चलता रहा। नये बसे हुए लोगों में इटैलियन, स्पेनिश, रूसी, पोल, जर्मन, आदि लोग थे। ये लोग अपने साथ अपनी परंपराएँ भी लाये। इटैलियन लोगों ने साग–सब्जी, अंगूर तथा अनेक अन्य वस्तुओं की कृषि आरंभ की। स्पेनिश लोग अधिकतर नगरों में बसे, किन्तु ब्रिटिश लोगों ने पशुपालन विशेष रूप से भेड़ पालन आरंभ किया।

पशुपालन का सबसे उपयुक्त तथा आकर्षण प्रदेश पम्पा रहा। उपनिवेश काल में भी स्पेन की सरकार ने यहाँ पशुपालन को प्रोत्साहन दिया। चिली से और बाद में स्पेन से पशु लाये गये। घास तथा उपयुक्त जलवायु के कारण यहाँ पशु संख्या तेजौ से बढ़ी। किन्तु आरंभ में केवल खाल निर्यात के लिए निकाल ली जाती थी और मांस व्यर्थ पदार्थ की तरह नष्ट होता था। नये बसने वालों को पशुपालन के लिए भूमि दी जाती थी। सन् 1900 के बाद पशुओं के बाड़े बनाये गये तथा मांस को सुखा कर तथा नमक लगा कर निर्यात किया जाने लगा। साथ ही मांस के पशुओं का भी निर्यात होने लगा। रेफ्रीजरेशन की पद्धति के आविष्कार के बाद अर्जेन्टीना की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया और वर्तमान शताब्दी में अर्जेन्टीना पशु उत्पादों के निर्यात में एक महत्वपूर्ण देश हो गया।

यहाँ के अधिकतर पशुपालन के फार्म 6000 – 12000 एकड़ के मिलते हैं, 75000 एकड़ तक के फार्म भी पर्याप्त संख्या में है। उर्वर भूमि होने पर भी ये किसान अनाज का उत्पादन नहीं करते। आवश्यकता होने पर लगान पर भूमि उत्पादन के लिए अन्य किसानों को देने की प्रथा अवश्य है। विदेश से आये हुए लोगों को छोटे फार्म प्राप्त करने की सुविधा भी यहाँ नहीं हैं। जब तक कई लोग मिलकर एक बड़ा फार्म खरीद कर न बाँट लें, कृषि भूमि की प्राप्ति सरल नहीं है। यह एक कारण है कि यहाँ बाहर से अधिक लोग आकर बस नहीं रहे है। सरकारी भूमि अवश्य मिल जाती है, किन्तु ऐसे नवीन प्रदेश में परिवहन का विकास नहीं हुआ अत: कृषि सुविधाजनक नहीं है। यहाँ टैक्स तथा निर्यात शुल्क बहुत अधिक है जो पुन: कृषि के विकास में बाधक है। विशेष रूप से छोटे किसान इन नियमों से प्रभावित होते हैं। मशीनों के आयात पर भी आयात शुल्क इतने अधिक है कि मशीनों की प्राप्ति, जो यहाँ की कृषि के विकास में सहायक सिद्ध होती, संभव नहीं हो पाती। कोऑपरेटिव विक्रय की पद्धति भी यहाँ सफल नहीं हो पाई है; क्योंकि मूल्य निर्धारण अधिकतर बड़े किसान करते हैं, पिछले वर्षो में छोटे फार्मो की संख्या बढ़ी है।

अर्जेन्टाइना के उपयुक्त भौगोलिक परिस्थितियों के प्रदेशों में गेहूँ मक्का, फ्लैक्स तथा पशु के चारे का उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा। चारे के अतिरिक्त अन्य उत्पादन का मुख्य लक्ष्य निर्यात था। यहाँ पशुपालन तथा अनाज का उत्पादन मिश्रित कृषि के रूप में विकसित नहीं हुआ, जैसा कि पश्चिमी यूरोप में मिलता है। अर्जेन्टाइना के पम्पा प्रदेश में कृषि की सामान्य स्थिति का एक अन्य कारण खराब सडकें और उनकी कमी रही है। धीरे धीरे अब बड़े शहरों को जोड़ने वाली पक्की सड़के बन रही हैं। इन्ही कारणों से अर्जेन्टाइना का कृषि उत्पादन, पशुओं की संख्या आदि में पिछले वर्षो में कोई परिवर्तन नहीं दिखता है।

2.4.4.3 एशियाई देश (Asian countries)

इण्डोनेशिया – एशियाई देशों में इण्डोनेशिया का विशेष महत्व है। पूर्वी तथा दक्षिणी एशिया को जोड़ने वाले मार्गो के बीच यह देश पड़ता है अत: इसका व्यापारिक तथा सामरिक महत्व है।

आस्ट्रेलिया से यूरोप को जाने वाला जलमार्ग भी यहाँ से होता हुआ जाता है अत: यहाँ का खनिज तेल उत्पादन अंतर्राष्ट्रीय परिवहन के लिए विशेष महत्व का है। साथ ही यहाँ का कृषि उत्पादन विशेषरूप से रबर, कपास, गर्म मसाले, नारियल, कहवा, चाय आदि यूरोपीय बाजार को पहुँचते रहे। यही कारण है कि डच लोगों का आधिपत्य होने के बाद 350 वर्षो तक यह डच उपनिवेश बना रहा और सन् 1945 में स्वतंत्र हुआ।

इण्डोनेशिया में साल भर तापमान ऊँचा रहता है और कृषि संभव है। द्वीपों पर ज्वालामुखी राख के निक्षेपण ने मिट्टी को विशेष उर्वर बनाया है। ऊँचाई के साथ भौगोलिक परिस्थितयाँ भिन्न होती जाती है अत: यहाँ कई प्रकार की फसलें होती हैं। परिवहन की वैसी समस्या यहाँ नहीं है, जैसी कि अफ्रीकी अथवा लैटिन अमेरिकी देशों में मिलती है। द्वीपों का कोई भी भाग समुद्र से अधिक दूर नहीं है अत: कृषि उत्पादन देश के विभिन्न भागों को भी पहुँच जाता है तथा निर्यात भी सरल हे। यहाँ फल, चाय, कहवा, रबर, कसावा, मूँगफली, तम्बाकू, मक्का तथा गन्ना प्रमुख फसलें हैं। निचले भागों में चावल प्रमुख उत्पादन है।

अन्य देशों के समान, जहाँ विदेशियों का राज्य रहा, इण्डोनेशिया में भी कृषि के दो प्रारूप मिलते हैं। जौवननिर्वाह कृषि यहाँ परंपरागत रूप से होती रही है। बागानी कृषि का विकास व्यापार की दृष्टि से हुआ। यहाँ की अर्थव्यवस्था में कृषि निर्यात का विशेष महत्व है अत: स्वतंत्र होने के बाद भी ये बागान समाप्त नहीं हुए, बल्कि उनको प्रोत्साहन दिया गया। सबसे अधिक बागान रबर तथा कहवा के हैं। अन्य बागानी फसलें गन्ना, चाय, सिनकोना, कोको, नारियल, कपास, तम्बाकू, तथा काली मिर्च हैं।

जौवननिर्वाह कृषि से मुख्यत: भोज्य सामग्री प्राप्त होती है। यहाँ मानवीय श्रम के द्वारा अधिकाधिक उत्पादन का लक्ष्य रहता है। यही कारण है कि कुछ काल के बाद भूमि की उर्वराशक्ति कम होने लगती है। भूमि पर जनसंख्या का भार इतना अधिक है कि भविष्य में अधिक उत्पादन की संभावना नहीं है। यहाँ औद्योगिक विकास अधिक नहीं हुआ है अत: आवश्यकता की अन्य वस्तुएँ भी आयात की जाती है। आयात होने वाली वस्तुओं में प्रमुख चावल है जो म्यांमार, चीन, थाइलैण्ड तथा संयुक्त राज्य से आता है। लगभग 20% आयात कपड़े तथा वस्त्रों का होता है।

जापान– इस दृष्टि से जापान के आर्थिक विकास का उदाहरण अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यहाँ आर्थिक विकास लगभग उन्हीं बाधाओं के बीच हुआ जिनसे आज उपर्युक्त अन्य अल्पविकसित देश गुजर रहे हैं। अंतर केवल इतना है कि जापान कभी किसी अन्य का दास नहीं रहा। जापान में सन् 1881 – 90 तथा सन् 1911 – 20 के बीच कृषित भूमि का विस्तार केवल 21 प्रतिशत हुआ किन्तु कृषि उत्पादन 77 प्रतिशत बढ़ा। प्रति हेक्टर कृषि उपज 46 प्रतिशत बढ़ी। इस काल में जनसंख्या की वृद्धि अपेक्षाकृत कम हुई (44%) तथा कृषि श्रमिकों की संख्या में 12 प्रतिशत की कमी हुई। परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति भोजन की उपलब्ध मात्रा 20 प्रतिशत बढ़ी तथा प्रति कृषि–श्रमिक उत्पादकता में 107 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस बात को ध्यान रखते हुए जापान में आर्थिक विकास अत्यधिक सघन जनसंख्या के काल में हुआ। तब जोत का आकार केवल 2 – 3 एकड़ था तथा यह भूमि भी छोटे छोटे खेतों में बँटी हुई थी। सन् 1868 के मिजौ रेस्टोरेशन (Meiji Restoration) के बाद एक डेढ़ शताब्दी तक जापान में बहुमुखी सुधार हुए।

सन् 1930 के पश्चात् राजनैतिक सत्ता का परिवर्तन और सेना का अधिक महत्व हो जाने के बाद कृषि संबंधी समस्याओं की ओर भी ध्यान दिया गया। सेनाध्यक्षों को इस तथ्य का स्पष्ट ज्ञान था कि कृषक वर्ग अत्यधिक कठिनाई में है। सन् 1946 के नियम के अनुसार किराये की भूमि पर खेती करने पर रोक लगाई तथा अधिक से अधिक भूमि किसानों को दी गई। साथ ही जो भूमिधारी स्वयं खेती नहीं करते थे, उनकी भूमि सरकार ने ले ली।

कृषि विकास में भूमि सुधार के अतिरिक्त अन्य पक्षों की ओर भी ध्यान दिया गया। सन् 1890 के बाद देश में कृषि अनुसंधान केन्द्रों का एक जाल सा बनाया गया, जिनसे खेतों को नष्ट करने वाले कटि कीटाणुओं की रोकथाम, बीज में सुधार तथा खादों के उपयोग की ओर ध्यान दिया गया। प्रथम विश्वयुद्ध तथा उसके बाद के काल में चावल के अतिरिक्त अन्य फसलों जैसे सब्जी एवं फलों की खेती तथा मुर्गीपालन की ओर भी ध्यान दिया गया, जिससे लोगों को संतुलित भोजन मिल सके। साथ ही ऊँचे तथा ढालू प्रदेश पशुपालन के उपयोग में आ सकते हैं, इस संभावना की ओर भी ध्यान दिया गया।

2.4.4.4 भारत में कृषि: एक ऐतिहासिक समीक्षा (Agriculture in india: An Historical Review)

भारत में 10वीं शताब्दी तक कृषि तथा अन्य आर्थिक कार्य, जैसे उद्योग, व्यापार इत्यादि पर्याप्त विकसित थे। भूमि के अनुपात में जनसंख्या कम थी। जब भी आवश्यकता होती थी अतिरिक्त भूमि कृषि के अंतर्गत ले ली जाती थी। उत्पादन इतना होता था कि आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद अन्य आर्थिक कार्यो में लगी जनसंख्या को भोजन प्राप्त हो जाता था। यह अवश्य था कि यातायात के साधन मंहगे और अपर्याप्त थे, जिससे एक स्थान का उत्पादन दूर के बाजारों को भेजना कठिन था।

आर्थिक विकास की दृष्टि से मुस्लिम तथा मुगल काल को गतिरोध तथा स्थिरता का काल कहा जा सकता है। साधारणत: प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की प्रवृत्ति रही। कृषि पद्धतियों में अथवा कृषि –व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इस काल में कृषि में अधिक पूँजी भी आकर्षित नहीं हुई। गाँव कृषि उत्पादन तथा अन्य आवश्यकताओं की दृष्टि से आत्मनिर्भर इकाइयों के रूप में रहे। ग्राम पंचायत के स्थान पर सामन्तों तथा केंद्रीय सरकारों का आधिपत्य बढ़ गया। कृषि के विकास तथा पूँजी में विनियोग में भूमिस्वामित्व का अधिकार और मालगुजारी घातक अवरोध थे। मुस्लिम काल में भी भूमिकर का अधिकार किसान अथवा गाँव का होता था। यदि किसान लगान नहीं दे सकता था और उसे नहीं जोत सकता था तो वह जमींदार को नहीं मिलती थी, बल्कि अन्य किसान को मिलती थी अत: भूमि किसानों के ही पास रहती थी।

भूमिकर रुपये में देने की प्रथा मुसलमान सम्राटों के काल में प्रारंभ हुई। उसके पहले सरकार उत्पादन का $^1/_6$ से $^1/_4$ तक भाग कर के रूप में लेती थी। अकबर के शासन काल में टोडरमल ने भूमि की उर्वरता के अनुसार मालगुजारी लेने की प्रथा चलाई। उस समय उत्पादन का 1/3 भाग लगान के रूप में लिया जाता था। धीरे धीरे लगान एकत्रित करने के वे अधिकार पीढ़ी दर पीढ़ी चलने लगे। फलस्वरूप ये स्थानीय सरदार एवं राजा अधिकाधिक शक्तिशाली होते गये। 17वीं शताब्दी तक केन्द्रीय प्रशासन के कमजोर पड़ने पर कृषि–भूमि अधिकार इन राजाओं तथा जमींदारों के पास आ गये। वे लोग शक्तिशाली लोगों को लगान एकत्रित करने का अधिकार तथा

जमींदारी देते थे। अधिक लगान देने के कारण किसानों के पास अतिरिक्त पूँजी भी नहीं बचती थी जो भूमि के सुधार तथा उत्पादन की वृद्धि में लगाई जाती। न ही इन किसानों में विकास के लिए कोई प्रेरणा भी थी। यह प्रथा पाश्चात्य देशों की कृषिदास प्रथा (Serfdom) से अधिक भिन्न नहीं थी।

ब्रिटिश काल में भूमि अधिकार में हुए परिवर्तन से देश में अल्प विकास की परिस्थितियों के जन्मने तथा पनपने में मदद मिली और ग्रामीण जनता की आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई। इस काल में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि भूमि पर किसानों अथवा जमीदारों का अधिकार नही रहा। वे लगभग दासस्तर के रह गए। भूमि पर लगान वसूलने वाले किसानों का अधिकार हो गया और लगान वसूल करने की जिम्मेदारी उनकी होती थी। भूमि को अन्य वस्तुओं के समान खरीदने की स्वतंत्रता मिल गई। अत: धीरे–धीरे भूमि किसानों के हाथ से निकलती गई और कुछ बड़े किसानों एवं जमींदारों के पास एकत्रित होती गई। ये जमींदार भूमि का लगान लेकर जोतने के लिए भूमिरहित किसानों को देते थे, किन्तु भूमि सुधार एवं सुरक्षा इनके कर्तव्य में नहीं आता था। किसान भी सीमित आय के कारण भूमि में पूँजी लगाने में असमर्थ थे। बाद के काल में इसके लिए भूमि का अधिकार स्थायी रूप से जमींदारों को दे दिया गया। बंगाल का स्थायी बन्दोबस्त सन् 1793 में लागू हुआ। यह वह नियम था जिसके द्वारा भूमि का स्वामित्व किसानों से जमींदारों के पास चला गया। साथ ही लगान का निर्धारण जमींदार करता था, उसमें किसान की कोई आवाज नहीं होती थी। ब्रिटिश सरकार केवल इस बात का निर्णय करती थी कि उसे कितना लगान मिलता है। किसान से कितना लगान लेना चाहिए, इस ओर उन्होंने ध्यान नही दिया। परिणाम यह हुआ कि जमींदार तथा सरकार दोनों की स्वार्थ – सिद्धि हुई, परन्तु किसान को बहुत कठिन समय से गुजरना पड़ा। यही वह काल था जब भूमि में अधिक पूँजी नही लगी, भूमि सुधार, कृषि पद्धति में सुधार, सिंचाई की सुविधा, शक्ति के साधन, यातायात, बाजार इत्यादि का कोई योजनाबद्ध विकास नही हुआ अत: 18वीं शताब्दी के बाद यूरोपीय देशों में हुई कृषि–क्रान्ति जैसा कोई ठोस विकास भारत में नही हुआ। बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ अथवा औद्योगीकरण के कारण कृषि उत्पादन में वृद्धि नही हुई, केवल कृषि उत्पादन का व्यापार होने लगा। बाद के काल में निम्न व्यवस्थाएं विकसित हुई :–

रैयतवारी:– दक्षिणी भारत, मद्रास, बम्बई, बरार, पूर्वी पंजाब तथा आसाम एवं कुर्ग के कुछ –कुछ भागों में लागू की गई। यह पद्धति सन् 1872 में आरंभ हुई, इस पद्धति के अनुसार रैयत सीधा सरकार को देनदार होता था। किसान भूमि का स्वामी होता था। उसे भूमि किराए पर देने, गिरवी रखने तथा बेचने का अधिकार था। उत्पादन का आधा लगान के रूप में देना होता था। इस पद्धति में भी में सम्पूर्ण प्रदेश में लगान की मात्रा निश्चित थी, चाहे किसी फसल में उत्पादन हो या न हो। स्वभावत: प्रतिकूल वर्षो में किसान को लगान देने के लिए भूमि गिरवी रखनी पड़ी अथवा बेचनी पड़ी। धीरे–धीरे भूमि कर्ज देने वाले बनियों तथा नगरों में रहने वाले लोगों के हाथों में चली गई। भूमि स्थायी रूप से किसानों के पास नही रहती थी तो वे भी भूमि में विनियोग नही करते थे। परिणामस्वरूप कृषि में ह्रास आरम्भ हो गया।

महलवारी पद्धति: – यह पद्धति आगरा तथा अवध एवं बाद में पंजाब में लागू हुई। इसका नियम निर्धारण सन् 1833 में हुआ। इसमें जमीन का अधिकार संयुक्त होता था– साधारणत: गाँव अथवा महल का। एक किसान का चुनाव लगान वसूल करने के लिए होता था जिसे लम्बरदार कहते थे।

इसकी प्रक्रिया एवं लगान के निर्धारण में प्रादेशिक विभिन्नता थी। सरकार का हिस्सा उत्पादन का 40 से 70 प्रतिशत तक होता था।

मालगुजारी पद्धति: सेंट्रल प्रोविन्सेज में मालगुजारी पद्धति आगरा से अधिक भिन्न नही थी। मराठा काल में जो किसान लगान वसूल करता था उसी को भूमि का अधिकार दिया गया और गाँव का मुखिया बनाया गया। उप्तादन का $^1/_2$ भाग लगान के रूप में देना होता था। इस प्रान्त में बन्दोबस्त अधिकारी लगान का निर्धारण करता था और मालगुजार उसका देनदार होता था।

कृषि उपजों का व्यापार –ब्रिटिश काल में भारत की कृषि को परिवर्तित करने वाला एक अन्य महत्वपूर्ण कारण कृषि उत्पादों का व्यापार था। इसका रूप सन् 1860 के आसपास उभरने लगा। भारत से निर्यात होने वाली वस्तुओं में गेहूँ चावल, तिलहन, कपास, नील, शक्कर, अफीम तथा जूट प्रमुख थे। निर्यात के कारण रोपण कृषि का विकास भी हुआ। इस व्यापार में जल यातायात के विकास तथा सन् 1869 में स्वेज के बनने से बहुत सहायता मिली। इसी काल में भारत में रेल यातायात का भी विकास हुआ। इससे भीतरी भागों से कृषि–उत्पाद का बंदरगाहों तक सस्ते दामों और थोड़े समय में लाने में सहायता मिली। किन्तु भारत में कृषि–उत्पादों के निर्यात से कृषि के विकास में सहायता एवं प्रोत्साहन नहीं मिला। इसका कारण यह था कि व्यापार का लाभ कृषकों तक नहीं पहुँच पाता था। व्यापारी एवं मध्यस्थ बीच में ही अधिकतर लाभ हड़प लेते थे। इससे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि प्रारंभिक काल में व्यापार ईस्ट इंडिया कंपनी तथा बाद में ब्रिटिश सरकार के हाथ में था अत: व्यापार का लाभ अंततः अपने देश को नहीं, बल्कि ब्रिटेन को मिलता था। किसानों के पास इतनी पूँजी नहीं होती थी कि कृषि के बहुमुखी विकास की ओर ध्यान दे सकें। परिवर्तन केवल इतना हुआ कि व्यापार के आकर्षण में अपेक्षाकृत उर्वरा भूमि में व्यापारिक फसलें बोई जाने लगी जैसे बिहार के विस्तृत प्रदेश में नील की खेती होने लगी। इस परिवर्तन में भोज्य सामग्री की भी प्रादेशिक कमी होने लगी।

ब्रिटिश काल में भारतीय जनसंख्या में तेजौ से वृद्धि हुई। एक ओर भोजन की माँग बढ़ती गई, दूसरी ओर भोज्य फसलों के अन्तर्गत भूमि कम होती गई, साथ ही प्रति एकड़ उपज में अधिक वृद्धि नहीं हुई। सन् 1921 के पूर्व जनसंख्या की वृद्धि अधिक नहीं थी। अकाल व बीमारियों के कारण बीच–बीच में वृद्धि बहुत कम हुई अथवा जनसंख्या कम हुई। फिर भी इस काल में जनसंख्या की वृद्धि के साथ उद्योग, व्यापार आदि का विकास उतना नहीं हुआ, जिससे बढ़ती हुई जनसंख्या के जौविका के पर्याप्त साधन मिल सकें। इसके विपरीत भारत के परंपरागत उद्योग, जैसे कपड़ा बनाने तथा धातुओं के सामान बनाने आदि के उद्योग धीरे धीरे समाप्त होने लगे अत: पहले से अधिक जनसंख्या कृषि पर जौविका के लिए निर्भर होती गई। इससे स्पष्ट है कि सघन कृषि की सुविधाओं में वृद्धि न होकर कमी हुई जिससे बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या निरंतर जटिल होती गयी।

सन् 1947 में जब भारत स्वतंत्र हुआ तो अधिकतर जनसंख्या कृषि पर निर्भर थी, किन्तु कुल कृषि उत्पादन गंभीर रूप से कम होता था। प्रति एकड़ उत्पादन अन्य देशों की तुलना में बहुत कम था। जनसंख्या का विस्फोट सबसे विकराल समस्या थी, जिससे सभी समस्यायें गंभीर से गंभीरता होती जा रही थीं। इन सभी समस्याओं के समाधान के लिए सन् 1950 में नियोजित विकास की पंचवर्षीय योजनाएँ लागू की गईं, जिनमें कृषि का विकास एक महत्वपूर्ण अंग था।

बोध प्रश्न– 2

1. यूरोप में जनसंख्या की तीव्र वृद्धि विकास में गंभीर समस्या क्यों नहीं बनी?

....

....

2. भारत में ब्रिटिश काल में भूमि अधिकार में क्या पीरवर्तन हुए?

....

....

3. नयी दुनिया में आर्थिक विकास की परिस्थितियाँ यूरोप से भिन्न कैसे थी?

....

....

4. अल्प विकसित देशों में आर्थिक तथा कृषि विकास की मुख्य बाधाएँ कौन सी है?

....

....

5. अफ्रीका की जौवननिर्वाह कृषि के मुख्य प्रकार बताइए।

....

....

6. बागानी कृषि के विकास का अफ्रीकी कृषि पर क्या प्रभाव पड़ा?

....

....

2.5 सारांश (Summary)

विकसित देशों के इतिहास से स्पष्ट होता है कि आर्थिक विकास के प्रारंभ में कृषि का महत्वपूर्ण हाथ रहा है। कृषि–उत्पादन के बढ़ने से औद्योगिक विकास को कई ढंगों से सहायता मिली है। कृषि से हटकर कुछ मज़दूर औद्योगिक केन्द्रों में काम कर सके, साथ ही भोजन उत्पादन का भार उनके ऊपर नहीं रहा और उन्हें भोजन मिलता रहा। अन्न–उत्पादन और पशुपालन संभवत: 8000 ई. पू. से प्रारंभ हुआ। यह विवादास्पद विषय है कि कृषि का मूल क्षेत्र कौन सा है? विद्वानों कें एक बड़े समुदाय का मानना है कि कृषि का आरंभ ईरान–मेसोपोटामिया की नदी–घाटी और लोएस मिट्टी क्षेत्र पर हुआ। इस वर्ग के विद्वानों में सांस्कृतिक इतिहासकार–चाइल्ड और नृतत्वशास्त्री ब्रेडवूड है। सी.ओ. सावर और एच.वी. विसमन जैसे भूगोलशास्त्री इस मत के विरोध में हैं। रूसी विद्वान वेवीलोव ने पहिले छ: और बाद में आठ कृषि के उद्भव मूल स्थलों का निर्धारण किया है। वेवीलोव की सूची के अनुसार कृषिगत अनेक पौधों का उद्भव एशिया में हुआ है। कुल 600 मुख्य फसलों में से 400 का उत्पत्ति स्थल एशिया को माना है और केवल 100 फसलों का उद्भव दोनों

अमेरिकी महाद्वीपों में हुआ है। इनका मानना था कि ये आठ केन्द्र एक दूसरे से स्वतंत्र विकसित हुए हैं। ईरान तथा ईराक केन्द्रों पर कुछ समानता मिलती है।

ज्ञान की वृद्धि के साथ कृषि की विद्या, पशुपालन आदि में क्रांतिकारी परिवर्तन होते रहे हैं, जिसे वैज्ञानिक कृषि क्रांति में नामांकित करते हैं। कृषि का इतिहास का प्रारंभ इजराइल, अनातोलिया; मेसोपोटामिया (ईराक) तथा ईरान के पठार से हुआ। यहाँ प्रथम कृषि क्रांति 7000 ई. पू. में आरंभ हुई और यूरोप तक 2000 ई. पू. में पहुँची। कांस्य युग में द्वितीय तथा रोमन काल में तीसरी कृषि क्रान्ति आई। इसके बाद ब्रिटेन, अमेरिका तथा यूरोप के अन्य भागों में कृषि में क्रान्तिकारी परिवर्तन आया। पाश्चात्य विकसित देशों में औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व तक कृषि का पर्याप्त विकास हो चुका था। ये निर्यातक देश बन गए थे। बढ़ते जनसंख्या के दबाव के कारण यहाँ से बड़ी संख्या में लोग बाहर गए।

इनके विपरीत एशियाई, अफ्रीकी एवं दक्षिणी अमेरिकी देशों में स्वतंत्र होने के पश्चात् आर्थिक विकास के अथक प्रयत्न हो रहे हैं, किन्तु अब भी अधिकांश देश विकास के प्रथम चरण तक नहीं पहुँच सके हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि यहाँ की कृषि पद्धतियाँ, कृषि–व्यवस्था तथा सामाजिक परिस्थितियाँ भी अत्यधिक प्राचीन हैं। साथ ही इन देशों की पृष्ठभूमि में लंबा उपनिवेश काल है, जब आर्थिक विकास के स्थान पर आर्थिक शोषण हुआ है। यहाँ विकास प्रारंभ होने के पूर्व ही जनसंख्या का विस्फोट हो गया, जिससे उत्पादन और माँग का ऐसा वृत्त बन गया कि ये देश उसको तोड़कर आगे नहीं बढ़ पा रहे हैं। फलस्वरूप न अतिरिक्त कृषि उत्पादन हो पाता है और न पूँजी ही एकत्रित हो पाती है। आज भी इन विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति आय विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है।

2.6 शब्दावली (Glossary)

- **नवीन संसार:** उत्तरी, मध्य तथा दक्षिण अमेरिका को नवीन दुनिया कहते हैं।
- **जौवन निर्वाह कृषि:** जिस कृषि का उद्देश्य कृषक का भरण–पोषण हो उसे जौवननिर्वाह कृषि कहते हैं।
- **बागानी कृषि:** बड़े–बड़े फार्मो पर किराए के मजदूरों की मदद से व्यापारिक उद्देश्य से की जाने वाली गैर –खाद्य फसलों की कृषि को बागानी कृषि कहते हैं।
- **रैयतवारी:** ब्रिटिश काल की भूस्वामित्व की वह पद्धति जिसमें रैयत (प्रजा) सीधा सरकार को देनदार होती थी। किसान भूमि का स्वामी होता था। उसे भूमि किराए पर देने, गिरवी रखने तथा बेचने का अधिकार था। इस पद्धति में भी में सम्पूर्ण प्रदेश में लगान की मात्रा निश्चित थी, चाहे किसी फसल में उत्पादन हो या न हो।
- **महलवारी:** भूस्वामित्व की इस पद्धति में जमीन का अधिकार संयुक्त होता था – साधारणतः गाँव अथवा महल का। एक किसान का चुनाव लगान वसूल करने के लिए होता था जिसे लम्बरदार कहते थे।
- **मालगुजारी:** सेंट्रल प्रोविन्सेज के मालगुजारी पद्धति में मराठा काल में जो किसान लगान वसूल करता था उसी को भूमि का अधिकार दिया गया और गाँव का मुखिया बनाया गया। उत्पादन का $^1/_2$ भाग लगान के रूप में देना होता था। इस प्रान्त में बन्दोबस्त अधिकारी लगान का निर्धारण करता था और मालगुजार उसका देनदार होता था।

2.7 संदर्भ (Reference Books)

1. Braidwood R.J. (1952) The Near East and the Foundation for Civilization. Eugen Orgon: State System of Hr Education.
2. Issac, E. (1974) Geography of Domestication. Prentice–Hall, Englewood Cliffs, NJ.
3. Randhawa, M.S. (1974) Green Revolution: A case study of Punjab. New Delhi: Vikas Pub. Co.
4. Sauer, C.O. (1952) Agricultural Origins and Dispersals. New York: American Geographical Society.
5. Singh, V.B. ed (1965) Economic History of India, 1857–1956. Allied Publishers, Bombay.
6. Vavlove, N.I. (1951) The Origin Variation Jmmunity and Breeding of Cultivated Plants New York: Ronald.
7. कुमार, प्रमीला एवं श्रीकमल शर्मा: कृषि भूगोल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 2008.
8. जोशी, यशवन्त (अनु.): सामान्य जलवायु विज्ञान, म. प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।
9. साइमन, लेसली कृषि भूगोल (अनुवादक एस एस कटारे), मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल।
10. सिंह, ब्रजभूषण, कृषि भूगोल, ज्ञानोदय प्रकाशन गोरखपुर।
11. तिवारी आर. सी. तथा बी. एन. सिंह कृषि भूगोल प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहाबाद।

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. सावर ने लिखा कि कृषि के पारम्परिक उद्भव स्थलों के अलावा नवीन तथा पुरानी दुनिया के क्षेत्रों में अलग–अलग दो कृषि के आरंभ के क्षेत्र रहे हैं। पुरानी दुनिया में कृषि का उद्भव क्षेत्र दक्षिणी एशिया में था तथा नवीन दुनिया में उत्तरी एण्डीज की घाटियों तथा निम्न भू भाग में थे।
2. वेवीलोव ने विश्व के विभिन्न भागों से पौधों का संग्रह कर वानस्पतिक विधियों का उपयोगकर विश्लेषण किया। साथ ही इन पौधों के विकास की पारिस्थितिकी तथा जलवायवी दशाओं का भी अध्ययन किया। इनके अलावा पुरातत्व, इतिहास तथा भाषाविज्ञान की सूचनाओं पर भी विचार किया।
3. वेवीलोव की सूची के अनुसार कृषिगत कुल 600 मुख्य फसलों में से 400 का उत्पत्ति स्थल एशिया है।
4. प्रथम कृषि क्रान्ति के क्षेत्र थे – मध्यपूर्व की उर्वर पेटी, पूर्वी तथा पश्चिमी भारत, दक्षिणी चीन, नवीन दुनिया में मैक्सिको पेरू तथा बोलीविया।
5. यूरोपीय कृषि क्रान्ति की मुख्य विशेषताएं यंत्रीकरण, भूमि सुधार, रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन एवं उपयोग तथा कीटनाशकों का प्रयोग हैं।

बोध प्रश्न 2

1. यूरोप मे जनसंख्या की तीव्र वृद्धि उस समय हुई जब इन देशों में आर्थिक विकास तेजौ से हो रहा था तथा अतिरिक्त जनसंख्या 'नयी दुनिया' के देशों में जा रही थी, जिससे जनसंख्या की वह गंभीर समस्या कभी नहीं रही; जैसी कि आज भारत के विकास की आरंभिक अवस्था में है।
2. ब्रिटिश काल में सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि भूमि पर किसानों अथवा जमीदारों का अधिकार नही रहा। भूमि पर लगान वसूलने वाले किसानों का अधिकार हो गया और लगान वसूल करने की जिम्मेदारी उनकी होती थी। भूमि को अन्य वस्तुओं के समान खरीदने की स्वतंत्रता मिल गई अत: धीरे–धीरे भूमि किसानों के हाथ से निकल कर कुछ बड़े किसानों एवं जमींदारों के पास एकत्रित होती गई। बाद के काल में इसके लिए भूमि का अधिकार स्थायी रूप से जमींदारों को दे दिया गया।
3. नयी दुनिया के देशों में आर्थिक विकास की परिस्थितियाँ यूरोप से कई तरह से भिन्न थी। यहाँ के अधिकतर भागों को यूरोपीय लोगों ने बसाया। प्रारंभ में कृषियोग्य भूमि बहुत अधिक थी। मजूदरों की कमी अन्य देशों से लाए गये दास अथवा मशीनों से पूरी की गई। कम स्थानीय उपभोग के कारण बड़ी मात्रा में कृषि उत्पादों का निर्यात हो सका जिससे पूँजी एकत्रण हुआ। प्राकृतिक संसाधनों की बहुलता के कारण यूरोपीय देशों से भी पूँजी आकर्षित हुई। प्रारंभिक काल से ही ये देश स्वतंत्र हो गये अत: यूरोपीय देशों का वह भार इन पर नहीं रहा। इनको विस्तृत यूरोपीय बाजार मिला जो इन देशों के आर्थिक विकास में सहायक हुआ।
4. अल्प विकसित देशों में कृषि–व्यवस्था तथा सामाजिक परिस्थितियों भी अत्यधिक प्राचीन हैं। साथ ही लम्बे समय तक ये उपनिवेश रहे हैं जब इनका आर्थिक शोषण हुआ है। पुन: विकास प्रारंभ होने के पूर्व ही इन देशों में जनसंख्या का विस्फोट हो गया जिससे विकास के लिए पूँजी एकत्रित नही हो पाई। आज भी इन विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति आय विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है।
5. अफ्रीका की जौवननिर्वाह कृषि के तीन रूप मिलते हैं। एक, स्थानान्तरी कृषि, पड़ती वाली आवर्तन पद्धति वाली कृषि तथा बाढत्र के मैदान की कृषि।
6. अफ्रीका में उपनिवेश काल में बागानी कृषि का विकास भी हुआ। इसके परिणामस्वरूप कुछ भागों में तो स्थानीय निवासियों की भूमि छिन गई तथा अन्य भागों में अर्धशुष्क प्रदेशों तथा पठारों पर कृषि आरंभ की गई। साथ ही व्यक्तिगत भूमि स्वामित्व का भी विकास हुआ। बागानों के स्थापन से परिवहन का भी विकास हुआ तथा विदेशी पूँजी का विनियोग हुआ तथा कृषि–कुशलता भी बढ़ी।

2.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. विश्व में कृषिय फसलों के विसरण का विवरण दीजिए।
2. विश्व में कृषि की उत्पत्ति एवं विसरण सम्बन्धी सावर अथवा वेवीलोव के विचारों का परीक्षण कीजिए।
3. अफ्रीकी देशों में ऐतिहासिक काल में हुए कृषि विकास का विवरण दीजिए।

4. विभिन्न कालों में विश्व के विभिन्न भागों में आई कृषि क्रान्तियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कीजिये।
5. नवीन दुनिया में कृषि विकास का इतिहास संक्षिप्त में प्रस्तुत कीजिए।
6. ऐतिहासिक काल में भारत में कृषि के क्षेत्र हुए परिवर्तनों का विवरण दीजिए।

इकाई 3 : कृषि भूगोल में क्षेत्र–सर्वेक्षण एवं मानचित्रण (Field Survey and Mapping in Agricultural Geography)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 क्षेत्र सर्वेक्षण एवं आंकड़ो के स्रोत (Field Survey and Sources of Data)

3.2.1 आंकड़ो के स्रोत (Sources of data)

3.2.2 क्षेत्र सर्वेक्षण की विधियाँ (Field Survey Methods)

3.2.3 प्रतिचयन विधि (Sampling methods)

3.3 कृषि भूगोल में मानचित्र व आरेखों का उपयोग (Use of Maps and diagrams in agricultural geography)

3.3.1 गुणात्मक मानचित्र (Qualitative maps)

3.3.2 मात्रात्मक मानचित्र (Quantitative maps)

3.3.3 मानचित्र में आरेखों का उपयोग (Diagramatic representation in maps)

3.3.4 कृषि भूमि उपयोग मानचित्र (Agricultural land use mapping techniques)

3.3.5 कृषि भूमि उपयोग मानचित्र तकनीक (Agricultural landuse mapping techniques)

3.4 सारांश

3.5 शब्दावली

3.6 सन्दर्भ ग्रन्थ

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

3.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे:–

- आंकड़ो के स्रोत,
- कृषि भूगोल में क्षेत्र सर्वेक्षण,
- क्षेत्र सर्वेक्षण की विधियाँ,
- प्रतिचयन विधि,
- मानचित्रण व मानचित्रण में आरेखों का महत्व,
- कृषि भूमि उपयोग मानचित्रण व आरेखों का प्रयोग,
- कृषि भूमि उपयोग मानचित्रण तकनीक जानना।

3.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्राथमिक स्तर पर आंकड़े किसानों से व किसान के खेत पर जाकर या प्रश्नावली के माध्यम प्राप्त से करते है। उसे ही क्षेत्र सर्वेक्षण (Field survey) कहा जाता है। भूगोल में क्षेत्र सर्वेक्षण एक अनिवार्य व महत्वपूर्ण है। क्षेत्र सर्वेक्षण द्वारा एकत्रित सूचनाऐं अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है। इस क्षेत्र सर्वेक्षण विधि के दौरान सर्वेक्षण कर्ता को सम्पूर्ण घटनाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो जाता है जैसे आवासों की स्थिति, स्वस्थ निवासियों की स्थानीय परिस्थिति से सम्बध एवं व्यवहार का ज्ञान प्राप्त होता है। प्राथमिक आंकड़े उन्हें कहा जाता हैं जिन्हें सर्वेक्षण कर्त्ता स्वयं संकलित करता है। द्वितीय आकड़े वे होते हैं जो पहले किसी अन्य द्वारा संग्रहित किये गए हों। क्षेत्र सर्वेक्षण से प्राप्त आकड़ों का सांख्यिकीकरण कर कृषि से संबन्धित विभिन्न पहलुओं के मानचित्र तैयार किये जाते हैं। मानचित्रों में आरेखों की सहायता से कृषि भूगोल के विभिन्न पक्षों को स्पष्टता के साथ दर्शाया जाता है। कृषि भूगोल में कृषि भूमि उपयोग के मानचित्र तैयार किये जाते है तथा इनमें एक विमीय, द्विविमीय व त्रिविमीय आरेखों का उपयोग किया जाता है।

3.2 क्षेत्र सर्वेक्षण व आंकड़ो के स्त्रोत (Field Survey and Sources of Data)

कृषि भूगोल के अनुसंधान में क्षेत्र सर्वेक्षण की कई विधियाँ तथा मानचित्र पर भौगोलिक सूचनाओं को विविध माध्यम से दिखाया जाता है। इनमें क्षेत्र सर्वेक्षण की विधियाँ, आंकड़ो के स्त्रोत, मानचित्रण और आरेखों के द्वारा कृषि तथ्यों को स्पष्ट करना है।

3.2.1 आंकड़ो के स्त्रोत (Sources of Data)

कृषि से संबन्धित तथ्यों को सामान्यत: कृषि आंकड़े कहा जाता है। आंकड़े विषयगत सूचना देते हैं व विषय से जुड़ी कच्ची – सामग्री है। कृषि के आंकड़ो में तापमान, ऊँचाइयाँ, वायुदाब, हवाऐं, वर्षा, वाष्पीकरण, ढ़ाल, सरिता क्रम, सरिता घनत्व, फसलों का क्षेत्र, फसलों का उत्पादन, यातायात आदि सम्मिलित किये जा सकते हैं। कृषि भूगोल शोध में प्रयुक्त आंकड़ो के स्त्रोत मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं।

(अ)प्राथमिक आंकड़े (Primary data)

प्राथमिक आंकड़े शोधकर्ता द्वारा एकत्रित किये जाते हैं प्राथमिक आंकड़े अवलोकन (observation) व सीधे उत्तरदाता (respondents) सें व्यक्तिगत साक्षात्कार कर (personal interview) प्राप्त किए हैं। ये आंकड़े अवलोकन विधि साक्षात्कार विधि, प्रश्नावली विधि और अनुसूची (schedule) के माध्यम से एकत्रित जाते हैं। शोध में उद्देश्यों, उनकी प्रकृति, क्षेत्र विस्तार. समय, धनराशि तथा परिशुद्धता स्तर (precision level) को ध्यान में रख कर निम्न विधियां काम में ली जा सकती है:–

(i). **अवलोकन विधि (Observation method):** शोधकर्ता प्रत्यक्ष रूप से घटनाओं' का अवलोकन कर सूचनाएँ एकत्रित करता है जिसे "अवलोकन विधि'' कहा गया है। इसमें सूचनादाता से नहीं पूछा जाता है। यह विधि अधिक समय व धन लगने वाली है। इससे बहु त कम सूचनाएँ

उपलब्ध होती है व शोधकर्ता को कम से कम 10 – 15 वर्षो का अनुभव क्षेत्र में रहने का होना चाहिए।

(ii). **साक्षात्कार विधि (Interview method):** साक्षात्कार टेलीफोन के माध्यम से भी बातचीत द्वारा सूचनाएँ एकत्रित की जा सकती है। इससें कम समय में अधिक सूचनाएँ प्राप्त की जा सकती है। बातचीत कई बार की जा सकती। उत्तरदाता से सम्पर्क सरलता से हो जाता है परन्तु इस विधि की सबसे बड़ी कमी यह हैं कि यह केवल ऐसे उत्तरदाताओं तक ही सीमित रहता है जिनके पास टेलीफोन सुविधा होती है। उत्तरदाता को ज्यादा सोचविचार का अवसर नहीं मिलता है। इस प्रकार से प्राप्त की गई सूचना अधिक विश्वसनीय एवं विस्तृत नहीं होती है। गहन सर्वेक्षण टेलीफोन साक्षात्कार विधि द्वारा पूर्ण करना सम्भव नहीं होता है। जहाँ प्रश्नों के उत्तर विस्तार से चाहिए।

(iii). **प्रश्नावली विधि (Questionnaire method):** प्रश्नावली तैयार कर उत्तरदाता को डाक द्वारा भेजौ जाता है। उत्तरदाता से निवेदन किया जाता है कि प्रत्येक प्रश्न का उत्तर पूर्ण कर प्रश्नावली वापस लौटायें। इस विधि का उपयोग कई क्षेत्रों में किया जा रहा है। इस विधि के मुख्य गुणों में इसमें व्यय आता है। उत्तरदाता स्वयं अपने शब्दों में उत्तर देता है। उत्तरदाता को पर्याप्त सोच विचार करने का समय मिल जाता है परन्तु इस विधि की भी कुछ कमियाँ है जैसे–भरी हुई प्रश्नावली बहुत कम वापस आती है। प्रश्नावली भेज देने के बाद उस पर नियंत्रण नहीं रहता हैं। बहुत धीमी गति वाला यह कार्य है। अगर उत्तरदाता पढ़ा लिखा नहीं है तो यह विधि महत्वपूर्ण नहीं मानी जाती है।

(iv). **अनुसूचि विधि (Schedule method):** यह प्रश्नावली विधि जैसी हो होती है। इसे डाक द्वारा नहीं भेज कर स्वयं सर्वेक्षण कर्ता क्षेत्र विशेष में जाकर उत्तरदाताओं से सम्पर्क कर उन्हें पूछ कर सूचनाएँ एकत्रित करता है। उत्तरदाता को सर्वेक्षण के उद्देश्य से अवगत कराकर उनका विश्वास जौत कर सूचनाएँ एकत्रित की जाती है। यह विधि विस्तृत पूछताछ के लिए उपयुक्त है। इसका उपयोग अधिकार सरकारी एजेन्सियों संगठनों द्वारा किया जाता है।

(अ) द्वितीयक आकड़े (Secondary data)

अन्य व्यक्तियों या संगठन या एजेन्सियों के माध्यम से आंकड़ें एकत्रित किये जाते हैं जो प्रकाशित या अप्रकाशित रूप में उपलब्ध होते हैं सर्वेक्षण कर्त्ता सीधे ही इन आंकड़ो की सहायता से अध्ययन व विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार के आंकड़े जनगणना विभाग (cansus deptt.) भूमिलगान व भूमि रेकार्ड कार्यालय से प्राप्त किये जाते हैं। पशुगणना, कृषि एटलस, जिला सांख्यिकी, रूपरेखा, आर्थिक व सांख्यिकीय रूपरेखा आर्थिक सर्वेक्षण तथा खाद्य व कृषि संगठन (FAQ) द्वारा प्रकाशित ग्रंथ इत्यादि कृषि से जुड़ी महत्वपूर्ण द्वितीय आँकड़ो के स्त्रोत है।

बोध प्रश्न– 1

1. प्राथमिक आंकड़े क्या होते हें?

   ....

   ....

2. द्वितीय आंकड़ो को स्पष्ट कीजिए।

....

....

3. प्रश्नावली क्या होती है?

....

....

4. अनुसूची क्या होती है?

....

....

5. साक्षात्कार विधि के महत्व को बतलाइये।

....

....

3.2.2 क्षेत्र सर्वेक्षण की विधियाँ (Field Survey Method)

प्राथमिक स्तर पर आंकड़ो का एकत्रिकरण करना क्षेत्र सर्वेक्षण (Field work) कहलाता है। कृषि भूगोल के अनुसंधान में क्षेत्र–सर्वेक्षण का कार्य अनिवार्य रूप से किया जाता है। वर्तमान में भूगोलवेत्ता प्राथमिक आंकड़ो के साथ प्रकाशित व अप्रकाशित द्वितीय आंकड़ो पर शोध कार्य कर रहा है परन्तु क्षेत्र–सर्वेक्षण द्वारा प्राथमिक स्तर पर आंकड़े संग्रहित करने को अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इस विधि द्वारा सर्वेक्षण कर्त्ता को क्षेत्र की आवासीय स्थिति, धरातल के स्वरूप, लोगों की स्थानीय परिस्थिति का ज्ञान, व्यवहार एवं क्षेत्र की महत्वपूर्ण घटनाओं की प्रत्यक्ष जानकारी हो जाती है।

3.2.3 प्रतिचयन विधि (Sampling Method)

आंकड़ो के संग्रह हेतु शोध की आवश्यकता व उद्देश्य के अनुसार कुछ विधियाँ अपनायी जाती है। क्षेत्रीय सर्वेक्षण में लगने वाले समय, श्रम तथा व्यय को कम करने के लिए समस्त क्षेत्रीय सर्वेक्षण के स्थान पर प्रतिचयन विधि का उपयोग किया जाता है। समग्र (universe) के स्थान पर कुछ चयन की हुई इकाईयों का ही विस्तार से अध्ययन किया जाता है। इन्हीं चयन की गई इकाईयों के आधार पर निष्कर्ष निकाले जाते हैं। इस विधि को प्रतिदर्श प्रतिचयन (sampling) कहा जाता है। प्रतिदर्श से समग्र के विषय में निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए इसकी शुद्धतापूर्वक क्रिया प्रणाली (procedure) पर निर्भर है। प्रतिचयन समग्र (universe) का प्रतिनिधि करता हो व इसमें स्वतंत्रता सजातीयता व पर्याप्तता का होना आवश्यक है। इसके चुनाव में व्यक्तिगत अभिनति तथा पूर्वाग्रह नहीं होना चाहिए।

(i). समग्र (Universe)

सांख्यिकीय रूप में समग्र (universe) से आशय किसी अनुसंधान क्षेत्र में कुल पदों तथा कुल इकाईयों से है। जनसंख्या (population) का आशय ऐसे कुल पदों से है जिनके बारें में सूचनाएँ उपलब्ध करना मुख्य कार्य है। इन्हें प्राथमिक इकाई (primary unit) कहा जाता है। समग्र में घटकों की निर्धारित संख्या होती है व समस्त की गणना सम्भव है तो उसे निश्चित समग्र कहा

जाता है। जैसे – नगर संख्या, गाँवों में घरों की संख्या, कारखाने में कर्मचारियों की संख्या, महाविद्यालय में विद्यार्थियों की संख्या आदि। इसका प्रतीक चिन्ह (symbol) सामान्यत: 'N' होता है अर्थात निश्चित समग्र के घटकों की संख्या माना गया। अनिश्चित समग्र में सेद्धान्तिक दृष्टि से सभी घटकों को देखना व उनकी गणना करना सम्भव नहीं होता है जैसे आकाश में तारे अर्थात अनिश्चित समग्र से तात्पर्य अत्यंत विस्तृत गणक समग्र का जनसंख्या के सन्निकट समझा जाना चाहिए।

प्राथमिक इकाई या समग्र में से प्रतिचयन करने के लिए पदों की सूची (list of items) में से प्रतिचयन का चुनाव किया जाता है। उदाहरण के रूप में गाँव में मकानों की सूची। यह मकानों की सूची फ्रेम के रूप में काम में ली जाती है। प्रेम कोई भी सूची हो सकती है परन्तु यह महत्वपूर्ण है कि वह समग्र का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाली हो। प्रतिचयन प्रेम में से प्रतिदर्श (sample) के निर्धारण में एक निश्चित योजना को 'प्रतिचयन डिजाइन' (sampling design) कहते है। यह ऐसी तकनीक है जिससे अनुसंधानकर्ता ऐसी कुछ प्रतिदर्श इकाईयों के चयन करने के लिए अपनाता है जिनके आधार पर समग्र (universe) का अनुमान लगाया जा सके। प्रतिचयन डिजाइन का निर्धारण आंकड़ो को एकत्रित करने के पहले ही किया जाता है।

किसी प्रतिचयन से मध्यमान, मध्यांक और बहुलक मान ज्ञात किये जाते है तो वे सांख्यिकी (statistics) कहलाते हैं। ये प्रतिचयन के लक्षणों (characteistics) को बतलाते हैं। परन्तु वे मान जो समग्र के लक्षणों से अवगत कराते है वे प्राचल (parameters) कहलाते है।

(ii). विश्वास और सार्थकता स्तर (Confidence level and Significance level)

सार्थकता स्तर ऐसा आगणित प्रतिशत (estimate percentage) है जो निश्चित काल में कितनी बार वास्तविक मूल्य (true answer) वयैम परिशुद्ध सीमा में घटित हो सकेगा। यदि विश्वास स्तर (confidence level) 95 प्रतिशत निर्धारित तो इसका अभिप्राय है कि 100 में से 95 प्रतिशत अवसर व्यक्त परिशुद्धि सीमा में प्रतिचयन का परिणाम सही (शुद्ध) और 5 प्रतिशत अवसर गलत अशुद्ध अनुमानित होंगे। यह परिशुद्धि सीमा (precision limit) है जिसमें उत्तर या विश्वसनीयता की विचलनता (vacianc of reliability or true answer) प्रकट होती है। विश्वास स्तर वह सीमान्तर (range) है जिसमें उत्तर की सम्भावना निहित है। सार्थकता–स्तर (significance level) वह है जिसमें उत्तर सीमान्तर से बाहर होने की सम्भावना व्यक्त है। यदि विश्वास स्तर 95 प्रतिशत है तो सार्थकता स्तर (100 – 95) 5 प्रतिशत होगा।

प्रतिचयन क्रिया द्वारा चयन कर समग्र का ज्ञान किया जा सकता है। प्रत्येक व सभी इकाईयों तक पहुँच कर समग्र के बारे में सूचना एकत्रित करना व्यावहारिक दृष्टि से असम्भव है। प्रतिचयन द्वारा धन, समय व श्रम की बचत होती है एवं विश्वस्त परिणामों तक पहुँचा जा सकता है। इसका उपयोग सामान्य वस्तु स्थिति के ज्ञान हेतु व भविष्यवाणी हेतु कर सकते हैं। संतोषजनक परिणामों के लिए प्रतिचयन का आकार प्राय: समग्र के पूर्ण आकार में से 5 से लेकर 15 प्रतिशत का होना चाहिए। प्रतिचयन दो प्रकार से किया जा सकता है।

1. **उद्देशीय अथवा असम्भाव्य प्रतिचयन (Subjective or non–probability sampling)**
इसमें व्यक्तिगत अभिनति प्रमुख होती है। इसके निष्कर्ष जनसंख्या पर लागू नहीं होते हैं।
2. **सम्भाव्य प्रतिचयन (Probability Sampling)**

समग्र की प्रत्येक इकाई को चुन जाने के समान अवसर होते हैं। इन प्रतिचयन के परिणाम समग्र का प्रतिनिधित्व करता हैं। कृषि भूगोल के अनुसंधान में इन्हीं प्रतिचयनों का अधिक उपयोग किया जाता है। इसमें निम्न विधियाँ है –

(अ) साधारण दैव प्रतिचयन (Simple random sampling)

(ब) स्तरित प्रतिचयन (Stratified sampling)

(स) व्यवस्थित प्रतिचयन (Systematic sampling)

(द) स्तरित–व्यवस्थित – असंशोधित प्रतिचयन (Stratified–systematic,unaligned sampling)

(अ) साधारण दैव प्रतिचयन (Simple random sampling):

इसमें प्रतिचयन इकाईयों का चुनाव संयोग के आधार पर किया जाता है। लॉटरी का उपयोग इसका सरलतम उपाय है। रेन्डम नम्बर टेबल से प्रतिचयन करते समय इकाईयों का एक से प्रारम्भ करके क्रम संख्या निश्चित करनी पड़ती है। उदाहरण के तौर पर किसी तहसील में 300 गाँव है जिन्हें 1 से 300 क्रमसंख्या में रखना पड़ता है। इनमें 45 प्रतिदर्श गाँवों का चयन करना है तो रेन्डम नम्बर टेबिल में तीन अकों के स्तम्भ को देखकर प्रारम्भ करें क्योंकि यह प्रतिशत तीन अंकों वाली संख्याओं में से 300 से अधिक का नहीं हो सकता है।

रैन्डम नम्बर टेबिल

04	67	91	14	11
58	00	73	06	97
14	03	46	16	69
53	56	36	63	81
05	23	59	96	85
72	87	79	85	28
11	43	65	00	53
62	87	24	71	59

तालिका के ऊपर वाले किनारे से प्रारम्भ करने पर पहली संख्या 046 है। यह 300 से कम है अत: 46 क्रम संख्या वाले गाँव की प्रतिदर्श गाँव माना जायेगा। दूसरा अंक 580 है परन्तु यह 300 से ज्यादा है इसलिए यह प्रतिदर्श गाँव नहीं हो सकता है। तीसरी संख्या 140 है जो 300 से कम हैं इसलिए यह 140 क्रमसंख्या वाला प्रतिदर्श गाँव होगा। इस तरह 45 गाँवों का चयन करेंगे जो साधारण दैव प्रतिचयन अथवा 'यादृच्छिर प्रतिचयन' भी कहा जाता है। यह तकनीक़ अभिनति रहित है। समग्र के पूर्ण आँकड़ो का प्रतिनिधित्व करने वाली यह तकनीक अधिक वस्तुपरक (Objective) है।

(ब) स्तरित प्रतिचयन (Stratified Sampling):

समग्र में स्पष्ट ग्रुप हो जिनका आकार ज्ञात हो तो स्तरित प्रतिदर्श का उपयोग हो पाता है। क्षेत्र में भूमि उपयोग के लिए प्रतिदर्श चुनने के लिए कृषि भूमि और वन के अन्तर्गत भूमि को अलग – अलग प्रतिदर्श किया जाता है। प्रतिदर्श चुनने का कार्य दैव प्रतिचयन विधि से ही किया जाता है। इसकी क्रियान्वति सरल है और प्रत्येक स्तर पूर्ण प्रतिचयन में प्रतिनिधित्व रखता है। इस विधि का उपयोग प्राय: कृषि भूगोल के शोध में किया जाता है। वुड ने 1955 में पूर्वी विसकांसिन क्षेत्र के भूमि उपयोग अध्ययन में इसका उपयोग किया था।

(स)व्यवस्थित प्रतिचयन (Systematic Sampling) :

निर्धारित प्रारूप के अनुसार प्रतिदर्श की चुनाव –प्रक्रिया व्यवस्थित प्रतिचयन विधि कही जाती है। इसे अर्द्ध दैव प्रतिचयन भी कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए 3000 गाँवों में फसल संयोजन का अध्ययन करना है 30 गाँवों का प्रतिचयन लेना है। इसके लिए गाँवों के क्रमानुसार 1 से 3000 तक व्यवस्थित करके प्रत्येक 100वाँ गाँव प्रतिचयन कर लेंगे। यह विधि व्यक्ति निष्ठता (subjectivity) से ग्रसित हो सकती है क्योंकि इसमें प्रत्येक गाँव को चयनित होने अवसर नहीं रह जाता है। इस विधि का उपयोग बच ने 1960 में मानद्वीप के फार्मो के सर्वेक्षण में किया था।

(द)स्तरित व्यवस्थित प्रतिचयन (Stratified Systematic unaligned Sampling):

यह विधि दैव प्रतिचयन स्तरित प्रतिचयन व व्यवस्थित प्रतिचयन तीनों का ही समिश्रित रूप है। एक विस्तृत प्रदेश में सामाजिक आर्थिक सर्वेक्षण के लिए 2000 परिवारों का चयन करना हो तो पहले स्तर पर दैव प्रतिचयन विधि का उपयोग कर गांवों का चयन करेंगे। इसके पश्चात प्रत्येक चयनित गाँव में से परिवारों का चयन किया जायेगा। परिवारों को भी विभिन्न आधारों द्वारा क्रमों में विभाजित किया जाता है। यह विधि सरल व सस्ती अवश्य है परंतु कम शुद्ध मानी जाती है।

बोध प्रश्न - 2

1. समग्र (universe) क्या है?

....

....

2. विश्वास स्तर क्या है?

....

....

3. सार्थकता स्तर क्या है?

....

....

.4 अनिश्चित समग्र क्या है?

....

....

.5 प्रतिचयन का आधार समग्र का कितना होना चाहिए।

....

....

.6 दैव प्रतिचयन क्या है?

....

....

.7 मदों की सूची क्या है?

....

....

.8 व्यवस्थित प्रतिचयन क्या है?

....

....

9. विश्वास स्तर और सार्थकता स्तर क्या है?

....

....

3.3 कृषि भूगोल में मानचित्रण व आरेखों का उपयोग (Mapping and Diagrams use in Agricultural Geography)

कृषि से सम्बन्धित तथ्यों का मानचित्रों के माध्यम से स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है। वितरण के रूप तथा प्रति रूप के पारस्परिक सम्बन्धों की विविधता को प्रदर्शित करने के लिए मानचित्रों व आरेखों का उपयोग किया जाता है। मानचित्रण को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

3.3.1 गुणात्मक मानचित्र (Qualitative maps)

इस प्रकार के मानचित्रों में तथ्यों को गुण के आधार पर व्यक्त किया जाता है। सांख्यिकीय सूचनाएँ नहीं होती है। यह विधि कृषि भूगोल में सबसे पुरानी है। वर्तमान में भी कृषि भूगोलवेत्ताओं द्वारा पर्याप्त मात्रा में इस विधि का उपयोग कर मानचित्रों का निर्माण किया जा रहा है। इसमें भूमि उपयोग व भूमि वर्गीकरण के मानचित्र तैयार किये जाते हैं। इन मानचित्रों में एक ही तत्व के वितरण से लेकर अनेक तत्वों के वितरण को प्रदर्शित किया जा सकता है। इसमें रंगों व छायाकरण का उपयोग किया जाता है। गुणात्मक वितरण मानचित्र निम्न प्रकार से बनाये जाते हैं: –

(i). रंग या आभा विधि (Colour or Tint Layer or Chorochromatic Map): तत्वों को रंगों के उपयोग कर वितरण दर्शाया जाता है।

(ii). संकेत अथवा वर्णप्रतीकी विधि (Symbol or Chroschematic Map): संकेतो का उपयोग कर कृषि तत्वों के वितरण के मानचित्र बनाये जाते है।

(iii). चित्रीय विधि (Pictorical Method): तत्वों के चित्र बना कर उसके वितरण को दर्शाया जाता है जैसे कपास का चित्र बनाकर वितरण बताया जाता है।

(iv). नामांकन विधि (Naming Method): फसलों के नाम के अक्षर को लेकर कुल उत्पादन क्षेत्रों को दर्शाया जाता है।

3.3.2 मात्रात्मक मानचित्र (Quantitative Maps)

कृषि सांख्यिकीय को लेकर जो मानचित्र तैयार किये जाते है। उन्हें मात्रात्मक मानचित्र कहा जाता हैं। इन मानचित्रों में कृषि सें सम्बन्धित विभिन्न तत्वों को मात्रा (संख्या) के द्वारा व्यक्त करते हैं। मात्रात्मक वितरण मानचित्र इस प्रकार है।

(i). **सममान रेखा मानचित्र (Isohleth Map):** कृषि से सम्बन्धित पर्यावरणीय तत्वों तापमान, वर्षा इत्यादि के वितरण को स्पष्ट करने के लिए मानचित्र तैयार किये जाते है। जिनमें प्रशासनिक इकाई को ध्यान में न रख कर अभीष्ट स्टेशनों के अनुसार तत्व की मात्रा के आधार पर 'इन्टर पोलीशन' द्वारा मानचित्र बनाये जाते हैं। इस प्रकार के मानचित्र समताप, समदाब, समवर्षा आदि के मानचित्र होते हैं। समान मूल्यों को मिलाने वाली रेखा को सममान रेखा कहा जाता है।

(ii). **वर्णमात्री मानचित्र (Choropleth Map):** इसमें विभिन्न क्षेत्रीय इकाईयों के अनुसार उपलब्ध तत्व की मात्राओं के अनुसार क्षेत्रीय गहनता स्तर व्यक्त किया जाता हैं। इस प्रकार के मानचित्रों का अवलोकन करते ही आभा स्तरीकरण से तत्वों के क्षेत्रीय गहनता स्तर का बोध होता है। कृषि जनसंख्या घनत्व व फसलों के उत्पादन को दर्शाने के लिए इस तरह के मानचित्र तैयार किये जाते हैं। ऐसे मानचित्र प्रशासनिक इकाईयों को आधार मान कर तैयार किये जाते हैं जैसे भूमि उपभोग, भूमि भार वहन क्षमता, फसल मानचित्र आदि बनाये जाते हैं।

(iii). **बिन्दु मानचित्र (Dot Method Map):** कृषि भूगोल से सम्बन्धित विभिन्न तत्वों को पूर्ण परिणाम व संख्या को समान आकार वाले बिन्दु बनाकर यर्थाथ स्थिति को स्पष्ट किया जाता है। कृषि जनसंख्या का वितरण मानचित्र बिन्दु विधि द्वारा तैयार कर क्षेत्र में कृषकों के वितरण को स्पष्ट किया जाता है। इसमें पथ व फसल उत्पादन को पदर्शित किया जा सकता है।

3.3.3 मानचित्र में आरेखों का उपयोग (Diagramatic Representation in Maps)

वितरण मानचित्र में आरेखों व ग्राफ का उपयोग किया जाता है। ऐसे मानचित्रों में विविध प्रकार के आरेखों व ग्राफ का उपयोग कर अधिक से अधिक संख्याओं का उपयोग कर मानचित्रों का निर्माण किया जाता है। जिससे मानचित्र अधिक प्रभावी व उपयोगी बनता है। कृषि सम्बन्धी तत्वों का स्कूल रूप अथवा किसी एक तत्व का नियम एवं मापक के अनुसार प्रदर्शन आरेख कहा जाता है। आरेख की रचना की तीन विधियाँ प्रचलित है।

(i). एक विमीय आरेख (One Dimensional Diagrams): आरेख की रचना एक मापक के आधार पर की जाती है तो उसे एक विमीप आरेख कहा जाता है। उदाहरण – दण्ड आरेख (Bar diagram) पिरामिड (pyramid) व पवन आरेख।

(ii). द्विमीय आरेख (Two Dimensional Diagrams): जब आरेख की रचना दो मापकों के आधार पर होती है तो ऐसे आरेखों को द्विमीप आरेख कहा जाता है। उदाहरण – वृत्ताकार आरेख, आयताकार आरेख, वर्गाकार आरेख।

(iii). त्रिविमीय आरेख (Three Dimensional Diagrams): जब आरेखों की रचना तीन मापकों के आधार पर की जाती है तो ऐसे आरेखों को त्रिविमीय आरेख कहा जाता है। उदाहरण – गोलाभ आरेख व धन आरेख।

कृषि से सम्बन्धित अधिकांश तत्वों को इन आरेखों के माध्यम से स्पष्ट किया जाता है। फसलों के क्षेत्र, उत्पादन, आयात – निर्यात, फसल संयोजन, भूमि उपयोग के विभिन्न प्रकार को वृत्ताकार आरेख बना कर दर्शाया जाता है। कृषि के दो तत्वों के मध्य सह–सम्बन्ध दर्शाने के लिए प्रकीर्ण आरेख (scattered diagram) का उपयोग किया जाता है। हीर ग्राफ, क्लाइमेटग्राफ, पवन आरेख, जल बजट व जल संतुलन आरेख, अर्गोग्राफ, वृत्तीय अर्गोग्राफ, बैण्ड ग्राफ वर्ण परिपेक्षण आरेख (Rainfall dispersion diagram) व वर्षा विचलन ग्राफ (Rainfall variability graphs) के माध्यम से कृषि के विभिन्न पक्षों का प्रदर्शन के माध्यम से क्षेत्रीय वितरण को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। समय समय पर इन आरेखों व ग्राफों का उपयोग कृषि भूगोलवेत्ताओं ने अपने शोध में बहुतायत से उपयोग किया है।

3.3.4 कृषि भूमि उपयोग मानचित्र (Agricultural land use maps)

देश का क्षेत्रफल विभिन्न भूमि उपयोग में विभक्त किया गया है। भूमि उपयोग का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है:–

1. **वनों के अन्तर्गत भूमि (Forest Land)**
2. **खेती के लिए अनुपलब्ध भूमि (Land Not Available for cultivation)**
   (अ) स्थायी चरागाह व अन्य पशुचारण भूमि (Parmanant Grass Land or Pasture Land)
   (ब) वृक्ष फसलों व उपवनों के अन्तर्गत भूमि (Tree Crops and Groves)
   (स) कृषि योग्य व्यर्थ पड़ी भूमि (Culturable Waste Land)
3. **पड़त भूमि (Fallow Land)**
   (अ) वर्तमान अथवा चालू पड़त भूमि (Current fallow Land)
   (ब) वर्तमान पड़त के अतिरिक्त अन्य पड़त भूमि (Other than Current fallow Land)
4. **बोयी गयी भूमि (Net Area Sown)**

भूमि उपयोग सम्बन्धी आँकड़ो का संकलन इंडियन एग्रिकल्चर सांख्यिकी, जनरल सांख्यिकीय संगठन द्वारा भारत के आंकड़े जारी किये जाते हैं। भूमि उपयोग सम्बन्धी आंकड़ें–भूमि रिकार्ड (land records) जो पटवारी तैयार करते है उपलब्ध होता है। भूमि उपयोग के मानचित्रों का निर्माण डी. स्टेम्प द्वारा ग्रेट ब्रिटेन में किया गया। भारत में भूमि उपयोग पर कार्य मो. शफी द्वारा कार्य किया गया। जसबीर सिंह ने हरियाणा राज्य व भारत के भूमि उपयोग मानचित्र तैयार किये। भूमि उपयोग मानचित्रों के निर्माण के साथ ही विभिन्न प्रकार की फसलों के क्षेत्र तथा उनके उत्पादन के वितरण मानचित्र भी देश व राज्य स्तर पर कृषि भूगोलवेत्ताओं द्वारा तैयार किये गये है। फसल सांख्यिकीय के आधार पर फसलों के वितरण मानचित्र तैयार किये गये हैं। फसलों की उत्पादकता दर्शाने वाले मानचित्रों को भी दर्शाया गया है। खाद्यानों में अनाज, दालें, तिलहन, मसालें, सब्जियाँ, रेशेदार फसलें इत्यादि के वितरण मानचित्र तैयार किये जाते हैं। कृषि में सिंचाई के मानचित्र, कृषि मूल्य के मानचित्र बनाये गये है।

3.3.5 कृषि भूमि उपयोग मानचित्रण तकनीक (Agricultural Land use Mapping Techniques)

भूमि उपयोग के भाग में वृद्धि जनसंख्या की तीव्र वृद्धि से जुड़ी हुई है। परिणाम स्वरूप विभिन्न आर्थिक क्रियाओं के प्रतिस्पर्धा हेतु भूमि की मांग निरन्तर बढ़ती जा रही है। ग्रामीण क्षेत्र के लिए भूमि उपयोग सर्वेक्षण के साथ ही नगरीय भूमि उपयोग के अध्ययन पर विशेष जोर दिया जा रहा है। भूमि उपयोग सर्वेक्षण करने की विधियाँ व तकनीक में समय के साथ बदलाव आ रहे हैं। इनकी दो विधियाँ मुख्य मानी गयी है।

(i). **धरातलीय मानचित्र (Topographical Maps):** धरातल पत्रक के माध्यम से भूमि उपयोग का अध्ययन किया जाता है। इसके अतिरिक्त छोटे–छोटे भूखंडों को आधार मानकर खेतों व जोत के आकार को लेकर भूमि उपयोग सर्वेक्षण का कार्य पूर्ण किया जाता है। यह कार्य प्रशिक्षित एवं कुशल व्यक्ति ही करने में समर्थ होते हैं। इस कार्य में समय व धन की पर्याप्त मात्रा में आवश्यकता होती है।

(ii). **दूर संवेदन तकनीक (Remote Sensing Techniques)** विमान से की जाने वाली फोटोग्राफी से भूमि–उपयोग के मानचित्र रचना की क्रिया अत्यन्त लोकप्रिय रही है। इसके द्वारा तुरन्त परिणाम उपलब्ध होते हैं और अनावश्यक क्षेत्र–कार्य में भी बचत होती है। इस तकनीक में नये आयाम जुड़े हैं। कृत्रिम उपग्रहों के माध्यम से दूर संवेदन तकनीक की सहायता से सेटेलाइट इमेजरी तैयार की जाती है। इमेजरी की सहायता से शोध कर्ता प्राकृतिक संसाधनों की सूची तैयार कर भूमि उपयोग के आँकड़ो को शुद्ध रूप से प्राप्त कर डिजिटल मानचित्रों का निर्माण किया है। कृषि भूमि उपयोग मानचित्रों के निर्माण में कृत्रिम उपग्रह से प्राप्त इमेजरी बहुत उपयोगी सिद्ध हुई है।

बोध प्रश्न– 3

1. गुणात्मक मानचित्र का उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।
....
....
2. मात्रात्मक मानचित्र के तीन उदाहरण दीजिए।
....
....
3. कृषि भूमि उपयोग का वर्गीकरण संक्षिप्त में बतलाइये।
....
....
4. द्विमीय आरेख कौन से होते हें?
....
....
5. कृषि अनुसंधानों में सममान रेखा मानचित्र (isopleths map) के उपयोग को बतलाइये।
....

3.4 सारांश (Summary)

कृषि आँकड़ो को एकत्रिकरण की कई विधियाँ है। प्राथमिक आँकड़े व द्वितीय आँकड़े कृषि अनुसंधान में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। क्षेत्र सर्वेक्षण के माध्यम से प्राथमिक आँकड़ों का संग्रहण किया जाता है। प्राथमिक आँकड़ों में संग्रहण में सर्वेक्षण कर्ता द्वारा साक्षात्कार, अवलोकन, प्रश्नावली व अनुसूची के माध्यम से कार्य किया जाता है। क्षेत्र सर्वेक्षण विधि के दौरान सर्वेक्षण कर्त्ता को सम्पूर्ण क्षेत्र में सभी घटनाओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो जाता है जिससे आवासों की स्थिति, धरातलीय स्वरूप निवासियों की स्थानीय परिस्थिति एवं मानवीय व्यवहार का ज्ञान भी प्राप्त होता है। समग्र में से इकाईयों के चयन करने की कई विधियाँ है। जिनका उपयोग शोध के उद्देश्य व शोध का क्षेत्र व विस्तार पर निर्भर करता है। साधारण दैव प्रतिचयन, स्वरित प्रतिचयन, व्यवस्थित प्रतिचयन व स्तरित –व्यवस्थित –असंशोधित प्रतिचयन की मुख्य विधियाँ क्षेत्र सर्वेक्षण में काम में ली जाती है। इसके साथ ही विश्वास स्तर व सार्थकता स्तर ज्ञात कर सर्वेक्षण कार्य को शुद्धता के साथ पूर्ण किया जाता है। क्षेत्र सर्वेक्षण में प्रतिचयन द्वारा जो आँकड़े प्राप्त किये जाते हैं उन्हें सारणिकरण कर व्यवस्थित किया जाता है जिन्हें सांख्यिकीयकरण कहा जाता है। इनका उपयोग अनुसधान क्षेत्र की सामान्य स्थिति के ज्ञान हेतु व भविष्यवाणी हेतु किया जाता है। संतोषजनक परिणाम के लिए प्रतिचयन का आकार प्राय: समग्र के पूर्ण आकार में से 5 से लेकर 15 प्रतिशत का होना चाहिए। क्षेत्र सर्वेक्षण से प्राप्त प्राथमिक व द्वितीय आँकड़ो की सहायता से कृषि से सम्बन्धित विभिन्न तथ्यों को गुणात्मक व मात्रात्मक मानचित्रों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। इन मानचित्रों में एकविमीय, द्विविमीय व त्रिविमीय आरेखों व विभिन्न प्रकार के ग्राफ तैयार कर तथ्यों का प्रदर्शन किया जाता है।

कृषि भूमि उपयोग के विभिन्न प्रकारों को मानचित्रों व आरेखों की सहायता से प्रदर्शित किया जाता है। पड़त भूमि, वन भूमि, जोत भूमि, कृषि योग्य बंजर भूमि, चरागाह व बीड़ भूमि के मानचित्र तैयार कर वर्तमान प्रारूप के विश्लेषण के साथ भविष्य में भूमि के उपयोग की योजना प्रस्तुत की जाती है। क्षेत्र सर्वेक्षण के साथ अनुसंधान में नवीन तकनीक, वायु छायाचित्र व दूर–संवेदन तकनीक से प्राप्त कृषि को प्रभावित करने वाली इमेजरी से शुद्ध रूप से भूमि उपयोग के साथ ही जलवायु के विभिन्न पक्षों के आँकड़े प्राप्त कर मानचित्र का कार्य अधिक शुद्धता के साथ कृषि भूगोल के अनुसंधान में किया जा रहा है।

3.5 शब्दावली (Glossary)

- **सांख्यिकी -** आँकड़ों के द्वारा सारणियाँ, मध्यमान, मध्यांक और बहुलक ज्ञात किये जाते है तो वे सांख्यिकी कहलाते है।
- **आँकड़े –** विषयगत तथ्यों से सम्बन्धित अंको पर आधारित सूचनाओं को आँकड़े कहा जाता है। आंकड़े विषय से जुड़ी कच्ची सामग्री होते हैं।
- **अनुसूची –** सर्वेक्षणकर्ता स्वयं उत्तरदाता के पास पहुँच कर तैयार प्रश्नों के उत्तर अथवा सूचनाएँ एकत्रित करता है तो अनुसूची कहा जाता है।
- **प्रश्नावली –** क्षेत्र सर्वेक्षण से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों की प्रश्नावली तैयार कर उत्तरदाता के पास डाक द्वारा भेज कर सूचनाएँ एकत्रित की जाती है।

- **क्षेत्र सर्वेक्षण –** प्राथमिक स्तर पर उपयुक्त विधि द्वारा आंकड़ो का एकत्रिकरण करना क्षेत्र सर्वेक्षण कहा जाता है।
- **समग्र (Universe) –** सांख्यिकी रूप में समग्र (universe) से आशय किसी अनुसंधान क्षेत्र में कुल पदों व कुल इकाईयों से है।
- **प्रतिचयन –** समग्र के स्थान पर कुछ चयन की गयी इकाईयों का ही विस्तार से अध्ययन किया जाता है।
- **अनिश्चित समग्र –** सेद्धान्तिक दृष्टि से अनुसंधान क्षेत्र के सभी घटकों को देखना उनकी गणना करना सम्भव नहीं होता है जैसे आकाश में तारे या नदी किनारे बालु के कणों की संख्या।
- **मदों की सूची (List of Items) –** समग्र में से प्रतिचयन करने के लिए मदों की सूनी में से प्रतिचयन का चुनाव किया जाता है।
- **विश्वास स्तर व सार्थकता स्तर (Confidence Level and Significance Level) –** यह सीमान्तर (range) है जिसमें उत्तर की सम्भावना निहित है। विश्वास स्तर यदि 95 प्रतिशत है तो सार्थकता स्तर (100 – 95) 5 प्रतिशत होगा। सार्थकता स्तर में उत्तर सीमान्तर से बाहर रहने की सम्भावना व्यक्त की जाती है।
- **गुणात्मक मानचित्र (Qualitative Maps) –** गुणात्मक मानचित्रों में तथ्यों को गुणों के आधार पर प्रदर्शित किया जाता है। इसमें सांख्यिकी का उपयोग नहीं होता है।
- **सममान रेखा मानचित्र –** समान मूल्यों के स्थानों को मिलाने वाली रेखाएं सममान रेखा होती है। इन रेखाओं को आधार मान कर मानचित्र बनाये जाते है तो सममान रेखा मानचित्र कहे जाते हैं।
- **द्विविमीय आरेख (Two Dimensional diagrams)** – जब आरेख की रचना दो मापकों (लम्बाई व चौड़ाई) के आधार पर होती है तो ऐसे आरेखों का द्विविमीय आरेख कहा जाता है उदाहरण – आयताकार आरेख, वर्गाकार आरेख।

3.6 संदर्भ ग्रन्थ सूची (Reference **Books)**

1. Bansil P.C. (1974), **"Agricultural Statistis in India"** II[nd] Ed. New Delhi, Arnold Heinemen.
2. Cole J.P. and King CSM (1968), **"Quantitative Geography"** New York, John Wiley.
3. Mazid Husain (2000), **"Agricultural Geography"**, Rawat Publication, Jaipur
4. Jasbir Singh (1994), **"Agricultural Geography"**, New Delhi, Tata McGraw–Hill Pub. Co.
5. Kothari C.R. (1990), "**Research Methodology, Methods and Techniques,** II[nd] Ed. Wiley Eastern New Delhi
6. रिजवी एस.एम. (1995), "**सांख्यिकीय भूगोल**" , राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

7. श्रीवास्तव वीरेन्द्र कुमार (1994), "**भूगोल की सांख्यिकीय विधियाँ**", वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर
8. प्रमिला कुमार (2000), '**कृषि भूगोल**" मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल
9. चौहान पी.आर (2007), "**प्रयोगात्मक भूगोल**" वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर

3.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न– 1

1. स्वयं सर्वेक्षण कर्ता द्वारा अनुसंधान क्षेत्र की सूचनाएँ एकत्रित की जाती है वह प्राथमिक आंकड़े कहे जाते हैं।
2. द्वितीय आंकड़े वे होते है जो सर्वेक्षण कर्ता के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों या संगठनों द्वारा एकत्रित किये जाते हैं जो अप्रकाशित व प्रकाशित रूप में उपलब्ध होते हैं।
3. क्षेत्र–सर्वेक्षण के स्वयं सर्वेक्षणकर्ता उत्तरदाता के पास जाकर प्रश्नों के उत्तर प्राप्त कर सूचना एकत्रित करता है तो वह अनुसूची विधि कही जाती है।
4. प्रश्नावली में सर्वेक्षण कर्ता अनुसंधान से सम्बन्धित प्रश्नों को बनाकर डाक द्वारा उत्तरदाता को भेज कर सूचना एकत्रित की जाती है।
5. क्षेत्र सर्वेक्षण में सर्वेक्षणकर्ता टेलीफोन के माध्यम से बातचीत कर सूचनाऐं एकत्रित करता है।

बोध प्रश्न–2

1. सांख्यिकी रूप में समग्र (universe) से आशय किसी अनुसंधान क्षेत्र में कुल पदों व कुल इकाईयों से है।
2. वह सीमान्तर (range) है जिसमें उत्तर की सम्भावना निहित है। विश्वास स्तर यदि 95 प्रतिशत है तो सार्थकता स्तर (100–95) 5 प्रतिशत होगा।
3. जिसमें उत्तर सीमान्तर से बाहर होने की सम्भावना व्यक्त की जाती है।
4. सेद्धान्तिक दृष्टि अनुसंधान क्षेत्र के सभी घटकों को देखना व उनकी गणना करना सम्भव नहीं होता है जैसे आकाश में तारों की संख्या।
5. प्रतिचयन का आकार समग्र का 5 प्रतिशत से 15 प्रतिशत तक होना चाहिए।
6. दैव प्रतिचयन में इकाईयों का चयन संयोग के आधार पर किया जाता है। लॉटरी का उपयोग इसका सरलतम तरीका है।
7. समग्र में से प्रतिचयन करने के लिए मदों की सूची में से प्रतिचयन का चुनाव किया जाता है। जो मदों की सूची कहा जाता है।
8. प्रतिचयन का चयन निर्धारित प्रारूप के अनुसार किया जाता है तो वह व्यवस्थित प्रतिचयन कहा जाता है।
9. यह सीमान्तर (Range) है जिसमें उत्तर की सम्भावना निहित है। विश्वास स्तर यदि 95 है तो सार्थकता स्तर (100 – 95) 5 प्रतिशत होगा। सार्थकता–स्तर में उत्तर सीमान्तर से बाहर रहने की सम्भावना व्यक्त की जाती है।

बोध प्रश्न–3

1. (i) रंग व आभा मानचित्र

   (ii). संकेत अथवा वर्ग प्रतीकी मानचित्र

2. (i) सममान रेखा मानचित्र

   (ii). वर्गमात्री मानचित्र

   (iii). बिन्दु मानचित्र
3. वन भूमि, स्थायी चरागाह व पशुचारण भूमि, खेतीहर व्यर्थ पड़ी भूमि, पड़त भूमि, बोयी भूमि।
4. आयाताकार आरेख व वर्गाकार आरेख, द्विमीय आरेख के उदाहरण है।
5. कृषि से जुड़े तापमान, वर्षा इत्यादि के वितरण को स्पष्ट करने के लिए सममान रेखा मानचित्र जाते हैं इनमें समताप मानचित्र, समवर्षा मानचित्र मुख्य है।

3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. आंकड़ो के प्रमुख स्त्रोत को बतलाइये।
2. क्षेत्र सर्वेक्षण की विभिन्न विधियों को विस्तार से बतलाइये।
3. प्रतिचयन विधि क्या है? प्रतिचयन विधियों को सविस्तार समझाइये।
4. साधारण दैव प्रतिचयन विधि को उदाहरण देकर स्पष्ट कीजिए।
5. समग्र (Universe) का प्रतिनिधित्व प्रतिचयन के लिए अति आवश्यक है। कथन को विस्तार समझाइये।
6. कृषि तथ्यों को प्रदर्शित करने वाले गुणात्मक मानचित्रों व मात्रात्मक मानचित्रों को विस्तार से कीजिए।
7. कृषि मानचित्रण में आरेखों के महत्व को बतलाइये।
8. कृषि भूमि उपयोग के मानचित्रण के महत्व एवं आरेखों का उपयोग एवं इनमे, अपनायी जा रही तकनीक को स्पष्ट कीजिए।

इकाई 4 : कृषिय भूमि उपयोग के भौगोलिक निर्धारक: धरातल एवं जलवायु (Geography Determinants of Agricultural Land Use: Relief and Climate)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 भूस्वरूप

4.2.1 ऊँचाई का कृषि पर प्रभाव

4.2.2 ढाल एवं उच्चावच

4.2.3 अपवाह

4.3 जलवायु

4.3.1 तापमान

4.3.1.1 तुषार

4.3.2 तापीय क्षमता

4.3.2.1 विकास काल या तुषार रहित ऋतु

4.3.2.2 डिग्री डे तथा तापमान संकलन

4.3.2.3 तापीय क्षमता सूचकांक

4.3.2.4 तापीय प्रकाश – संश्लेषण अवधि

4.3.3 नमी

4.3.3.1 सूखा

4.3.3.2 वर्षा की प्रभाविता

4.4 सिंचाई

4.4.1 सिंचाई का प्रादेशिक वितरण

4.4.2 विश्व के सूखे भागों के सिंचित प्रदेश

4.4.2.1 अफ्रीकी देश: मिश्र

4.4.2.2 सूडान

4.4.2.3 अन्य अफ्रीकी देश

4.4.2.4 पश्चिमी एशिया के देश

4.4.2.5 मध्य एशियाई गणतंत्र

4.4.2.6 संयुक्त राज्य अमेरिका

4.4.2.7 लैटिन अमेरिका में सिंचाई – चिली

4.4.3 विश्व के मौसमी वर्षा वाले सिंचित प्रदेश: मानसून एशिया

4.4.3.1 भारत

4.4.3.2 चीन
4.4.3.3 पाकिस्तान
4.4.3.4 दक्षिणी–पूर्वी एशियाई देश
4.5 सारांश
4.6 शब्दावली
4.7 संदर्भ
4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
4.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे:

- धरातल के विभिन्न आयामों का कृषि पर पड़ने वाला प्रभाव,
- जलवायु के तत्वों:– तापमान और नमी का कृषिय भूमि उपयोग पर पड़ने वाला प्रभाव तथा इनके कारण उत्पन्न होने वाली कृषिय विविधता,
- सिंचाई का महत्व एवं आवश्यकता,
- विश्व के सूखा वाले तथा मौसमी वर्षा वाले क्षेत्रों में सिंचाई का वितरण।

4.1 प्रस्तावना (Introduction)

कृषि का आधार ही प्राकृतिक वातावरण है जिसका मानव अपनी क्षमता और आवश्यकता के संशोधन करता है। कृषि एक ऐसी आर्थिक क्रिया है जो भौतिक पर्यावरण एवं मानवीय संसाधनों के विषय अन्तरसम्बन्ध को प्रगट है। भौतिक वातावरण में उच्चावच, भौमिकी, मिट्टी, अपवाह तथा जलवायु तथा मानवीय संसाधन में तकनीकी, आर्थिक, और सामाजिक राजनीतिक कारक सम्मलित है' (यंग 1975, 6) इसी तरह डी. डब्ल्यू. हार्वे ने अपने बहुचर्चित आलेख' सेद्धान्तिक अवधारणाएं एवं कृषिय भूमि उपयोग' में कृषि को प्रभावित करने वाले कारकों को तीन वर्गो में रखा है – एक, कृषि का वन्य पारिस्थितिक तंत्र जिसे स्थानीय कारक कहा जाता है, दूसरा, सापेक्षिक स्थिति तथा तीसरा कृषक की व्यक्तिगत, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक – दशाएं' (हार्वे 1966, 361 – 62) ।

इस तरह आज के सुपर तकनीकी युग में भी कृषि भौतिक कारकों से बहुत अधिक निर्धारित है। कृषित भूमि का वितरण, कृषि तकनीकी, उत्पादन–काल तथा फसलों का प्रादेशिक वितरण आदि सभी प्रमुख पक्ष भौतिक कारकों से निर्धारित होते हैं। यह अवश्य है कि मनुष्य ने इन भौतिक कारकों से संबन्धित समस्याओं का समाधान खोजा है, किन्तु यह विकास सीमित क्षेत्रों में ही हो सका है जैसे सिंचाई के द्वारा शुष्क एवं अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में कृषित भूमि का विस्तार हुआ है अथवा फसलों के नए बीजों की मदद से कम उपयुक्त क्षेत्रों में कृषि प्रारंभ की जा सकी है। कीटाणुनाशक रसायनों के द्वारा बीमारियों की रोकथाम की गई है। यद्यपि भौतिक कारक किसी भी प्रदेश की कृषि को मूल आधार प्रदान करते हैं। इन भौतिक कारकों में धरातल, जलवायु, मिट्टी और जल महत्वपूर्ण हैं।

4.2 भूस्वरूप (Terrain)

भूमि उपयोग और कृषि पर भूभाग के गुणों का अमिट प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से भूभाग के तीन गुण विशेष महत्व के हैं –ऊँचाई (altitude), उच्चावच (relief) तथा अपवाह (drainage)। इनका अकेले एवं संयुक्त प्रभाव कृषि के स्वरूप पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हो सकता हैं। इनके प्रभावों की विशद् चर्चा सिंह एवं ढिल्लो (1984, 1994) ने की हैं।

4.2.1 ऊँचाई का कृषि पर प्रभाव

सधारणतः पृथ्वी के सबसे निचले भाग ही अधिकतम कृषित प्रदेश हैं किन्तु इनकी अक्षांशीय स्थिति जलवायु के माध्यम से कृषिय महत्व को निर्धारित करती है जैसे कि उच्च अक्षांशीय स्थिति के कारण साइबेरिया तथा कनाडा के मैदान पर सीमित कृषि की जाती है। इसी प्रकार अमेजन नदी, कांगो नदी आदि के मैदान अति आर्द्रता के कारण कृषि की दृष्टि से भी अभी तक विकसित नहीं हो सके हैं। मैदानों में न केवल कृषि–कार्य, जैसे जोतना, बोना, सिंचाई करना, काटना सरल है, वरन् वहाँ मिट्टी का जमाव भी साधारणतः अधिक होता हैं, नदियों की प्रचुरता नहीं होती, परिवहन तथा आवास सुविधाजनक होता हैं। उष्ण और शीतोषण कटिबन्धीय पेटी के मैदान ऐसे भाग हैं जहाँ की जलवायु कृषि के लिए उपयुक्त है और 80 – 90 प्रतिशत भूमि कृषि के अन्तर्गत पाई जाती है। गंगा–सतलज का मैदान, चीन का उत्तरी मैदान, यूरोप का उत्तरी मैदान, मिसीसिपी का मैदान इस तथ्य के अच्छे उदाहरण हैं।

विश्व के पठारी प्रदेश भी कृषि के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, जैसे दक्षिण का पठार (Deccan Plateau), ब्राज़ील का पठार इत्यादि। किन्तु कटे–फटे पठार, पठारों के कगार, बीच–बीच में पाई जाने वाली पहाड़ियाँ कुल कृषि भूमि को कम कर देती है, क्योंकि ऐसे भाग पथरीले, ढलवाँ तथा कम मिट्टी के प्रदेश होते हैं। ढलान के कारण मिट्टी निरन्तर बहती भी जाती है। यदि पठार अपेक्षया ऊँचे हैं, जैसे तिब्बत का पठार तो कठिन जलवायु (सूखी अथवा शीत) भी कृषि संभावनाएँ कम कर देती है। फिर भी समतल पठार कृषि की दृष्टि से आकर्षक रहे हैं। भारत का दक्षिण का पठार (Deccan Plateau) इस तथ्य का अच्छा उदाहरण है।

पर्वतीय प्रदेशों में कृषि की बहुत सीमित संभावनाएँ होती हैं। ऊंचाई के साथ होने वाले परिवर्तनों के कारण कृषि की संभावना सीमित हो जाती है। इन परिवर्तनों में मुख्य हैं (i) तापमान का कम होना, (ii) वर्षा में वृद्धि होना, (iii) वायु की गति बढ़ना, (iv) मिट्टी की गुणवत्ता का कम होना, और (v) उच्चावच का अधिक होना।

ऊँचाई के साथ वायुदाब और तापमान कम होता जाता है। घटा हुआ वायुदाब पर्याप्त ऊँचाई पर कृषि का बाधक हो सकता हैं जहां ताप और वर्षा भी कृषि के प्रतिकूल हो जाते हैं। सामान्यरूप से 3500 मीटर से अधिक ऊँचाई पर कृषि नही की जाती है। ऊँचाई बढ़ने के साथ ही वायुमंडल में कार्बन डाइ ऑक्साइड, नमी, धूल आदि की मात्रा घटती जाती है। फलतः वायुमंडल कम ऊष्पा सोखता है और तापमान घटता जाता है। दूसरी ओर अधिकाधिक सूर्य ताप सतह तक पहुंचता है। इस कारण दिन में मिट्टी का निर्जिलीकरण तेजौ से होता है। रात्रि में ऊष्मा के तेज प्रत्यावर्तन के कारण मिट्टी जम भी जाती है। इससे कृषि को खतरा पैदा हो जाता है। ताप घटने से न केवल पौधों की वृद्धि रुकती है बल्कि फसल पकने में भी कठनाई होती हैं। ऊंचाई के साथ ताप में कमी

कई कारकों पर निर्भर होती है। इनमें ढाल की मात्रा एवं दिशा महत्वपूर्ण है। सूर्योन्मुखी ढाल पर सूर्य के विपरीत ढाल की तुलना में अधिक ताप मिलता है। पर्वतीय क्षेत्रों में ताप का प्रतिलोमन भी इन्ही से प्रभावित होता है। ऐसे क्षेत्र में रात्रि में ताप प्रतिलोमन के कारण घाटी में तुषार पड़ सकता है जबकि ढाल इनसे प्रभावित नही होते है।

ऊँचाई के साथ वर्षा का बढ़ना भी कृषि की दृष्टि से उतना ही प्रभावशाली होता है जितना कि ताप का कम होना। वायु की नमी धारण करने की क्षमता का तापमान से सीधा सम्बन्ध होता हैं। ताप कम होने के कारण वायु की नमी धारण करने की क्षमता घट जाती है। फलत: उच्च भागों में अपेक्षया अधिक वर्षा होती है। बढ़ी वर्षा तथा उसके कारण तेज मिट्टी के अपरदन से कृषि कार्य में बाधा पहुंचती है। ऊंचे भाग वर्षा के वितरण को भी प्रभावित करते हैं। इसके महत्वपूर्ण उदाहरण भारत में पश्चिमी घाट और हिमालय है। अरब सागरीय मानसून हवाएं पश्चिमी घाट के अवरोध के कारण इसके पश्चिम में काफी वर्षा करती हैं, परन्तु पूर्वी भाग वृष्टिछाया में आ जाता है तथा यहाँ बहुत कम वर्षा होती है। इसी तरह हिमालय की श्रेणियां भी बंगाल की खाड़ी की मानसून हवाओं को रोक कर और उनकी दिशा बदल कर उत्तर भारत में वर्षा के वितरण को प्रभावित करती है।

ऊंचाई से हवा की गति एवं दिशा भी प्रभावित होती है। पर्वतीय क्षेत्र में ऊँचे भागों एवं घाटियों के बीच एक ही दिन में हवा की दिशा में परिवर्तन होता रहता है। साथ ही ऊँची श्रेणियों से हवाएं तेजौ से टकराती है। ये तेज हवाएं फसलों के लिए घातक होती हैं। एक तेज हवाएं खड़ी फसल को क्षति पहुंचाती हैं। दूसरे, इनके साथ हिम भी सरकता है जो फसलों को नष्ट करता है। तीसरे, ऊँचे भागों से आने वाली अति शीतल हवाओं से तुषार की स्थिति बनती है। अन्त में वायु की गति के कारण न्यून ताप पशुचारण के लायक भी नहीं होता।

मिट्टी के निर्माण पर भी ऊँचाई का प्रभाव पड़ता हैं। पर्वतीय भागों में न्यून ताप के कारण रासायनिक अपक्षय मंद होता है। फलत: मिट्टी बनने की प्रक्रिया मंद होती है। इसके विपरीत मिट्टी का अपरदन तेज होता है। फलत: यहाँ अपरिपक्व पथरीली मिट्टियां पाई जाती है जो कृषि के अयोग्य होती हैं।

ऊँचाई का प्रभाव विभिन्न अक्षांशों में अलग अलग पड़ता हैं। अयन अक्षांशीय प्रदेशों, जैसे हिमालय में, समुचित ऊँचाई (3048 मीटर) तक तापमान कृषि करने योग्य रहता हैं और गेहूँ एवं जौ उत्पादित किये जाते हैं। गर्मी में 3658 – 4572 मीटर की ऊँचाई तक पशुचारण होता है किन्तु शीतोष्ण कटिबन्धों तक पहुँचते–पहुँचते (आल्पस अथवा रॉकीज़ में) निचली ढलानों पर ही औसत तापमान बहुत कम रहता है। स्वाभाविक है कि इन अक्षांशों के पर्वतीय भागों में कृषि की संभावनाएँ और भी सीमित हो जाती है। मुख्य समस्या यह है कि न्यून तापमान और धूप का काल कम होने के कारण फसल पक नहीं पाती है।

हिमालय, जावा, चीन का युनान प्रदेश, जापान द्वीप समूह, कीनिया के पर्वतीय प्रदेशों में उपयुक्त जलवायु, उर्वर मिट्टी, कृषि भूमि की अधिक मांग ने मनुष्य को पर्वतीय प्रदेशों को कृषि योग्य बनाने में सहायता दी है। यहाँ पर्वतीय, ढलानों को काट कर सीढीनुमा खेत बनाने का काम प्राचीन काल से हो रहा हैं। इन क्षेत्रों में सिंचाई के साधनों का भी विकास किया गया है और अनाज, जैसे चावल या मक्का पैदा किए जाते हैं। दूसरे प्रकार के वे प्रदेश हैं जहाँ की जलवायु बागानी कृषि के उपयुक्त है। पूर्वी हिमालय के चाय के बागान कुमांयू–गढ़वाल, कश्मीर, तथा हिमालय प्रदेश के

फलों तथा मेवा के बागान इस तथ्य के अच्छे उदाहरण हैं। इनके अतिरिक्त वृक्षों वाली फसलें, जैसे जैतून भी होती है, उदाहरण स्वरूप इटली में। पर्वतीय क्षेत्रों में अनाज और बागानी फसलों के अतिरिक्त, दवाओं के पौधों (Medicinal Plants), मसालों, मेवा, सब्जी आदि का उत्पादन भी किया जा सकता है।

पर्वतीय प्रदेशों में ऊँचाई के साथ कृषिय भूमि उपयोग बदलता जाता है। इसका अच्छा उदाहरण नीलगिरी का दक्षिणी ढलान है। जिसके निचले भागों में सुपारी के बागान, बीच के भागों में चाय के बागान तथा ऊपरी भागों में आलू तथा अन्य सब्जियों की कृषि देखी जा सकती है। जावा तथा कीनिया में भी ऊँचाई के साथ बदलता हुआ भूमि उपयोग मिलता हैं। (चित्र 4.1)

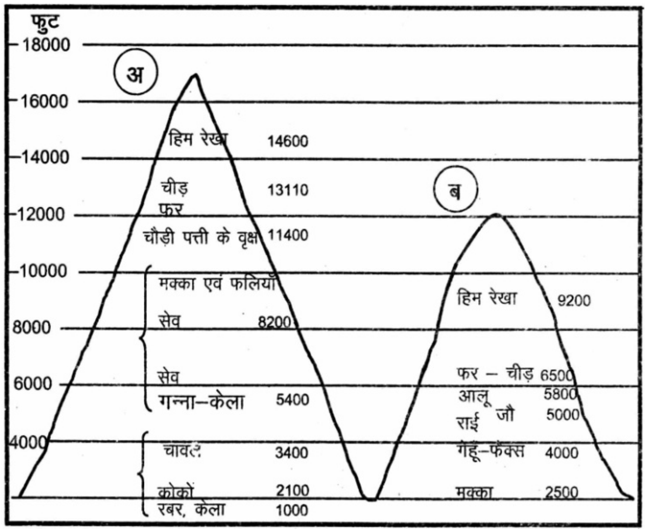

चित्र – 4.1: ऊँचाई – तापमान और फस्लोत्पादन की सीमाएँ

4.2.2 ढाल एवं उच्चावच (Slope and Relief)

उच्चावच तथा ढाल का सीधा सम्बन्ध उपर्युक्त भू– आकृतियों से है। मैदान न्यूनतम उच्चावच के प्रदेश हैं तथा पर्वत अधिकतम उच्चावच के। किसी प्रदेश के उच्चतम और निम्नतम भागों की ऊँचाई के अन्तर को उच्चावच कहते हैं। इसी के अनुसार क्षेत्र में ढाल (Slope) भी पाया जाता हैं। उच्चावच और ढाल का कृषि पर प्रभाव प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों तरह से पड़ता है। धरातल के ये गुण कृषि–क्रियाओं और आवागमन को सीधे प्रभावित करते है। साथ ही मिट्टी के गुण और जलवायु में परिवर्तन के माध्यम से परोक्षरूप से भी कृषिय भूमि उपयोग को प्रभावित करते हैं। अधिक ढालू भूमि पर साधारण यंत्रों एवं उपकरणों का भी उपयोग कठिन हो जाता हैं। इस कारण खेत बनाने, जोतने और अन्य कृषि कार्यो में कठिनाई होती है और इनका व्यय बढ़ जाता है। किसान तेज ढाल पर विवशतावश ही खेती करना चाहने हैं। तीव्र ढाल पर पशु चराना भी कठिन होता है। इसी कारण ऐसे ढालू क्षेत्रों में भेड, बकरी जैसे छोटे जानवर ही पाले जाते हैं।

भूमि उपयोग के संदर्भ में ढाल का इतना अधिक महत्व होते हुए भी इस विषय पर कम अध्ययन हुए हैं। मैग्रेगर (1957) ने ब्रिटेन में ढाल के भौगोलिक महत्व की चर्चा करते हुए कृषि की दृष्टि से ढालों का एक वर्गीकरण प्रस्तुत किया हैं। मैग्रेगर के इस वर्गीकरण का कृषि की दृष्टि से विवरण निम्नानुसार है।

1. **हल्का ढाल** - 3^0 तक का ढाल काफी मंद होता है। ऐसी भूमि में जल अपवाह और अपरदन की समस्या नहीं होती तथा सभी कृषि–कार्य सुगम होते हैं। भूमि क्षमता के वर्गीकरण में ऐसी भूमि को सर्वश्रेष्ठ एवं श्रेष्ठ वर्ग में रखा जाता है।
2. **साधारण ढाल (3 से 6^0 अथवा 1:10 प्रवणता)** – ऐसी भूमि पर भी कृषि सम्बन्धी समस्याएं नही होतीं। इस साधारणत: अच्छी भूमि माना जाता है।
3. **अधिक ढाल (6 से 11^0 तक अथवा 1:5 प्रवणता)** – यह वह सीमा है जहाँ तक अधिकतर कृषि होती हैं। परन्तु गुणवता में यह निम्न कोटि की भूमि मानी जाती है।
4. **तीव्र ढाल (18^0 अथवा 1:3 प्रवणता)** – यह अधिकतम ढलान है जिस सीमा तक ब्रिटेन जैसे विकसित देशों में कृषि की जाती है तथापि ऐसी भूमि को समस्याप्रद भूमि माना जाता है।
5. **अत्यधिक तीव्र ढाल (25^0 तक 1:2 प्रवणता)** – ऐसे क्षेत्र कृषि के लिए बेकार होते हैं। इनका उपयोग वन लगाने एवं वन्य जौव संरक्षण के लिए किया जा सकता है।

ढालों से जुड़ी अपरदन की समस्या भी है। अपरदन वर्षा की तीव्रता, मिट्टी के भौतिक एवं रासायनिक गुणों के साथ ही ढाल की तीव्रता और लम्बाई पर निर्भर होता है। वर्षा की प्रकृति का अपरदन पर पड़ने वाले प्रभाव को यूरोप और भारत के तुलना से समझा जा सकता है। पश्चिमी यूरोप में कृषित प्रदेश काफी ऊंचे–नीचे है, परन्तु मंद गति से वर्षा होने के कारण बिना सीढ़ीनुमा खेत बनाए खेती की जाती है लेकिन भारत जैसे तेज मानसूनी वर्षा के क्षेत्र में हल्के ढाल वाले क्षेत्रों में मेंड़ बनाकर अथवा सीढियां बना कर कृषित भूमि का संरक्षण करना पड़ता है। अधिक लम्बे ढाल पर जल बहने की गति तीव्र हो जाती है जिससे अपरदन करने की शक्ति भी बढ़ जाती है। अगर ढाल दो गुना हो जाए तो अपरदन 2:5 गुना हो जाता हैं। तेज वर्षा वाले क्षेत्रों में यह समस्या काफी गंभीर हो जाती है, जैसे कि भारत में। यहां तेज ढलानों से मिट्टी इतनी तेजौ से बहती है कि थोड़े ही काल में नंगी चट्टानें सतह पर दिखने लगती है। दूसरी ओर, वर्षा–जल का अधिकांश भाग बह जाता है और भूमि बहुत कम जल सोख पाती है। फलत: ढालू भूमि शुष्क होती है। ऐसी भूमि पर खेत बनाना और सुरक्षित रख पाना कठिन होता है। इन खेतों में सिंचाई भी कठिन है। इनके लिए सीढ़ीनुमा खेत बनाना, समोच्च रेखा के अनुरूप बंधान बनाना आवश्यक होता है। कुछ पर्वतीय क्षेत्रों में नदियों की दिशा बदलकर सिंचाई की जाती है। भारत के पश्चिमी हिमालय क्षेत्र और फिलीपाइंस में यह प्रचलन काफी प्रचलित है। भारत में इन्हें कुहल (Kuhls) कहते हैं।

पर्वतीय तथा तीव्र ढाल वाले क्षेत्रों में आवागन भी एक बड़ी समस्या है। किसान को कृषि के विभिन्न कामों से आवास से खेतों और बाजार तक आना–जाना पड़ता है। तेज ढाल वाले भागों में किसान को बहुत सा श्रम और समय आने–जाने में व्यर्थ करना पड़ता है। भारत के हिमालय पर्वतीय क्षेत्र में इसे आसानी से देखा जा सकता है। सिंह एवं ढिल्लों (1994, 56) ने इस बात की चर्चा करते हुए लिखा है कि आवागमन की दृष्टि से मैदानों में दो ही विचारणीय बातें होती है – दूरी और समय, परन्तु पर्वतीय क्षेत्रों में दूरी और समय के साथ डाल की मात्रा, ऊबड़ –खाबड़पन और लगने वाली ऊर्जा का भी आवागमन पर प्रभाव पड़ता है। तीव्र –ढाल पर पैदल चलने पर आदमी शीघ्र थक जाता है तथा उसकी गति भी बहुत कम हो जाती है। उदाहरण देते हुए उन लोगों ने लिखा है कि औसत मनुष्य की प्रति घंटे चलने की गति 0^0 ढालू भूमि पर 8 कि. मी.

तक हो सकती है परन्तु 15^0 ढाल वाली भूमि पर यह 1.84 कि.मी ही रह जाती है। इन सबका प्रभाव फसलों के चुनाव तथा कृषि के आधुनिकीकरण पर पड़ता है।

असाधारणरूप से समतल भागों में अन्य तरह की समस्या होती है। यहाँ जल अतिरेक की समस्या होती है, क्योंकि जल बह नहीं पाता और एकत्रित होता जाता है। यही कारण है कि ऐसे प्रदेशों, जैसे नदियों के डेल्टा तथा हिमावरण से प्रभावित प्रदेश में जल–निकास की कमी होती है। यूरोप संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा में विस्तृत भाग जल–निकास के द्वारा कृषि के योग्य बनाए गए हैं।

4.2.3 अपवाह (Drainage)

कृषि के लिए जल का महत्व बहुत अधिक है, किन्तु अपवाह भी उतना ही आवश्यक है। अपवाह के न होने पर दलदल बन जाते है और भूमि कृषि के लिए बेकार हो जाती है। कृषि के लिए अपवाह का महत्व कई रूपों में है। एक, नदियाँ सतह के अतिरिक्त जल को बहा ले जाती है, फलत: मिट्टी के रन्ध्रों में वायु का संचरण हो पाता हैं और जड़ों का विकास संभव होता हैं। दूसरा, नदियों के द्वारा सूखे मौसम में सिंचाई का जल प्राप्त होता हैं। तीसरा, नदियों के द्वारा आवागमन भी होता है तथा पीने का जल भी प्राप्त होता है।

इसके विपरीत अपवाह से कृषि के लिए कई समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं। नदियों की संख्या अधिक होने पर मिट्टी का जल तीव्रता से बह जाता है और समुचित मात्रा में फसलों को प्राप्त नहीं होता। नदियों में आने वाली बाढ़ दूसरी एक गम्भीर समस्या है जो कृषि प्रदेशों को बड़े पैमाने पर हानि पहुँचाती है। शीत –आर्द्र प्रदेशों में हिम के पिघलने के पश्चात् ढलानों पर मिट्टी बहने लगती है; क्योंकि निचली तहे जमी रहती हैं और पानी गहराई में नहीं सूखता। उत्तरी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में विस्तृत भूभाग अपवाह के विकास के बाद कृषि योग्य बनाये गये हैं।

अपवाह घनत्व का सीधा सम्बन्ध वार्षिक वर्षा से है। भूमध्यसागरीय, मानसूनी, पश्चिमी यूरोप, पूर्वी संयुक्तराज्य, कनाडा के रॉकीज़ प्रदेश अधिकतम अपवाह घनत्व के क्षेत्र है। पूर्वी चीन, द. पू. ब्राज़ील तथा पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका सघन तथा जटिल अपवाह के क्षेत्र है। सघन अपवाह के क्षेत्रों में स्थानीय उच्चावच भी मिलता है। ये दोनों कारक समतल भूमि का विस्तार कम कर देते हैं। औसत अपवाह घनत्व के विस्तृत क्षेत्र भूमि आस्ट्रेलिया, दक्षिण तथा पश्चिमी भारत, पाकिस्तान, पूर्वी साइबेरिया, अफ्रीका के अयन अक्षांशीय प्रदेश, पूर्वी ब्राज़ील तथा पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका एवं कनाडा हैं। मानसून प्रदेशों में मूसलाधार वर्षा भूमि में समुचित जल सोखने का समय नहीं देती अत: भूमिगत जल का बड़ा भण्डार नहीं बन पाता है। वनस्पति की कमी के कारण इन भागों के कृषि प्रदेशों में मृदा अपरदन की समस्या खड़ी हो जाती है। चम्बल तथा यमुना की निचली घाटियाँ, छोटानागपुर प्रदेश, उत्तरी पंजाब, संयुक्त राज्य अमेरिका में डकोटा प्रान्त इसी प्रकार के प्रदेश हैं। इस वर्ग के समतल मैदानों में भी अपवाह का घनत्व कम होता है। जल रिस–रिस कर नदियों तक पहुँचता है और वे मंथर गति से बढ़ती हुई प्रदेश का जल निकास करती है। यूरोप के उत्तरी मैदान के उत्तरी भाग, पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका के विस्तृत मैदान, पश्चिमी रूस, अर्जेन्टीना के पम्पा प्रदेश, गंगा – सतलज का मैदान इसी प्रकार के प्रदेश हैं।

शुष्क एवं उपार्द्र प्रदेश न्यून अपवाह घनत्व के प्रदेश हैं। स्पष्ट है कि यह न्यून वर्षा का परिणाम है तथा यहाँ वाष्पीकरण भी अधिक होता है। अधिकतर बड़ी नदियों के उद्गम आर्द्र प्रदेशों में होते

हैं तथा छोटी नदियाँ केवल वर्षा के बाद बहती हैं। समुद्री तटों के बालू निपेक्षण के प्रदेश, चूने के पत्थर के प्रदेश भी न्यून अपवाह घनत्व के क्षेत्र हैं। अयन अक्षांशीय शुष्क प्रदेशों में वर्षा काफी तेज बौछारों में और थोड़े समय के लिए होती है अतः यह जल समुचित मात्रा में मिट्टी में नहीं सोख पाता। यही कारण है की ऐसे भागों में मृदा अपरदन की समस्या साधारणतः देखी जाती हैं। न्यून अपवाह घनत्व के क्षेत्रों मे भूमिगत जल पर निर्भरता बढ़ जाती है। साथ ही बड़ी नियतवाही नदियाँ भी जल का स्तोत्र होती हैं। ऐसे भागों में स्थित कृषि प्रदेश संसार के महत्वपूर्ण सिंचित प्रदेश है।

दुप्रवाही प्रदेशों में दलदली प्रदेश – वृक्षों वाले तथा वृक्षरहित तथा झीलों को सम्मिलित करते हैं। इस प्रकार के विस्तृत प्रदेश उत्तरी अमेरिका तथा यूरेशिया के उत्तरी भाग हैं, जो पिछले शीत युग में हिमावृत थे। अभी भी सभी भागों में जलनिकास विकसित नहीं हो पाया है। इन भाग में अनगिनत झीलें पाई जाती हैं। इस प्रकार के अन्य प्रदेश विषवत्रेखीय जलवायु के प्रदेश तथा निम्न अक्षांशों में नदियों की निचली घाटियाँ तथा मुहाने है जैसे, पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका, मिसिसिपी, दक्षिणी अमेरिका में गियना, अमेजन, अफ्रीका में कांगों, एशिया में उत्तरी चीन, पूर्वी द्वीपसमूह फरात, दजला, गंगा, इरावती, सी कांग आदि के बाड़ के मैदानों में भी ऐसे प्रदेश मिलते हैं। शीतयुग में हिमवृत प्रदेशों में छोटी–छोटी पहाड़ियों के बीच के भाग जल से आपूरित हैं अथवा अपवाह हिम द्वारा निक्षेपण के कारण रुक गये हैं जैसे पोलैण्ड अथवा पश्चिमी साइबेरिया में। इन शीतोष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों को अपवाह के विकास के पश्चात् कृषि योग्य बनाये जा रहे हैं इसके विपरीत अयन अक्षांशीय प्रदेशों में जलवायु कृषि के लिए उपयुक्त है तथा दुप्रवाही क्षेत्र धान, सिंघाड़ा, कमल आदि के लिए उपयुक्त होते हैं।

दुप्रवाही सभी प्रदेशों में भूमिगतजल सतह तक आ जाता है। जलनिकास के बाद जब भूमिगत दल की सतह गहराई में चली जाती है तभी प्रदेश कृषि योग्य हो पाते हैं। वाष्पीकरण के बाद ऐसे भागों में रसायनों और लवणों के निक्षेपण की एक तह बन जाती है जो कृषि के पुनः समस्याप्रद प्रदेश हो जाते हैं। ऐसी मिट्टी को धोकर कृषि योग्य बनाया जाता है। मिट्टी में गहराई पर जो रसायनों कीं कठोर तह (Hard Pan) बन जाती हैं उसके कारण भी जल नीचे नहीं जा पाता और दुप्रवाही क्षेत्र बन जाते है, विशेषरूप से आर्द्र समतल अथवा तरंगित क्षेत्रों में। ऐसे प्रदेश भी कृषि के लिए अनुपयुक्त हो जाते हैं।

बोध प्रश्न– 1

1. भूभाग के कौन से लक्षण कृषि को प्रभावित करते हैं?

   ....

   ....

2. ऊँचाई कृषि को कैसे प्रभावित करती है?

   ....

   ....

3. कृषि के लिए सामान्य ढाल की भूमि क्यों उपयुक्त होती है?

   ....

   ....

4.	अपवाह का कृषि के लिए महत्व बतालाइए।
	………………………………………………………………………………………
	………………………………………………………………………………………
5.	दुप्रवाही क्षेत्रों की क्या समस्याएँ है?
	………………………………………………………………………………………
	………………………………………………………………………………………

4.3 जलवायु (Climate)

प्राकृतिक वनस्पति की भाँति फसलों के लिए भी गर्मी, जल और प्रकाश की आवश्यकता अंकुरण, विकास, पुष्पण एवं फल लगने के लिए होती है। इस संदर्भ में दो बातें उल्लेखनीय हैं। एक, सभी फसलों के लिए इन तत्वों की समान आवश्यकता नहीं होती है, दूसरा, विश्व में इनकी उपलब्धि भी समान नहीं है। फलस्वरूप कृषि के प्रादेशिक प्रतिरूप में अंतर है। कृषि पर जलवायु का प्रभाव इसी बात से देखा जा सकता है कि अनेक ऐसी फसलें हैं जिनका उपभोग तो मध्य अक्षांशीय शीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में होता है, परंतु उनका उत्पादन उष्ण कटिबन्ध में किया जाता होता है। रबर, कोको, कहवा, केला, चाय, गन्ना मुख्य उदाहरण है। इसके विपरीत ऐसी भी फसलें हैं जिनका उत्पादन केवल मध्य अक्षांशों में लाभप्रद होता हैं – जैसे, गेहूँ, राई, मक्का, चुकन्दर, तम्बाकू आदि। इस प्रकार का केन्द्रीकरण प्रधानत: जलवायु की दशाओं के कारण होता हैं (Good, R, 1931 as cited by C.P. Wilsie, p 29)।

जलवायु का कृषि पर प्रभाव प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों रूपों में पड़ता है। प्रत्यक्षत: यह फस्लोत्पादन तथा पशुपालन की अक्षांशीय सीमाएँ, खेती का काल तथा उपयुक्त फसल का निर्धारित करती है। इसी कारण पौधों के वितरण के सम्बन्ध में प्रस्तुत सहिष्णुता का सिद्धांत अथवा सीमाकारी कारक नियम (Tolerence Theory or Law of Limiting Factors) में जलवायु के तत्वों का प्रथम तथा महत्वपूर्ण स्थान है (Wilsie, 1962, pp–34–43)। परोक्षरूप से मिट्टी के गुणों तथा धरातल के माध्यम से भी जलवायु कृषि को प्रभावित करती है। इस प्रकार फसलों के वितरण एवं उनकी समस्याओं में जलवायु के तत्वों का स्थायी प्रभाव होता है।

कृषि को प्रभावित करने वाले जलवायु के तत्वों में तापमान (विकास काल), आर्द्रता, सूर्य का प्रकाश एवं, वायु मुख्य है। इन तत्वों का फसलों पर पड़ने वाला प्रभाव प्राकृतिक वनस्पति पर पड़ने वाले प्रभाव से भिन्न होता है। प्राकृतिक वनस्पति तो जलवायु के अनुकूल होती है, परन्तु फसलों में इनकी तुलना में सहनशीलता कम होती है। अतएवं वे विशिष्ट प्रकार की जलवायु की दशाओं में ही पनप पाती हैं। जलवायु के सभी तत्वों का कृषि पर पड़ने वाला प्रभाव अन्तर्सम्बन्धित होता है। एक तत्व का प्रभाव दूसरे तत्व द्वारा परिवर्तित कर दिया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि 'माइक्रोक्लाइमेट' का प्रभाव सबसे अधिक होता है। तापमान, आर्द्रता, प्रकाश और वायु की पौधे के तल पर पाई जाने वाली दिशाएँ निर्णायक होती हैं। उससे ऊपर की दशाओं का प्रभाव उतना अधिक प्रभावी नहीं होता है।

4.3.1 तापमान (Temperature)

वायु तथा मिट्टी का तापमान पौधे के विकास की सभी प्रक्रियाओं को प्रभावित करता है। यह उनकी क्रियाओं के लिए उपयुक्त दशाएँ तैयार करता है और कुछ प्रक्रियाओं के लिए आवश्यक ऊर्जा का भी स्त्रोत है, जैसे कि प्रकाश–संश्लेषण प्रक्रिया (Photosynthesis) प्रत्येक फसल के विकास की प्रत्येक अवस्था के लिए न्यूनतम, अनुकूलतम तथा उच्चतम तापमान की सीमाएँ होती हैं (चित्र – 4.2)। इन्हे 'तापीय दिग्बिंन्दु' (Cardial temperature points) कहते है। सामान्यत: पौधों की सहनशीलता न्यूनतम से भी कम और अधिकतम से भी अधिक रहती है। प्रत्येक फसल की सहनशीलता की सीमा भिन्न भिन्न होती है जैसे कि चित्र 4.2 में 'अ' फसल की सहनशीलता काफी कम है और यह कम ताप में ही पैदा की जा सकती है। इसी तरह 'ब' फसल की सहिष्णुता भी कम है, परन्तु यह उच्च ताप में सीमित है। इसके विपरीत 'स' फसल की सहनशीलता बहु त अधिक है जो 'अ' की न्यूनतम सीमा से लेकर 'ब' की अधिकतम सीमा तक फैली है। ऐसी फसलें विस्तृत भागों पर पैदा की जा सकती हैं। वांछित न्यूनतम तापमान प्राप्त होने पर ही क्रियाशीलता प्रारम्भ होती है। अधिकतम क्रियाशीलता अनुकूलतम तापमान जो दशा में रहती है और अधिकतम तापमान आने तक यह समाप्त होने लगती है। निम्न तालिका 4.1 में कुछ फसलों के अंकुरण के लिए आवश्यक 'दिग्बिन्दु तापमान' अंकित हैं जिससे विभिन्न फसलों की अलग – अलग तापीय आवश्यकता स्पष्ट है। स्पष्ट है की शीतकालीन राई या गेहूँ के लिए कम तापमान उपयुक्त होता है और शीतकाल की सुप्तावस्था में हिमांक ताप सहन कर सकते है, परन्तु चावल, मक्का, कोको आदि के लिए सदैव ऊँचे तापमान की आवश्यकता होती है और ये न्यून तापमान नहीं सहन कर सकते।

विभिन्न तापीय आवश्यकता के साथ ही पृथ्वी पर असमान ताप का वितरण फसलों के वितरण प्रतिरूप को निर्धारित करता है। ताप का एकमात्र स्रोत सूर्य का प्रकाश है, जिससे सूर्यताप के रूप में ऊष्मा वातावरण को मिलती है। सूर्यातपन की मात्रा मुख्यरूप से अक्षांश, ऊँचाई, ऋतु तथा स्थल एवं जल खण्डों से दूरी पर निर्भर होती है। भूमध्यरेखा से ध्रुवों की ओर तथा समुद्रतल से ऊपर ताप घटता जाता है। समुद्रतट से आन्तरिक भागों की ओर भी 'तापीय अतिशयता बढ़ती जाती है। इनका प्रभाव फसलों के वितरण पर पड़ता है। उष्णकटिबन्ध में वे फसलें सबसे अधिक लाभकारी होती हैं, जिन्हें निरन्तर ऊँचे तापमान की आवश्यकता होती है और यहाँ उगने का काल (growing period) साल भर रहता है। रबर, केला, कहवा, चाय, चावल, गन्ना, कपास, जुट आदि इस क्षेत्र की प्रमुख फसलें है। उपोष्ण कटिबन्ध में उष्ण और शीतोष्ण दोनों क्षेत्रों की फसलें पैदा हो जाती है। इन भागों मे पूरा साल तुषार – रहित होता है, परन्तु शीत और ग्रीष्म के तापमान में काफी अन्तर होता है। यदि नमी पर्याप्त हो तो ग्रीष्मकाल में उष्णकटिबन्धीय फसलें पैदा हो जाती हैं तथा शीतकाल के ठण्डे वातावरण में शीतोष्ण कटिबन्धीय फसल सम्भव हो जाती है। जैसे कि भारत में वर्षायुक्त ग्रीष्मकाल में चावल और शीतकालीन गेहूँ पैदा करने वाले प्रमुख क्षेत्र भिन्न हैं। पूर्वी तथा दक्षिणी भारत चावल मध्य तथा उत्तरी भारत गेहूँ का क्षेत्र है।

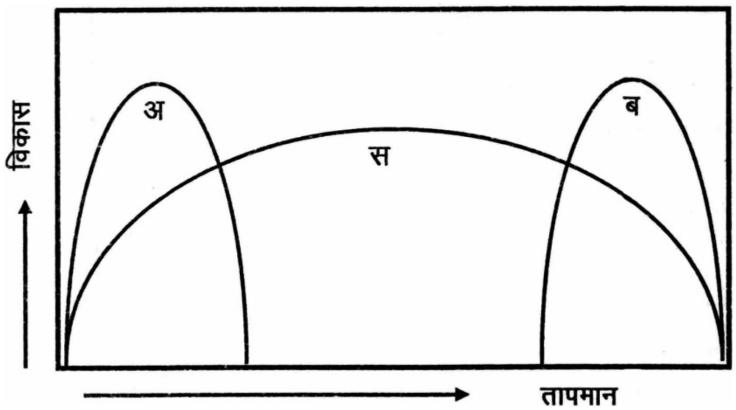

चित्र – 4.2 : पौधों की सहनशीलता की सीमाएँ

तालिका – 4.1: कुछ फसलों के अंकुरण के लिए दिग्बिन्दु तापमान (^{0} से ग्रे.)

फसल	न्यूनतम	अनुकूलतम	अधिकतम
चावल	10–12	30–32	36–38
गेहूँ	4	25	30–32
चुकन्दर	4–5	25	28–30
राई	1–2	30	35
मक्का	8–10	32–35	40–44
मसूर	4–5	30	36
तम्बाकू	13–14	28	35
गन्ना	21	32–28	38

फसलों के लिए औसत वार्षिक तापमान से अधिक महत्वपूर्ण उनकी अतिशयता तथा लय है। पौधों की कोशिकाओं के लिए घातक तापमान सामान्यत: 50^0 से 60^0 से. ग्रे. होता है, परन्तु इस घातक तापमान में पौधे की जातियों, विकास की अवस्था और उच्चताप की अवधि के अनुसार भिन्नता होती है। यदि आर्द्रता की पूर्ति समुचित हो तो पौधे के विकास को स्थगित करने में उच्चतम तापमान की तुलना में न्यूनतम तापमान अधिक समर्थ होता है। ऐसी स्थिति में फसलें सूख जाती हैं, परन्तु अधिक तापमान होने पर पत्तियाँ या फल नष्ट हो जाते है और पौधे का विकास मन्द या बन्द हो जाता है। फसलें के लिए सबसे हानिप्रद स्थिति 'गर्म तथा शुष्क' काल में होती है। इस काल में अधिक तापमान के कारण वाष्पोत्सर्जन तेज होता है, परन्तु मिट्टी में नमी की कमी के कारण पौधे में उसी गति से जल–पूर्ति नही हो पाती। फलत: टहनियों का निर्जलीकरण हो जाता है। भारत में ताप की यही समस्या प्रधान है। साल भर ऊँचे तापमान और वर्षा का एक ऋतु में केन्द्रीकरण के कारण शेष ऋतुओं में विशेषत: ग्रीष्म काल में पौधों को निर्जलीकरण का सामना करना पड़ता है।

अधिक तापमान की समस्या को एक निश्चित सीमा तक सिंचाई द्वारा हल किया जा सकता है। सिंचाई और नमी संरक्षक जुताई के प्रयोग द्वारा ही गर्म मरुद्यानों में कुछ फसलें पैदा की जाती हैं। छायादार वृक्षों का रोपण, रोपण की स्थिति तथा रोपण का समय आदि के द्वारा भी अधिक तापमान से रक्षा हो सकती है।

अधिक तापमान चाहने वाली फसलों का वितरण निम्न तापमान द्वारा नियन्त्रित होता है। ऐसी फसलों की उपज उच्चताप वाले क्षेत्रों के ध्रुवीय छोरों पर अधिकतम होती है, परन्तु तापमान की न्यूनता के कारण इनका विस्तार मध्य तथा उच्च अक्षांशों में नहीं हो पाता। हिमांक तापमान की तुलना में द्रुतशीतन (chilling) अधिक हानिकारक है। द्रुतशीतन के कारण फसलें उतना पानी नहीं ग्रहण कर पाती जितना कि वाष्पोत्सर्जन होता है। इस प्रक्रिया को शारीरिक सूखा (physiological drought) कहते हैं। चावल और कपास की फसलें तो दो–तीन दिनों के द्रुतशीतन की स्थिति में नष्ट हो जाती हैं, परन्तु मक्का, आलू, टमाटर, सूर्यमुखी तथा कई बागवानी की फसलों को ऐसी स्थिति में भी अधिक क्षति नहीं होती है। कई फसलों को द्रुतशीतन से नुकसान होता है, परन्तु बाद में वे पुन: क्षतिपूर्ति कर लेती हैं, जैसे सोयाबीन, मटर आदि। तापमान का प्रभाव तो ठण्डे पानी द्वारा सिंचाई करके देखा जा सकता है। ऐसे में मिट्टी का तापमान कम हो जाता है, फलस्वरूप वृद्धि मन्द हो जाती है। मिट्टी की नमी का वाष्पीकरण होने पर तापमान घटता है। दूसरी ओर आर्द्र मिट्टियाँ रात्रि में शीघ्रता से ठण्डी नहीं होती हैं और यदि मिट्टी का तापमान ऊपरी वायु से अधिक है तो द्रुतशीतन नहीं हो पाता है।

रात्रि के निम्न तापमान का प्रभाव विभिन्न फसलों पर भिन्न भिन्न होता है। शीतल रात्रि होने पर आलू और चुकन्दर जैसी फसलों में कार्बोहाइड्रेट की संचित मात्रा बढ़ती है। दूसरी ओर कपास, मक्का, तम्बाकू जैसी फसलों के अधिकतम विकास के लिए रातें गर्म होनी चाहिए। उगते पौधे हिमांक तापमान होने पर अधिकांशत: नष्ट हो जाते हैं। केवल कुछ फसलें विशेषरूप से फल जैसे सेब आदि ग्रीष्मकाल में फूलते और फलते हैं तथा शीतकाल में हिमांक से कम तापमान भी सहन कर सकते हैं।

4.3.1.1 तुषार (Frost)

कृषि को सबसे अधिक खतरा असामयिक तुषार से रहता है। तुषार दो प्रकार का होता है – (1) अभिवहन (Advection frost) और (2) विकिरण तुषार (Radiation frost) । प्रथम प्रकार का तुषार तब बनता है जब किसी वायु राशि का सतही तापमान हिमांक से नीचे पहुँच जाता है। दूसरे प्रकार का तुषार मेघरहित रात्रि में तापमान–प्रतिलोमन के कारण होता है। मध्य तथा उच्च अक्षांशों में शीतऋतु में अभिवहन तुषार सामान्य बात है। वायु राशि प्रशीतन से पौधों को कई विधियों से क्षति होती है, जिसमें (1) हिमीकरण तथा द्रवीकरण (freezing & thawing), (2) उत्पक्षेपण (heaving) और (3) निर्जलीकरण (desiccation) प्रमुख हैं। लम्बी अवधि तक गहन तुषार होने पर पौधों की आन्तरिक संरचना पर विपरीत प्रभाव होता है। कभी–कभी ऐसी स्थिति में मिट्टी के कणों से जल निकल कर हिमकण के रूप में मिट्टी की सतह से लम्बव्त स्तम्भ के रूप में एकत्रित हो जाता है। इस प्रक्रिया से उत्पन्न शक्ति से पौधे ऊपर की ओर उठ जाते हैं, जिसे उत्क्षेपण कहते हैं। उत्क्षेपण के बाद पौधे की पुन: स्थापना नहीं हो पाती और वह मर जाता है। ऐसी स्थिति में जब मिट्टी का जल हिम के रूप में हो और पौधे को उतनी मात्रा में जल न मिल पा रहा हो जितना कि वाष्पोत्सर्जन हो रहा हो तो वह पानी की कमी (निर्जलीकरण) के कारण सूख जाता है। शीत ऋतु के अतिरिक्त बसन्त के अन्त या हेमन्त के आरम्भकालीन तुषार अधिक हानिकारक होते हैं।

विकिरण तुषार का प्रभाव उतना तीव्र नहीं होता जितना कि अभिवहन तुषार का और यह प्रभाव सर्वत्र नही, कुछ स्थानों पर ही पड़ता है। इससे पौधे मरते नहीं हैं, परन्तु कोमल अवस्थाओं में बहुत क्षति होती है; जैसे कि अंकुरण और पुष्पण काल में। यहाँ तक कि ग्रीष्मकाल के अन्तिम समय में तुषार से उत्तरी अमेरिका और साइबेरिया में बसन्कालीन गेहूँ की बालें नष्ट हो जाती हैं। तुषारपूर्ण रातें और प्रकाशपूर्ण गर्म दिन होने से बागानी फलों पर 'सूर्य दाह' (sunscald) पड़ जाते हैं।

4.3.2 तापीय क्षमता (Temperature Efficiency)

तापमान का कृषि पर पड़ने वाले प्रभाव को कई विधियों द्वारा प्रकट किया जाता है। इनमें विकास काल, थार्नथ्वेट का तापीय क्षमता सूचकांक, तापीय इकाई और तापीय प्रकाश संश्लेषण अवधि उल्लेखनीय हैं।

4.3.2.1 विकास काल या तुषाररहित ऋतु (Growing season or frost–free season)

तापमान का फसलों के वितरण पर पड़ने वाले प्रभाव को निर्धारित करने के तरीकों में एक 'तुषाररीहत काल' है। बसन्त के अंतिम घातक तुषार और हेमन्त के प्रथम घातक तुषार के बीच की अवधि को 'तुषाररहित काल ' कहते हैं। यह उत्पादन काल का एक सूचकांक है। उत्पादन काल निर्धारित करने का दूसरा सांख्यकीय तरीका भी है। बसन्त और हेमन्त ऋतुओं के बीच उन दिनों की संख्या जब तापमान लगातार 0^0 से.ग्रे. से अधिक रहे, उगने का काल (growing period) कहलाता है। विकास काल का ज्ञान कृषक को आवश्यक है। इसके ज्ञान से सफलतापूर्वक पैदा होने वाली फसल निश्चित की जाती है। क्लैग्स (1942) ने तापीय विकास काल और शारीरिक विकास काल (physiological growing period) में अन्तर किया है। उनके अनुसार प्रभावक विकास काल वह अवधि है जब तापमान लगातार विकास के अनुकूल (7^0 से ग्रे. से अधिक) रहे।
सामान्यत: अक्षांश बढ़ने के साथ ही उत्पादन काल छोटा होता जाता है। उष्ण कटिबन्धों में उच्च भागों को छोड़कर तुषार केवल थोड़े काल के लिए कभी कभी पड़ता है और इस दृष्टि से उगने का काल साल भर रहता है। दूसरी' ओर ध्रुवीय क्षेत्रों में तुषाररहित काल नहीं होता। मध्य अक्षांशों में विकास काल की अवधि बदलती रहती है। उदाहरण के लिए शीत शीतोष्ण कटिबन्ध में भूमध्यरेखीय छोर पर यह 200 से 250 दिन का, परन्तु ध्रुवीय छोर पर 100 से 120 दिनों का ही होता है। छोटे विकास काल के क्षेत्रों में केवल कुछ ही शीघ्रता से पकने वाली फसलें पैदा हो सकती हैं, जैसे बसन्त ऋतु का गेहूँ, राई, ओट्स आदि। शीत कटिबन्ध में कृषि के विस्तार में यही प्रमुख कठिनाई है। उदाहरणत: फिनलैण्ड में 70^0 उत्तरी अक्षांश के पास आलू और जौ ही पैदा हो पाते है, अन्य फसलें इसके दक्षिण में ही उत्पन्न की जाती हैं। उत्तरी अमेरिका में बसन्तकालीन गेहूँ ,शीतकालीन गेहूँ ,जौ, मक्का और कपास उत्पादन की उत्तरी सीमाएँ तापमान और विकास काल के महत्व को अच्छी तरह से स्पष्ट करती है।

4.3.2.2 डिग्री डे तथा तापमान संकलन (Degree day & Temperature Summation)

किसी स्थान पर फसल बोने और पकने के बीच की अवधि दिनों की संख्या द्वारा निश्चित न होकर 'कुल प्राप्त ऊर्जा की इकाई' द्वारा निर्धारित होती है। इस ऊर्जा इकाई को 'डिग्री डेज' कहते हैं। किसी फसल के लिए एक डिग्री डे वह है जब औसत दैनिक तापमान न्यूनतम विकास के लिए

आवश्यक तापमान से 1 डिग्री अधिक हो। इन अधिक तापमानों का योग (संकलन) भी तापीय प्रभाव को जानने के लिए उपयोग किया जाता है।

4.3.2.3 तापीय क्षमता सूचकांक (Temperature Efficiency Index)

तापीय संकलन विधि को संशोधित कर के थॉनर्वेट ने (Thornthwaite, 1931) तापीय क्षमता सूचकांक तैयार किया, जिसमें 32^0 फै. को आधार ताप (शून्य तापमान) माना। बाद (1948) में उन्होंने यह पाया कि 'संभावित वाष्पीकरण वाष्पोत्सर्जन' (Potential evapo–transpiration) ताप की क्षमता का भी सूचक है। यह विकास का सूचकांक है, जो पानी की आवश्यकता को संभावित वाष्पीकरण वाष्पोत्सर्जन इकाई के रूप में प्रकट करता है। थॉर्नथ्वेट ने तापीय का निम्न (तालिका 4.2) वर्गीकरण किया है –

तालिका – 4.3: थॉर्नथ्वेट का तापीय क्षमता सूचकांक

तापीय क्षमता सूचकांक	जलवायु का प्रकार	ग्रीष्मकाल क्षमता का %
5.61	तुषार E’ (Frost)	0
11.22	टुंड्रा D’ (Tundra)	0
16.83	न्यूनतापीय C’1 (Microthermal)	88
28.05	न्यूनतापीय C’2 (Microthermal)	76
22.44	मध्यतापीय B’1 (Mesothermal)	62
33.66	मध्यतापीय B’2 (Mesothermal)	56
39.27	मध्यतापीय B’3 (Mesothermal)	52
44.88	अतितापीय A’1 (Megathermal)	48
44.88		33

आधार: विलसी 1962, पृ. 189

तापीय क्षमता का ऋतुगत वितरण बहुत असमानता है। शीत और शीतोष्ण कटिबन्ध में मुख्यत: ग्रीष्मकाल ही उत्पादन के अनुकूल होता है, क्योंकि अधिकांश तापीय प्रभाविता इसी ऋतु में केन्द्रित होती है।

4.3.2.4 तापीय प्रकाश संश्लेषण अवधि (Thermal Photo Period)

विकास काल निश्चित करने में दिनों की लम्बाई का भी प्रभाव पड़ता है। अक्षांश बढ़ने के साथ 'विकास काल' छोटा होता है और तापमान कम, परन्तु ग्रीष्म ऋतु में दिन की लम्बाई अधिक रहती है। यह लम्बाई तापमान की कमी को पूरा करती है। इसी कारण उत्तरी गोलार्द्ध में ग्रीष्म ऋतु में उत्तरी अक्षांशों में फसलें उतने दिन में तैयार हो जाती हैं, जितने दिनों में मध्य अक्षांशों में। इसी भाँति मध्य अक्षांशों में बसन्त के आरम्भ में बोई गई फसल को बाद की बोई गई फसल से पकने में अधिक दिन लगता है। उदाहरण के लिए अलास्का में 29 मार्च को बोए गए मटर को पकने में 74 दिन और 8 मई को बोए गये मटर को केवल 51 दिन लगे। इसका कारण यह था कि प्रथम फसल को प्रकाश–संश्लेषण की औसत दैनिक अवधि 14 घण्टे मिली, परन्तु दूसरी फसल को 14.6 घण्टे। डिग्री डे और दिन की लम्बाई के गुणांक को 'तापीय संश्लेषण इकाई' (Photo thermal unit) कहते हैं। इसका उपयोग संयुक्त राज्य अमेरिका में डिब्बा–बन्दी फसलों

(Canning crops), जैसे मटर, स्वीटकॉर्न के उत्पादन तथा उनकी कटने की तिथि निश्चित करने के लिए होता है।

4.3.3 नमी (Moisture)

तापमान की दृष्टि से उपयुक्त क्षेत्र में जल की प्राप्ति सबसे प्रभावशाली कारक है। समान तापमान वाले दो क्षेत्रों पर नमी की कमी या अधिकता ही कृषि की सम्भावनाएँ निश्चित करती है। सामान्यता अधिक नम क्षेत्रों में पैदा की जा सकने वाली फसलों की संख्या भी अधिक होती है, परन्तु शुष्क भागों में कुछ ही फसलें सम्भव हो पाती हैं तथा उत्पादन भी अनिश्चित होता है। उष्ण तथा उपोष्ण कटिबन्धो में वास्तव में कृषि को सीमित करने वाला कारक तापमान नहीं, बल्कि नमी की कमी है। यदि यहाँ मिट्टी को साल भर आर्द्रता मिलती रहे तो साल भर कृषि सम्भव है। जल पौधे के कई कार्यो के लिए आवश्यक होता है। पी. जे. क्रेमर (1959, उद्धृत विलसी 1974, 133) ने इन आवश्यकताओं को चार समूहों में रखा है –

(1) जल जौवद्रव्य (Protoplasm) का अंग है। औसतरूप से हरी टहनियों का 85 से 90 प्रतिशत भाग पानी ही होता है।

(2) जल रक प्रतिकारक (reagent) है जो प्रकाश–संश्लेषण तथा अन्य जलीय प्रक्रियाओं, जैसे स्टार्च का शक्कर में रूपान्तरण के लिए अनिवार्य है।

(3) जल एक विलायक (घोलक) द्रव है, जिसमे नमक, गैस तथा अन्य पदार्थ धुलकर सम्पूर्ण पौधे में पहुँचते हैं।

(4) यह स्फीति, कोशिकाओं की वृद्धि, पत्तियों की आकृति के संरक्षण, छिद्रो (stomata) के संचालन तथा पौधे के संरचनात्मक गति के लिए भी आवश्यक है।

इस प्रकार न केवल फसलों के लिए, बल्कि सभी वनस्पतियों की आंतरिक प्रक्रियाओं हेतु जल आवश्यक तत्व है। इसलिए वर्षा इतना महत्वपूर्ण कारक है कि यह न केवल किसी क्षेत्र की फसल उत्पन्न करने की क्षमता निर्धारित करती है बल्कि कृषि की संरचना और कृषि की प्रक्रियाएँ भी वर्षा द्वारा निर्धारित होती हैं। यहां तक की सिंचाई की आवश्यकता और संभावना भी वर्षा के गुणों तथा वाष्पीकरण–वाष्पोत्सर्जन पर निर्भर होता है। वर्षा के इन गुणों में वर्षा की मात्रा, सकेन्द्रण, गहनता और परिवर्तनशीलता महत्वपूर्ण है। जिस प्रकार फसलों के लिए अनुकूल तापमान निश्चित होता है, उसी प्रकार अनुकूलता नमी की मात्रा भी होती है। पौधे नमी अपनी जड़ों से ग्रहण करते हैं। इसलिए मिट्टी में नमी की मात्रा बहुत महत्वपूर्ण है। जल–धारण की क्षमता के आधार पर उसकी उर्वराशक्ति निर्धारित होती है।

विश्व के विभिन्न भागों में औसत वार्षिक वर्षा एरिका (Arica), चिली में 0.5 मि. मि. से लेकर भारत में मेघालय राज्य में मासिनराम में 1187 से.मी (चेरापूँजी में 1141 से.मी) तक है। वर्षा की मात्रा के आधार पर स्थल खण्ड का 55.0 प्रतिशत भाग अर्द्धशुष्क और शुष्क हैं, जहाँ वर्षा 50 से.मी. से कम होती है। अन्य 20.0 प्रतिशत भाग उपार्द्र (50 से.मी. से 100 से.मी.), 11.0 प्रतिशत भाग आर्द्र (100 से 150 से.मी.) तथा 14.0 प्रतिशत अति आर्द्र (150 से.मी. से अधिक) क्षेत्र हैं। भूमध्यरेखा से दोनों ओर 10^0 अक्षांशों तक विश्व में सर्वाधिक वर्षा (175 से 200 से.मी. तक) होती है परन्तु 20^0 से 30^0 अक्षांशों के मध्य विशेष रूप से पश्चिमी भागों में बहुत कम वर्षा होती है (चित्र 12) । पुन: वर्षा की मात्रा बढ़कर 40^0 से 55^0 अक्षांशों के मध्य द्वितीयक

अधिकतम (100 से 125 से.मी.) तक पहुँचती है। इन अक्षांशों में उत्तरी गोलार्द्ध में दक्षिणी गोलार्द्ध की तुलना में कम वर्षा होती है। यहाँ से ध्रुवों की ओर वर्षा तेजौ से घटती जाती है। वर्षा के इस विश्व वितरण के प्रतिरूप का कृषि पर विभिन्न रूपों में प्रभाव पड़ता है। जहाँ एक ओर अत्यधिक वर्षा कृषि में बाधक है वहीं उष्ण एवं उपोष्ण कटिबन्धों में अल्प वर्षा इसकी संभावना कम कर देती है।

जलाधिक्य – मृदा में जल की अधिकता होने पर उसकी कई रासायनिक तथा जौवीय प्रक्रियाओं में व्यवधान होता है। ऑक्सीजन की कमी होने लगती है तथा ऐसे यौगिक (Compounds) बनते हैं, जो जड़ों के लिए घातक होते हैं। मिट्टी में वायु की यह कमी (poor soil aeration) दो कारणों से हो सकती है – अधोभौमिक जल प्रभाव की कमी (poor vertical drainage) और अत्यधिक वर्षा। जल निकास के द्वारा इस समस्या का निदान किया जा सकता है। परन्तु पानी के रिसने से घुलनशील पोषण तत्व कम हो जाते हैं। जिससे पौधे की स्वाभाविक वृद्धि रुकने लगती है। आवरण वाली फसलें और ह्यूमस के उपयोग से यह समस्या टाली जा सकती है।

अधिक वर्षा से फसलों को प्रत्यक्षत: हानि हो सकती है तथा पुष्पण एवं परागण (pollination) में बाधा पहुँचती है। मिट्टी की ऊपरी सतह कठोर हो जाने से अंकुरण में कठिनाई होती है। फसल के पकने में देर होती है तथा पकी फसलों के अन्न को क्षति पहुँचती है। अधिक वर्षा के समय फसल काटना तथा उनका संग्रह करना प्रमुख समस्या हो जाती है। इसके लिए अतिरिक्त श्रम,पूँजी और तकनीकी का उपयोग करना आवश्यक हो जाता है। कपास की फसल चुनते समय आर्द्रता होने पर रेशे और बीज दोनों नष्ट हो जाते है। गेहूँ के दाने मिट्टी में बिखर जाते हैं अथवा अंकुरित होने लगते हैं।

शरद्कालीन फसलों को हिम (snow), सहिम वर्षा (sleet) तथा हिमकारी वर्षा (freezing rain) से हानि की आशंका रहती है। हिम के भार से फसलों की पत्तियाँ, टहनियाँ तथा डालें टूटती हैं धरातल पर हिमावरण होने से छोटे पौधे वाली फसलों जैसे शीतकालीन गेहूँ को पर्याप्त मात्रा में ऑक्सीजन नहीं मिल पाती है, जिससे उनका दम घुटने लगता (suffocation) है। ओला वृष्टि से कृषि को बहुत हानि होती है।

4.3.3.1 सूखा (Drought)

विशेषरूप से निम्न अक्षांशों में अतिवृष्टि से गम्भीर समस्या अनावृष्टि की होती है। थॉर्नथ्वेट ने कहा है कि सूखा वह अवस्था है 'जिसमें वाष्पोत्सर्जन तथा प्रत्यक्ष वाष्पीकरण के लिए आवश्यक जल की मात्रा मिट्टी में उपलब्ध मात्रा से अधिक हो' (थॉर्नथ्वेट 1947, पृ. 88)। सूखा और शुष्कता (aridity) में अन्तर है। औसत से पर्याप्त कम वर्षा होना सूखा कहलाता है। ऐसी दशा सदैव नही होती अत: यह अस्थायी दशा होती है। दूसरी ओर शुष्कता जलवायु की स्थायी दशा है। जब औसत वर्षा ही बहुत कम होती हो तथा जल की सदैव कमी बनी रहती हो तो वह दशा शुष्कता कहलाती है।

प्रभाव के संदर्भ में सूखा चार प्रकार का हो सकता है – (1) मौसमी सूखापन, (2) कृषिय सूखापन, (3) जलचक्रीय सूखापन, तथा (4) सामाजिक – आर्थिक सूखापन। जब वर्षा औसत की 75 प्रतिशत अथवा उससे कम होती है तो वह मौसमी सूखा कहलाता है। परन्तु जब यह कमी इतनी हो कि फसलों की वृद्धि तथा उत्पादकता को प्रभावित करने लगे तो उसे कृषिय सूखा कहते हैं।

जब अल्प वर्षा का प्रभाव जल तंत्र–नदी के प्रवाह, जलाशय आदि से दिखने लगे तो यह स्थिति जलचक्रीय सूखा कहलाती है। सामाजिक–आर्थिक सूखापन वह स्थिति है जब जल की कमी के कारण जल पर निर्भर वस्तुओं की आपूर्ति मांग की तुलना में बहुत कम हो जाय।

अवधि के संदर्भ में सूखा तीन प्रकार का हो सकता है – (1) शुष्क जलवायु से सम्बन्धित स्थायी सूखा, (2) ऋतु विशेष का अस्थायी सूखापन, तथा (3) वर्षा के परिवर्तन के कारण उत्पन्न सूखापन। तीनों प्रकार के सूखेपन में मुख्य कारक वर्षा की कमी ही होती है। कम सापेक्षिक आर्द्रता (relative humidity), तेज वायु तथा उच्च तापमान भी वाष्पोत्सर्जन को तेज करते हैं, अत: शुष्कता के सहयोगी कारक हैं। भारत में साल भर ऊँचा तापमान होना भी अधिक वाष्पीकरण का कारण है।

विश्व के शुष्क जलवायु वाले भागों का सूखापन स्थायी होता है और वहाँ साल भर नमी की कमी बनी रहती है, जिससे ये क्षेत्र सामान्यरूप से कृषि के योग्य नहीं होते। यहाँ खेती के लिए सिंचाई आवश्यक होती है। गर्म शुष्क मरुस्थलों में की जाने वाली कृषि पूर्णत: सिंचाई पर निर्भर होती है। शुष्क जलवायु वाले भागों के अतिरिक्त ऐसे भी क्षेत्र हैं जहाँ एक ऋतु में अधिक वर्षा तथा अन्यों में कम होती है, जैसे कि भारत में।

मध्य अक्षांशों में ग्रीष्म ऋतु में तापमान बढ़ने के कारण भी वाष्पीकरण की मात्रा बढ़ जाती है इससे मिट्टी में जल की कमी हो जाती है। इन अक्षांशों में ऐसे भागों में भी जल की कमी हो सकती है, जहाँ ग्रीष्मकाल में ही वर्षा होती हो, जैसे कि दक्षिणी मध्य साइबेरिया में स्थित इर्कुटस्क में। यद्यपि गर्मी में शीतकाल की तुलना में कई गुनी वर्षा होती है, परन्तु बड़े दिन होने और ऊँचे तापमान के कारण वर्षा की प्रभाविता अधिक नहीं होती और मिट्टी में जल की कमी हो जाती है। जिस जलवायु में एक ऋतु अपेक्षया कम वर्षा की ऋतु होती है, वहाँ उस ऋतु में वर्षा की तुलना में जलीय आवश्यकता का अधिक होना स्वाभाविक है। शुष्क ग्रीष्म उपोष्ण जलवायु प्रदेशों में यह स्थिति ग्रीष्म में हो जाती है। यही उत्पादन काल भी है अत: कृषि उत्पादन बहुत प्रभावित होता है। दूसरी ओर आर्द्र–शुष्क उष्णकटिबन्ध (Wet and dry Tropics) में शीत ऋतु शुष्क होती है। इस ऋतु में तापमान कम रहता है अत: सम्भावित वाष्पीकरण कम होता है और मिट्टी में नमी संरक्षित करके खेती की जा सकती है। परन्तु यदि ग्रीष्म काल में वर्षा प्रारम्भ होने में विलम्ब हुआ तो इससे भीषण क्षति हो सकती है। भारत तथा अन्य दक्षिणपूर्वी एशिया के देशों में ऐसी अवस्था में भयंकर अकाल पड़े है। इसका प्रभाव आर्द्र तथा अर्द्धशुष्क दोनों प्रकार की जलवायु में पड़ता है।

इन जलवायु प्रदेशों में भी शुष्क ग्रीष्म ऋतु आते ही शुष्कता प्रारम्भ नहीं होती, बल्कि यह तब शुरू होती है जब पौधों को मिट्टी से मिलने वाली नमी अपर्याप्त हो जाती है। अधिक नमी धारण कर सकने वाली मिट्टी की फसलों को थोड़े समय के सूखे से कम हानि होती है। मिट्टी में पौधों की जड़ों तक की गहराई में 10 से 15 से.मी. के बराबर जल संचित हो सकता है। यह नमी की मात्रा मिट्टी की प्रकृति, धरातल तथा वानस्पतिक आवरण के साथ ही कुल वर्षा की मात्रा उसके वितरण, विश्वसनीयता (reliability), तीव्रता (intensity) तथा रूप (form) पर निर्भर होती है। भारत इसका उदाहरण है। पश्चिमी घाट के वृष्टि छाया प्रदेश में तथा उत्तर–पश्चिम भारत में वर्षा कम होती है (चित्र 13)। इसलिए ये शुष्क एवं अर्द्धशुष्क क्षेत्र हैं तथा शुष्कता की समस्या जलवायुगत है। शेष भारत कुल वर्षा की मात्रा की दृष्टि से कृषि के लिए शुष्कतारहित कहा जा सकता है (जसबीर

सिंह, 1947 ,पृ. 19)। परन्तु इसका मासिक वितरण इस प्रकार है कि साल के अधिकांश भाग से सूखा बना रहता है। उत्तर में कश्मीर और दक्षिण में तमिलनाडु, केरल और दक्षिणी आन्ध्र को छोड़कर शेष भारत में 75 से 90 प्रतिशत वर्षा चार महीनों (जून – अक्टूबर) में प्राप्त होती है। शेष महीने लगभग शुष्क रहते हैं। वर्षा ऋतु में भी अधिकांश वर्षा कुछ घंटों में मिलती है। इस तरह प्रति वर्षा/दिवस घंटा वर्षा (तीव्रता) बहुत अधिक होती है। फलस्वरूप अधिकांश पानी बह जाता है और मिट्टी बहुत कम सोख पाती है। इसलिए आर्द्र भागों में भी अन्य महीनों में सूखापन फसल–उत्पादन को सीमित करता है। दूसरी ओर केरल में जनवरी से मार्च के बीच छोड़कर शेष महीनों में पर्याप्त वर्षा होती है, जिससे वहाँ शुष्कता का प्रभाव नहीं है और कभी सूखेपन की समस्या नहीं होती।

नमी की कमी के आधार पर भारत को चार प्रकार के क्षेत्रों में विभक्त किया जा सकता है: –

(1) **साल भर सूखाग्रस्त क्षेत्र –** राजस्थान, पश्चिमी, दक्षिण–पश्चिमी पंजाब एवं हरियाणा, पश्चिमी गुजरात तथा पश्चिमी घाट का वृष्टि छाया क्षेत्र ऐसे प्रदेश हैं। इन भागों में वर्षा से अधिक सम्भावित वाष्पीकरण व वाष्पोत्सर्जन होता है तथा शुष्क और अर्द्धशुष्क प्रकार की जलवायु है। ऐसी स्थिति में बिना सिंचाई के तो शुष्कता सहन करने वाले तथा कम नमी में पनपने वाले मोटे अनाज ही पैदा हो पाते है।

(2) **अक्टूबर से जून तक सूखाग्रस्त क्षेत्र –** दक्षिणी जम्मू पश्चिमी, उत्तरपूर्वी हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, पूर्वी राजस्थान, गुजरात का मैदान, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पूर्वी महाराष्ट्र, उत्तरी आन्ध्र और बंगाल बेसिन में नमी की कमी साल के अधिकांश समय रहती है। पश्चिमी तटीय भागों पर भी यही स्थिति रहती है। इस क्षेत्र में सिंचाई के बिना विश्वसनीय उत्पादन सम्भव नहीं है।

(3) **फरवरी से सितम्बर तक सूखाग्रस्त क्षेत्र –** पूर्वी तमिलनाडु और पूर्वी आन्ध्र प्रदेश में वर्षा मुख्यतः शरद् और शीतऋतु में होती है तथा दक्षिणपश्चिम मानसून काल लगभग शुष्क रहता है। इसलिए ग्रीष्मकल फसलों के लिए अतिरिक्त जल –पूर्ति आवश्यक होती है।

(4) **सूखारहित क्षेत्र –** उत्तरी पश्चिमी बंगाल, आसाम तथा समीपस्थ राज्यों तथा केरल के भाग में नमी की कमी नहीं रहती। अतएवं ऐसी फसलें पैदा की जाती हैं जिन्हें निरन्तर जल की आवश्यकता हो - चावल, चाय, जूट सिंचाई की कभी आवश्यकता नहीं होती है।

यह भी उल्लेखनीय है कि शुष्क और अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में वर्षा की परिवर्तनशीलता अधिक तथा विश्वसनीयता कम है। वार्षिक वर्षा 30 प्रतिशत से अधिक परिवर्तनशील है। सामान्य वर्षा वाले भागों में भी यह 20 से 30 प्रतिशत से अधिक परिवर्तनशील है। जिससे वर्षा ऋतु में भी जलपूर्ति की समस्या रहती है। दूसरे, कम तथा मध्यम वर्षा वाले भागों में सामान्यत: ऐसी फसलें बोई जाती हैं कि वर्षा में कुछ सेन्टीमीटर ही परिवर्तन (नकारात्मक या धनात्मक) होने पर वे नष्ट हो जाती है। जबकि आर्द्र भागों में इतने परिवर्तन से कोई अन्तर नहीं पड़ता है। भारत के मध्य भाग में 75 से 125 से.मी. वर्षा वाला भाग प्रथम प्रकार का है, जिसे 'अकाल पेटी' (famine zone) कहा जाता है।

4.3.3.2 वर्षा की प्रभाविता (Precipitation Effectiveness)

कुल वर्षा और ऋतुगत वितरण के साथ ही वर्षा की प्रभाविता का ज्ञान आवश्यक है। इसे थॉर्नथ्वेट और माथेर (1955) ने जल नीति (Water economy) कहा है। यह ज्ञान उन क्षेत्रों में अधिक लाभप्रद है, जहाँ एक ऋतु में अधिक तथा अन्य में कम वर्षा होती है। सामान्यत: पौधे की जल की आवश्यकता सम्भावित वाष्पीकरण व वाष्पोत्सर्जन (potential evapo–transpiration) द्वारा निर्धारित की जाती है। यदि जल की पूर्ति बनी रहे तो पौधों द्वारा वाष्पोत्सर्जन तथा मिट्टी द्वारा वाष्पित जल की मात्रा को सम्भावित वाष्पीकरण व वाष्पोत्सर्जन (P.E.T.) कहते हैं। इसके लिए 1905 में ई. एन. ट्रान्सयू (Transeau) ने कुल वर्षा और वाष्पीकरण की मात्रा के अनुपात [(P/E) 10000] का उपयोग किया, परन्तु वाष्पीकरण की सूचनाएँ उपलब्ध न होने से यह तरीका उपयोगी न हो सका। खुली टंकी से भी वाष्पित जल की मात्रा निश्चित की जाती है।

इस पी. ई. टी. को नापने के लिए हाल में एक यंत्र तैयार किया गया है, जिसे 'इवापोट्रान्सपिरो मीटर' कहते हैं। इस यंत्र की मदद से नीचे रिसने वाले जल की मात्रा ज्ञात की जाती है, जिसे कुल वर्षा तथा सिंचाई द्वारा प्राप्त जल से घटाकर परोक्षरूप से सम्भावित वाष्पीकरण – वाष्पोत्सर्जन की मात्रा ज्ञात की जाती है। इस यंत्र का उपयोग सीमित क्षेत्रों में ही हो सकता है। अतएवं गणितीय सूत्रों द्वारा ही पी. ई. टी. की मात्रा ज्ञात की जाती है।

थॉर्नथ्वेट ने इसी उद्देश्य से सन् 1931 में वर्षा की प्रभाविता के सूचकांक ज्ञात करने के लिए $S^{12}_{10}\ (P/E)^{n}$ सूत्र प्रस्तुत किया। इस सूत्र में ई का अर्थ वाष्पीकरण की मात्रा है, जिसकी सूचनाओं कीं कमी है। वाष्पीकरण को तापमान नियन्त्रित करता है। अत: उन्होंने सन् 1934 में दूसरा संशोधित फॉर्मूला तैयार किया जिसमें वाष्पीकरण की जगह तापमान का उपयोग है। इससे प्राप्त सूचकांक के आधार पर उन्होंने विश्व में पाँच प्रकार के आर्द्रता प्रदेश निश्चत किये:

प्रदेश	**A तर Wet**	**B आर्द्र Humid**	**C अल्पार्द्र Subhumid**	**D अर्द्धशुष्क Semiarid**	**E शुष्क Arid**
पी. ई.	>128	64–127	32–63	16–31	<16

बाद में पुन: थॉर्नथ्वेट (1948) ने अधिक शुद्ध फार्मूला तैयार किया, जिसमें सम्भावित वाष्पीकरण –वाष्पोत्सर्जन सिद्धान्त का उपयोग हुआ है। पी. ई. टी. निकालने में औसत मासिक तापमान और दिन की लम्बाई का उपयोग किया जाता है। इन विधियों की मदद से पौधों की जलीय आवश्यकता (वाष्पीकरण और वाष्पोत्सर्जन के रूप में) ज्ञात कर उसे उपलब्ध वर्षा में घटाकर शुष्कता की मात्रा ज्ञात की जा सकती है।

बोध प्रश्न – 1

1. कृषि पर जलवायु के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रभाव के नाम गिनाइए।

   ....

   ....

2. तापीय दिग्बिन्दु क्या है?

   ....

   ....

3. विकास काल किसे कहते हैं?

....

....

4. वायु प्रशीतन से पौधे को होने वाली क्षतियों का उल्लेख कीजिए।

....

....

5. विश्व में सबसे कम और सबसे अधिक वर्षा के स्थानों के नाम बताइए।

....

....

6. सूखा कितने प्रकार का होता है?

....

....

4.4 सिंचाई (Irrigation)

सिंचाई वह साधन है जिसके द्वारा फसल को कृत्रिम ढंगों से जल पहुँचाया जाता है। सिंचाई की बहुत प्राचीन परम्परा है तथा इसके प्रमाण मध्य एशिया, मिश्र तथा चीन के इतिहास में मिलते हैं। भारत में भी सिंचाई की प्राचीन व्यवस्था के अवशेष मिले हैं। राजस्थान तथा दक्षिण भारत में बाँध बनाकर जल एकत्रित करने तथा नहरों द्वारा सिंचाई करने के उल्लेख मिलते हैं। सिंचाई के विश्व सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि इसके मुख्यत: दो उद्देश्य रहे हैं: एक, वे क्षेत्र जहाँ अन्य भौगोलिक कारक कृषि तथा निवास के लिए उपयुक्त हैं और जल की कमी है वहाँ सिंचाई द्वारा भूमि को न केवल कृषियोग्य बनाया गया है बल्कि भूमि उपयोग का गहनीकरण तथा कृषि की उत्पादकतावर्धक निवेशों का उपयोग संभव बनाया जाता है। पूर्व में विकसित कृषि प्रदेशों में मिट्टी में जल की कमी तथा फसलों को उचित समय पर पानी उपलब्ध करा कर उनकी उत्पादकता बढ़ाना और कृषि को सुरक्षित करना भी सिंचाई का लक्ष्य रहा है।

सिंचाई के द्वारा उन प्रदेशों में कृषि संभव होती है जहाँ वह अन्यथा नहीं की जा सकती थी। यही कारण है कि कृषि के विस्तार में सिंचाई की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आज जब कृषि उत्पादकों की माँग भोजन और औद्योगिक विकास दोनों के लिए आशातीत रूप से बढ़ रही है, सिंचाई का महत्व बढ़ता जा रहा है। संसार के विकसित तथा विकासशील दोनों वर्गो के देशों में कृषि–विकास तथा सिंचाई अन्योन्याश्रित हैं।

सिंचाई द्वारा फसल को उस समय जल पहुँचाया जा सकता है जब उसकी आवश्यकता होती है, जैसे पौधो के उगते एवं बढ़ते समय अथवा उसमें फूल और फल आते समय। यदि सही समय पर सिंचाई के द्वारा जल मिल सके तो उत्पादन कहीं अधिक बढ़ सकता है। ऐसी स्थिति में उत्पादन केवल सही समय पर पर्याप्त वर्षा पर ही निर्भर नहीं रह सकता। औसत से कम वर्षा होने पर भी उत्पादन संतोषजनक हो इसके लिए सिंचाई आवश्यक होती है। यह देखा गया है कि पर्याप्त जल प्राप्त होने पर जड़े दूर तक तथा जाल के रूप में फैल जाती हैं। फलस्वरूप उनमें मिट्टी से अधिक जल प्राप्त करने की शक्ति हो जाती है। इससे अधिक समय तक पौधो को जल की अस्थायी कमी का अनुभव नहीं होता अत: जडों के उचित विकास के भी सिंचाई सुविधाजनक होती है।

तालिका 4.3 विश्व में सिंचाई करने वाले मुख्य देश,2006

देश	सिंचित क्षेत्र			देश	सिंचित क्षेत्र		
	000 हे.	कृ . क्षे. %	विश्व का %		000 हे.	कृ . क्षे. %	विश्व का %
सिंचित क्षेत्र में विश्व के प्रथम 15 देश				सिंचित भूमि के हिस्से के प्रथम 15 देश			
भारत	57300	33.8	20.1	चिली	1900	105.6	0.7
चीन	56333	37.4	19.7	मिस्र	3530	99.9	1.2
सं.राज्य अ में	22700	13.1	7.9	तुर्कमानिसस्तान	1800	92.6	0.6
पाकिस्तान	19130	86.8	6.7	उजबेकिस्तान	4281	91.3	1.5
ईरान	8715	47.6	3.1	पाकिस्तान	19130	86.8	6.7
मैक्सिको	6300	23.4	2.2	ताज किस्तान	722	85.0	0.3
टर्की	5215	20.2	1.8	न्यू कैलेडोनिया	10	83.3	0.0
थाइलैण्ड	4986	26.4	1.7	सूरीनाम	51	78.5	0.0
बंगलादेश	4900	58.0	1.7	किरगिस्तान	1021	75.3	0.4
रूस	4513	3.7	1.6	जार्जिया	433	74.9	0.2
इण्डोनेशिया	4500	12.0	1.6	सं.अरब अमीरात	209	72.1	0.1
उजबेकिस्तान	4281	91.3	1.5	अजरबैजान	1426	96.1	0.5
इटली	3973	40.0	1.4	ईराक	3525	67.1	1.2
स्पेन	3840	21.8	1.3	ओमान	65	67.0	0.0
कजाकिस्तान	3556	15.6	1.2	बहरीन	4	66.7	0.0

उन सीमांत प्रदेशों में जहाँ औसत वर्षा कृषि के लिए पर्याप्त होती है किन्तु किन्हीं वर्षो में कम होती है, वहाँ यदि सिंचाई के साधन हों तो कृषि उत्पादन अधिक विश्वसनीय बनाया जा सकता है और किसानों को अनपेक्षित हानि से बचाया जा सकता है। उन प्रदेशों में भी कृषि के लिए सिंचाई लाभकारी है जहाँ वर्षा केवल कुछ महीनों में होती है, जैसे विश्व के मानसूनी प्रदेश। मानसूनी वर्षा अत्यधिक अविश्वसनीय है। इन प्रदेशों में कृषि उत्पादन को विश्वसनीय बनाने का एक मात्र साधन सिंचाई है।

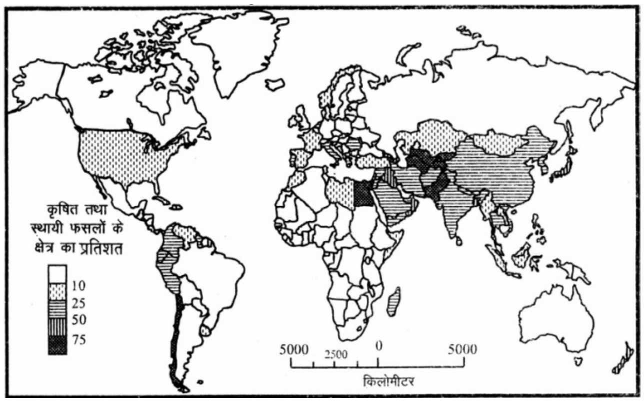

चित्र–4.3: विश्व में कृषित एवं तथा स्थायी फसलों के क्षेत्र का प्रतिशत 2006

अत: सूखे प्रदेशों में किसी भी फसल को उगने के लिए, उपोष्ण तथा उपार्द्र प्रदेशों में वर्षा की कमी को पूरा करने के लिए अनपेक्षित सूखे मौसम में फसल को बचाने तथा उत्पादन बढ़ाने और अधिक आर्द्रता चाहने वाली फसलों जैसे चावल के लिए सिंचाई का बहुत महत्व है। सारांश में यह कहा जा सकता है कि कृषि के विस्तार एवं उसका उत्पादन बढ़ाने का सिंचाई एक महत्वपूर्ण साधन है। यही कारण है कि सिंचाई का वितरण एक चौड़ी आक्षांशीय पेटी में पाया जाता है।

4.4.1 सिंचाई का प्रादेशिक वितरण (Regional Distribution of Irrigation)

सन् 2006 में विश्व में अनुमानित सिंचित क्षेत्र 2856.6 लाख हेक्टर हो गया है जो कुल कृषियोग्य भूमि तथा स्थायी फसलों के क्षेत्र का केवल 18.4 प्रतिशत ही है। सिंचित क्षेत्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण देशों की महाद्वीपवार सूची तालिका 4.1 में दी गई है। सिंचित क्षेत्र का कृषित क्षेत्र में प्रतिशत हिस्से का मानचित्र पर प्रदर्शित किया गया है। अनुमानत: विश्व के कुल सिंचित क्षेत्र का दो–तिहाई से अधिक (68%) एशिया, 17 प्रतिशत अमेरिका, 9 प्रतिशत यूरोप में, 5 प्रतिशत अफ्रीका तथा केवल 1 प्रतिशत ओसीनिया में है। सिंचित क्षेत्रफल की दृष्टि से तो विश्व के बड़े देश ही आगे हैं जहाँ उनके अधिक विस्तार के कारण विश्व का अधिकांश सिंचित भूभाग केन्द्रित है। उदाहरण के लिए विश्व की 20 प्रतिशत सिंचित भूमि अकेले भारत में है (तालिका 4.3)। चीन में इससे थोड़ी कम सिंचित भूमि है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा पाकिस्तान इनके बाद और काफी पीछे हैं। ईरान, मैक्सिको और टर्की प्रत्येक में सिंचित भूमि 50 लाख हेक्टर से अधिक है। दूसरी ओर कृषित भूमि में सिंचित भूमि के हिस्से की दृष्टि से दक्षिणी अमेरिका में स्थित अटाकामा मरूस्थल वाला देश चिली शीर्षस्थ है जहाँ सकल सिंचित भूमि कुल खेती वाली भूमि से अधिक है। मिस्त्र, तुर्कमेनिस्तान और उजबेकिस्तान में भी 90 प्रतिशत से अधिक कृषित भूमि सिंचित है (चित्र 4.3) । इन पंद्रह देशों में से केवल दो देश – उजबेकिस्तान तथा पाकिस्तान – ही ऐसे हैं जो सिंचित क्षेत्रफल के प्रथम 15 देशों में सम्मिलित हैं। कृषित भूमि में सिंचित भूमि के अत्यधिक हिस्से वाले ये देश शुष्क और अर्द्धशुष्क जलवायु वाले देश हैं तथा इनका आकार बड़ा नहीं है।

विश्व में लगातार फैले गहन सिंचाई के विस्तृत क्षेत्र भारत और पाकिस्तान में गंगा और सिंधु की घाटी, चीन के हुई ही, हु आंग ही तथा यांग्टसी बेसिनों, मिस्त्र तथा सूडान में नील नदी के तटीय भाग एवं संयुक्त राज्य अमेरिका के मिसीसिपी और मिसौरी बेसिन तथा कैलीफोर्निया क्षेत्र हैं। प्रादेशिक स्तर के सघन सिंचित क्षेत्रों में उत्तरपश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका में स्थित स्नेक तथा कोलंबिया नदियों के तटीय भाग, मैक्सिको तथा पेरू के पश्चिमी भाग, मध्य चिली, ब्राज़ील तथा यूरग्वे के सीमा पर स्थित चावल के क्षेत्र, यूरोप में डेन्यूब तथा पो नदियों की घाटियाँ, ईराक तथा टर्की में फैला दजला–फरात नदियों का बेसिन, अरल सागर का बेसिन, अमू दरिया तथा सर दरिया का बेसिन, चीन तथा बंगलादेश में ब्रहमपुत्र नदी का बेसिन, वियतनाम में मेकांग डेल्टा, थाइलैण्ड में बैंकाक के चारों ओर का क्षेत्र, इण्डोनेशिया में जावा द्वीप तथा आस्ट्रेलिया में मरे तथा डार्लिंग बेसिन महत्वपूर्ण हैं।

इस आधार पर विश्व के सिंचित क्षेत्रों को निम्नलिखित दो प्रकारों में बाँटा जा सकता है

(1) विश्व के सूखे भागों के सिंचित प्रदेश और

(2) विश्व के मौसमी वर्षा वाले सिंचित प्रदेश।

प्रथम वर्ग में प्रमुख है: (अ) मध्य तथा मध्यपूर्व एशियाई प्रदेश, (ब) पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उत्तरी मैक्सिको, (स) दक्षिगी महाद्वीपों के सिंचित प्रदेश: अर्जेन्टीना, उत्तरी तथा पश्चिमी अफ्रीका तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया। द्वितीय वर्ग के क्षेत्रों में प्रमुख है दक्षिणपूर्वी तथा पूर्वी एशियाई देश – भारत, पाकिस्तान बंगलादेश, म्यांमार, थाईलैण्ड मलेशिया, वियतनाम, चीन, जापान, कोरिया आदि।

4.4.2 संसार के सूखे भागों के सिंचित प्रदेश

ये वे प्रदेश है जहाँ वार्षिक वर्षा 50 से 75 से.मी. अथवा इससे भी कम होती है। ये अधिकतर उष्ण तथा उपोष्ण प्रदेश हैं जहाँ तापमान फलस्वरूप उगने का काल पर्याप्त लम्बा होता है। किसी स्रोत से यदि इन प्रदेशों को जल प्राप्त हो सके तो कृषि सम्भव हो सकती है। इन प्रदेशों में कुछ ऐसी नदियाँ हैं जिनमें पर्याप्त काल तक जल रहता है या पर्वतों से उतरने वाली ऐसी छोटी नदियाँ है जिनके द्वारा सिंचाई हो सकती है। यही कारण है कि इन सूखे प्रदेशों के अधिकतर सिंचित भाग नदियों के दोनों ओर हैं। उनका प्रादेशिक वितरण वैसा नहीं है जैसा कुँओं से सिंचित प्रदेशों में मिलता है।

4.4.2.1 अफ्रीकी देश: मिश्र (African Countries: Egypt)

अफ्रीकी देशों में सबसे अधिक सिंचित भूमि इस देश में है। वास्तविकता तो यह है कि यह सहारा के रेगिस्तान का भाग है। नील के डेल्टा पर केवल 29 से.मी. औसत वर्षा होती हैं जो दक्षिण की ओर निरन्तर कम होती जाती है अत: इस देश की कृषि–व्यवस्था सिंचाई पर ही निर्भर है तथा इसकी प्राचीन परम्परा है। सन् 2006 में कुल कृषि भूमि 35.3 लाख हेक्टर थी जो पूर्णत: सिंचित थी नील नदी में जुलाई से सितम्बर तक बाढ़ आती है उसके पश्चात् पानी की सतह गिरने लगती है तथा कम जल का समय मई तथा जून में होता है। इस जल का उपयोग दो ढंगों से सम्भव है, बाढ़ के पानी को खेतों में फैलाकर सींचना तथा बाँध बाँधकर नहरों द्वारा 'सिंचाई करना। पहली पद्धति प्राचीन है तथा विस्तृत भागों में इसी प्रकार की सिंचाई होती हैं। यह भी उल्लेख मिलता है कि नहरों द्वारा सिंचाई भी पिछली शताब्दी में प्रारम्भ हो गयी थी। बाढ़ द्वारा सिंचाई करने का बहुत सरल ढंग है जैसे ही नदी की सतह ऊँची उठने लगती है पानी को बाढ़ के मैदान में फैलने दिया जाता है। नदी के तट के समानांतर बाँध बना देने हैं जिससे यह फिर नदी में वापस न जा सके। साथ ही नदी से लम्बवत् बाँध बनाकर बाढ़ के मैदान को हिस्सों में बाँट दिया जाता है जिससे प्रत्येक भाग में पानी भर सके। बाढ़ के इस पानी में बहुत महीन मिट्टी भी बहकर आती है जो भूमि को उपजाऊ बनाती है। जब भूमि पर्याप्त जल सोख लेती है तो अतिरिक्त जल नदी में बहा दिया जाता है। इस समय नदी की सतह उतरते हुए जल के कारण नीची होती जाती है तथा अतिरिक्त जल सरलता से नदी में बह जाता है। इसके पश्चात खेतों की सीमाएँ बनाकर बुवाई होती है तथा कटाई तक, जो अप्रैल और मई में होती है, खेतों को पानी नहीं दिया जाता है। अगले चार महीने खेत पड़ती पड़े रहते हैं तथा मिट्टी सूखती रहती है।

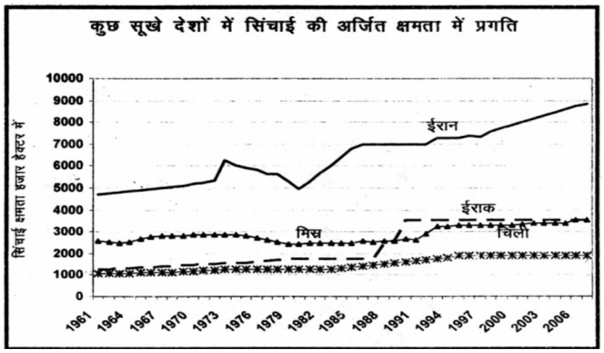

चित्र – 4.4 : विश्व के चुने सूखे देशों में सिंचाई क्षमता की प्रवृत्ति 1961 – 2007

लगभग सवा शताब्दी पूर्व मिश्र में, विशेषरूप से नील के डेल्टा पर कपास की कृषि प्रारम्भ हुई। इसकी सिंचाई की आवश्यकता को पूरा करने के लिए डेल्टा के ठीक ऊपर एक बैरेज बनाया गया और तीन नहरों द्वारा गर्मी की ऋतु में सिंचाई सम्भव हो सकी। यह सुविधा केवल डेल्टा के कृषि प्रदेशों को मिल सकी। इसके अलावा असवान बाँध बनाने का निर्णय लिया गया। इस बाँध का स्थल नील नदी के पहले प्रपात के ऊपर नूबिया में चुना गया जिससे लगभग 200 मील लंबा जलाशय बन सका। निर्माण कार्य सन् 1896 में प्रारम्भ किया गया और सन् 1902 में सिंचाई प्रारंभ हो गई। इस योजना से मध्य मिश्र की गन्ने और कपास की फसलों को जल मिलने लगा। इसके लिए असियुत पर एक अन्य बैरेज बनाया गया जिससे खेतों को पानी दिया जा सके। फिर भी असियुत के ऊपर खेती बाढ़ द्वारा सिंचाई पर ही निर्भर रही। इस कमी को पूरा करने के लिए असवान से 98 मील उत्तर में हसना पर एक अन्य बाँध बनाया गया। इसके द्वारा पश्चिमी किनारे की लगभग 40 हजार हेक्टर तथा पूर्वी किनारे की लगभग 32.2 हजार हेक्टर भूमि को जल मिल सका। यह वितरण नहरें बनाकर किया गया।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सूखी जलवायु बाढ़ का मैदान, डेल्टा तथा नील नदी इस देश की प्रमुख भौगोलिक विशेषताएँ हैं और सिंचाई ही इन परिस्थितियों में जौविका का अधिक साधन प्रदान करती है। सिंचाई के साधनों के विस्तार के साथ यहाँ का कृषि उत्पादन बढ़ा है। जहाँ वर्ष में केवल एक फसल होती थी, बारहमासी सिंचाई से दो वर्षो में पाँच फसलें होती हैं।

4.4.2.2 सूडान (Sudan)

सन् 2006 में सूडान में 1863 हजार हेक्टर (9.6%) भूमि सिंचित थी। मिश्र के बाद अफ्रीका में सूडान का दूसरा स्थान है। सूडान नील नदी की मध्य की घाटी का देश है तथा जलवायु की दृष्टि, से शुष्क तथा अर्ध शुष्क प्रदेश है। सफेद नील या नीली नील नदियों के बीच का द्ववा प्रदेश, जो जजौरा कहलाता है, सिंचाई के लिए महत्वपूर्ण है। सन् 1925 में नीली नील नदी पर सेलार बाँध से जजौरा मुख्य नहर निकाली गई जिससे इस प्रदेश मे सिंचाई होती थी। बाद में मानक्किल में जो नहर बढ़ाई गई उससे सन् 1961 तक अन्य विस्तृत भाग सिंचाई के अन्तर्गत आ गया। यह विकास सन् 1959 में सूडान के स्वतन्त्र होने के बाद हुआ लेकिन सन्धि के द्वारा मिश्र को सूडानी जल 80 साल के लिए ऋण स्वरूप दिया जाने लगा। सेलार के 132 मील ऊपर नीली नदी पर रोजियरस बाँध बनाया गया, इसके लिए विश्व बैंक से ऋण प्राप्त हुआ। इसके द्वारा केत्राना प्रदेश में सिंचाई होने लगी।

इन वृहद् योजनाओं के अतिरिक्त निजौ प्रयत्नों से भी समुचित भूमि सिंचाई के अन्तर्गत लाई गई है। नदी वेदिकाओं पर डीजल पम्प द्वारा सिंचाई का जल पहुँचाया जाने लगा है। उत्तरी पूर्वी सूडान के कसाला प्रांत में गाश तथा बराका नदियों का बाढ़ का जल उपयोग मे लाया जाने लगा है।

4.4.2.3 अन्य अफ्रीकी देश (Other African Countries)

अफ्रीका के अन्य देशों में सिंचाई का समुचित विकास नहीं हुआ तथा प्राकृतिक संसाधनों का समुचित विकास नही हुआ है। फिर भी दक्षिण अफ्रीका, मोरक्को, मैडागास्कर, अल्जीरिया, लीबिया, इथियोपिया, माली तता सोमालिया उल्लेखनीय हैं।

उत्तरी अफ्रीका के भूमध्यसागरीय प्रदेश में सिंचाई की प्राचीन परंपरा है तथा मोरक्को, अल्जीरिया, लीबिया तथा ट्यूनीशिया में कृषित भूमि का बहुत सीमित भाग सिंचाई के अन्तर्गत है। यहाँ जल अतिरेक तथा मिट्टी की लवणता की समस्या शीघ्र ही हो जाती है। जाड़े के बाद पर्वतों पर हिम पिघलने के बाद यह प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है। पश्चिमी अफ्रीका में अधिकतर सिंचाई का आधार नाइजर तथा सेंगल नदियाँ हैं, विशेषरूप से सहारा तथा सवाना के मध्य की अर्धशुष्क पेटी में। नाइजर नदी की योजना फ्रेंच आधिपत्य काल में सन् 1932 में आरम्भ की गई थी। इसमें सनसनडिंग पर बैरेज की योजना है। सन् 1962 तक केवल 60 हजार हेक्टर भूमि सिंचाई के अन्तर्गत लाई गई और केवल 5 हजार लोग यहाँ स्थायी रूप से बसे। सम्भवत: इस योजना के लोकप्रिय न होने के मुख्य कारण हैं कि यहां भूमि अधिक उर्वर नहीं है तथा टिड्डी दलों के आक्रमण होते रहे हैं तथापि इस योजना के परिणामस्वरूप चावल तथा कपास का उत्पादन बढ़ा है। सेंगल नदी पर सिंचाई के लिए टोल बैरेज बनाकर नहरें निकाली गई हैं। यह योजना सन् 1946 में आरंभ की गई थी किंतु समुचित व्यय के बाद भी केवल 5600 हेक्टर भूमि सिंचाई के अन्तर्गत लाई जा सकती है।

4.4.2.4 पश्चिमी एशिया के देश

दक्षिण पश्चिमी एशिया के देशों में भौगोलिक परिस्थितियाँ मिश्र से अधिक भिन्न नहीं हैं अत: जहाँ भी जल उपलब्ध हुआ है सिंचाई के विकास के प्रयत्न हुए हैं। यह तथ्य तालिका 4.3 से स्पष्ट है।

ईरान (Iran) – ईरान का कृषि प्रदेश तथा सिंचित प्रदेश का केन्द्रीकरण उत्तर में हुआ है। यहाँ एल्बुर्ज पर्वत के ढलानों तथा कैस्पियन सागर के तट पर सिंचाई के द्वारा अनाज, कपास तथा चावल पैदा किया जाता है। दक्षिणी ईरान में कुजेस्तान का मैदान (Plain of Khuzestan) कृषि तथा सिंचाई दोनों के लिए महत्वपूर्ण है। यह दजला–फरात नदियों के निचले मैदानों का भाग है। यहाँ कुछ काल पूर्व ग्रेट रेंज इरीगेशन प्रोजेक्ट पूरा किया गया है और सन् 1971 के बाद लगभग 525 हजार हेक्टर भूमि में सिंचाई होने लगी है। इनके अतिरिक्त देज नंदी पर मोहम्मद रेजाँ पहलवी बाँध; तेहरान के निकट कराज बाँध तथा साफीदरूद बाँ उल्लेखनीय हैं। पिछले वर्षो में सरकार ने कुएँ खोदने को भी प्रोत्साहित किया है और इसके लिए किसानों ने सहकारी संस्थाएं भी बनाई हैं। अब 87 लाख हेक्टर से अधिक भूमि पर सिंचाई होती है।

टर्की (Turkey) – टर्की के पठार से निकलने वाली नदियों पर कई बाँध बनाये गये हैं जो भूमध्यसागर तथा एजियन सागर में गिरती है। लेकिन सारे संसाधनों का उपयोग नहीं हो पा रहा है, क्योंकि किसान जल अतिरेक तथा मिट्टी में लवणता बढ़ने की समस्या से डरते हैं। ये समस्याएँ त्रुटिपूर्ण भूमि उपयोग और आवश्यकता से अधिक सिंचाई करने के कारण पैदा होती है। पिछले वर्षो में बनने वाले मोहान बाँध, सीरयार बाँध, गेडिज बाँध हैं। अधिकतम सिंचित प्रदेश दक्षिण के सेहान के मैदान में है जिसके कारण चावल, मक्का और कपास पैदा होने लगी है। एजियन सागर के तट पर भी सिंचाई का विकास किया जा रहा है। उत्तरों तटीय मैदान में भी सिंचाई की सहायता से चावल, कपास, चुकन्दर तथा अंगूर पैदा किया जाता है। पूर्वी टर्की में दजला की ऊपरी घाटी में माल्टाया प्रदेश फलों की खेती का प्रदेश है। यहाँ सिंचाई की सुविधा बढाई जा रही है। यहाँ केबान बाँध की योजना भी है। सन् 2006 में लगभग 52 लाख हेक्टर पर सिंचाई हुई।

ईराक (Iraq) – पश्चिमी एशियाई देशों की दृष्टि से ईराक भी उल्लेखनीय है। यहाँ अधिकतर कृषि तथा सिंचित प्रदेश दजला – फरात के मैदान में है। यहाँ सिंचाई की प्राचीन परम्परा है और अब भी बहुत से भागों में प्राचीन व्यवस्था चल रही है। बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दशकों में केवल हिंदिया बैरेज एक्ट सन् 1913 में तथा कुत बैरेज सन् 1939 में बनाये गये थे। सन् 1950 के दशक में बाढ़ की रोकथाम के लिए दजला–फरात पर बैरेज बनाये गये। सन् 1961 में इराकी सरकार ने आर्थिक विकास की योजना बनाई जिसमें सिंचाई के साधनों के विकास पर बल दिया गया। उत्तरी ईराक में डिब्बिस बाँध, इस्कीकालक योजना, गरराफ योजना तथा पातालतोड़ कुओं की योजना क्रियान्वित की गई। सन् 2006 में सिंचित भूमि 35.3 लाख हेक्टर (67.1 प्रतिशत) थी।

अफगानिस्तान (Afganistan) – यहाँ अधिकतर सिंचाई नदियों से होती है। सोते तथा भूमिगत जल अन्य साधन हैं। सिंचित प्रदेश उत्तरी पीडमाण्ड में केन्द्रित है जहाँ उत्तर की नदियाँ जल लाती हैं। दक्षिण के नखलिस्तानों, जैसे फराड़, गिवीस तथा कंधार में भी सिंचाई के द्वारा अनाज तथा सब्जी पैदा की जाती है। हेरात के निकट हारीएद नदी के दोनों किनारों के सिंचित प्रदेश में चावल तथा कपास होती है। पिछले वर्षो मे हेल्मान्द तथा अगानदाब नदी योजनाएँ क्रियान्वित की गईं। काबुल की घाटी में सिंचाई के लिए जलालाबाद नहर निकाली गई है। कृषित भूमि के 37 प्रतिशत पर सिंचाई होती है।

अन्य देश – इनके अलावा सऊदी अरेबिया, सीरिया, यमन, इज़राइल और लेबनान में भी सिंचाई का काफी विकास हुआ है।

4.4.2.5 मध्य एशियाई गणतंत्र

पूर्व सोवियत रूस से अलग हुए मध्य एशियाई गणतंत्रों की कृषि व्यवस्था में सिंचाई का विशिष्ट स्थान है। ये वे प्रदेश हैं जहाँ अक्षांशीय स्थिति के कारण तापमान पर्याप्त ऊँचा रहता है, किन्तु वर्षा की कमी के कारण विस्तृत भाग सूखे एवं खेती के लिए अनुपयुक्त हैं। इस प्रदेश में केवल ये मध्य एशियाई प्रदेश ही ऐसे हैं जहाँ उपोष्ण कटिबन्धीय फसलें, जैसे चाय, कपास चुकन्दर तथा मक्का आदि पैदा की जा सकती हैं। इसकी कृषि तभी संभव है जब सिंचाई द्वारा पर्याप्त जल की व्यवस्था की जाय। विभाजन के बाद इस क्षेत्र पर स्थापित गणराज्यों में तुर्कमेनिया, उजबेकिस्तान, ताजकिस्तान, किरीगजस्तान, जार्जिया, अजरबैजान और आर्मेनिया में ही अधिकांश सिंचित क्षेत्र आते हैं (तालिका 4.3)।

पिछली शताब्दी के अन्त में ये मध्य एशियाई भाग सोवियत सरकार के अन्तर्गत आ गये। सन् 1913 में कजाकिस्तान में कुल सिंचित भूमि 30 लाख हेक्टेर थी जो मुख्यतः आमू दरिया की निचली घाटी, जेरावशान तथा फरगाना की घाटी में वितरित थी। सोवियत सरकार ने प्रारंभ से यह नीति अपनाई कि मध्य एशियाई सिंचित प्रदेशों में कपास की कृषि का विस्तार किया जाये। आज भी सिंचित भूमि का एक बड़ा प्रतिशत इस फसल के अन्तर्गत है। सन् 1917 की क्रांति तथा सन् 1921 की बाढ़ के कारण सिंचाई के साधनों को बहुत हानि हुई और सिंचित भूमि बहुत कम हो गई। किन्तु सोवियत नीति और योजनाओं के कारण सिंचित भूमि का विस्तार पुनः हुआ तथा सन् 1955 में चार मध्य एशियाई रिपब्लिकों में 36.9 लाख हेक्टर सिंचित भूमि हो गई तथा कजाकिस्तान को मिलाकर यह सोवियत रूस की सिंचित भूमि का 69 प्रतिशत था।

मध्य एशियाई प्रदेशों में जल के साधनों की कमी नहीं है। मध्य एशियाई पर्वतीय प्रदेश हिमाच्छादित हैं जहाँ अधिकतर नदियों के उद्गम हैं तथा जरावशान की घाटी की अनेक नदियों को मिलाकर प्रतिवर्ष 1050 लाख एकड़ फीट जल आता है। साथ ही पर्याप्त भूमिगत जल भी इन नदियों को प्राप्त होता है। यह अवश्य है कि वितरण के साधनों की कमी के कारण जल की अस्थाई कमी हो सकती है। हिम उद्गम के कारण इन नदियों में 50 – 80 प्रतिशत जल वर्षा ऋतु में आता है तथा अतिरिक्त 10 – 30 प्रतिशत ग्रीष्म ऋतुओं में आता है। यह वह काल है जब सिंचाई की आवश्यकता होती है।

कृषि उत्पादन बढ़ाने के लक्ष्य को सामने रखकर मध्य एशिया में सिंचाई के साधनों का विस्तार छठीं (1956 – 69) तथा सातवीं (1959 – 65) पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत विशेषरूप से ध्यान में रखा गया था। छठीं योजना के अनुसार उजबेकिस्तान में मुख्यत: गोलोडनाया स्टेप्स (2.1 लाख हेक्टर), तुर्कमानिया में काराकुम नहर द्वारा सिंचाई, ताजिकिस्तान में वक्श (Vakhsh) की घाटी में (89 हजार हेक्टर) सिंचाई की योजना तथा खिरगीजियों में ओर्टो–टोकाइस्कोया जलाशय द्वारा नियोजित सिंचाई का विकास हुआ। ये सभी कार्यक्रम साँतवीं योजना तक चलते रहे।

सोवियत नियोजकों का प्रयत्न था कि सिंचाई कुशल ढंगों से की जाये जिससे नहरों में पानी कम सूखे। इसके लिए कई प्रकार की वस्तुओं से नहरों की तलहटी को पक्का करने के उपयोग किए गए। इन प्रयत्नों से आशा की गई कि सिंचाई की कुशलता 50 प्रतिशत से 82 प्रतिशत तक बढ़ सकती है। साथ ही सिंचाई की कुशलता बढ़ाने के लिए भूमिगत जल पम्प करने के प्रबन्ध किये जा रहे हैं।

सिंचाई के लिए जल के अतिरिक्त समस्या होती है सिंचाई योग्य खेतिहर भूमि की। मध्य एशिया में इस प्रकार की भूमि की कमी नहीं है, किन्तु भूमि अधिक उपजाऊ नहीं है, क्योंकि रेगिस्तानी भूमि होने के कारण अतिरिक्त खारापन एक गम्भीर समस्या है। सन् 1953 के सर्वेक्षण के अनुसार उजबेकिस्तान के सिंचित भूमि का 43 प्रतिशत, तजाकिस्तान का 23 प्रतिशत, खिरगीजस्तान में 11 प्रतिशत, तुर्कमान में 88 प्रतिशत तथा दक्षिणी कजाकिस्तान में 53 प्रतिशत खारी मिट्टी है। मिट्टी की धोने के ढंग निकाले गये हैं जिससे खारेपन को कम किया जा सके।

पूर्व सोवियत रूस में कॉकेशस की घाटियाँ अन्य प्रदेश हैं जो अपेक्षाकृत गर्म अक्षांशों में स्थित होने के कारण कृषि, के लिए महत्वपूर्ण है। यह आरमेनिया गणराज्य में आता है। यहाँ सिचाई की परम्परा बहुत पुरानी है। इस प्रदेश में सन् 2006 में सिंचित भूमि 27 लाख हेक्टर हो गई जो कुल बोए हुए प्रदेश की 80.5 प्रतिशत है। सेवेन झील तथा रजदान नदी संयुक्त प्रणाली में मुख्यत: सिंचाई होती है तथा सिंचित प्रदेश रजदान और कसाख नदी की घाटी हैं। दोनों के बीच जल–विभाजन इतना नीचा है कि दोनों घाटियों की संयुक्त योजना बनायी गई है।

4.4.2.6 संयुक्त राज्य अमेरिका (United States of America)

संयुक्त राज्य अमेरिका में राकी पर्वत श्रेणी जलभरी हवाओं के आड़े आती है। इसका महत्वपूर्ण प्रभाव यह है कि सम्पूर्ण पश्चिमी प्रदेश सूखा है तथा दक्षिणी पश्चिमी भाग रेगिस्तान है। केवल तट के कुछ भागों को छोड़कर इस सम्पूर्ण भाग में वार्षिक वर्षा औसत 50 से.मी. से कम होता है। जल के अतिरिक्त इस प्रदेश में तापमान तथा मिट्टी कृषि के लिए उपयुक्त हैं। यही कारण है

कि प्रदेश अप्रवासियों को बहुत काल तक आकर्षित नहीं कर सका। देश की सरकार इस प्रदेश को उत्पादन के उपयुक्त बनाना चाहती थी और कई अधिनियमों के द्वारा यहाँ लोगों को बसने के लिए सुविधायें दी गई। सिंचाई के साधनों का विकास सबसे महत्वपूर्ण था। सन् 1869 मे यूनियन पैसिफिक या सेन्ट्रल पैसिफिक रेलवे लाइनें बनने के बाद प्रवासी पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका में बसने लगे तथा सन् 1889 तक 14.6 लाख हेक्टर भूमि पर सिंचाई होने लगी। इसमें सबसे महत्वपूर्ण सन् 1902 का सुधार कानून था। इसके द्वारा सरकार को सिंचाई के साधन बनाने की सुविधा मिली। उस प्रदेश में भूमि के बेचने से जो धन प्राप्त होता था वह सिंचाई के साधनो के लिये उपयोग में आता था।

इस एक्ट के बनने के बाद भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के द्वारा सिंचाई के लिए उपयुक्त प्रदेशों तथा स्थलों का चुनाव किया गया। इनमें कुछ लघु योजनाएँ थीं जो निजौ प्रयत्नों से क्रियान्वित हुई तथा बड़ी योजनाओं को सरकार ने हाथ में ले लिया। इन योजनाओं में कई प्रकार की कठिनाइयाँ थीं। सिंचाई की योजनाएँ क्रियान्वित होने के बाद भी समस्या का समाधान नहीं होता था। रेगिस्तानी मिट्टी रंध्रमय थी और उसमें पानी जल्द ही सूख जाता था। कुछ ही वर्षो में भूमिगत जल के अतिरेक की समस्या पैदा होने लगी जिससे फसलों को नुकसान होने लगा। फलस्वरूप ऐसी ही फसलों की ओर ध्यान दिया गया जो पूर्वी भागों मे कम हो या न हो सके तथा उनके लिए पर्याप्त बाजार हो। यही कारण है कि पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका में कपास, फल, चावल इत्यादि की कृषि का विस्तार हुआ। साथ ही अनाजों की ऐसी नस्लें भी यहाँ लाई गई जो सूखी जलवायु के लिए उपयुक्त हों; जैसे दक्षिण यूरोप तथा रूस से डरम गेहूँ (Durum), स्वीडन का ओट्स, साइबेरिया की चेरी तथा सेव जो उत्तरपश्चिम की ठण्डी जलवायु में हो सके; अल्जीरिया तथा तुर्कीस्तान की अलफाफा जो ठण्डी जलवायु तथा अलकली मिट्टी में हो सके। कैलिफोर्निया के सिंचित प्रदेशों में मिश्र की क्लोवर और खजूर तथा सहारा का खजूर, स्मैर्ना (Smyrna) की अंजौर लायी गई।

संयुक्त राज्य अमेरिका में सन् 2006 में कुल सिंचित भूमि 227 लाख हेक्टर थी; जिसका अधिकांश भाग पश्चिमी राज्यों में विशेषत: कैलीफोर्निया, टैक्सास, कोलोरेडो, इडाहो तथा नेब्रास्का राज्यों में था। सिंचाई के जल का 80 प्रतिशत सतह का जल है, 10 प्रतिशत भूमिगत जल तथा 10 प्रतिशत दोनों मिलाजुला है। इस प्रकार भूमिगत जल का पर्याप्त उपयोग हुआ है। इसके महत्व का कारण यह है कि भूमिगत जल का उपयोग वहीं संभव होता हैं जहाँ महँगी फसलें हों, जैसे फल। किन्तु ऐसे प्रदेशों में भूमिगत जल अधिक निकाले जाने के कारण जल की सतह गिरती जाती है, कुएँ गहरे होते है और कृषि महँगी होती जाती है।

पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका की सबसे महत्वपूर्ण भौगोलिक सुविधा नियतवाही नदियों की है, क्योंकि ये नदियाँ हिमवृत पर्वतों से निकलती हैं। पर्वतीय तथा पठारी प्रदेश से गुजरने के कारण इनमें ऐसे उपयुक्त स्थल भी हैं जहाँ बाँध बनाकर जलाशय बन सकें। यही कारण है कि इस प्रदेश की लगभग सभी प्रमुख नदियों का उपयोग बहुमुखी योजनाओं के द्वारा किया गया है जिनमें सिंचाई तथा शक्ति उत्पादन प्रमुख है। उल्लेखनीय योजनाएँ हैं – कोलोरेडो की ग्रेन्ड वैली तथा अनकम्पर्ग, बोल्डर कैनेयान, इम्पीरियल वैली, साल्ट वैली, यूमा, रियोग्रैंड नदी की योजना, मिसिसिपी की उत्तरी प्लेट, मिल्क नदी, सन नदी तथा साल्ट लेक बेसिन की योजनाएँ और कैलीफोर्निया की मध्य की घाटी की योजनाएँ।

4.4.2.7 लैटिन अमेरिका में सिंचाई –चिली

लैटिन अमेरिका में मेक्सिको (63 लाख हेक्टर), ब्राजील (29. 2), चिली (19), अर्जेन्टीना (15.5) और पेरू (12) प्रत्येक में 10 लाख हेक्टर से अधिक भूभाग पर सिचाई होती है परन्तु इनमें चिली ही एक ऐसा देश है जहाँ शत प्रतिशत कृषित भूमि सिंचित है। दक्षिणी अमेरिका का पश्चिमी तटवर्ती देश चिली के उत्तरी भाग पर अटाकामा मरूस्थल का विस्तार है। मध्य चिली भूमध्यसागरीय जलवायु वाला क्षेत्र है। इसी भाग पर देश की अधिकांश जनसंख्या रहती है। इसी भाग से चिली की अधिकांश फसलें पैदा की जाती हैं। वर्षा की कमी के कारण यहाँ सिंचाई के विकास पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है। सिंचाई के विस्तार के लिए सन् 1975 में राष्ट्रीय सिंचाई आयोग का गठन किया गया था; किन्तु देश के जल के प्रबन्धन के लिए सन् 1981 में जल संसाधन प्रबन्धन अधिनियम पारित किया गया जिसके माध्यम से जल को व्यापार की वस्तु बन गई। चिली में सन् 1961 में कुल कृषित भूमि का केवल 28 प्रतिशत सिंचित था जो सन् 1990 में 52.5 प्रतिशत हो गया। वर्तमान में सकल सिंचित भूमि कृषित भूमि की 105.6 प्रतिशत हो गई है। मध्य चिली में प्रवाहित होने वाली बेकर, रपेल, बीओबीओ, मउले तथा मैपो नदियों पर बांध बनाकर बड़े पैमाने पर सिंचाई का विकास किया गया है। यहाँ बनाए गए जलाशयों की कुल क्षमता 4.7 अरब घन मीटर जल की है। इस देश की अधिकांश सिंचित भूमि कोकिम्बो, ओहिगिंस तथा मउले प्रदेशों में स्थित हैं। अंगूर और पपीता यहां की मुख्य फसलें हैं।

4.4.3 संसार के मौसमी वर्षा वाले सिंचित प्रदेश: मानसून एशिया

पश्चिम में पाकिस्तान से पूर्व में कोरिया तथा जापान तक का दक्षिणी पूर्वी एशिया इस वर्ग में सम्मिलित है। यहाँ की जलवायु इस प्रकार की है कि जल प्राप्त हो सके तो लगभग साल भर कृषि संभव है किन्तु मानसून वर्षा केवल कुछ माहों में केन्द्रित है, कुछ उपयुक्त प्रदेशों में जाड़े में भी वर्षा हो जाती है। मानसूनी वर्षा विश्वसनीय भी नहीं है। अतिवृष्टि या सूखे से बड़े प्रदेश में फसलें नष्ट होती रहती हैं। जनसंख्या की अधिकता के कारण दुफसली क्षेत्र बढ़ाना भी आवश्यक होता है अत: सम्पूर्ण मानसून एशिया में सिंचित कृषि का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। यहाँ की नियतवाही नदियाँ भी उसमें सहायक है। भारत, चीन तथा पाकिस्तान में बड़ी नदियों पर बोध बनाकर सेकड़ों मील लम्बी नहरें निकाली गई हैं।

4.4.3.1 भारत (India)

विश्व में सर्वाधिक सिंचित क्षेत्र (सन् 2006 में 573 लाख हेक्टर) भारत में है। इस देश में सिंचाई का विकास ऐतिहासिक समय से किया जा रहा है, परन्तु तीव्र वृद्धि बीसवीं शताब्दी में, विशेषकर स्वतंत्रता के बाद हुई है। भारत की अति तीव्र बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्यान्न पूर्ति के लिए उत्पादन बढ़ाना प्रथम आवश्यकता है। कृषियोग्य भूमि तो बहुत सीमित है अत: अतिरिक्त उत्पादन कृषित भूमि की उत्पादकता बढ़ाकर ही किया जा सकता है। कृषि–उत्पादकता बढ़ाने में जल की कमी प्रमुख समस्या है। 50 से.मी. से कम वर्षा वाले भागों में कृषि–उत्पादन बहुत कम और अनिश्चित होता है। भारत में वर्षा की ऋतुगत तथा प्रादेशिक वितरण की विशेषताओं के कारण सिंचाई अनिवार्य हो जाती है। इन विशेषताओं में वर्षा का मुख्यत: एक ऋतु में केन्द्रित होना तथा उसकी सामयिक तथा स्थानिक अत्यधिक परिवर्तनशीलता मुख्य है। वर्षा ऋतु में ही

देश की औसत की 80 प्रतिशत वर्षा हो जाती है अत: शेष ऋतु में जल की कमी होती है। शुष्क, अर्धशुष्क तथा अल्पार्द्र वर्षा के क्षेत्रों में सिंचाई की आवश्यकता अधिक रहती है। कम वर्षा के क्षेत्रों में वर्षा की परिवर्तनशीलता भी अधिक है। साथ ही मानसून का देर से आना, शीघ्र समाप्त हो जाना, मानसून काल में लम्बी शुष्क अवधि का होना भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। कुछ फसलें, जैसे गन्ने को तो निरन्तर जल की आवश्यकता होती है अतः भूमि – क्षमता के उपयोग तथा खाद्यान्न के उत्पादन को बढ़ाने के लिए सिंचाई अपरिहार्य हो जाती है। नवीन कृषि की विधियों के उपयोग के साथ यह आवश्यकता बढ़ जाती है, जैसे कि रासायनिक उर्वरकों के लिए निश्चित समय पर सम्पूर्ति चाहिए।

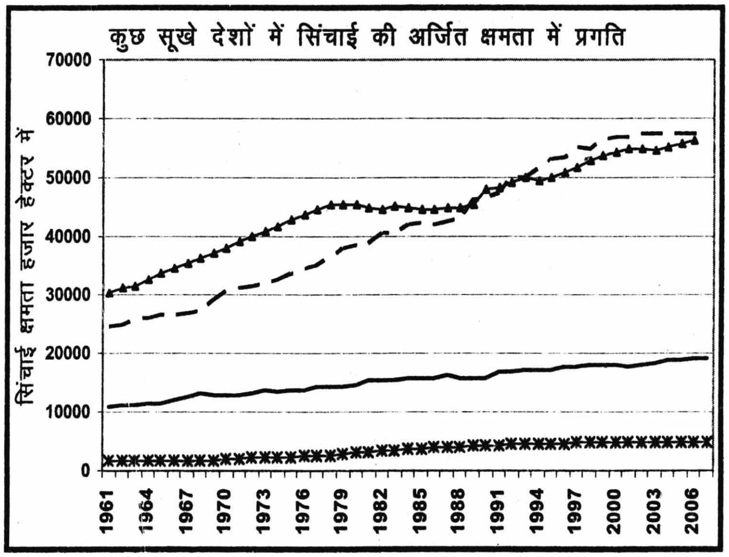

चित्र 4.5 : चुने हुए मानसूनी देशों में सिंचाई की क्षमता में वृद्धि1961 से 2007

आवश्यकता के साथ ही उसकी पूर्ति के साधन भी हैं। धरातलीय जल के स्रोत में नदियाँ प्रमुख हैं। भारत की नदियों की बहाव क्षमता 1673 अरब टन घन मीटर से 1881 अरब घन मीटर तक आँकी गई है। इससे 107 लाख हेक्टर भूमि सींची जा सकती है। साथ ही भूमिगत जल की मात्रा 870 अरब घन मीटर अनुमानित की गई है।

सिंचाई का विकास (Development of Irrigation) – भारत में सिंचाई का प्रचलन काफी प्राचीन है। इसका उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों तक में मिलता है। इनके अलावा कावेरी नदी पर दूसरी शताब्दी में बना ग्रैंड एनीकट प्रसिद्ध है। मुगल शासन काल में भी विशेषत: 14वीं शताब्दी तक सिंचाई पर ध्यान दिया गया। पश्चिमी तथा पूर्वी यमुना नहरें इसी समय की उदाहरण है। ब्रिटिश शासन काल में वर्तमान समय की कई महत्वपूर्ण सिंचाई योजनाएँ पूरी की गईं। 19वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षो के भीषण अकाल की समस्याओं का हल ढूँढने के लिए सन् 1901 में भारतीय सिंचाई आयोग का गठन किया गया। पुन: सन् 1927 में केन्द्रीय सिंचाई एवं विद्युत मंडल की स्थापना हुई। परन्तु बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक से स्वतंत्रता प्राप्ति तक सिंचाई में विशेष प्रगति नहीं हुई। स्वतन्त्रता के समय विभाजन के परिणामस्वरूप अधिकांश सिंचित भूमि (लगभग 80 लाख हेक्टर) पाकिस्तान को मिली तथा भारत में बहुत कम (केवल 20 लाख हेक्टर) शेष रही। फलत: योजना –कालों में सिंचाई पर विशेष ध्यान दिया गया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में वर्ष 1950 – 51 में सिंचित क्षेत्रफल 226 लाख हेक्टर से बढ़ कर सन् 1999 – 2000 में 847 लाख हेक्टर, किन्तु सन् 2000 – 01 में 751 लाख हेक्टर तथा सन् 2003 – 04 में 768 लाख हेक्टर हो गया। यह कुल कृषित भूमि का 40.3 प्रतिशत है।
सिंचित क्षेत्र का प्रादेशिक वितरण – सिंचित क्षेत्र के वितरण में बहुत अधिक प्रादेशिक विभिन्नता है। अधिक गहन सिंचित क्षेत्र दो विस्तृत पट्टी में फैले हैं। प्रथम पेटी पंजाब से लेकर पश्चिमी बिहार तक फैली है। यह पुराना सिंचित क्षेत्र है और स्वतंत्रता के बाद सिंचाई की सुविधाओं में काफी विस्तार किया गया है। इस पेटी में सिंचाई का मुख्य कारण समतल मैदान, उपजाऊ गहरी मिट्टी सदावाहिनी नदियों से प्रचुर जल की सुविधा तथा अधोभौमिक जल का विशाल भंडार के साथ सघन जनसंख्या तथा कम वर्षा हैं। दूसरी सघन सिंचित पेटी का विस्तार उड़ीसा में महानदी के डेल्टा से लेकर तमिलनाडु में कावेरी डेल्टा तक पूर्वी तट के सहारे है। जलोढ़ तटीय मैदान तथा सिंचाई के लिए उपलब्ध पर्याप्त सतही जल के कारण यहाँ सिंचाई का विकास काफी पहले कर लिया गया था। इनके अलावा काश्मीर घाटी, ब्रहमपुत्र घाटी, पश्चिम बंगाल में बीर भूमि जिला, दक्षिणी छत्तीसगढ़ बेसिन, मध्य प्रदेश में चम्बल बेसिन और बुन्देलखंड मुख्य एकाकी सघन सिंचित क्षेत्र हैं।
राज्यों में केवल आठ राज्य ऐसे हैं जहां शुद्ध सिंचित भूमि का शुद्ध कृषित भूमि से अनुपात 40 प्रतिशत से अधिक है। इनमें पंजाब (96.6 प्रतिशत) प्रथम स्थान पर है और उसका पड़ोसी राज्य हरियाणा (83.6 प्रतिशत) दूसरे स्थान पर है। साथ ही उत्तराखण्ड (43.6 प्रतिशत) उत्तरप्रदेश (69.5 प्रतिशत), बिहार (57.9 प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (51.0 प्रतिशत) और जम्मू–कश्मीर (40.5 प्रतिशत) एक सिलसिलेवार पेटी में हैं। इस पेटी से बाहर तमिलनाडु (46.6 प्रतिशत) है।
इसके विपरीत उन भागों में सिंचित क्षेत्र कम और बहुत कम है जहाँ या तो अधिक वर्षा के कारण सिंचाई की आवश्यकता कम है, जैसे पूर्वी राज्य तथा केरल अथवा सिंचाई के विस्तार में बाधाएँ– सीमित सतही जल प्रवाह, बहुत कम भंडार अथवा लवणीय अधोभौमिक जल, पहाड़ी तथा ऊबड़खाबड़ धरातल और अनुपजाऊ मिट्टियां हैं। ऐसे भागों में देश के उत्तरी एवं उत्तरपूर्वी पहाड़ी और पर्वतीय क्षेत्र, पूर्वी मध्यप्रदेश, पश्चिमी घाट का वृष्टिछाया प्रदेश, पूर्वी मध्यप्रदेश, दक्षिणी छत्तीसगढ़, उत्तरी उड़ीसा, छोटा नागपुर पठार मुख्य हैं। उत्तरी भारत में समतल मैदान, गहरी एल्यूवियम चट्टानों के कारण कूप और नलकूप से सिंचाई का विस्तार किया गया है। साथ ही हिमालय से निकलने वाली सदावाहिनी नदियों से नहरों का जाल बिछाकर सिंचाई की जाती है। इनके विपरीत दक्षिण भारत में धरातलीय विषमता के कारण तालाब, जलाशय तथा कुछ कुओं द्वारा सिंचाई हो पाती है।

4.4.3.2 चीन (China)

सिंचित क्षेत्र में चीन संसार में दूसरे स्थान पर आ गया है। सन् 1949 में सिंचित भूमि 400 लाख हेक्टर अथवा कृषित भूमि का 16 प्रतिशत थी जो सन् 2006 में 563 लाख हेक्टर (37.4 प्रतिशत) हो गई है। स्थानीय रूप में सिंचाई के संसाधनों का उपयोग छोटे तालाब, पोखर, पुलिया तथा नहरें बनाकर किया गया है। यह प्रयत्न था कि चीन की शत–प्रतिशत कृषित भूमि सिंचाई के अन्तर्गत आ जाये। इनके अतिरिक्त चीन द्वारा वृहद् नदी योजनाएँ भी हाथ में ली गईं। इसमें हांगहों नदी की बहुमुखी योजना विशेष उल्लेखनीय है। पूरा होने के बाद इस तथा सहायक नदियों

पर 45 बांध तथा 26 जलाशय होंगे। सेनभीन पर एक बड़ा बाँध 2600 फीट लम्बा तथा 500 फीट ऊँचा है। ऊपरी घाटी में लैनचाओं के निकट एक दूसरा बाँध है।

दुआई नदी की योजना भी उल्लेखनीय है जो उत्तरी चीन की नदी है। इसमें सिंचाई के अतिरिक्त बाढ़ रोकने का भी लक्ष्य था। लेकिन बनने के बाद भी इस घाटी में बाढ़ आती रही है। इस योजना से लगभग 32.4 लाख हेक्टर भूमि पर सिंचाई होने लगी है। इन बड़ी योजनाओं में कई बार तुरंत लाभ नहीं होता किन्तु बड़ी संख्या में लोगों को रोजगार मिलता है।

दक्षिणी चीन की लगभग आधी कृषित भूमि सिंचाई के अन्तर्गत है। याँग्ट्सी तथा चेंगट्र के मैदान में, जो देश के बहुत उपजाऊ प्रदेश हैं, नहरों का जाल सा मिलता है। इसके अतिरिक्त यहाँ तालाबों और जलाशयों से भी सिंचाई होती है; जबकि उत्तरी चीन में सिंचाई का प्रमुख साधन कुएँ हैं।

पश्चिम के शुष्क भागों में पिछले दशकों में सिंचाई का विकास हुआ है। सिक्यांग के नखलिस्तानों, जैसे काशघर, यारकंद, उरूमची तथा तुरफान में सिंचाई के द्वारा गेहूँ कपास तथा फूल आदि पैदा होने लगे हैं। इन प्रयत्नों के कारण ही जुंगारियन के बेसिन तथा मन्नास के बेसिन में कृषि का विकास हुआ है।

4.4.3.3 पाकिस्तान (Pakistan)

पाकिस्तान में सिंचाई की प्राचीन परम्परा है। इस देश की वर्षा भी मानसूनी है, किन्तु औसत वर्षा इतनी कम है कि यह अर्धशुष्क देश है। जिन वर्षो में यहाँ पर्याप्त वर्षा नहीं होती, फसलें खराब हो जाती हैं अत: उत्पादन की विश्वसनीयता के लिए सिंचाई के साधन आवश्यक हैं। सिंचाई तन्त्र के विकास की दृष्टि से भारत के बाद पाकिस्तान का स्थान है। नहरों से सिंचाई का वर्तमान प्रतिरूप सन् 1859 में आरम्भ हुआ। सन् 1932 में सक्खर पर (सिंध प्रान्त में) लॉयड बैरेज बनाया गया। यहाँ से सात मुख्य नहरें निकाली गई हैं, प्रशाखाओं सहित इनकी लम्बाई 58,000 कि. मी. है। इसके बनने से ऐसे 10.4 हजार वर्ग किमी. प्रदेश में सिंचाई होने लगी जो पहले अकृषित पड़ा था। स्वतंत्रता के पश्चात कोठरी पर गुलाम मुहम्मद अथवा लोअर सिन्ध बैरेज सन् 1958 में तथा गुड्डू बैरेज सन् 1962 में बनाया गया जिससे 7 हजार वर्ग किमी. एवं 9.1 हजार वर्ग कि मी. भूमि में सिचाई होने लगी। उत्तरी पश्चिमी पंजाब में 8 हजार वर्ग किमी. अर्धशुष्क भूमि पर सिंचाई होने लगी है। दो अन्य बाँध मंगला तथा तलबेला पर बनाए गए हैं।

पंजाब का ट्रिपल कैनाल प्रोजेक्ट (Triple Canal Project) विशेष उल्लेखनीय है जो सन् 1917 में बना। इस योजना के बनने के उपरान्त ऊपरी झेलम का जल चिनाव नदी में डाला जाता है तथा ऊपरी चिनाव का जल 320 कि. मी. दक्षिण में रावी के ऊपर से ले जाया जाता है। इस योजना से लगभग 60.7 हजार वर्ग कि. मी. भूमि पर सिंचाई होती है। सिन्धु नदी तथा झेलम नदी के बीच के दोआब पर नहर द्वारा सिंचाई सुविधा नहीं थी। सन् 1953 में थाल योजना के पूरा होने पर थार के रेगिस्तान की 8.1 हजार वर्ग किमी. भूमि पर सिंचाई की सुविधा मिल सकी। देश में सन् 2006 में 191 लाख हेक्टर (कृषित भूमि का 86.8 प्रतिशत) भूमि पर सिंचाई हुई।

4.4.3.4 दक्षिणी–पूर्वी एशियाई देश (South Eastern Asian Countries)

म्यांमार (20.2%), थाईलैण्ड (31.2%), और वियतनाम में सिंचाई का कुछ विकास हुआ है। यहाँ चावल प्रमुख फसल है जो मैदानों तथा पर्वतों पर सीढ़ीनुमा खेत बना कर पैदा किया जाता है। सिंचाई के साधनों के कारण इनके उत्पादन में समुचित वृद्धि हुई है। ताइवान में सिंचाई का विकसित रूप देखा जा सकता है। यहाँ सिंचाई के दो रूप हैं, तांदोउआन (Tdoyuan) जिसके द्वारा उत्तरी पश्चिमी ताइवान में पोखरों, नहरों आदि से सिंचाई होती है। दूसरे चियानान (Chianan) – पश्चिमी किनारे पर नहरों द्वारा सिंचाई होती है।

फिलिपाइन्स में सन् 2002 में लगभग 15.5 लाख हेक्टर भूमि सिंचाई के अन्तर्गत थी जो अधिकतर सरकारी प्रयत्न का परिणाम था। अधिकतर सिंचित भूमि लुजान के मैदान में है।

उत्तरी वियतनाम में कृषि तथा सिंचाई के लिए रेड नदी का डेल्टा या टोन्क्रिन का मैदान महत्वपूर्ण है, जहाँ की कृषि प्रणाली दक्षिणी चीन के समान है। यहाँ नहरों का जटिल जाल है तथा बीच –बीच में पानी पंप करके ऊपरी भागों में भी पहुँचाया जाता है। फ्रेंच सरकार ने भी यहाँ अपने आधिपत्य काल में बाँध तथा नहरें बनाकर सिंचाई साधनों का विकास किया गया।

दक्षिणी वियतनाम में मीकांग नदी का डेल्टा कृषि तथा सिंचाई दोनों के लिए महत्वपूर्ण है किन्तु यह प्रदेश टोन्क्रिन के मैदान के समान न सघन आबादी का है और न उतनी गहन कृषि यहाँ होती है। वियतनाम में कुल सिंचित भूमि सन् 2002 में 30 लाख हेक्टर (लगभग 44.8%) थी।

कम्बोडिया में भी वियतनाम के समान ही अनियंत्रित सिंचाई होती है। सिंचाई का जल चावल के खेतों में भरा जाता है। यहाँ के किसानों ने साधनों के विकास के भी अधिक प्रयत्न नहीं किये हैं।

इन सभी देशों में सिंचाई के साधनों के विकास के समुचित संसाधन हैं जिनके उपयोग से कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। मीकांग नदी क्योंकि कई देशों से होती हुई जाती है इसलिए आवश्यक है कि इस नदी के संसाधन के उपयोग में संयुक्त प्रयत्न किया जाये। इस बेसिन का सर्वेक्षण संयुक्त राष्ट्र इकनॉमिक कमीशन द्वारा किया गया था। मीकांग नदी की बीस वर्षीय योजना है, किन्तु इसके लिए धन तथा कुशल इंजौनियरों को जुटाना होगा। उपयुक्त कमीशन ने इस बेसिन में कुछ फार्म भी विकसित किये हैं. जिनसे स्थानीय किसान कृषि–विकास की पद्धतियों को समझ सकें।

सिंचाई के विकास की दृष्टि से थाइलैण्ड का उल्लेख आवश्यक है। यहाँ मीनाम नदी तथा उसकी सहायक नदियों से सिंचाई के द्वारा चावल की खेती होती है यहाँ भी अधिकतर नदी के जल को खेतों में अनियंत्रित ढंग से फैलाने की पद्धति अपनायी गयी है। कुओं से पानी निकालने की अभी भी यहाँ परम्परागत पद्धतियों हैं। पिछले दशकों में यहाँ प्रति हेक्टर उपज गिरी जबकि कृषि के अन्तर्गत भूमि बढ़ी। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए विश्व बैंक (World Bank) से ऋण लिया गया। इसके अन्तर्गत कई बैरेज बनाये जायेगें तथा पूरा होने के बाद लगभग 13 लाख एकड़ डेल्टाई भूमि को सिंचाई का जल मिलने लगेगा। दूसरे, बाढ़ की रोकथाम तथा जलविद्युत उत्पादन भी होगा। उत्तरी थाईलैण्ड में तालाबों द्वारा सिंचाई का विकास किया जा रहा है।

बोध प्रश्न– 3

1. कृषि के लिए सिंचाई का क्या महत्व है?

   ....

....

2. विश्व के सूखे प्रदेशों के सिंचित क्षेत्रों के नाम लिखिए।

....

....

3. सिंचित क्षेत्रफल में प्रथम तीन देशों का क्रमश: नाम लिखिए।

....

....

4. कृषित भूमि में सिंचित भूमि के सर्वाधिक हिस्सा वाले तीन देश कौन से हैं?

....

....

5. मध्य एशियाई गणतन्त्रों में सिंचाई का इतना अधिक महत्व क्यों है?

....

....

6. भारत की गहन सिंचाई की पेटियाँ कौन सी है?

....

....

4.5 सारांश (Summary)

कृषि एक ऐसी आर्थिक क्रिया है जो भौतिक पर्यावरण एवं मानवीय संसाधनों दोनों पर निर्भर होती है। भौतिक वातावरण में उच्चावच, मिट्टी अपवाह तथा जलवायु सम्मलित है। भूमि उपयोग और कृषि पर भूभाग के गुणों का अमिट प्रभाव पड़ता है। इस दृष्टि से भूभाग के तीन गुण –ऊँचाई, उच्चावच तथा अपवाह – विशेष महत्व के हैं। इनका अकेले एवं संयुक्त प्रभाव कृषि के स्वरूप पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हो सकता हैं। उच्चावच और ढाल कृषि–क्रियाओं और आवागमन को सीधे प्रभावित करते हैं। साथ ही मिट्टी के गुण और जलवायु में परिवर्तन के माध्यम से परोक्षरूप से भी कृषिय भूमि उपयोग को प्रभावित करते हैं। तीव्र ढाल पर पशु चराना भी कठिन होता है। इसी तरह अपवाह द्वारा जल की मात्रा निर्धारित होती है।

प्राकृतिक वनस्पति की भांति फसलों को भी गर्मी, जल और प्रकाश की आवश्यकता अंकुरण, विकास, पुष्पण एवं फल लगने के लिए होती है। परन्तु न तो सभी फसलों के लिए इन तत्वों की समान आवश्यकता होती है और न ही विश्व में इनकी उपलब्धि भी समान है। फलस्वरूप फसलों के वितरण, कृषि काल, उत्पादकता तथा उत्पादन में प्रादेशिक अन्तर होता है। कृषि पर जलवायु का प्रभाव इसी बात से देखा जा सकता है कि अनेक ऐसी फसलें हैं जिनका उपभोग तो मध्य अक्षांशीय या शीतोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में होता है, परन्तु उनका उत्पादन उष्ण कटिबन्ध में किया जाता होता है। इसके विपरीत ऐसी भी फसलें हैं जिनका उत्पादन केवल मध्य अक्षांशों में लाभप्रद होता हैं – जैसे गेहूँ राई, मक्का, चुकन्दर, तम्बाकू आदि।

सिंचाई का उपयोग दो दृष्टिकोण से किया जाता है। एक, कृषि को सुरक्षा प्रदान करने के लिए तथा दूसरे, कृषिय भूमि उपयोग को बढ़ावा देने के लिए। सिंचाई के माध्यम से मिट्टी की नमी की

कमी, उचित समय पर पानी देना तथा कृषि को स्थिर बनाया जाता है। साथ ही शुष्क तथा अर्द्धशुष्क भागों में खेती शुरू करने, कृषि का गहनीकरण करने, कृषिय उत्पादकता बढ़ाने तथा अन्य निवेशों के उपयोग को सम्भव बनाने के लिए भी सिंचाई स्वयं एक मूलभूत निवेश है। इन्ही कारणों से सिंचाई का विकास प्रमुखतः संसार के सूखे भागों और मौसमी वर्षा वाले प्रदेश में हुई है। प्रथम वर्ग में प्रमुख हैं: (अ) मध्य तथा मध्यपूर्व एशियाई प्रदेश, (ब) पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उत्तरी मैक्सिको, (स) दक्षिणी महाद्वीपों के सिंचित प्रदेश: अर्जेन्टाइना, उत्तरी तथा पश्चिमी अफ्रीका तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया। द्वितीय वर्ग के क्षेत्रों में प्रमुख हैं; दक्षिणपूर्वी तथा पूर्वी एशियाई देश – भारत, पाकिस्तान, बंगलादेश, म्यांमार, थाईलैण्ड, मलेशिया, वियतनाम, चीन, जापान, कोरिया आदि।

4.6 शब्दावली (Glossary)

- **उच्चावच –** किसी प्रदेश के उच्चतम और निम्नतम भागों की ऊँचाई के अन्तर को उच्चावच कहते हैं।
- **तापीय दिग्बिन्दु –** प्रत्येक फसल के विकास की प्रत्येक अवस्था के लिए न्यूनतम, अनुकूलतम तथा उच्चतम तापमान की सीमाएँ होती हैं। इन्हे तापीय दिग्बिन्दु कहते हैं।
- **उत्पादन काल –** बसन्त के अंतिम घातक तुषार और हेमन्त के प्रथम घातक तुषार के बीच की 'तुषाररहित काल' अवधि को उगने का काल अथवा उत्पादन काल कहते हैं।
- **उत्क्षेपण –** लम्बी अवधि तक गहन तुषार होने पर कभी –कभी मिट्टी के कणों से जल निकलकर हिमकण के रूप में मिट्टी की सतह से लम्बव्त स्तम्भ के रूप में एकत्रित हो जाते हैं। इस प्रक्रिया से उत्पन्न शक्ति से पौधे ऊपर की ओर उठ जाते हैं, जिसे उत्क्षेपण कहते हैं।
- **निर्जलीकरण –** लम्बी अवधि तक गहन तुषार होने की स्थिति में जब मिट्टी का– जल हिम के रूप में हो और पौधे को उतनी मात्रा में जल न मिलता जितना कि वाष्णोत्सर्जन हो रहा हो तो पौधे को पानी की कमी हो जाती है जिसे निर्जलीकरण कहा जाता है।
- **शारीरिक सूखा** – द्रुतशीतन के कारण फसलें मिट्टी से उतना पानी नहीं ग्रहण कर पाती जितना कि वाष्णोत्सर्जन होता है। इस प्रक्रिया को शारीरिक सूखा कहते है।
- **तापमान प्रतिलोमन –** अगर तापमान उंचाई के साथ घटने के स्थान पर बढ़ता है तो इसे तापमान प्रतिलोमन कहते हैं।
- **तापीय संश्लेषण इकाई –** डिग्री डे और दिन की लम्बाई के गुणांक को तापीय संश्लेषण इकाई कहते हैं।
- **डिग्री डे –** किसी फसल के लिए एक डिग्री डे वह है जब औसत दैनिक तापमान न्यूनतम विकास के लिए आवश्यक तापमान से 1 डिग्री अधिक हो।
- **संभावित वाष्पीकरण–वाष्पोत्सर्जन –** यदि जल की पूर्ति बनी रहे तो पौधों द्वारा वाष्पोत्सर्जन तथा मिट्टी द्वारा वाष्पित जल की मात्रा को सम्भावित वाष्पीकरण व वाष्पोत्सर्जन (P.E.T.) कहते हैं।

4.7 संदर्भ पुस्तकें (Reference Books)

1. Morgan, W.G. and R.J.C. Munton (1974) *Agricultural Geography.* London: Methuen & Co. Ltd.
2. Singh Jasbir and S.S. Dhillon (1984), (1987, 1994) *Agricultural Geography*. New Delhi: Tata McGraw - Hill Pub.
3. Symons, L. (1968) *Agriculture Geography.* London: G. Bell and Sons.
4. Zimmerman, E.W. (1951) *World Resources and Industries.* New York: Harper and Brothers.
5. कुमार, प्रमीला एवं श्रीकमल शर्मा: कृषि भूगोल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपल, 2008.
6. जोशी, यशवन्त (अनु.) : सामान्य जलवायु विज्ञान, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।
7. साइमन, लेसली कृषि भूगोल (अनुवादक एस एस कटारे), मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल.
8. सिंह, ब्रजभूषण, कृषि भूगोल, ज्ञानोदय प्रकाशन गोरखपुर
9. तिवारी आर सी तथा बी एन सिंह कृषि भूगोल प्रयाग पुस्तक सदन इलाहाबाद
10. 10.Kalwar, S.C. (1990): “Morphometric Characteristics and Net sown Area in the Khari River Basin” (Ed.) Indian Geomorphology, Concept Publications, New Delhi, PP. 339–352.
11. Kalwar, S.C. (2004): “Floods and Droughts in Rajasthan, Annals of the National Association of Geographers of India” Vol. XXV, PP. 81–93.
12. Kalwar, S.C. (2005): “Geomorphology and Environmental Sustainability” Concept Publications, New Delhi.

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. भूमि उपयोग और कृषि पर भूभाग के तीन गुणों का विशेष प्रभाव होता हैं -ऊँचाई, उच्चावच तथा अपवाह। इनका अकेले एवं संयुक्त प्रभाव कृषि के स्वरूप पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष हो सकता हैं।
2. पर्वतीय प्रदेशों में ऊंचाई के साथ होने वाले परिवर्तनों के कारण की संभावना सीमित हो जाती है। परिवर्तनों में मुख्य हैं: (i) तापमान का कम होना, (ii) वर्षा में वृद्धि होना, (iii) वायु की गति बढ़ना, (iv) मिट्टी की गुणवत्ता का कम होना, और (v) उच्चावच का अधिक होना।
3. क्योंकि ऐसी भूमि पर जल अपवाह और अपरदन की समस्या नही होती तथा सभी कृषि कार्य सुगम होते हैं। इसलिए इसे सर्वोत्तम भूमि कहते है।

4. दुप्रवाही सभी प्रदेशों में भूमिगतजल सतह तक आ जाता है। वाष्पीकरण के बाद ऐसे भागों में रसायनों और लवणों के निक्षेपण की एक तह बन जाती है जो कृषि के लिए अनुपयुक्त होती हैं। मिट्टी में गहराई पर जो रसायनों की कठोर तह (Hard Pan) बन जाती है उसके कारण भी जल नीचे नहीं जा पाता और दुप्रवाही क्षेत्र बन जाते है, विशेषरूप से आर्द्र समतल अथवा तरंगित क्षेत्रों में। ऐसे प्रदेश भी कृषि के लिए अनुपयुक्त हो जाते हैं।

बोध प्रश्न 2

1. जलयावु का कृषि पर प्रभाव प्रत्यक्ष फसलोत्पादन तथा पशुपालन की अक्षांशीय सीमाएँ, खेती का काल तथा उपयुक्त फसल का निर्धारित करना मुख्य है। परोक्षरूप से मिट्टी के गुणों तथा धरातल के माध्यम से भी जलवायु कृषि को प्रभावित करती है।
2. प्रत्येक फसल के विकास की प्रत्येक अवस्था के लिए न्यूनतम, अनुकूलतम तथा उच्चतम तापमान की सीमाएँ होती हैं। इन्हे 'तापीय दिग्बिन्दु' कहते हैं।
3. बसन्त के अंतिम घातक तुषार और हेमन्त के प्रथम घातक तुषार के बीच की तुषाररहित अवधि को उगने का काल अथवा उत्पादन काल कहते हैं।
4. वायु राशि प्रशीतन से पौधों को मुख्यरूप से तीन प्रकार की क्षति होती है। ये हैं: (1) हिमीकरण तथा द्रवीकरण, (2) उत्पक्षेपण और (3) निर्जलीकरण हैं।
5. विश्व में औसत वार्षिक वर्षा एरिका (Arica), चिली में 0.5 मि. मि. न्यूनतम तथा भारत में मेघालय राज्य में मॉसिनराम में 1187 से.मी. (चेरापूँजी में 1141 से.मी.) सर्वाधिक होती है।
6. प्रभाव के संदर्भ में सूखा चार प्रकार का हो सकता है – (1) मौसमी सूखापन, (2) कृषिय सूखापन, (3) जलचक्रीय सूखापन, तथा (4) सामाजिक –आर्थिक सूखापन।

बोध प्रश्न– 3

1. सिंचाई द्वारा भूमि को न केवल कृषियोग्य बनाया गया है बल्कि भूमि उपयोग का गहनीकरण तथा कृषि की उत्पादकतावर्धक निवेशों का उपयोग संभव बनाया जाता है। साथ हीं मिट्टी में जल की कमी तथा फसलों को उचित समय पर पानी उपलब्ध उनकी उत्पादकता बढ़ाना और कृषि को सुरक्षित करना भी सिंचाई का लक्ष्य रहा है।
2. सूखे भागों में प्रमुख सिंचित क्षेत्र हैं: (अ) मध्य तथा मध्यपूर्व एशियाई प्रदेश, (ब) पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका तथा उत्तरी मैक्सिको, (स) दक्षिणी महाद्वीपों के सिंचित प्रदेश: चिली, अर्जेन्टाइना, उत्तरी तथा पश्चिमी अफ्रीका तथा दक्षिणी आस्ट्रेलिया।
3. भारत, चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका।
4. चिली, मिस्त्र और तुर्कमेनिस्तान।
5. इन गणराज्यों में अक्षांशीय स्थिति के कारण तापमान पर्याप्त ऊँचा रहता है, किन्तु वर्षा की कमी के कारण विस्तृत भाग सूखा एवं खेती के लिए अनुपयुक्त है। इन मध्य एशियाई प्रदेश में उपोष्ण कटिबन्धीय फसलें, जैसे चाय, कपास चुकन्दर तथा मक्का आदि पैदा की जा सकती हैं। इसकी कृषि तभी संभव है जब सिंचाई द्वारा पर्याप्त जल की व्यवस्था की जाय।
6. भारत में गहन सिंचित क्षेत्र दो विस्तृत पेटी में फैले हैं। प्रथम पेटी पंजाब से लेकर पश्चिमी बिहार तक फैली है। दूसरी सघन सिंचित पेटी का विस्तार उड़ीसा में महानदी के डेल्टा से लेकर तमिलनाडु में कावेरी डेल्टा तक पूर्वी तट के सहारे है।

4.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत से उदाहरण देते हुए कृषि पर धरातल के स्वरूप के प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।
2. कृषि पर भूमि के ढाल एवं अपवाह के प्रभावों का मूल्यांकन कीजिए।
3. भारत से उदाहरण देते हुए कृषि पर जलवायु के प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।
4. तापमान और कृषि के सम्बन्धों की विवेचना कीजिए।
5. तापमान कैसे कृषि को प्रभावित करता है? उसकी प्रभाविता ज्ञात करने की विधियों का वर्णन कीजिए।
6. सूखा कितने प्रकार का होता है? भारत के सुखोन्मुख क्षेत्रों का विवरण दीजिए।
7. सिंचाई का कृषि के लिए महत्व का उल्लेख करते हुए विश्व में सिंचित क्षेत्रों का वितरण बताइए।
8. मानसूनी वर्षा वाले क्षेत्रों में सिंचाई के विकास एवं वितरण की समीक्षा कीजिए।

इकाई 5 : मृदाएँ (Soils)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 मृदा निमार्ण में सहायक तत्व
5.3 मृदा पीरच्छेदिका
5.4 मृदा विकास की प्रक्रिया
5.5 मृदा का वर्गीकरण
5.6 विश्व की प्रमुख मृदाएँ तथा उनका विवरण
5.7 मृदा की उर्वरता
5.8 मुदा की समस्यायें
5.9 मृदा संरक्षण एवं प्रबन्धन
5.10 संदर्भ ग्रन्थ
5.11 सारांश
5.12 बोध प्रश्नों के उत्तर
5.13 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे:

- .मृदा निर्माण में सहायक तत्व,
- .मृदा पीरच्छेदिका,
- .मृदा वर्गीकरण के विभिन्न आधार,
- .विश्व में विभिन्न प्रकार की मृदाओं का वितरण,
- .मृदा की उर्वरता का कृषि उत्पादकता पर प्रभाव,
- .मृदा समस्यायें एवं संरक्षण।

5.1 प्रस्तावना (Introduction)

मृदा स्थलीय भूभाग की ऊपरी सतह की वो परत है जो ढीले व बारीक कणों से निर्मित होती है। इन बारीक कणों में खनिजों के कारण, ह्यूमस, वायु, आर्द्रता आदि संयुक्त होते हैं। मृदा की परत कुछ से.मी. से लेकर कई मीटर तक अलग – अलग स्थानों पर गहराई लिये हुए होती है। मृदा मानव सभ्यता की आधार शिला है। समस्त जैविक संसाधनों का आधार मृदा ही है। मनुष्य का भोज्य पदार्थ, कृषि के माध्यम से मृदा से प्राप्त होता है। जौव जन्तुओं व पशुओं का पोषण प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से मृदा से होता है। वनस्पति की उत्पति का मूल आधार मृदा ही है। वस्तुत: मृदा एक संसाधन के रूप में अन्य संसाधनों को प्रत्यक्ष रूप से आधार प्रदान करती है। मृदा का निर्माण मूल चट्टानों के विघटन तथा अपघटन (वियोजन) द्वारा होता है। जिसे विभिन्न प्रकार की जलवायु समय –समय पर प्रभावित करती है।

'वाडिया' के अनुसार मानव उपयोग की दृष्टि से सभी देशों की मृदाएँ वहाँ के आवरण –प्रस्तर (regolith) का सबसे अधिक मूल्यवान अंग है और उनकी प्राय: सबसे बड़ी प्राकृतिक सम्पत्ति है।
प्रो. रमन ने (1971) मृदा की परिभाषा इस प्रकार दी है "मृदा पृथ्वी की सबसे ऊपरी अपक्षयित (Weathered) ठोस पपड़ी की परत है जो चट्टानों के टूटने व रसायनिक परिवर्तन से बने छोटे – छोटे कणों और उस पर रहने और उपयोग करने वाले पादप व जन्तु अवशेषों से बनी है।"
डॉ. बेनेट के अनुसार "धरातल पर मिलने वाले असंगठित पदार्थो की ऐसी परत जो मूल चट्टान व वानस्पतिक अंश के संयोग से बनती है, मृदा कहलाता है" इस प्रकार मृदा पर्यावरणीय एवं जौवीय प्रक्रमों एवं जौवीय प्रक्रमों का संयुक्त प्रतिफल होती है एवं निश्चित समय के अन्तराल पर मृदा–निर्माण पूर्ण हो पाता है ।

5.2 मृदा निर्माण में सहायक तत्व (Elements associated with Soils Formation)

मृदा के निर्माण में मुख्यत: मूल चट्टानों, जलवायु, भूमि का ढाल, वनस्पति, जौव जन्तु तथा मनुष्य का समयावधि के साथ योगदान रहता है।
मृदा निमार्ण के तत्व:

(1) **मौलिक चट्टानें (Basic Rocks):** अपक्षय क्रिया में भौतिक, रसायनिक व जैविक क्रियाओं से मूल शैल वियोजित एवं विखण्डित हो जाती है और चूर्ण के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इन्हीं शैल चूर्णों से मृदा का निमार्ण होता है। यह क्रिया मूल चट्टानों के ऊपरी भागों पर होती है लेकिन अपरदन प्रक्रिया के कारकों जैसे जल, वायु व हिमनदी द्वारा मूल स्थान से हटाकर अन्यत्र परिवर्तित कर देते हैं अत: मृदा के निर्माण का मुख्य स्त्रोत मूल चट्टानें ही है।

(2) **जलवायु (Climate):** जलवायु के तीनों मुख्य तत्व तापमान, आर्द्रता तथा हवाएँ मृदा के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं। तापमान की अधिकता से भौतिक व रासायनिक प्रक्रियाएँ होती है। तथा मृदा की संरचना प्रभावित होती है। आर्द्रता व जल की मात्रा, चट्टानों में जल के जमाव रिसाव से अपक्षालन या लेटराइजेशन क्रिया होती है। और मृदा के भौतिक गुणों को विकसित करते हैं मृदा के निमार्ण में तापमान, जल की मात्रा व वायु संगठित रूप से मूल चट्टानों पर भौतिक, – रासायनिक क्रियाएँ करते हैं व चट्टानें बिखरती है। फलत: मृदा का निर्माण होता है।

(3) **भूमि का डाल (Slope of Land):** ढाल की प्रवणता मृदा निर्माण में सहायक होती है। अधिक ढाल वाली भूमि पर अपरदन अधिक तीव्रता से होता है और अपक्षयित शैले गुरूत्वाकर्षण के प्रभाव से खिसक जाती हैं, अत: मृदा की परत की गहराई में भूमि के ढाल के आधार पर भिन्नताएँ होती है। समतल भूमि पर मृदा की परत की गहराई अधिक व तीव्र ढाल वाले भू–भाग पर मृदा की कम गहरी परत होती है।

(4) **वनस्पति (Vegetation):** वनस्पति प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से मृदा की संरचना को प्रभावित करती है। वनस्पति से जौवांश (ह्यूमस) प्राप्त होता है। पौधों तथा वनस्पति की जड़ों के भूमि में फैलने से तथा सड़ने – गलने से शैलों के अपक्षय तथा मृदा निर्माण में सहायता प्राप्त होती है। वनस्पति की मात्रा के आधार पर मृदा रंग और स्वरूप में अन्तर पाया जाता हैं।

(5) **मनुष्य व जौव जन्तु:** मृदा निर्माण में मनुष्य की गतिविधियाँ तथा जौवजन्तुओं की उपस्थिति और उनकी क्रियाओं का योगदान रहता है। मनुष्य द्वारा चट्टानों को तोड़फोड़ कर कृषि क्षेत्र विकसित करना, आवागमन के मार्ग बनाना, मानवीय गतिविधियों द्वारा अपक्षय क्रिया के माध्यम से मृदा का निर्माण होता है।

(6) **समयाविधि (Time) :** मृदा निर्माण में समय का विशेष महत्व होता है। अचानक अपक्षय या अन्य क्रियाओं के द्वारा मृदा का निर्माण नहीं होता है। बल्कि कालान्तर में धीरे – धीरे इन्हीं क्रियाओं की सक्रियता से मृदा का निर्माण विकसित होता है। अत: मृदा निर्माण में समय का भी महत्व है।

5.3 मृदा परिच्छेदिका (Soil Profile)

मृदा का लम्बवत् भाग जिसके द्वारा मृदा की गहराई अर्थात् भूसतह के नीचे की ओर से मूल चट्टानों तक की विभिन्न परतों का अभिलेख, मुदा परिच्छेदिका कहलाती है। मृदा पार्श्विका। परिच्छेदिका के विभिन्न स्तरों को निम्न तीन भागों में विभक्त करते है:–

1. 'अ' संस्तर (A Horizon)
2. 'ब' संस्तर (B Horizon)
3. 'स' संस्तर (C Horizon)

1. **'अ' संस्तर (A Horizon):** यह मृदा परिच्छेदिका की सबसे ऊपरी परत है। इस स्तर में जलवायु तथा वनस्पति दशाओं में भिन्नता के कारण जैविय संसाधनों की मात्रा में भिन्नता होती है। अधिक वर्षा वाले प्रदेशों में सूक्ष्म जैविक पदार्थ बहकर अपवहन (Eluviation) तथा मृदा में अपक्षालन (Leachihg) द्वारा घुलकर निचले संस्तरों में एकत्रित हो जाते हैं। जैव पदार्थो की कमी के कारण मृदा के कण अपेक्षाकृत बड़े आकार के होते हैं जबकि वानस्पतिक अंश या घास के प्रदेशों में जैव पदार्थ अधिक मात्रा में उपलब्ध होते है अत: वहां मृदा के कण बारीक होते हैं।
2. **'ब' संस्तर (B Horizon) :** यह मृदा पार्श्विका/परिच्छेदिका का मध्यम संस्तर है। 'ब' संस्तर खनिज पदार्थ तथा जैव पदार्थ की दृष्टि से सर्वाधिक सम्पन्न होता है। आर्द्र प्रदेशों में जैव पदार्थ इस संस्तर में जमा होते हैं जबकि शुष्क प्रदेश में कोशिकीय क्रिया (Capillary action) के द्वारा जल के साथ चूना जैसे घुलनशील पदार्थो का जमाव 'स' संस्तर से स्थानान्तरित होकर 'ब' संस्तर में हो जाता है। इस संस्तर में कठोर पर्त (Hard Pan Layer) का एक घना अभेद्य स्तर बन जाता है। इस प्रकार की स्तर वाली मृदा में पौधों की जड़े गहराई तक नहीं जा पाती है तथा कभी–कभी पानी भी अन्दर प्रवेश नहीं कर पाता है। आर्द्र प्रदेशों में पानी के जमाव के कारण तथा शुष्क प्रदेशों में कार्बोनेट के जमा होने के कारण विनिक्षेपण (Alluviation) से ऐसे स्तर बन जाते हैं।
3. **'स' संस्तर (C Horizon):** मृदा पार्श्विका का सबसे निचला स्तर 'स' –संस्तर होता है। मूल चट्टानों के ऊपर स्थित भाग में शैले का चूर्ण मिलता हैं जो कि सामान्यत: अपरिवर्तित होता है।

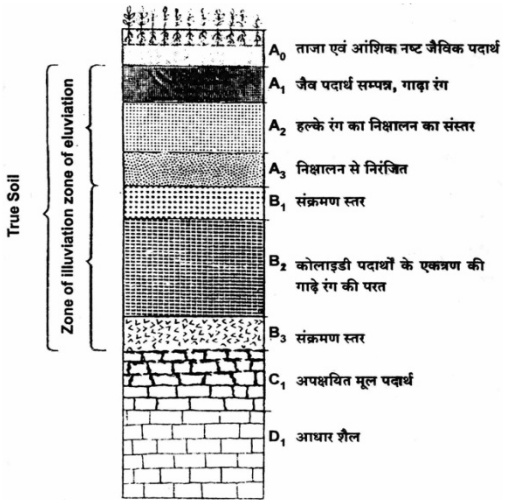

चित्र – 5...... : मृदा परिच्छेदिका

5.4 मृदा विकास की प्रक्रिया (Process of Soil Development)

मृदा का निर्माण व विकास, लम्बे समय से विभिन्न प्रकार की क्रियाओं के माध्यम से होता। ये क्रियाएं क्रमबद्ध होती है। मृदा विकास की प्रक्रिया को दो चरणों में विभक्त कर सकते हैं।

प्रथम चरण

मृदा विकास की प्रक्रिया के प्रथम चरण में मूल शैल का अपक्षय (Weathering) होता है। अपघटन व विघटन से मृदा का निर्माण होता है। अपक्षय तीन प्रकार का होता है: भौतिक, रासायनिक व जैविक अपक्षय।

भौतिक अपक्षय के अन्तर्गत तापमान, जल, हिमानी, वायु आदि तत्वों के द्वारा प्रत्यक्ष – अप्रत्यक्ष रूप से चट्टानों का विघटन होता है। तापमान के बढ़ने व कम होने से शैलों के क्रमशः फैलाव व संकुचन से चट्टानों का विघटन होता है। जल, हिमानी व वायु द्वारा चट्टानों का अपरदन होता है।

रासायनिक अपक्षय में विलयन, जलयोजन, ऑक्सीकरण, कार्बोनेशन तथा आम्लिक प्रक्रिया होती है। चट्टानों के कुल खनिज घुलकर रासायनिक क्रियाओं से अलग हो जाते हैं। फलत शैले कमजोर होकर विघटित हो जाती है। जल अपघटन (Hydrolysis) में जल दोहरा अपघटक का कार्य करता है। जलयोजन द्वारा जल खनिजों के साथ रासायनिक संयोग करते हैं तथा चट्टानों का विघटन होता है।

जैविक अपक्षय में जौवजन्तु व वनस्पति के द्वारा चट्टानों का विघटन होता है। पेड़ पौधे में अपनी जड़ों से जैविक अपक्षय होता है अतः भौतिक, रासायनिक व जैविक अपक्षय के द्वारा शैले विघटित होती है। चट्टानों के चूर्ण का आवरण बन जाता है जिसे आवरण प्रस्तर (Regolith) रेगोलिथ कहते है।

द्वितीय चरण: इस चरण में मृदा का वास्तविक निर्माण होता है।

रेगोलिथ में पेड़ पौधों की जड़े दरारो में प्रविष्ट होती है तथा पौधें भोजन के लिये कैल्सियम, फास्फोरस आदि आवश्यक खनिजों को ग्रहण करते है। पुनः पौधों तथा मृत जौवाणुओं के सड़ने

गलने से मृदा में जैव पदार्थ मिल जाते हैं। इस प्रकार की क्रमबद्ध निरन्तर प्रक्रियाओं से मृदा विकसित होती है।

यद्यपि मृदा निर्माण में जलवायु विशेषत: तापमान व आर्द्रता का अधिक योगदान रहता है। तापमान व आर्द्रता की भिन्नता से तीन प्रकार की प्रक्रियाएँ होती है। जिनका सम्बन्ध मृदा निर्माण में महत्वपूर्ण है।

1. लेटराइजेशन (Laterization)
2. कैलसीफिकेशन (Calcification)
3. पोडजोलाइजेशन (Podzolization)

1. **लेटराइजेशन (Laterization):** यह आर्द्र उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में मृदा निर्माण की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में प्रदेश में उच्च ताप और अधिक वर्षा से शैल अपक्षय की क्रिया तीव्र पायी जाती है। पौधों तथा जौवाणुओं की अधिकता से जैव पदार्थ अधिक मात्रा में मिलते हैं किन्तु विघटन भी शीघ्रता से होता है। वर्षा की अधिकता से वर्षा का जल तीव्रता से भूमि में नीचे की ओर रिसता है तथा जैव तत्व व खनिज निचले संस्तर पर चले जाते हैं। यह क्रिया (Leaching) कहलाती है। ऊपरी 'A' संस्तर में मृदा के बड़े कणों में लोहांश व ऐलुमीनियम युक्त अनुपाजाऊ मृदा होती है।
2. **कैलसीफिकेशन (Calcification):** मध्य अंक्षाशीय अर्द्धशुष्क प्रदेशों में मृदा की ऊपरी सतह के निकट कैल्शियम कार्बोनेट के संचय की क्रिया को कैलसीकरण कहते है। शुष्क मौसम से धरातल के सूखने पर भूमि के अन्दर का जल ऊपरी सतह पर आकृष्ट होता है। जल के साथ चूने की मात्रा भी रहती है। ऊपर आने पर जल का वाष्पीकरण होता है लेकिन चूना या कैल्शियम कार्बोनेट मृदा में रह जाता है। जल के नीचे से ऊपर की ओर जाने की क्रिया को कैशिकीय क्रिया (Capillary action) कहते है। चूना घुलनशील होने के कारण वर्षा जल के साथ नीचे की ओर जाता है तथा मध्य संस्तर 'ब' में जमा होता हैं। घास बाहुल्य इन प्रदेशों में घास की जड़े कैल्शियम पदार्थ का ग्रहण करके 'अ' संस्तर पर छोड़ती है अत: मृदा के 'अ' व 'ब' संस्तर विकसित होते है। इनमें जैव पदार्थो की अधिकता रहती है तथा मृदा अधिक उपजाऊ होती है।
3. **पोडजोलाइजेशन (Podzolization):** शीत प्रदेशों में मुदा निर्माण की प्रमुख प्रक्रिया है। शीत कटिबन्धों में अत्यधिक निम्न ताप के कारण जैव पदार्थ कम मात्रा में होते हैं अत: पेड़ पौधे के अवशेषो, भूमि पर ही पड़े रहने से जल भूमि में प्रवेश नहीं कर पाता है तथा मृदा का विकास अधूरा रह जाता है। मृदा की गहराई सामान्यत: 50 से. मी. से कम पायी जाती है तथा कणों के आकार बड़े होते हैं।

मृदा का अपरदन व निक्षेप

अपरदन के द्वारा भी मृदा का निर्माण होता है। अपघटित कारकों द्वारा मृदा का अपरदन होता है। परिवहन के द्वारा मृदा का जमाव (निक्षेप) होता है तथा मृदा का निर्माण होता है। नदियों द्वारा निक्षेपित मृदा को जलोढ़ (Alluvial), हिमानी द्वारा निक्षेपित मृदा को हिमोढ़ (Moraine) तथा वायु द्वारा निक्षेपित मृदा की वायुढ़ (Aeolian) कहा जाता है।

5.5 मृदा का वर्गीकरण (Classification of Soil)

विश्व में मृदा वर्गीकरण एवं मृदा विज्ञान (Pedology) के विकास में रूसी विद्वानों का विशेष योगदान रहा है। प्रसिद्ध रूसी विद्वान वेसिकी डीतुआयेव (V.V. Docku Chayev) (1846–1903) प्रथम मृदा वैज्ञानिक थे, जिन्होंने स्पष्ट किया कि मूल पदार्थ (Parent Material) समान होने पर भी पर्यावरणीय दशाओं की भिन्नता के कारण भिन्न मृदाओं का निर्माण होता है। उन्होंने मृदा के विकास एवं जलवायु में घनिष्ठ सम्बन्ध को बताया तथा 1870 में रूस की मृदाओं के वर्गीकरण प्रस्तुत किये। यू.एस.ए. के विद्वान भारबूत ने 1938 में सर्वप्रथम विश्व मृदा वर्गीकरण यू.एस.ए. कृषि विभाग द्वारा प्रस्तुत किया तथा 1960 में सातवां संस्करण प्रकाशित हुआ तथा सन् 1975 में संयुक्त राज्य अमेरिका के मृदा सर्वेक्षण विभाग द्वारा CSCS वर्गीकरण जिसे बाद में 1990 में मृदा वर्गीकरण के लिए Soil Taxonomy शब्द अपनाया गया। विश्व में मृदा कई प्रकार की है। जिन्हें किसी एक वर्ग में रखना उपयुक्त नहीं होगा। अत: निम्न आधारों के अनुसार मृदाओं को वर्गीकृत किया जा सकता है:

मृदाओं का वर्गीकरण एवं वितरण (Classification and Distribution of Soils)

मृदाओं के वर्गीकरण के कई आधार हैं। उदाहरणार्थ –

1. मूल चट्टानों के अनुसार : ग्रेनाइट मृदाएँ, लावा मृदाएँ, चूना मृदाएँ आदि।
2. निर्माण की विधि के अनुसार: अवशिष्ट मृदाएँ, परिवहित मृदाएँ, नदियों द्वारा जमा की गई जलोढ मृदाएँ, ग्लेसियर की मृदाएँ इत्यादि।
3. रंग के अनुसार: भूरी, कत्थई, पीली, लाल, काली मृदाएँ।
4. स्थल के अनुसार: पर्वतीय, मैदानी, मरूस्थलीय, समुद्रतटीय मृदाएँ।
5. कणों के अनुसार: रेतीली, दोमट, सिल्ट, चिकनी मृदाएँ, अम्लीय, क्षारीय मृदाएँ आदि।
6. जलवायु: वनस्पति की विभिन्न दशाओं में मृदा चक्र की अवस्था के अनुसार नई मृदाएँ, परिपक्व मृदाएँ और वृद्ध मृदाएँ। परिपक्व मृदाओं के क्षेत्र सघन आबाद होते हैं।

विश्व स्तर मृदाओं को तीन प्रकारों में विभक्त किया जाता है, जिन्हें 1. कटिबन्धीय (Zonal), अन्त: स्तरी (Intra Zonal) तथा अपार्श्विक (Azonal) मृदा कहते हैं।

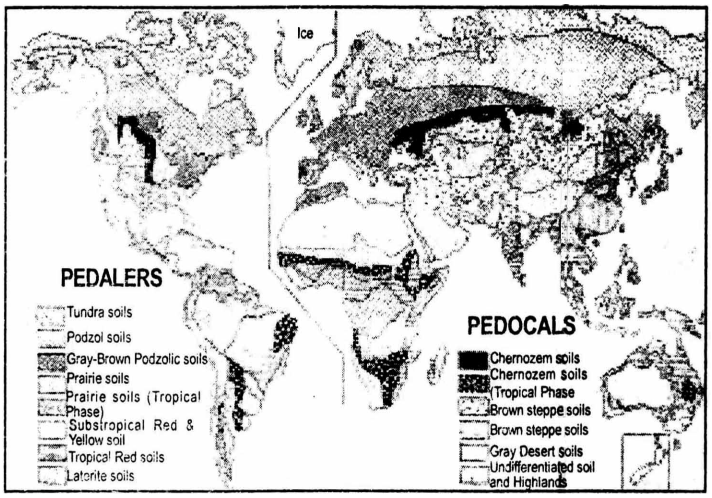

मानचित्र - 5.2: विश्व की मृदाओं का वितरण

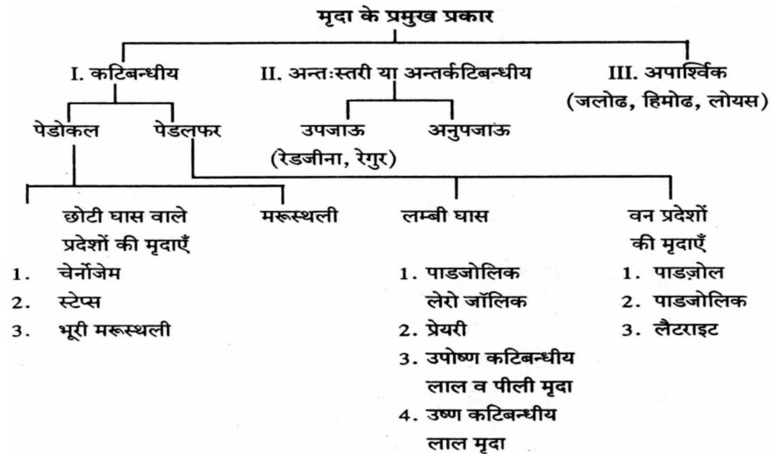

I. **कटिबन्धीय मृदा:** उस प्रकार की मृदा को कहते है जो जलवायु तथा वनस्पति के दीर्घकालीन प्रभाव से पूर्ण विकसित होती है। चूंकि इस प्रकार की मृदा का वितरण जलवायु एवं वनस्पति प्रदेशों के अनुसार मिलता है इसलिए इन्हें कटिबन्धीय मिट्टी कहते हैं।

ये मृदा प्रमुखतः दो प्रकार की होती है – इन्हें 1. पेडाल्फर तथा 2. पेडोकल कहते है। पेडाल्फर में ऐलुमीनियम (al) तथा लोहा (fe) का मेल होता है ये मृदाएँ आर्द्र प्रदेशों में पाई जाती हैं।

पेडोकल मृदा (Ped+cal) मृदा का तात्पर्य वह मृदा है जिसमें कैल्सियम (चूना) की मात्रा अधिक हो। वनस्पति के आधार पर इसे भी दो भागों में बाँटा जाता है 1. छोटी घास वाले प्रदेशों की मृदा तथा 2. अर्द्धमरूस्थली मृदा।

पेडाल्फर मृदाएँ

आर्द्र प्रदेशों की मृदाएँ पेडाल्फर कहलाती हैं। इन भागों के वन प्रदेशों में इनके निम्न प्रकार हैं।

1. **पॉडजोल मृदा:** यह मृदा उत्तरोतर ध्रुवी लम्बी शीत ऋतु के छोटी ग्रीष्म ऋतु वाले प्रदेशों में पाई जाती है। यहाँ कोणधारी वन मिलते हैं। रूस, कनाडा, अलास्का एवं स्केण्डिनेबिया आदि प्रदेशो के अधिकांश उत्तरी भाग में ऐसी मृदा मिलती है (मानचित्र 3.2)। यह राख के रंग की अम्लीय मृदा होती है।
2. **पॉडजौलिक मृदा:** पॉडजोल मृदा के दक्षिण में पायी जाती है। पॉडजोलाइजेशन की प्रक्रिया यहाँ भी कार्य करती है। अधिकांश जौवांश मिश्रित वनों की चौड़ी पत्तियों से मिलता है।
3. **लेटराइट मृदा:** विषुवत रेखीय वनों (आर्द्र उष्ण) में यह मृदा मिलती है। यहाँ लैटराइजेशन प्रक्रिया कार्य करती है। यह मृदा अनुपजाऊ होती है।
4. **पेडल्फर लम्बे घास वाली मृदांएँ:** पॉडजोलिक तथा लेटराइट मृदा वाले प्रदेशों के बीच में आर्द भागों में जहाँ लम्बी घास वाली वनस्पति मिलती है वहां कई प्रकार की मृदाएँ बनती हैं। इन मृदाओं में मध्यम उर्वरता होती है। दक्षिण पूर्वी चीन, दक्षिणी जापान में इस प्रकार की मृदा मिलती है। उष्ण कटिबन्धीय लाल मृदा, उपोष्ण कटिबन्धीय लाल तथा पीली मृदा, प्रेयरी मृदा इसके अन्तर्गत आती हैं।

पेडोकल मृदाएँ

इस वर्ग में तीन प्रकार की मृदाएँ सम्मिलित हें –

1. चरनोजम

2. भूरी स्टेप्स
3. मरूस्थलीय मृदा।

1. **चरनोजम मृदा:** छोटी घास वाले प्रदेशों में विकसित होती है। इसका रंग काला होता है। संयुक्त राष्ट्र में यह मृदा प्रेयरी मृदा वाले प्रदेशों के पश्चिम में 300 कि.मी. चौड़ी पेटी में विस्तृत है। रूस में भी प्रेयरी मृदा प्रदेश के दक्षिण में 600 कि.मी. लम्बी तथा 300 – 500 कि.मी. चौड़ी पेटी में यह मिलती है। यह काफी उपजाऊ होती है।
2. **भूरी स्टेप्स मृदा:** चरनोजम एवं मरूस्थलीय मृदा के मध्य पायी जाती है। ये विरल एवं छोटी घास के क्षेत्र हैं।
3. **मरुस्थलीय मृदा:** अत्यन्त शुष्क भागों में यह मृदा पायी जाती है। इसमें स्तरों का पूर्ण विकास नहीं हो पाता। इसमें घुलनशील खनिज अधिक पाए जाते हैं।

II. **अन्तःस्तरी मृदाएँ:** उन मृदाओं को अन्त:स्तरीय मृदाएँ कहते हैं जिन पर जलवायु तथा वनस्पति की अपेक्षा अन्य तत्वों का प्रभाव अधिक होता है। ये कटिबन्धीय क्षेत्रों के मध्य बिखरे क्षेत्रों में मिलती हैं। ये उपजाऊ तथा अनुपजाऊ दोनों प्रकार की होती है। रेडजौना मृदा उपजाऊ उदाहरण है।

III. **असुस्तरीय मृदाएँ:** ये मृदाएँ अविकसित होती है अर्थात इसके स्तरों का विकास नहीं होता है। इसलिए इन्हे अपार्श्विक मृदाएँ कहते है। जलोढ़, हिमोढ़ तथा लोयस मृदाएँ इस वर्ग में सम्मिलित की जाती हैं।

टुंड्रा मुदा (Tundra Soil) : शीत प्रदेशों में कम विकसित मृदा होती है। यह उपजाऊ मृदा नहीं होती है।

2. अन्तर्कटिकधीय मृदा (Intrazonal Soils)

इस प्रकार की मृदा के विकास में जलवायु व वनस्पति के प्रभाव की तुलना में मूल शैलो का प्रभाव अधिक रहता है। ये मृदाएं कटिबन्धीय क्षेत्रों में बिखरी हुई मिलती है। अत: इन्हें अंत: कटिबन्धीय मृदा कहते हैं। इस प्रकार की मृदा उपजाऊ व अनुपजाऊ दोनों प्रकार की होती है। जिन भागों में मृदा का प्रवाह व्यवस्थित नहीं होता है, जलक्रान्ता (Waterlogoing) की स्थिति बन जाती है। इन प्रदेशों में चूने की मात्रा व घुलनशील तत्वों की अधिकता के कारण मृदा को रेगुर (Regur) तथा रेण्डजौना कहते हैं। रेण्डजौना आर्द्र प्रदेशों में मिलती है। पीट मृदा (Peat Soil), लवणीय मृदा (Saline Soil) टेरारोसा (Terrarossa) आदि इसी वर्ग में सम्मिलित होती है।

3. अपार्श्विक मुदाएँ (Azonal Soil)

इस प्रकार की मृदाएँ नवीनतम व अविकसित होती है। जिनकी परिच्छेदिता स्पष्ट नहीं होती है। अपरदित कारकों के द्वारा धरातलीय संरचना के अनुसार इनका निक्षेप हो जाता है। जलोढ़, हिमोढ़, वायुढ :, सागरीय मृदा, पर्वतीय मृदा आदि इस वर्ग की मृदाएँ है। जो कि अधिकांशत: उपजाऊ होती है। प्रतिवर्ष नवीन पदार्थो के जमाव से मृदा में नवीनीकरण होता जाता है।

रंग के आधार पर मृदा वर्गीकरण (Soil Classification based on Colours):

मृदा में विद्यमान खनिजों व जैव पदार्थो की मात्रा के अनुसार मृदा के रंगों में भिन्नता मिलती है। रंगों के आधार पर मृदाएँ निम्न प्रकार की हैं:–

लाल मृदा (Red Soil): इस प्रकार की मृदा में लोहांश की मात्रा अधिक होती है अत: इनका रंग लाल होता है। अपेक्षाकृत मृदा कम उपजाऊ होती है। लाल मृदा मुख्यत: दक्षिणी अमेरिका के उत्तरी पूर्वी भाग में, मध्यवर्ती अफ्रीका, दक्षिणी पश्चिमी एशिया आदि क्षेत्रों में वितरित है।

काली मृदा (Black Soil): ज्वालामुखी अथवा लावा प्रवाह के द्वारा निर्मित मृदा का रंग काला होता है। इस प्रकार की मृदा उपजाऊ होती है तथा कपास की कृषि के लिये विशेष महत्व रखती है। घास प्रदेश में चरनोजम मृदा में जैव पदार्थो की अधिकता के कारण पूरा–काला रंग होता है। काली मृदा छोटे–छोटे क्षेत्रों के रूप में वितरित है। भारत में प्रायद्वीपीय प्रदेशों में इस प्रकार की उपजाऊ मृदा होती है।

भूरी मृदा (Brown Soil): लोहांश तथा जैविक पदार्थो की कमी पायी जाती है अत: उपजाऊपन कम होता हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में इस मृदा की बहुतायत रहती है।

पीली मृदा (Yellow Soil): मृदा में जलयोजित लोहांश (Hydrated iron) का मिश्रण होने से मृदा का रंग पीला होता है। यह मृदा भी कम उपजाऊ होती है। सामान्यत: लाल व पीली मृदा का वितरण साथ –साथ उपलब्ध होता है।

श्वेत मृदा (White Soil): जिस मृदा में चूना (कैल्शियम कार्बोनेट) अथवा लवण (Salt) की मात्रा अधिक होती है। वहां मृदा का रंग सफेद होता है। इस प्रकार की मृदा अनुपजाऊ होती है।

मृदा गठन के आधार पर वर्गीकरण (Classification Based on Soil Texture)

मृदा के कणों की बनावट के अनुसार मृदाओं को निम्नांकित 4 भागों में बांटा गया है:

1. **बलुई मृदा:** यह मोटे कणों की रेतीली मृदा होती है जिसे बालू मृदा भी कहते हैं। मरूस्थलीय प्रदेशों में इसी प्रकार की मृदा उपलब्ध होती है।
2. **बलुई** – दोमट मृदा: इसमें कणों का आकार 0.2 मी.मी. से 1.0 मी.मी. तक पाया जाता है। यह बलुई व दोमट मृदा का मिश्रण होता है।
3. **दोमट मृदा:** इस प्रकार की मृदा के कण बारीक होते है। महीन मृदा के कारण यह उपजाऊ होती है। आर्द्रता ग्रहण करने की क्षमता अधिक होती है।
4. **चिकनी मृदा**: मृदा के कण दोमट से भी बारीक होते हैं, अत: इसे चिकनी मृदा कहते हैं।
5. **अम्लीय मृदा:** मृदा के कण बारीक होते है तथा अम्लीय तत्वों की बहुतायत के कारण मृदा अनुपजाऊ होती है।

मृदा आकारिकी के आधार पर वर्गीकरण (According to Soil Taxonomy)

संयुक्त राज्य अमेरिका में मृदा सर्वेक्षण विभाग द्वारा प्रस्तुत वर्गीकरण जिसे (Comperhensive Soil Classification System) CSCS 1975 में कहते हैं। विश्व की विभिन्न प्रकार की मृदा को 11 श्रेणियों में विकसित किया गया है। प्रमुख आधार मृदा परिच्छेदिका के विभिन्न संस्तरों की विशेषताओं को बताया है। जो इस प्रकार है:

(1) **एण्टीसाल (Entisols):** ये मृदाएँ पूर्ण विकसित नहीं होती हैं जिस कारण मुदा का संस्तर स्पष्ट नहीं होता है। 'अ' संस्तर की सतह पतली 'ब' व 'स' संस्तर पर अध्यारोपित रहता है इसके विकास को जलवायु कम प्रभावित करती है।

(2) **हिस्टोसॉल (Histosal):** ये जैविक मृदा होती है जो कि वर्ष पर्यन्त जल से संतृप्त खेती है। दलदली भूमि के रूप में पहचानी जाने वाली मृदा हिस्टोसॉल होती है। इनमें अम्ल की

अधिकता रहती है अत: उपजाऊपन कम रहता है। चूने एवं उर्वरकों के उपयोग से व जलीय प्रवाह सुविधा के स्थान पर सघन खेती की जाती है।

(3) **आक्सीसॉल (Oxisols):** ये उष्ण कटिबन्धीय मृदा विश्व के 9.2 प्रतिशत क्षेत्र पर वितरित है। आक्साइड की अधिकता के कारण आक्सीसॉल कहते हैं। आर्द्रता व उष्ण प्रदेशों में उपलब्ध मृदा में अम्लीय लोहे व एल्यूमिनियम के अंश उच्च मात्रा में प्राप्त होते हैं। अपक्षियत प्राचीन मृदाओ में दोमट व मृतिका के कण अधिक मात्रा में होते है।

(4) **वर्टीसॉल (Vertical):** मृतिका (Clay) मृदा होती है इस प्रकार की मृदा मध्यतापीय तथा उष्णकटिबंधीय भागों से प्राप्त होती है। भवन निर्माण कार्यो में इसका उपयोग अधिक होता है। चिकनी गीली मृदा का रंग काला होता है। बार–बार फूलने व सिकूडने से मृदा में दरार पड़ जाती है। कृषि कार्य के लिए उपयोगी है।

(5) **इन्सेप्टीसॉल (Inseptisol):** इस प्रकार की मृदा आर्द्र जलवायु में पाई जाती है। कण बारीक होते है व कम विकसित होती है। परिपक्क्ता की कमी के कारण वनस्पति कुछ समय में ही विकसित हो पाती है। टुण्ड्रा प्रदेशों में हिमनद के अपक्षियत मैदानों में तथा बाढ़ के मैदानों की कॉप मृदा इस प्रकार की है।

(6) **ऐरिडोसाल (Areidosols):** विश्व के 19.20 प्रतिशत भू–भाग पर फैली मृदा शुष्क होती है। जौवांश का अभाव मिलता है। मरूस्थलीय क्षेत्रों में इस प्रकार की मृदा मिलती है। कैल्शियम, जिप्सम, लवणीयता की अधिकता के कारण झाडियाँ तथा घास ही मुख्यत: पनपती है। सहारा, गोबी, पश्चिमी आस्ट्रेलिया आदि रेगिस्तानो में मिलती है। लवणीयकरण से कृषि कार्य कम होता है।

(7) **मोलीसाल्स (Mollisols):** घास के मैदानों में इस प्रकार की मृदा उपलब्ध होती है। कोमल गहरे रंग की मृदा में जौवांश प्रचुर मात्रा में रहते हैं। मृदा की परिच्छेदिका मोटी होती है। निर्माण गहराई तक होता है। कैल्सियम की मात्रा अधिक होती है। कृषि कार्य के लिये आदर्श मृदा है। व्यापारिक फसलें तथा पशुचारण अधिक होता है।

(8) **एडिसोल (Adisols4):** ये ज्वालामुखी पैतृक शैलों से उत्पन्न मृदाएँ है। इस मृदा में नमी धारण करने की क्षमता होती है। परिप्रशान्त महासागरीय क्षेत्र में स्थित ज्वालामुखी क्षेत्रों में इसका विकास अधिक हुआ है। जौवांश की पर्याप्त मात्रा के कारण मृदा में उर्वरता अधिक होती है। स्थानीय रूप से इस प्रकार की मृदा का अधिक उपयोग होता है।

(9) **अल्टीसॉल्स (Utisols):** आर्द्र उपोष्ण तथा मानसूनी जलवायु के क्षेत्रों में पायी जाती है। इन प्रदेशों में वनीय क्षेत्र अधिक मिलता है। लाल कथई रंग की मृदा में लोहांश एवं एल्यूमिनियम के कारण निक्षालन अधिक होने से उर्वरता में कमी रहती है। 'ब' संस्तर में इसका रंग पीला भूरा होता है।

(10) **अल्फीसॉल (Alfisols):** इस प्रकार की मृदा आर्द्र जलवायु में मिलती है। संस्तरों में रंग धूसर, भूरा व लाल होता है। भूमध्य सागरीय जलवायु प्रदेशों में इसी प्रकार की मृदा प्राप्ति होती है अत: विशिष्ट फसलों का उत्पादन अधिक होता है। विश्व के 15 प्रतिशत क्षेत्र में उपलब्ध है। जौवांश कम मात्रा में पाये जाते हैं।

(11) **स्पोडोसाल्स (Spodosols):** इस प्रकार की मृदाएँ उत्तरी गोलार्द्ध के उत्तरी भाग में विकसित होती है। ऊपरी परिच्छेदिका सतह का रंग धुसर (Ash Gray) होता है। जैविक पदार्थो की कमी पायी जाती है। जल धारण की क्षमता भी कम होती है अत: कृषि की दृष्टि से कम उपजाऊ मृदा है।

5.6 विश्व की प्रमुख मृदाओं तथा उनका वितरण

विश्व की विभिन्न प्रकार की मृदाओं के निर्माण तथा विकास का आधार भिन्नता लिये हुए है। कुछ प्रदेशों में तापमान, वर्षा की मात्रा तथा वनस्पति का प्रभाव मृदा निर्माण में अधिक है तो कुछ भागों में मूल चट्टानों का महत्व अधिक है। अक्षांशीय विस्तार, जलवायु, मूल चट्टानों की प्रकृति पर आधारित विश्व की प्रमुख मृदाओं को निम्न प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है।

(1) **टुण्ड्रा मृदाएँ:** उच्च अक्षांशों में उपलब्ध मृदा में टुण्ड्रा वनस्पति अधिक पाई जाती है। धरातल पर हिम का जमाव रहता है लेकिन ग्रीष्म काल में हिम पिघलने से वनस्पति उग जाती है। मूल शैलों में प्राय: हिम जमा रहता है। मृदा का रंग भूरा होता है लेकिन इसकी ऊपरी सतह पर पीट के गहरे पूरे रंग की परत जमा होती है। इस मृदा में जैव पदार्थ व खनिजों का अभाव पाया जाता है। अलास्का, उत्तरी कनाडा, यूरेशिया आदि के टुण्ड्रा प्रदेशों में इस प्रकार की मृदा पाई जाती है।

(2) **पोडकाल मृदा:** उच्च अक्षांशों में दीर्घ ऋतु व लघु ग्रीष्म ऋतु के कारण पाडजालीकरण प्रक्रिया क्रियाशील होती है। लोहांश व एलूमिनीयम की अधिकता है लेकिन जैव तत्व तथा कैल्शियम की कमी पायी जाती है। 'अ' संस्तर की गहराई 30 से.मी. से कम पायी जाती है कोणधारी वन अधिक पाये जाते हैं। पोडजाल मृदा का वितरण अलास्का, उत्तरी कनाडा, रूस का उत्तरी भाग व यूरोप के उत्तरी भाग में पाया जाता है।

(3) **लेटराइट मृदा:** उष्णार्द प्रदेशों में लेटेराइजेशन प्रक्रिया के द्वारा इस प्रकार की मृदा का निर्माण होता है। इस क्षेत्र में तेज वर्षा के कारण अपक्षालन (Leaching) क्रिया अधिक होती है। जिससे ऊपरी स्तर से घुलनशील खनिज और जैव तत्व जल के साथ नीचे की ओर चले जाते है। 'अ' संस्तर पर इनकी कमी रहती है। भूमध्यरेखीय वन प्रदेशों में लेटेराइट मृदा का वितरण है। अफ्रीका में कार्गोबेसिन, गिनीतट तथा पूर्वी तटीय भाग, दक्षिणी अमेरिका का अमेजन बेसिन, दक्षिणी पूर्वी एशिया, दक्षिण भारत में लेटराईट मृदाएँ उपलब्ध होती है।

(4) **पेडोकाल मृदा:** इस प्रकार की मृदा में कैल्सियम अधिक मात्रा में रहता है। जिन भागों में वर्षा कम होती है। वहाँ केशिका किया द्वारा कैल्सियम नीचे से ऊपरी सतह पर आ जाते है। अर्द्ध शुष्क तथा शीतोष्ण कटिबन्धीय घास प्रदेशों में पेडोकाल मृदाएँ पाई जाती है। भौगोलिक वितरण के आधार पर पेडोकाल मृदाएँ तीन प्रकार की है।

(i). **चरनोजम मृदा:** मध्य अक्षांशीय विस्तार में उपआर्द्र (Sub humid) जलवायु की दशाओं में चरनोजम मृदा विकसित होती है। इस प्रकार की मृदा की ऊपरी सतह काले रंग की तथा निचले स्तर पर चूने की मात्रा के कारण गहरा भूरे रंग की होती है। 'अ' संस्तर से जैव पदार्थ तथा 'ब' संस्तर की चूने की प्रधानता रहती है अत: यह उपजाऊ मृदा है व इसमें गेहूँ की कृषि की जाती है। विश्व के प्रेयरी तुल्य प्रदेशों में, अमेरिका के प्रेयरी प्रदेश, यूरेशिया के पम्पास प्रदेश आदि में चरनोजम मृदा पाई जाती है।

(ii). **भूरी स्टेपी मृदा:** यह मृदा चरनोजम मृदा तथा मरूस्थलीय मृदा प्रदेश का मध्यवर्ती भाग है। जिसमें जैव पदार्थ चरनोजनम की तुलना में कम मात्रा में उपलब्ध होते है अत: इनका रंग भूरा होता है। कैल्शियम की मात्रा ऊपरी भाग में पायी जाती है। इस प्रकार की मृदाएँ विश्व में दक्षिणी अमेरिका, अफ्रीका, एशिया, संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया के मरूस्थलीय उपोष्ण कटिकन्धीय प्रदेशों में पायी जाती है।

(iii). **मरूस्थलीय मृदा:** उष्ण मरूस्थलीय प्रदेशों में इस प्रकार की मृदा पायी जाती है। 'अ' संस्तर पर केशिकीय क्रिया द्वारा चूना, कैल्शियम एकत्रित होता है। वनस्पति कोशिका का अभाव रहता है अत: जैव पदार्थ की कमी व चूने की प्रधानता के कारण मृदा अनुपजाऊ होती है। विश्व के प्रमुख मरूस्थलीय प्रदेशों में अफ्रीका का सहारा, कालाहारी, संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी मरूस्थली, दक्षिणी अमेरिका में अटाकामा मरूस्थल, पश्चिमी आस्ट्रेलिया के मरूस्थली तथा पश्चिमी व मध्यवर्ती एशिया के भागों में मरूस्थलीय मृदाएँ पायी जाती है।

(iv). **रेगुर मृदा:** इसके विकास पर जलवायु व वनस्पति की तुलना में मूल चट्टानों का प्रभाव अधिक पाया जाता है। काले रंग की इस मृदा की उत्पत्ति लावा द्वारा निर्मित बेसाल्ट चट्टानों से होती है। जल की उपलब्धि पर यह मृदा चिकनी व उपजाऊ हो जाती है। भारत में प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग में यह बहुतायत से उपलब्ध है तथा कपास की खेती के लिये उपयुक्त है। अत: इसे कपास/काली मृदा भी कहते है।

(v). **टेरारोसा मृदा:** अंतस्तरीय मृदा है जो भूमध्यसागरीय जलवायु प्रदेशों में पायी जाती है। चूना व कैल्शियम के घुल जाने के पश्चात पदार्थ जल के साथ निचली सतह पर चले जाते हैं तथा अघुलनशील पदार्थ मूल शैल पर पड़े रहते हैं। लौह– आक्साईड की अधिकता रहती है अत: रंग लाल होता है। टेरारोसा मृदा उपजाऊ होती है। भूमध्यसागरीय जलवायु प्रदेशों में विशेषकर भूमध्यसागरीय के आसपास के भूभाग में टेरारोसा मृदा पायी जाती है।

(vi). **रेंडजौना (Reddzina):** यह आर्द्र प्रदेशों में उपलब्ध, चूना पत्थर प्रदेशों में घास के नीचे विकसित काले रंग की मृदा होती है। अपक्षालन प्रक्रिया से अन्य मृदाएँ अनुपजाऊ हो जाती है लेकिन रेंडजौना मृदा उपजाऊ होती है। खनिज तत्वों की उपस्थिति के कारण इसका महत्व बढ़ जाता है।

(vii). **जलोढ़ मृदा (Alluvial Soil):** यह अपरदन कारकों के द्वारा निर्मित मृदाओं में सबसे महत्वपूर्ण है। नदी जल के द्वारा अवसादों के निक्षेप से निर्मित मृदा को जलोढ़ या कॉप मृदा कहते है। परतदार जलोढ़ मृदा उपआऊ होती है। इस मृदा के कण बारीक होते है। नदियों के समीपवर्ती भागों में काफी समय से निक्षेप द्वारा निर्मित मैदानी भाग कृषि की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। बाढ़ के मैदानों, डेल्टाई भागों में प्रतिवर्ष जलोढ़ मृदा का निक्षेप होता रहता है। विश्व की प्रमुख नदियों द्वारा निर्मित प्रदेश भारत में सिंधु सतलज, गंगा, ब्रहमपुत्र, चीन में हांगहों, याग्टीसिक्यांग नदी क्षेत्र, संयुक्त राज्य अमेरिका में मिसीसीपी मिसौरी, ब्राज़ील में अमेजन, रूस में वोल्गा, ईराक में दजला–फरात, आस्ट्रेलिया में मरे – डार्लिंग आदि अनेक घाटियों में जलोढ़ मृदा पायी जाती है। अधिकांशत: कृषि क्षेत्र इन्हीं नदी घाटियों में उपलब्ध होते हैं।

(viii). **लोयस मृदा (Aeoslian or Loes Soil):** शुष्क व अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में वायु के द्वारा उड़ाकर लाये गये पदार्थो के निक्षेप से निर्मित मृदा को वायूढ़ या लोयस मृदा कहते हैं। लोयस का निक्षेप मरूस्थलीय क्षेत्रों से निकटवर्ती तथा दूरस्थ क्षेत्रों में होता है। विस्तृत क्षेत्र में मृदा के जमा होने से लोयस मृदा प्रदेश बनता है। लोयस प्राय: पीले रंग की होती है। दूसरे कण बारीक होते है। इस मृदा में खनिज तत्वों में क्वाटर्ज़, अभ्रक, फेल्सपार, कैल्साइट आदि पाये जाते हैं। चीन में लोयस लगभग 7 लाख वर्ग कि.मी. क्षेत्रफल में पायी जाती है। जल की उपलब्धि पर यह मृदा बहुत ही उपजाऊ होती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, मध्य यूरोप में लोयस मृदा पाई जाती है।

5.7 मृदा की उर्वरता (Soil Fertility)

मृदा की उर्वरता से तात्पर्य मुदा में विद्यमान उपजाऊपन के गुण से है मृदा की उर्वरता तथा उत्पादकता (Productivity) में अंतर होता है। मृदा की उर्वरता भौतिक गुणों से नापी जाती है। उच्च उर्वरता वाली मृदा की उत्पादकता कम हो सकती है जबकि उत्पादकता, जलवायु, सिंचाई, उर्वरक व खादों का उपयोग, कृषि तकनीकी आदि कारकों से प्रभावित होती है। उत्पादकता आँकने में मृदा की उर्वरता भी एक पक्ष है लेकिन साथ ही अन्य कारक भी उत्पादन क्षमता को प्रभावित करते हैं।

मुदा की उर्वरता भौतिक विशेषताओं पर आधारित होती है जिसमें खनिज पदार्थो व जैव तत्वों की मात्रा, मृदा का गइन, जल ग्रहण करने की क्षमता, मृदा के 'अ' संस्तर की गहराई, तथा मूल चट्टानों की प्रकृति आदि कारक इसके विभिन्न स्तर बनाते हैं।वर्तमान में उच्च उर्वरता युक्त मृदाओं से कम उत्पादन प्राप्त हो रहा है जबकि मध्यम उर्वरता वाली मृदाओं द्वारा मानवीय सहयोग से अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा रहा है।

मृदा की सर्वाधिक उत्पादकता उन भागों में पाई जाती है जहाँ मृदा की उर्वरता उच्चतम, जलवायु अनुकूलतम तथा मानव द्वारा उन्नत कृषि तकनीकी का उपयोग होता है। मृदा की उर्वरता की कमी को मनुष्य कृत्रिम तरीकों से पूर्ण कर लेता है। खनिज तत्वों की कमी को खाद व कृत्रिम उर्वरक द्वारा, आर्द्रता की कमी को सिंचाई के साधनों के उपयोग के द्वारा उर्वरता की कमी को पूरा किया जाता है। जलवायु की प्रतिकूलता को भी कृत्रिम साधनों व तकनीकों के उपयोग से कम किया जा सकता है। यद्यपि अधिक उत्पादन के लिये मृदा की उर्वरता आवश्यक है लेकिन अन्य कारकों के प्रभाव से कुछ समय के लिये उत्पादकता क्षमता को बढ़ाया जा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मृदा की उर्वरता भारत की तुलना में निम्न स्तर की है लेकिन प्रति ईकाई उत्पादन अधिक प्राप्त किया जा रहा है।

विश्व में विभिन्न प्रकार की मृदाओं की उर्वरता भी भिन्नता लिये हुए है। लावा के जमाव से निर्मित काली मृदा में खनिज पदार्थो की बाहुल्यता से उर्वरता अधिक है। जलोढ़ मृदा में भी उर्वरता अधिक पायी जाती है अत: उपयुक्त जलवायु दशाओं तथा उन्नत तकनीकी के उपयोग से इस प्रकार की मृदा के प्रदेशों में उत्पादकता काफी बढ़ाई जाती है। जलोढ़ मृदा की उत्पादकता में विभिन्न जलवायु प्रदेशों में अधिक भिन्नता पायी जाती है। मरूस्थलीय प्रदेशों में जलोढ़ मृदा मिलती है लेकिन कृषि उत्पादकता में कमी पाई जाती है।

मृदा की उत्पादन क्षमता सबसे अधिक उन भागों में मिलती है जहाँ उर्वर मृदा की उपलब्धता, अनुकूल जलवायु की दशाएं तथा उन्नत कृषि तकनीकों को संयोग मिलता है। तीनों तत्व, मृदा की उत्पादन क्षमता को मुख्यत: प्रभावित करते है तथा कृषि क्रियाओं में विकास होता है।

5.8 मृदा की समस्यायें (Problems of Soil)

प्राचीनकाल से मृदा मानव सभ्यता की आधार रही है। मृदा संसाधन मानव जौवन के लिये महत्वपूर्ण पक्ष है। विश्व की अधिकांश जनसंख्या अपने जौविकोपार्जन के हेतु कृषि कार्य करती है तथा कृषि के लिये मृदा की उपयोगिता महत्व रखती है। विश्व में मृदा की विशेषताओं व गुणों में असमानताएं पाई जाती है। कहीं पर मृदा की उर्वरता में कमी होने से उत्पादकता कम, तो कही उर्वरता अधिक होते हुए मानवीय क्रियाओं से उत्पादकता कम प्राप्त होती है। मृदा का अपरदन कई क्षेत्रों में प्रतिवर्ष होता रहता है। इस प्रकार से मृदा की दो प्रमुख समस्याएँ है वे निम्न हैं:–

1. उर्वरता ह्रास (Depletion/Degradation of Fertility)
2. मृदा का अपरदन (Soil Erosion)

1. उर्वरता का ह्रास

बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव के कारण मृदा का उपयोग अधिकाधिक किया जा रहा है। फलस्वरूप मृदा की उर्वरता से निरन्तर कमी आ रही है। मृदा की उर्वरता में ह्रास कई कारणों से हो रहा है। मृदा में उपलब्ध खनिज पदार्थो, जैव पदार्थो में कमी से मृदा की उर्वरता कम हो जाती है। सामान्यत: किसी भाग में एक ही फसल के बार – बार बोये जानें से उससे संबंधी किसी एक तल का उपभोग अधिक होता है फलत: उन विशिष्ट तत्वों की कमी हो जाती है। उर्वरता नष्ट होने लगती है। परम्परागत सघन कृषि व कृत्रिम रासायनिक उर्वरकों का अधिक उपयोग भी मृदा की उर्वरता में कमी लाती है। मृदा में आवश्यक खनिज तत्वों व जैव पदार्थो के ह्रास से जल धारण की क्षमता भी कम हो जाती है। मृदा का संगठन ढीला पड़ जाता है तथा मृदा का अपरदन अधिक होता है।

वर्तमान में जनसंख्या के दबाव के कारण कृषक, कृषि भूमि का अधिक उत्पादकता के लिये दुरुपयोग कर रहे है। पड़त भूमि नहीं छोड़ते है। फसलों का हेरफेर आर्थिक कमी के कारण नहीं करते है। उन्नत उर्वरकों के उपयोग में कमी आदि कारणों से निरन्तर मृदा की उर्वरता का ह्रास हो रहा है।

2. मृदा अपरदन (Soil Erosion)

विश्व के आर्द्र एवं शुष्क प्रदेशों में मृदा अपरदन भंयकर समस्या है। प्रतिवर्ष लाखों हेक्टर कृषि योग्य भूमि से उपजाऊ मृदा अपरदित होकर अन्यत्र चली जाती है। मृदा के कटाव में जल तथा वायु प्रमुख कारक है। बहते हुए जल से एक स्थान से मृदा का कटाव तथा दूसरे स्थान पर निक्षेप होता है। मृदा का कटाव यांत्रिक तथा रसायनिक दोनों विधियों से होता है। वायु अपरदन से मरूस्थलीय मृदा अन्यत्र निक्षेपित होकर मरूस्थल का विस्तार करती है। इन कारकों के अतिरिक्त मनुष्य द्वारा भूमि का अनुचित उपयोग, पशुचारण तथा भूमि का ढाल अपरदन में सहायक है।
जल द्वारा मृदा का अपरदन मुख्यत: दो प्रकार से होता है:–

1. पृष्ठ अपरदन (Sheet Erosion)
2. अवनालिका अपरदन (Gully Erosion)

'पृष्ठ अपरदन' धीमें ढाल वाले भू–भाग पर विस्तृत रूप से होता है। अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों में, वनस्पति की कमी से पृष्ठ अपरदन अधिक होता हैं जबकि अवनालिका अपरदन कम ढाल पर पतली नालियों के रूप में तेजौ से बहते हुए जल द्वारा, असंगठित मृदा को बहा ले जाता है। खड़े ढाल वाले कटक (Ridges) बन जाते है।

मृदा अपरदन से भूमि विषम और अनुपजाऊ हो जाती है। मृदा अपरदन मृदा सर्पण (Soil Creep), मृदा प्रवाह (Soil Flow), भूस्खलन (Land slide) आदि प्रक्रमों द्वारा भी होता है। मृदा अपरदन से उत्पन्न कई समस्याओं को दूर करने के लिये वैज्ञानिकों द्वारा मृदा संरक्षण संकल्पना पर जोर दिया गया है। सरकारी नीतियों में भी मृदा संरक्षण को महत्व दिया गया है।

5.9 मृदा संरक्षण व प्रबन्धन (Soil Conservation and Management)

मृदा संसाधन का प्रबन्धन एक बड़ी चुनौती है। मृदा से मानव सभ्यता व उनका विकास जुड़ा हुआ है। मृदा उपयोग का प्रबन्धन हर क्षेत्र के लिये आवश्यक है ताकि भविष्य में मृदा अपरदन तथा उर्वरता ह्रास जैसी व्यापक तथा घातक समस्याओं का समाधान हो सके तथा उपरोक्त समस्याएँ क्षेत्र में और विकराल रूप धारण नहीं कर सकें।

मृदा संरक्षण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मृदा की उर्वरता को बनाये रखने का प्रयास किया जाता है। मृदा अपरदन को रोकना, ताकि मृदा की पूर्व स्थिति बनी रहे तथा उर्वरता के ह्रास में कमी रोकना, मृदा संरक्षण का मुख्य उद्देश्य है। मृदा से वर्तमान में ही नहीं अपितु भविष्य में भी दीर्घकाल तक सतत् रूप से अधिक उत्पादन प्राप्त करते रहने के दृष्टिकोण वे, मृदा संरक्षण अनिवार्य है।

मृदा संरक्षण के उपाय

मृदा सरंक्षण निम्नप्रकार से किया जा सकता है:–

1. **1.उर्वरता के ह्रास को रोकना:** मृदा के प्राकृतिक गुणों को बनाये रखना आवश्यक होता है। मृदा संसाधन के उपयोग का प्रबन्धन व्यवस्थित होने से उर्वरता के ह्रास को रोका जा सकता है। इसके लिए निम्न उपाय आवश्यक है:
   - (i). **फसल चक्र (Crop Rotation):** कृषक द्वारा खेत में लगातार एक ही प्रकार की फसल उत्पादित करते रहने से उस तत्व की, मृदा में कमी हो जाती है जिसका उक्त फसल उपभोग करती है। फलत: मृदा में विभिन्न तत्वों का संतुलन बिगड़ जाता है अत: फसलों में हेर–फेर करके बोने से मृदा के भौतिक गुणों में संतुलन बना रहता है। मृदा संरक्षित रहती है और उसकी उत्पादन क्षमता बनी रहती है।
   - (ii). **कृषि भूमि को परती छोड़ना:** कृषक द्वारा कृषि भूमि से लगातार फसल प्राप्त करते रहने से उसकी उर्वरता में कमी होती है। मृदा जैव तत्वों व खनिज तत्वों में कमी आती है। अत: मृदा की उर्वरता को पुन: तत्वों की कमी को पूर्ण करने हेतु कृषि भूमि का पड़त भूमि के रूप में छोड़ना समयोचित होता है। कृषक द्वारा परती छोड़ी गयी भूमि में उन तत्वों की पूर्ति हो जाती है जिनकी कमी लगातार फसलों के उत्पादित करने से हो जाती है। इस प्रकार कृषि भूमि को परती छोड़ने से मृदा की उर्वरता में वृद्धि होती है। आधुनिक

कृषि तकनीकी के अन्तर्गत परती छोड़ी जाती है लेकिन भारत में गहन कृषि के अर्न्तगत एक फसल ऋतु में परती छोड़ी जाती है।

(iii). **फसल का चुनाव मृदा के अनुरूप:** कृषि भूमि में फसलों का चुनाव मृदा की प्रकृति, प्रकार के अनुरूप होना चाहिये। मृदा की उर्वरा शक्ति के अनुरूप फसल का चयन करने से उत्पादकता में वृद्धि होती है। खनिज तत्वों तथा जैव पदार्थो का अधिक शोषण करने वाली फसलों को अधिक उर्वरता वाली मृदा में, जबकि मिश्रित कृषि या दालों की फसल को कम उर्वरता की मृदा में उत्पादित करना चाहिये। मृदा को क्षमता अनुसार फसलों के चयन से उर्वरता के ह्रास को कम किया जा सकता है।

(iv). **उर्वरकों का उपयोग:** मृदा में फसलों के उत्पादन द्वारा खनिजों तथा जैव पदार्थो की कमी होती है। इस कमी को पूर्ण करने के लिये जैविक और रासायनिक उर्वरकों का उपयोग करने से मृदा की उर्वरता बनी रहती है। गोबर की खाद, हरी खाद, कम्पोस्ट खाद आदि का प्रयोग मृदा की उर्वरता में वृद्धि करता है। रसायनिक व जैविक उर्वरकों का मृदा में उपयोग करने से पूर्व मृदा वैज्ञानिकों द्वारा यह जाँच करवानी चाहिये कि मृदा में किन–किन खनिज तत्वों की कमी है। जिन तत्वों की मृदा में कमी है इसकी पूर्ति हेतु उचित रसायनिक उर्वरक का उपयोग लाभदायक होता

2. **मृदा अपरदन को रोकना:** मृदा समस्याओं में सबसे विचारणीय समस्या मृदा अपरदन है। मृदा के अपरदन से उपजाऊ कृषि भूमि के क्षेत्र में कमी हो रही है तथा अनिश्चितता बनी रहती है। मृदा की उर्वरता व क्षमता को बनाये रखने के लिये मृदा का अपरदन रोकना आवश्यक है। मृदा के नालिका अपरदन, पृष्ठ अपरदन तथा ढाल अपरदन को रोकने के लिये वनस्पति का विकास करना महत्वपूर्ण है। पृष्ठ अपरदन को रोकने के लिये भूमि–सतह पर घास या वृक्ष आदि लगाना आवश्यक होता है। तेज बल के कारण पानी के बहाव के साथ मृदा के कटाव में कमी की जा सकती है। वनस्पतियों के आवरण से मृदा जुड़ी रहती है। ढीली नहीं पड़ती है अत: मृदा कटाव नहीं होता है। मृदा कटाव को रोक कर मृदा का संरक्षण व्यापक रूप से किया जा सकता है।

निम्न प्रबन्धन के द्वारा मृदा अपरदन को रोका जा सकता है –

(i). **जल प्रबन्धन:** भूमि पर जल की अधिकता व जल की कमी दोनों पक्ष कृषि कार्य के लिए अनुपयुक्त होती है। भूमि आर्द्र दलदली व जलमग्न होने के कारण कृषि फसलों के उत्पादन के लिये अनुपयुक्त रहती है जबकि शुष्क प्रदेशों में जलाभाव के कारण कृषि कार्य में उपयोग नहीं लिया जाता है। यदि प्रदेश में जल प्रबन्धन सुचारू होगा तो जलमग्न क्षेत्रों से जल निकासी की व्यवस्था करके कृषि कार्य किया जा सकता है तथा जलमग्न के क्षेत्रों में सिंचाई व्यवस्था करके भूमि से उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है अत: उचित जल प्रबन्धन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से मृदा अपरदन को भी रोका जाता है।

(ii). **वनस्पति आवरण:** ऊपरी सतह पर आवरण फसल (Cover Crops) लगाने से मृदा का अपरदन रोका जा सकता है। वनस्पति विहीन होने पर मृदा अपरदन अधिक होता है अत: वर्षा ऋतु में उड़द, सनई तथा घास लगाने से मृदा के अपरदन को कम किया जा सकता है। वनस्पति आवरण से जैव तन्त्रों की प्राप्ति होती है तथा मृदा की उर्वरता में वृद्धि होती है।

(iii). **पशुचारण पर नियन्त्रण:** कई क्षेत्रों में अनियन्त्रित पशुचारण से वनस्पति का विनाश होता है तथा मृदा उपरदन में वृद्धि। होती है अत: पशुचारण, चरागाह क्षेत्रों में ही करने से, मृदा अपरदन में कमी होती है।

बाढ़ ग्रस्त क्षेत्रों का संरक्षण: बाढ़ ग्रस्त क्षेत्रों में जल बहाव का उचित प्रबंध होना चाहिये ताकि मृदा अपरदन रोका जा सके। बाढ़ ग्रस्त प्रदेशों में बाढ़ के जल से मृदाका अपरदन होता है अत: इन क्षेत्रों में वृक्ष–झाड़ियाँ लगाने से मृदा के अपरदन को रोका जाता है। बाढ़ प्रदेशों में वनस्पति के विकास से मृदा के अपरदन में कमी आती है तथा बाढ़ ग्रस्त क्षेत्रों का संरक्षण होता है।

उपरोक्त सभी उपायों से मृदा का संरक्षण किया जा सकता है। वर्तमान में कृषि भूमि में अधिक उर्वरक के उपयोग से, जल का अनुचित प्रबन्धन, वनों के कटाव, वैज्ञानिक तरीकों से खनन कार्य नहीं करना, घास के मैदानों की कमी, आदि कारकों के द्वारा मृदा अपरदन बढ़ रहा है।

मलचिंग (Stubble Mulching) : फसल काटने के बाद कुछ हिस्सा खेतों में छोड़ना मलचिंग कहलाता है। मलचिंग से मृदा अपरदन नहीं होता है व वाष्पीकरण कम होता है। इस विधि द्वारा भूमि का संरक्षण करना लाभकारी होता है।

पर्वतीय क्षेत्र में तेज ढाल के कारण अपरदन अधिक होता है अत: इन भागों में सीढ़ीनुमा खेती करके मृदा अपरदन को रोका जा सकता है।

बोध प्रश्न–1

1. मृदा निर्माण प्रक्रिया में कौन से तत्व सहायक होते है?
   ....
   ....
2. मृदा पार्श्विका से क्या अभिप्राय है?
   ....
   ....
3. मृदा परिच्छेदिका के B संस्तर की दो विशेषताएं लिखिये।
   ....
   ....
4. मृदा निर्माण प्रक्रिया में कैल्सीफिकेशन प्रक्रिया से क्या अभिप्राय है
   ....
   ....
5. रंग के आधार पर मृदाओं के प्रकार बताइये।
   ....
   ....
6. पेडाल्फर को स्पष्ट कीजिये।
   ....
   ....
7. आक्सीसॉल मृदा की दो विशेषताएँ लिखिये।
   ....

....

8. अल्फीसॉल मृदा सामान्यत: किन क्षेत्रों में प्राप्त होती है?

....

....

9. चरनोजम मृदा विश्व में प्रमुखत: किन भागों में मिलती है?

....

....

10. टेरारोसा मृदा का रंग कैसा होता है?

....

....

11. लोयस मृदा सर्वाधिक किस देश में पायी जाती है?

....

....

12. मृदा की उर्वरता से क्या अभिप्राय है?

....

....

13. मृदा की प्रमुख दो समस्यायें बताइये।

....

....

14. उर्वरता का ह्रास रोकने के लिये दो उपाय लिखिये।

....

....

15. मृदा संरक्षण से क्या अभिप्राय है?

....

....

16. मृदा संरक्षण के किन्ही दो उपायों को बताइये।

....

....

5.10 सारांश (Summary)

प्रस्तुत इकाई में मृदा संसाधन की कृषि क्रियाओं में महत्ता को स्पष्ट किया गया है। मृदा संसाधन का निर्माण किस प्रकार से होता है, निर्माण करने में सहायक तत्वों के अन्तर्गत मौलिक चट्टाने, जलवायु, आर्द्रता, जैविक संसाधनों आदि तत्वों का समयावधि के साथ योगदान रहता है। भौतिक, रसायनिक व जैविक क्रियाओं के माध्यम से मृदा का निर्माण होता है। लेटेराइजेशन कैल्सीफिकेशन पोडजालइजेशन प्रक्रियाएँ मृदा निर्माण में महत्वपूर्ण है।

मृदा की गहराई प्रदेशों में भिन्नता लिये होती है। लम्बवत भाग यानि गहराई की परतों का अध्ययन परिच्छेदिता कहलाती है। मृदा परिच्छेदिका के ए.बी.सी संस्तरों की विशेषताएँ महत्वपूर्ण है। मृदा वर्गीकरण के विभिन्न आधारों का अलग–अलग महत्व है। मृदाओं का कटिबन्धीय रंग के आधार पर मृदा गठन तथा मृदा आकारिकी के आधार पर मृदा वर्गीकरण उपयोगिता विशेष महत्व रखती है। विश्व में विभिन्न प्रकार की मृदाएँ, विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्ध होती है। प्रमुख मृदाओं के प्रकार में टुण्ड्रा, पोडजाल, पेडोकाल, काली, लेटराइट, जलोढ, भूरी, मरूस्थलीय लोयस आदि मृदाओं का कृषि कार्य हेतु उपयोगिता में भिन्नता पाई जाती है। उपरोक्त मृदाओं की विशेषताओं गुणों तथा विश्व वितरण में भिन्नताएं पायी जाती है। मृदा की उर्वरता कृषि गतिविधियों के लिये महत्व रखती है। वर्तमान में मृदा का उचित प्रयोग न होने से कई मृदा की समस्यायें मानवीय आर्थिक क्रियाओं में स्पष्टत: दिखाई देती है। मृदा का अपरदन, मृदा में उर्वरता का ह्रास होना प्रमुख समस्याएं है। बढ़ती हुई जनसंख्या द्वारा मृदा का उपयोग बढ़ता जा रहा है। फलत: मृदा संरक्षण के द्वारा मृदा की उर्वरता को बनाये रखना तथा मृदा अपरदन को रोकना प्रमुख उद्देश्य है अत: मृदा संसाधन सम्बन्धी नीतियों तथा उचित उपयोग द्वारा मृदा का संरक्षण करना, मानव के लिये कल्याणकारी तथा भविष्य में प्रादेशिक विकास के लिये आवश्यक है।

5.11 शब्दावली (Glossary)

- **मृदा:** धरातल पर मिलने वाले असंगठित पदार्थों की ऐसी परत जो मूल चट्टान वानस्पतिक अंश के संयोग से बनती है।
- **मृदा परिच्छेदिका:** भूसतह से मूल चट्टानों तक की विभिन्न परतों का अभिलेख।
- **मृदा संस्तर :** मृदा की परतें।
- **मृदा विकास:** मूल चट्टानों का अपक्षय एवं जौवांशों के मिलने से।
- **मृदा अपक्षालन:** जैव व खनिज तत्त्वों का निचले संस्तर पर चले जाना।
- **कैल्सीफिकेशन:** मध्य अक्षांशीय अर्द्धशुष्क प्रदेशों में मृदा की ऊपरी सतह के निकट कैल्शियम कार्बोनेट के संचय की क्रिया
- **मृदा अपरदन:** मृदा का कटाव।
- **जलोढ़:** नदियों द्वारा निक्षेपित मृदा।
- **वायुढ़:** वायु द्वारा निक्षेपित मृदा।
- **हिमोढ़:** हिमानी द्वारा निक्षेपित।
- **पेडाल्फर मृदा:** मृदा व एल्यूमिनियम+फेरियन अर्थात् जिसमें एल्यूमिनियम व लोहांश की मात्रा अधिक होती है।
- **पेडोफाल मृदा:** ऐसी मृदा जिसमें कैलशियम की मात्रा अधिक होती है।
- **टुण्ड्रा मृदा:** शीत प्रदेशों में कम विकसित मृदा।
- **अपार्श्विक मृदा:** अविकसित मृदा जिसमें परिच्छेदिका स्पष्ट नहीं होती।
- **दोमट मृदा:** बारीक कणों वाली मृदा।
- **अम्लीय मृदा :** अम्लीय तलों की बहुतायत वाली मृदा।
- **CSCS:** Comprehensive Soil Classification System.

- **लोयस मृदा:** शुष्क व अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में वायु के द्वारा उड़ाकर लाये गये पदार्थों के निक्षेप में निर्मित।
- **मृदा उर्वता:** मृदा में विद्यमान उपाऊपन के गुण।
- **उर्वरता ह्रास:** मृदा में उपलब्ध खनिज पदार्थो व जैव पदार्थों की कमी होना।
- **मृदा संरक्षण:** मृदा की उर्वरता को बनाये रखने का प्रयास।
- **फसल चक्र:** बोई जाने वाली फसलों में हेर –फेर करना।
- **मलचिंग:** फसल काटने के उपरान्त फसल का कुछ हिस्सा खेतों में छोड़ना।

5.12 संदर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. गुर्जर एवं जाट: मानव व आर्थिक भूगोल, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 2006।
2. मोहम्मद हारून: आर्थिक भूगोल के मूल तत्व, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2003।
3. सिंह एवं सिंह: आर्थिक भूगोल के मूल तत्व, ज्ञानोदय प्रकाशन, गोरखपुर, 2001।
4. एस. डी. कौशिक: आर्थिक भूगोल के मूलतत्व, रस्तोगी प्रकाशन, मेरठ, 2003।
5. श्रीवास्तव, वी.के. एवं राव, बी.पी. : आर्थिक भूगोल, वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर, 2003।

5.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

1. मृदा निर्माण में मुख्यत: मूल चट्टाने जलवायु (तापमान आर्द्रता व हवाएँ) भूमिका ढाल, वनस्पति, जौव जन्तु, मानव तथा समय अवधि तत्वों का सहयोग रहता है।
2. मृदा का लम्बवत भाग, जिसके द्वारा मृदा की गहराई यानि भूतल के नीचे की ओर से मूल चट्टानों तक की विभिन्न परतों का अभिलेख, मृदा पार्श्विका/परिच्छेदिका कहलाती है।
3. मृदा परिच्छेदिका का B संस्तर
   (i). खनिज पदार्थ तथा जैव पदार्थ अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है।
   (ii). शुष्क प्रदेशों में केशिकीय क्रिया द्वारा घुलनशील पदार्थो का जमाव इस संस्तर में हो जाता है।
4. मृदा निर्माण प्रक्रियाओं में कैल्सीफिकेशन मध्यअक्षांशीय अर्द्ध शुष्क प्रदेशों में मृदा की उपरी सतह के पास कैल्शियम कार्बोनेट के जमाव की क्रिया को कैल्सीफिकेशन कहते है।
5. रंग के आधार पर मृदा के तीन प्रकार – काली मृदा, भूरी मृदा, लाल मृदा।
6. पेडाल्फर मृदा के प्रकार में एल्यूमिनीयम व लोहांश की मात्रा अधिक होती है। तीन शब्दों से मिलाकर बना है। ped + Al + Fe यानि मृदा + एल्यूमिनियम + फेरियम (लोहांश)
7. आक्सीसॉल मृदा (i) आक्साइड की अधिकता रहती है, (ii) उष्ण कटिबन्धीय प्रदेशों में अधिक उपलब्ध होती है।
8. उल्फीसॉल मृदा सामान्यत: आर्द्र जलवायु प्रदेशों में विशेष कर भूमध्य सागरीय जलवायु प्रदेशों में मिलती है।
9. चरनोजम मृदा मुख्यत: उत्तरी अमेरिका के प्रेयरी प्रदेश, यूरेशिया के स्टेपी प्रदेश आदि में मिलती है।
10. टेरारोसा मृदा का रंग लाल होता है।

11. लोयस मृदा सर्वाधिक चीन में पायी जाती है।

12. मृदा की उर्वरता अर्थात मृदा में उपजाऊपन के गुण से हैं।

13. मृदा की दो प्रमुख समस्यायें हैं –

    (i). उर्वरता का ह्रास।

    (ii). मृदा का अपरदन।

14. 14.उर्वरता की दो प्रमुख समस्यायें

    (i). फसल चक्र न अपनाना।

    (ii). कृषि भूमि को परती नहीं छोड़ना।

15. मृदा संरक्षण यानि उपलब्ध मृदा की उर्वरता को बनाये रखना तथा मृदा कटाव को रोकना, मृदा संरक्षण प्रक्रिया है।

16. मृदा संरक्षण के दो उपाय

    (i). उर्वरता के ह्रास को रोकना

    (ii). मृदा अपरदन को रोकना

5.13 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. मृदा निर्माण में कौन–कौन से तत्वों का योगदान होता है तथा उनकी निर्माण प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिये?
2. मृदा परिच्छेदिका पर सचित्र एक भौगोलिक लेख लिखिये।
3. विभिन्न आधारों के अनुसार मृदा वर्गीकरण का विश्लेषण कीजिये।
4. विश्व में उपलब्ध प्रमुख मृदाएँ तथा उनका विश्व वितरण बताइये।
5. मुदा की प्रमुख समस्याओं को बताते हुए मृदा संरक्षण को सविस्तार से समझाइये।

इकाई 6 : कृषि के मानवीय अवधारक (Human Determinants of Agriculture)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 जनसांख्यकीय कारक

6.2.1. कृषि पर निर्भर जनसंख्या का वितरण

6.2.2. कृषि में क्रियाशील जनसंख्या का अनुपात

6.2.3. कृषित भूमि पर कृषि पर निर्भर जनसंख्या का घनत्व

6.3 भूमिस्वामित्व

6.3.1. सामूहिक भूमिस्वामित्व

6.3.2. बड़ी इस्टेट भूमिस्वामित्व

6.3.3. भूस्वामी कृषक

6.3.4. असामी कृषक

6.4 जोत का आकार एवं वितरण

6.5 विज्ञान तथा तकनीकी का कृषि में योगदान

6.6 शासकीय नीतियाँ

6.7 परिवहन एवं संचार

6.8 व्यापार

6.9 सारांश

6.10 शब्दावली

6.11 संदर्भ ग्रन्थ

6.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.13 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे:

1. भौतिक कारकों की भांति मानवीय कारक भी कृषि के स्वरूप निर्धारित करने में अहम् भूमिका निभाते हैं,
2. कृषि पर निर्भर तथा कृषक जनसंख्या का जोत के आकार तथा कृषि के विकास से संबन्ध,
3. भूमिस्वामित्व तथा जोत का आकार का कृषि विकास पर प्रभाव,
4. विज्ञान तथा तकनीकी का कृषि विकास के क्षेत्र में योगदान,
5. सरकार द्वारा कृषि का नियंत्रण एवं संचालन,
6. परिवहन, संचार एवं व्यापार का विभिन्न स्तर की कृषि पर पड़ने वाला प्रभाव।

6.1 प्रस्तावना (Introduction)

कृषि प्राकृतिक तत्वों के साथ मानवीय कारकों से भी प्रभावित होती है। "जौवनयापन की विधि" अथवा "एक व्यवसाय" दोनों रूपों में मानव और उसके द्वारा निर्मित सामाजिक – आर्थिक ढाँचे का कृषि के स्वरूप पर अमिट प्रभाव पड़ता है। स्टेम्प ने भूमि उपयोग को प्रभावित करने वाले कारकों को तीन समूहों में रखा है, जिसमें प्रथम प्राकृतिक कारकों को छोड़कर शेष दो समूह– ऐतिहासिक कारक तथा सामाजिक – आर्थिक मानवीय कारकों के हैं। कुछ भूगोल वेत्ताओं ने इन्हें आर्थिक तथा संस्थागत–सामाजिक कारकों की श्रेणियों में रखा है। इन कारकों में कृषकों की संख्या तथा उनकी मनोवृत्ति, भूमिस्वामित्व का स्वरूप, खेतों का आकार, आकृति और वितरण,कृषि उपकरण एवं मशीनें, सिंचाई, बाजार, परिवहन तथा सरकारी नीतियाँ आदि प्रमुख हैं। ये सभी कारक अन्योन्याश्रित हैं। ये एक दूसरे के कारण एवं परिणाम हो सकते हैं। कृषि की उत्पादकता तथा फसल के प्रकार निर्धारण में इनका एकांकी अथवा संयुक्त प्रभाव पडता है।

इन कारकों का प्रभाव विश्वस्तर पर देखा जा सकता है। सघन बसे दक्षिणपूर्वी एशिया तथा विरल बसे उत्तरी अमेरिका की कृषि की विशेषताओं में अन्तर के कारणों में सामाजिक–आर्थिक कारक प्रमुख हैं। प्रतिकूल वातावरण को कृषि योग्य बनाना, जैसे शुष्क भागों में सिंचाई, दलदलों में जल–प्रवाह बनाना, श्रम और समय बचाने वाली तकनीकी का उपयोग, उत्पादकता बढ़ाने के साधनों का उपयोग, बाजार और उत्पादक क्षेत्रों को जोड़ना आदि इन कारकों के प्रभाव के प्रमाण हैं। सामाजिक कारकों का प्रभाव उन क्षेत्रों में देखा जा सकता हैं जहाँ प्रवासी कृषक बसे हो। अमेरिका में यूरोपीय प्रवासियों द्वारा की जाने वाली कृषि इसका उदाहरण है। इनकी कृषि की प्रक्रियाएँ स्थानीय कृषकों से पूर्णतः भिन्न होती हैं। अधिक कठिन काम करना, फसल की विविधता, पशुपालन, भूस्वामी, लगानदार प्रथा को छोड़ना आदि इनकी विशेषताएँ है। इसलिए कोलमारगेन (1941) ने इन्हें 'सांस्कृतिक द्वीप' कहा है। क्षेत्रीय स्तर पर तो इनका प्रभाव अधिक स्पष्ट होता है। नगरों के सीमांत क्षेत्रों की कृषि आन्तरिक ग्रामीण क्षेत्र से भिन्न होती है। नगरीय बाजार, आर्थिक संस्थाओ की सुविधा तथा परिवहन की सुविधा के कारण नगरीय सीमांत में कृषि अधिक विकसित होती है।

सामाजिक तथा जनांकिकी विशेषताओं के साथ कृषक की वैयक्तिक विशेषताओं का भी प्रभाव कृषि पर पड़ता हैं। कृषि सम्बन्धी अध्ययनों में इन पक्षों पर बहुत कम विचार किया गया है (विलियम्स 1963)। कृषि के स्वरूप के विश्लेषण में इन पक्षों के महत्व को स्तर 1970 के दशक में स्वीकार किया गया। ब्रिटेन में इस तरह के कई अध्ययन हुए हैं (इलबेरी 1978)। कृषक के वैयक्तिक गुणों का प्रभाव मुख्यरूप से अभिज्ञानों (innovations) के अधिग्रहण पर पड़ता है। यह पाया गया है कि कृषकों का कृषि में सलग्र रहने का निर्णय उनकी अनुभूति, उद्देश्यों एवं मूल्यों से बहुत अधिक प्रभावित होता है (गूथर 1963)। ऐसे में वह स्वयं का स्वामी बना रहता है और निर्णय लेने में स्वतंत्र होता है। कई छोटे कृषक अपनी छोटी खेती में इसी सामाजिक प्रतिष्ठा के कारण कड़ी मेहनत करते रहते हैं, यद्यपि उससे उनको आर्थिक आय बहुत कम होती है।

6.2 जनसांख्यकीय कारक (Demographic Factors)

मानव के विभिन्न गुण भूमि के उपयोग को प्रभावित करते है। इनमें कृषकों की संख्या बहुत महत्वपूर्ण है। यह संख्या एक ओर तो श्रम की पूर्ति तथा उससे सम्बन्धित बातों को प्रभावित

करती है, वहीं वह भूमि उपयोग तथा कृषि उपजों की माँग को भी प्रभावित करती है। वहीं वह भूमि उपयोग तथा कृषि उपजों की माँग को भी प्रभावित करती है। भूमि उपयोग भी अपनी वहन – क्षमता के माध्यम से जनसंख्या को प्रभावित करता है। इस प्रकार जनसंख्या एवं भूमि उपयोग का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। विश्व में कृषक – जनसंख्या के वितरण के विश्लेषण से उनका विभिन्न क्षेत्रों की कृषि से सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

6.2.1 कृषि पर निर्भर जनसंख्या का वितरण (Distribution of Agricultural Population)

विश्व की कुल जनसंख्या का 2/5 भाग (सन् 2004 में 40.3 प्रतिशत) जनसंख्या कृषि और उससे सम्बन्धित कार्यो पर निर्भर है। विश्व के कुछ देशों में इसका वितरण तालिका 6.1 में प्रस्तुत किया गया है। इस तालिका से सुस्पष्ट है कि विश्व की कुल कृषि पर

तालिका – 6.1: कृषि में संलग्न जनसंख्या एवं उसका कृषियोग्य भूमि पर घनत्व, 2004

देश	कृषि पर निर्भर जनसंख्या 000	कुल का %	विश्व की जनसंख्या का %	कृषि में सलग्न %	विश्व की %	कृषिय घनत्व
विश्व (2000)	2566994	40.2	100	44.7	100	184
अफ्रीका	441250	57.8	17.2	63.2	11.97	249
इथियोपिया	58408	80.7	2.3	82.4	1.14	584
नाइजौरिया	37827	29.8	1.5	33.3	1.99	134
कांगो डेमो रिप.	33355	61.3	1.3	63.2	0.85	498
तंजानिया	29638	78.7	1.2	80.4	0.59	741
कीनिया	23873	73.6	0.9	75.4	0.51	531
युगांडा	20854	78.1	0.8	80.1	0.42	412
सूडान	19708	57.4	0.8	61.1	0.54	121
मोज़ाम्बिक	15408	80.3	0.6	80.6	0.3	395
मैडागास्कर	12974	72.5	0.5	74.2	0.28	447
बुरकिना फासो	12345	92.2	0.5	92.3	0.21	305
घाना	11948	55.9	0.5	56.9	0.34	302
नाइजर	10782	86.8	0.4	87.8	0.19	240
माली	10549	78.7	0.4	81	0.21	228
मालावी	10030	81.3	0.4	82.9	0.19	478
उ.म. अमेरिका	52397	10.8	2	8.8	7.64	20
द. अमेरिका	62871	18.2	2.4	17.8	5.42	65
एशिया	1942810	52.9	75.7	56.3	57.58	392
चीन	849418	64.3	33.1	66.9	20.71	619
भारत	624816	57.8	24.3	59.6	16.95	386
इंडोनेशिया	101640	45.7	4	48.4	3.49	496

बांगलादेश	77454	51.8	3	55.6	2.35	952
पाकिस्तान	70970	45.1	2.8	47.1	2.47	333
वियत नाम	54185	65.7	2.1	67.3	1.29	874
म्यांमार	34543	68.9	1.3	70.2	0.79	349
थाईलैण्ड	33625	53	1.3	56.5	1	212
नेपाल	23872	92.8	0.9	93	0.4	783
अफगानिस्तान	14577	67	0.6	67	0.34	184
यूरोप	61595	8.5	2.4	8.6	11.4	21
ओसिनीया	6071	19.9	0.2	18.7	0.48	12

स्रोत:– एफ. ए. ओ. स्टेटिस्टिकल इयरबूक 2004

निर्भर जनसंख्या का एक – तिहाई से अधिक (33.6 प्रतिशत) पूर्वी एशिया–चीन, कोरिया और जापान में; एक–तिहाई (31.5 प्रतिशत) दक्षिण एशिया – भारत, बंगलादेश, पाकिस्तान, भूटान, नेपाल और श्रीलंका में तथा 10.6 प्रतिशत दक्षिणपूर्वी एशियाई देशों में निवास करती है। इस प्रकार अकेले एशिया महाद्वीप में 75.7 प्रतिशत कृषिय जनसंख्या रहती है। अन्य क्षेत्रों में – अफ्रीका में 17.2 प्रतिशत कृषक जनसंख्या है। उल्लेखनीय है कि ये सभी क्षेत्र जौवन निर्वाह कृषि तथा रोपण कृषि के क्षेत्र हैं। विकासशील क्षेत्रों में विश्व के 96.7 प्रतिशत से अधिक कृषक – जनसंख्या है, जबकि यहाँ कुल जनसंख्या का $^3/_4$ भाग ही है। इसके विपरीत विकसित एवं अर्द्ध विकसित देशों में यद्यपि विश्व की एक – चौथाई से अधिक जनसंख्या है, परन्तु यहाँ कृषि में लगी जनसंख्या का केवल 3.3 प्रतिशत है। इन देशों में विश्व की कुल कृषियोग्य भूमि का 52.5 प्रतिशत से अधिक है।

6.2.2 कृषि में क्रियाशील जनसंख्या का अनुपात (Working Population Engaged in Agriculture)

एशिया में कृषि में लगी भारी जनसंख्या यहाँ की अधिक जनसंख्या के कारण ही नहीं, बल्कि इन भागों में कृषि का जौवनयापन का मुख्य साधन होना है। निर्माण उद्योग अविकसित है। ऐसी दशा में बेरोज़गार होने के स्थान पर कृषि कार्य करना उचित समझा जाता है, क्योंकि इससे कुछ अतिरिक्त खाद्यान्न पैदा हो जाता है। अतएवं अधिकांश क्रियाशील जनसंख्या इसी में लगी है। सन् 2004 में एशिया महाद्वीप में आधे से अधिक (56.3 प्रति.) क्रियाशील जनसंख्या कृषि में लगी है। यह अनुपात भूटान में 93.8 प्रतिशत और नेपाल में 93.0 प्रतिशत तक है। दक्षिणपूर्वी एशियाई देशों में यह 60 प्रतिशत से अधिक है। भारत में 59.6 प्रतिशत क्रियाशील लोग खेती में सलग्र हैं। अफ्रीका महाद्वीप में कृषि में कार्यरत जनसंख्या का अनुपात (63.2 प्रति.) और भी अधिक है। यहां 12 देशों में 80 प्रतिशत से भी अधिक क्रियाशील जनसंख्या का हिस्सा कृषि में लगा है। विश्व के 55 बड़े देश ऐसे हैं जहाँ के औसत (44.7 प्रति.) से अधिक जनसंख्या खेती करती है। इनमें से 34 देश अकेले अफ्रीका महाद्वीप में और 16 देश एशिया महाद्वीप में है।

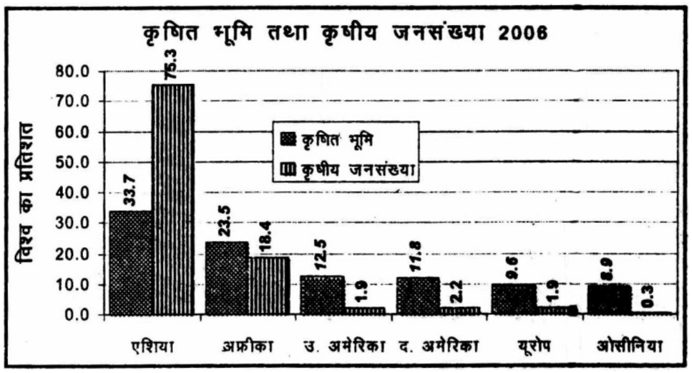

चित्र 6.1 महाद्वीपवार कृषित भूमि तथा कृषि पर निर्भर जनसंख्या का वितरण

लैटिन अमेरिका में स्थिति एशिया से भिन्न है। यहाँ एक – पचमांश से कम क्रियाशील जनसंख्या कृषि में लगी है। दक्षिणी अमेरिका का औसत केवल 17.8 प्रतिशत है। इन विकासशील क्षेत्रों की तुलना में विकसित क्षेत्रों मे कृषि पर निर्भरता इतनी अधिक नहीं है। उत्तरी अमेरिका, पश्चिमी यूरोप, अर्जेन्टाइना, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड में अल्पांश जनसंख्या, दशमांश से कम, ही कृषि कार्य करती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में इससे भी कम, केवल 2.1 प्रतिशत ही कृषकों का अनुपात है, जबकि विश्व में कई उपजों का प्रमुख उत्पादक देश है।

इस तरह विकासशील देशों में गरीबी का एक मुख्य कारण कृषि पर अत्यधिक निर्भरता है जिससे कृषि भूमि का बहुत शोषण किया जाता है, फिर भी कृषि जौवन निर्वाह प्रकार की ही रह जाती है। इनकी कृषि की विधियाँ, उपकरण आदि पिछड़े प्रकार के होते हैं, क्योंकि यहाँ प्रति व्यक्ति उत्पादकता ही बहुत कम होती है और कृषि के आधुनिकीकरण के लिए व्यय कर पाना संभव नहीं होता।

दूसरी ओर कृषि में लगी कम और बहुत कम जनसंख्या वाले देश विकसित और अर्धविकसित देश हैं, जहाँ श्रम के स्थानापन्न के रूप में विविध मशीनों और उपकरणों का उपयोग आवश्यक हो जाता है।

6.2.3 कृषित भूमि पर कृषि पर निर्भर जनसंख्या का घनत्व (Density of Agricultural Population on Cultivated Land)

कृषिय घनत्व (कृषित भूमि के प्रति इकाई पर कृषि पर निर्भर जनसंख्या का घनत्व) कृषि की संरचना और प्रकार की व्याख्या में अधिक सहायक है। औसत रूप से (सन् 2004 में) विश्व में कृषियोग्य भूमि के प्रति वर्ग किलोमीटर 184 कृषि पर आश्रित व्यक्ति रहते हैं। कुल 80 देशों में यह घनत्व इस औसत से अधिक है, जिनमें से 34 अफ्रीका, 27 एशिया, 9 मध्य अमेरिका और 5 ओसीनिया में स्थित हैं। महाद्वीपवार यह घनत्व एशिया में सर्वाधिक (392 व्यक्ति) और अफ्रीका में बहुत अधिक (249 व्यक्ति) है। इसके विपरीत दक्षिणी अमेरिका (65), यूरोप (21), उत्तरी एवं मध्य अमेरिका (20) और ओसीनिया (12) का औसत बहुत कम है। देशों में कनाडा में 1 व्यक्ति, आस्ट्रेलिया में 2 तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में 3 व्यक्ति से लेकर बंगलादेश में 952 तथा भूटान में 1554 व्यक्ति तक है। दक्षिणपूर्वी तथा पूर्वी एशिया पुन: शीर्षस्थ हैं (चित्र 6.2)। यहाँ चीन, कोरिया, वियतनाम तथा इंडोनेशिया में कृषित भूमि के प्रति वर्ग कि.मी. पर 200 से अधिक कृषक जनसंख्या है। बंगलादेश, नेपाल और भारत में घनत्व अधिक है। एशिया के अन्य भागों में

इतना अधिक घनत्व नहीं है। इस क्षेत्र से बाहर मिस्र, कीनिया और तंजानिया में भी कृषिय घनत्व 200 व्यक्ति से अधिक है।

इनके विपरीत उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका में अर्जेन्टाइना, यूरुग्वे; आस्ट्रेलिया रूस और यूरोप के अधिकांश देशों में कृषित भूमि के प्रति वर्ग कि.मी. 10 व्यक्ति से कम हैं। इस प्रकार कम घनत्व और कृषि की विधि तथा स्तर का विपरीत सम्बन्ध दिखायी देता है। कम घनत्व वाले भागों में उस प्रकार की भूमि विकसित की गई है, जिसके लिए कम श्रम की आवश्यकता हो अत: यहाँ गेहूँ की खेती और पशुपालन अधिक विकसित हुआ। ये देश मशीनीकरण और वैज्ञानीकरण की विधियों को अपनाकर उत्पादकता बढ़ा रहे हैं, जिससे कृषक जनसंख्या का अनुपात क्रमश: घटता जा रहा है और ये बचे श्रमिक उद्योगों में व्यवसाय पा रहे हैं। दबाव कम होने के कारण बड़े फार्म और भूस्वामित्व कृषक परम्परा है (ग्रिग 1971)।

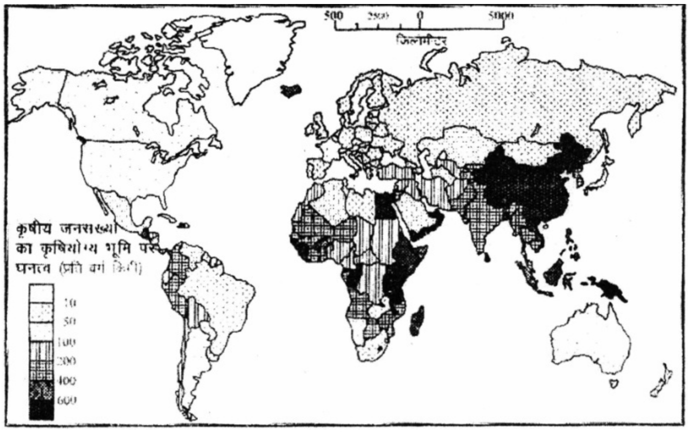

चित्र – 6.2: विश्व में कृषि में संलग्न जनसंख्या का कृषि योग्य भूमि पर घनत्व, 2004

दूसरी ओर जहाँ घनत्व अधिक है, गहन कृषि आवश्यक हो जाती है। ऐसी फसलें पैदा की जाती हैं जो अधिक से अधिक लोगों को भोजन दे सकने में सक्षम हों। ऐसी फसलों में चावल प्रमुख है। अधिक लोगों को भोजन देने की क्षमता के कारण ही दक्षिणपूर्वी एशिया की यह प्रधान फसल है। अन्य व्यवसायों के अभाव के कारण, सीमान्त लाभ न्यूनतम होते हुए भी लोग कृषि में लगे हैं। दक्षिणी एवं पूर्वी एशिया में श्रमिकों की उत्पादकता बहुत कम है। इसका कारण है कि एक तो किराए के श्रमिक कम हैं, अत: लाभ न होते हुए भी जौवनयापन के लिए कृषि करते हैं। दूसरे, श्रमिकों की मजदूरी दर भी बहुत कम है। कृषि का पिछड़ा होना, कृषक की क्रमश: घटती उत्पादकता, जोतों का छोटा होना तथा भूमिहीन कृषकों की बढ़ती संख्या बहुत सीमा तक अधिक घनत्व के परिणाम हैं।

कृषिय घनत्व और कृषि के प्रकार, आकार और संरचना का सम्बन्ध भारत के उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है (जसबीर सिंह, 1974 पृ. 79 – 84)। भारत के उन भागों में कृषिय घनत्व अधिक है जहाँ मिट्टी धरातल और जल की सुविधाओं के कारण गहन कृषि संभव है, जैसे कि उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल तथा आसाम की घाटी के नदी तटीय तथा बाढ़ के मैदान और डेल्टा क्षेत्रों में जलोढ़ मैदान हैं। आसाम के पहाड़ी क्षेत्र, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और जम्मू व कश्मीर के कुछ पर्वतीय क्षेत्रों में भी कृषि की उत्पादकता अधिक होने के कारण अधिक कृषिय घनत्व है। यहाँ अधिक घनत्व और गहन कृषि का सीधा सम्बन्ध दिखाई देता है। जोत छोटी से बहुत छोटी है।

दूसरी ओर, निम्न घनत्व उन भागों पर है जो न्यून वर्षा और अनुपजाऊ मिट्टी के भाग हैं। यहाँ कृषि विस्तृत और जौवन निर्वाह प्रकार की है, जोत का आकार मध्यम है। ऐसे क्षेत्रों में कर्नाटक पठार, तेलंगाना और महाराष्ट्र पठार, राजस्थान और गुजरात के अर्धशुष्क तथा शुष्क भाग मुख्य हैं।

6.3 भूमिस्वामित्व (Land Tenure)

कृषि–विकास के लिए यह आवश्यक है कि वास्तविक खेतिहर को इसके लिए प्रेरणाएँ मिले। भूमिस्वामित्व प्रेरणादायक कारकों में एक है। प्रारम्भ में कृषित भूमि पर सामुदायिक अधिकार होता था, परन्तु वर्तमान समय में विश्व के अधिकांश देशों में भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार प्राप्त है। रूस, चीन और पूर्वी यूरोप के कुछ देशों में सामुदायिक कृषि की प्रथा प्रचलित है। विकासशील देशों में व्यक्तिगत स्वामित्व बढ़ा है। यहाँ भूमि पर अधिकार समृद्धता का सूचक है। भूमि – अधिकार से तात्पर्य ऐसे समझौते से है जिसके फलस्वरूप भूमि पर कब्जा प्राप्त होता है अत: इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की कास्तकारी तथा भूमिस्वामित्व सम्मिलित हैं।

भूमि स्वामित्व कृषि को कई तरीकों से प्रभावित करता है, जिनमें प्रमुख हैं (साइमन, 1968, पृ. 65 – 66):–

1. भूमि का अधिकार कृषि–विकास की योजना बनाने और उनके लाभों की अवधि निश्चित करता है।
2. इसके माध्यम से ही भूमि के विकास में लगी पूँजी के उपयोग का अधिकार भी मिलता है।
3. कृषि के विकास के लिए आवश्यक पूँजी की सुविधाएँ (साख, ऋण आदि) भूमि स्वामित्व के प्रकार पर निर्भर होती हैं।
4. भूमि तथा अन्य गतिशील वस्तुओं के विकास में लगाई जाने वाली पूँजी की मात्रा भी भूमि स्वामित्व के प्रकार पर ही निर्भर होती है।
5. अधिकार प्राप्त करने के लिए देय किराया या लगान की मात्रा फलत: सीमान्त आय भी इसी पर निर्भर होती है।
6. कृषि का विस्तार, भूमि को बेचना, किराए पर देना आदि स्वामित्व के प्रकार पर निर्भर होता है।

भूमिस्वामित्व की व्यवस्था कृषक समुदाय में अशांति का मुख्य कारण है। असंतुलित व्यवस्था चीन की क्रांति में एक मुख्य कारण थी। अभी भी अधिकांश एशिया और लैटिन अमेरिका में इस व्यवस्था में संशोधन की तीव्र आवश्यकता महसूस की जा रही है। भूमिस्वामित्व में बहुत अधिक प्रादेशिक विभिन्नता है, फिर भी इन्हें प्रमुखत: चार प्रकारों के अन्तर्गत रख सकते हैं:–

1. सामूहिक भूमिस्वामित्व (Communal tenure)।
2. बड़ी इस्टेट भूमिस्वामित्व (The latifundium or large estate)।
3. भूस्वामी कृषक (Free–holds or Landlord Cultivators)।
4. असामी कृषक (Tenant)।

6.3.1 सामूहिक भूमिस्वामित्व (Communal tenure)

इसकी परम्परा बहुत प्राचीन है तथा वर्तमान समय में भी इसके विभिन्न रूप मिलते हैं जैसे कि मैक्सिकों के एजिदो (ejido), इजरायली किब्बुट्ज़ (Kibbutz), रूस तथा पूर्वी यूरोप में कोलखोज (kolkhoz) सा सामुदायिक फार्म तथा चीन में कुंग –शी (kung–she) या कम्यून (commune) सहकारी फार्म। इस प्रथा में भूमि पर व्यक्तिगत अधिकार न होकर गाँव अथवा समाज का सामूहिक अधिकार होता है, समाज के सदस्य के नाते व्यक्ति को भूमि के उपयोग का अधिकार मिलता है। ऐसी व्यवस्था में मुद्रादायनी फसलों का उत्पादन सीमित ही हो पाया है। फिर भी मूलत: यह व्यवस्था व्यापारिक कृषि के विरोध में नहीं है। यह इजरायल, रूस, चीन आदि की भूमिस्वामित्व व्यवस्था से स्पष्ट है। फिर भी इस व्यवस्था में व्यक्तिगत लाभ नहीं है। इसलिए कृषि की उन्नति अधिक नहीं हो पाती, जैसे कि रूस में है। वहाँ व्यक्तिगत भूमि पर सामुदायिक भूमि की तुलना में उपजदर बहुत अधिक है। इसी कारण पोलैण्ड और यूगोस्लाविया में व्यक्तिगत लाभ की भी व्यवस्था की गई है। केवल इजरायल में यह परम्परा बहुत सफल है।

6.3.2 बड़ी इस्टेट भूमिस्वामित्व (The latifundium or large estate)

यह भूमिस्वामित्व परम्परा प्राचीन समय में थी और वर्तमान में भी अधिकांश भूमध्यसागरीय देशों में विशेषत: पुर्तगाल, स्पेन, दक्षिणी इटली, मध्यपूर्व दक्षिणी एशिया (विशेषत: फिलीपाइन्स में) तथा लैटिन अमेरिका के देशों में पाई जाती है। सामान्तकाल से भूमि विरासत में मिली है। ऐसे विरासती फार्म दो प्रकार के हैं एक जिनके स्वामी कृषि नहीं करते बल्कि भूमि को लगान पर खेतिहरों को देते हैं, दूसरे वे हैं जिनके स्वामी विभिन्न प्रकार के श्रमिकों का उपयोग करके कृषि करवाते हैं। भूमध्यसागरीय तथा एशियाई विरासती कृषक तो प्रधानत: प्रथम प्रकार के हैं, परन्तु लैटिन अमेरिकी विरासती कृषक दूसरे वर्ग के हैं। ब्राज़ील में प्रवासी कृषकों को बड़े फार्म दिये जाते थे जिन पर वे कहवा के बगीचे लगाते थे। बदले में उन्हें बीच – बीच में खाद्यान्न पैदा करने की अनुमति होती थी।

ऐसे सरकारी फार्म सोवखोज (Sovkhoz) कजाकिस्तान की स्टेपी भूमि, पश्चिमी साइबेरिया में हैं। इनका आकार सरकारी फार्मो से दुगुना (औसतन 30,000 एकड़) होता है। ये फार्म केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में है तथा मैनेजर तथा श्रमिकों की मदद से कृषि की जाती है।

आधुनिक बड़े आकार के रोपण कृषि के फार्म इन इस्टेट फार्म से कई दृष्टियों से भिन्न है। रोपण फार्मो में अधिक पूँजी का निवेश होता है। श्रमिकों का पारिश्रमिक तथा शर्ते आपसी संविदा द्वारा निर्धारित होती है।

पूँजीवादी देशों में जहाँ व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्रथा है, बड़े रभाकार के फार्मो की संख्या बढ़ रही है। उत्तरी अमेरिका तथा पश्मिची यूरोप में कारपोरेट संरचना वाले फार्म हैं। ये तकनीकी विकास और व्यवस्था में सर्वोत्तम प्रकार के कहे जा सकते हैं। इनका संचालन लाभ के दृष्टिकोण से किया जाता है तथा व्यक्ति की कार्य – कुशलता को प्रोत्साहन दिया जाता है। ऐसे प्रोत्साहन का सामूहिक तथा सरकारी फार्मो में अभाव होता है।

6.3.3 भूस्वामी कृषक (Free–holds or Landlord Cultivators)

भूमिस्वामित्व की इस प्रथा की बहुत प्रसंशा की जाती है। इस प्रथा में कृषक स्वयं भूस्वामी भी होता है। सम्भवतया ऐसे ही फार्म सर्वाधिक हैं। अधिकांश भागों में स्वयं भूस्वामी कृषकों के फार्म छोटे आकार के हैं जैसे कि पश्चिमी यूरोप में ब्रिटेन और डेन्मार्क को छोड़ कर ऐसे फार्म 50 एकड़ से कम क्षेत्रफल के हैं। एशिया में ये फार्म और भी छोटे हैं। यहाँ तो 10 एकड़ का स्वयं का फार्म बड़े आकार का समझा जाता है। इनके विपरीत ब्रिटिश द्वीपसमूह, उत्तरी अमेरिका, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड में ऐसे फार्म बड़े आकार के हैं – 500 से 1000 एकड़ अथवा इनसे भी बड़े।

6.3.4 असामी काश्तकारी (Tenant)

इस व्यवस्था में कृषक स्वयं भूस्वामी नहीं होता, बल्कि वह भूस्वामी को लगान दे कर खेती का अधिकार प्राप्त करता है। यह लगान मुख्यत: तीन रूपों में होता है – श्रम, बटाई तथा मुद्रा के रूप में। श्रम के बदले कब्जेदारी का अधिकार केवल लैटिन अमेरिका के कुछ देशों में है। बटाई काश्तकारी (share cropping) तथा मुद्रा के रूप में लगान देने की प्रथा सार्वभौमिक है। असामी कृषकों की भी कई श्रेणियाँ की जा सकती है, जैसे कि कब्जेदार काश्तकार (occupancy tenant), गैरमौरूसी काश्तकार (tenant–at–will) तथा शिकमी काश्तकार (sublet tenant) आदि।

विभिन्न भूमि– अधिकारों में भूस्वामी अधिकार सबसे अच्छा समझा जाता है। ऐसे कृषकों की भूमि स्वयं की होती है अत: उनका भूमि से लगाव होता है तथा कृषि के सभी लाभ भूस्वामी को ही मिलते हैं। अतएवं खेती के विकास के लिए असामी (tenant) कृषक की तुलना में अधिक अवसर एवं प्रेरणा मिलती है। इसके विपरीत असामी, कब्जेदार आदि कृषकों को भूमि पर खेती करने का अधिकार किराया या फसल के हिस्से के बदले में अपेक्षया छोटी अवधि के लिए मिलता है। ऐसी दशा कृषि के विकास के लिए सदैव लाभप्रद नहीं होती। कृषक खेत से अधिकतम उत्पादन तो करना चाहता है, परन्तु भूमि के विकास अथवा स्थायी पूँजी के रूप में व्यय नहीं कर पाता, क्योंकि एक तो लाभ का एक बड़ा भाग लगान के रूप में देना पड़ता है, जिससे लाभांश बहुत कम हो जाता है जिसका कि उपयोग विकास कार्यो में किया जा सके। दूसरे, यह अनिश्चित होता है कि कृषि के विकास में लगी पूँजी का लाभ कृषक को मिल सकेगा। ऐसी स्थिति में कृषक की प्रवृत्ति न्यूनतम लागत लगाने की होती है। इस प्रकार अनुपस्थित भूस्वामित्व (Absentee landlordism) स्वाभाविक रूप से कृषि के विकास के अनुकूल नहीं है।

फिर भी सुव्यवस्थित असामी कब्जेदारी प्रथा में कुछ लाभ भी है। कुछ भागों में यह परम्परा है कि भूस्वामी इमारत, सड़क आदि के रूप में स्थायी पूँजी का व्यय वहन करता है तथा असामी कृषक को पशु, मशीन, उर्वरक जैसे क्रियाकारी (operative) पूँजी का ही प्रबंध करना पड़ता है। इस प्रकार कम पूँजी वाले असामी कृषक को भूमि खरीदने, मकान बनवाने आदि से मुक्ति मिलती है और वह कृषि कार्य की आवश्यक वस्तुओं पर अधिक व्यय कर पाता है। कभी – कभी भूमि खरीदने के लिए भारी पूँजी लगाने की अपेक्षा प्रतिवर्ष लगान देना सरल होता है। परन्तु ये लाभ मूलत: दो बातों पर निर्भर हैं – एक तो लगान का नियंत्रण, दूसरी पूँजी अथवा साख की उपलब्धि तथा उनकी शर्ते। कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जिसके विकास के लिए पूँजी प्राप्त करने के लिए

जमानत के रूप में भूमि ही दी जा सकती है। यह अधिकार भूस्वामी को ही होता है। असामी कृषक ऐसा तभी कर सकता है जब उसे लम्बी अवधि के लिए अधिकार मिला हो। सामान्यत: ऐसा अधिकार नहीं मिल पाता। छोटी अवधि वाले असामी कृषक तभी विकास कार्यो में व्यय कर सकते हैं जब उन्हें विश्वास हो कि अधिकार की अवधि समाप्त होने पर भी इस व्यय की समुचित क्षति –पूर्ति मिलेगी। इस क्षति –पूर्ति का भार भूस्वामी पर आ जाता है फलत: वह लगान बढ़ाता है।

भूस्वामी अधिकार तथा कृषि–विकास के अर्न्तसम्बन्ध को विश्व स्तर पर देखा जा सकता है। उत्तर – पश्चिमी यूरोप में प्रमुखत: कृषक ही भूस्वामी भी हैं। इनका दृष्टिकोण व्यापारिक होता हें, फिर भी कुछ जौवन निर्वाह कृषि की जाती है। भूमि तथा परम्परागत रीति – रिवाज से घनिष्ठ लगाव है। भूमध्यसागरीय क्षेत्रों में परम्परावादी किसानों में भूमि की भूख बढ़ जाती है और सामन्तवादी प्रवृत्ति बढ़ने के साथ ही भूस्वामियों की संख्या भी अधिक हो जाती है। आंग्ल अमेरिका, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका में भूस्वामी की साधारणत: प्रचलित परम्परा है, परन्तु कृषकों का भूमि से उतना गहन भावात्मक लगाव नही है जितना कि यूरोप अथवा अन्य उन देशों में है जहाँ कृषि प्राचीन समय से की जा रही है। इन क्षेत्रों पर बसे प्रवासियों का बुद्धिवादी और व्यापारिक दृष्टिकोण पूर्णत भिन्न है। वे कृषि को 'जौवन की विधि' न मानकर एक व्यवसाय मानते हैं। इसके विपरीत दक्षिणपूर्वी एशिया में कृषक कृषि को कम और भूमि को अधिक महत्व देते हैं, यद्यपि अधिकांश असामी कृषक ही हैं। यहाँ मानवीय शक्ति का सघनतम उपयोग करके गहन कृषि पद्धति का अनुसरण किया जाता है।

स्वतंत्रता के बाद भारत में भूमिस्वामित्व में सुधार हेतु अनेक कानून बनाए गए। वर्तमान समय में 63.0 प्रतिशत भूमि पर भूमिस्वामियों द्वारा ही कृषि की जाती है। अन्य 30.0 प्रतिशत पर गैरमौरूसी काश्तकारों तथा 7 प्रतिशत पर पट्टेदारों द्वारा खेती की जाती है। इस प्रकार 70 प्रतिशत भूमि ऐसे कृषकों के हाथ में है जिन्हें उत्पादन का पूरा लाभ मिलता है। इस प्रकार कृषि के विकास की प्रेरणा की कमी होने का प्रश्न नहीं उठता तथा उनकी कम उत्पादकता भूमिस्वामित्व के कारण नहीं बल्कि अन्य कारणों से है। वस्तुत: इस व्यवस्था में दो प्रकार के स्वामित्व हैं। श्रेष्ठ भूस्वामी कृषक पूर्ववर्ती शासकों, राजस्व अधिकारियों, राज्य में बड़े पदाधिकारियों आदि के वंशज हैं। इनकी संख्या कम है, परन्तु कृषित भूमि अधिक है तथा वंशानुगत अधिकार प्राप्त होता है। अन्य जैसे असामी काश्तकार, शिकमी काश्तकार, गैरमौरूसी काश्तकार तथा पट्टेदार आदि को वस्तु अथवा मुद्रा के बदले भूमि पर कृषि करने का अधिकार मिलता है।

6.4 जोत का आकार एवं वितरण (Size and distribution of holdings)

कृषि विकास तथा उपयुक्त फसलों के निर्णय में कृषक की जोत का आकार महत्वपूर्ण होता है। प्रत्येक कृषक परिवार कृषि उद्यम की एक इकाई होता है। इनकी जोतों का आकार अपेक्षाकृत छोटा होता है। कृषि का प्रकार और गहनता सीधे जोत के आकार से सम्बन्धित होता है। यह आकार, जैसा कि लैम्बर्ट (1963) और ग्रिग (1966) ने पाया है, कई प्राकृतिक तथा सांस्कृतिक तत्वों द्वारा निर्धारित होता है। विभिन्न देशों में अपवाह तथा प्राकृतिक उत्पादकता के साथ ही

जनसंख्या वृद्धि, कृषकों की संख्या और भूमि पर उनका दबाव, उत्तराधिकार कानून, लोगों का आर्थिक स्तर तथा व्यक्तिवादी प्रवृत्ति का विकास आदि की विभिन्नताओं के कारण जोतों के आकार में अंतर पाया जाता है। उदाहरण के लिए, फार्म का औसत क्षेत्रफल यूरोप में 8 हेक्टर, दक्षिण अमेरिका में 96 हेक्टर, आस्ट्रेलिया में 1137 हेक्टर तथा एशिया में 5 हेक्टर से भी कम है।

फार्म के आकार के अध्ययन के मुख्यत: तीन उद्देश्य रहे हैं – फार्म के आकार का उत्पादन पर पड़ने वाला प्रभाव, आकार में होने वाले परिवर्तन, तथा बड़े फार्मो का सामाजिक –आर्थिक पक्षों पर पड़ने वाले प्रभाव। ये सभी अध्ययन छोटे प्रदेशों के लिए किए गए हैं। इस कारण फार्म के आकार और कृषि की उत्पादकता के विषय में निर्णयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। कृषि और फार्म के आकार के अन्र्तसम्बन्धों पर विचार करते हुए बड़े तथा छोटे दोनों प्रकार के फार्मो के पक्ष और विपक्ष में कहा गया है। कोहेन (1959 पृ. 50 – 56) ने बड़े फार्मो की तुलना बड़े उद्योगों से की है। बड़े फार्मो से मिलने वाले लाभों को व्यापारिक तथा तकनीकी दो वर्गो में रखा जाता है। व्यापारिक लाभ अधिक मात्रा में निवेश की वस्तुएँ, जैसे उर्वरक, बीज आदि खरीदने अथवा भारी मात्रा में कृषिगत वस्तुओं के विक्रय से प्राप्त होते हैं। बड़े फार्म होने से विक्रय के लिए प्राप्त कृषिगत वस्तुओं की मात्रा भी अधिक होती है। फलत: कृषक की सौदा करने की क्षमता बढ़ जाती है तथा वह वस्तुओं को मध्यस्थ व्यापारियों भी छोटे फार्मो पर अधिक लाभप्रद हो सकता है।

दक्षिणपूर्वी एशिया के जोतों की अन्य प्रमुख विशेषता छोटे आकार के साथ ही अनेकों टुकड़ों में विभक्त होना तथा बिखरा होना है। भारत के संदर्भ में स्पेट ने (1967, पृ. 262) कहा है कि 'भारत का औसत फार्म बहुत छोटा और अनार्थिक है।' अभी भी भारत में एक – तिहाई जोतों का आकार 0.5 हेक्टर से कम है। दो–तिहाई (63%) जोतकारों के पास कुल भूमि का 18.8 प्रतिशत है (चित्र – 63)। तीन –चौथाई से अधिक (82 प्रतिशत) जोतकारों के जोतों का औसत आकार 1.41 हेक्टर से छोटा है। दूसरी ओर 1.0 प्रतिशत जोतकारों के पास 17.2 प्रतिशत भूमि है। भारतीय छोटे फार्म तो जौवन –निर्वाह स्तर से भी नीचे हैं। कृषक भूमि की क्षमता से अधिक उपयोग करने की कोशिश करता है। गरीबी के कारण न तो उत्पादकता संरक्षित या बढ़ाने वाली विधियों का ही उपयोग कर पाता है और न ही भूमि – उपयोग के सिद्धान्तों का अनुसरण कर पाता है।

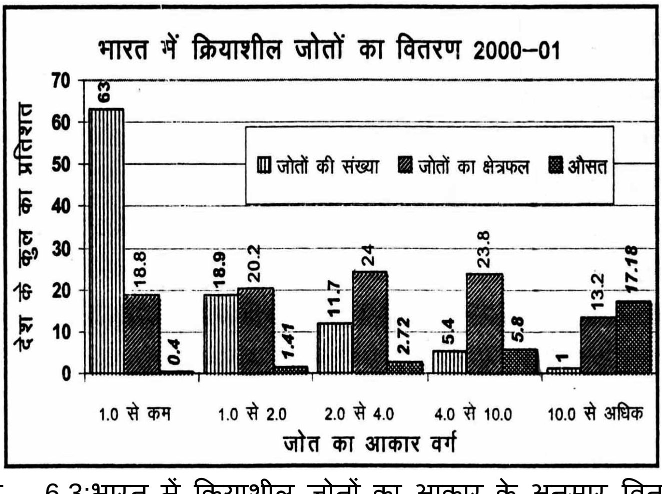

चित्र – 6.3:भारत में क्रियाशील जोतों का आकार के अनुसार वितरण

जोत सूक्ष्म आकार की तो है ही साथ ही यह कई टुकड़ों में भी विभक्त होती है। नेशनल सेम्पल सर्वे के अनुसार औसतन प्रति जोत 5 टुकड़ों में बंटी होती है। यह संख्या सीमान्त जोत में 3 से लेकर बड़ी जौत में 9 से अधिक है। फार्मो का छोटा होना हिन्दू तथा मुस्लिम उत्तराधिकार कानून तथा बढ़ती कृषक जनसंख्या का कारण है। संयुक्त परिवार के विघटन के साथ ही भूमि का विखंडन होता जा रहा है। 'सभी उत्तराधिकारियों को अच्छी तथा बेकार सभी प्रकार की भूमि में समान हिस्सा मिल सके' इस सिद्घान्त के कारण पैतृक जोत सन्तति तक पहुँचने पर स्थिति और उपजाऊपन के अनुसार अनेकों टुकड़ों में विभक्त हो जाती है। यह विभाजन निरी एक घटना मात्र नहीं है। इसके मूल में उचित हिस्सा तथा आर्थिक न्याय के भी सिद्घान्त हैं। उदाहरण के लिए, विभाजन के समय ध्यान रखा जाता है कि खरीफ – रबी, ऊँची – नीची भूमि में समान हिस्सा हो जिससे विभिन्न प्रकार की मिट्टियों पर कई फसलें उत्पन्न की जा सकने की क्षमता हो अत: प्रतिकूल मौसम से संरक्षण हो सके तथा कार्य के दिनों का अधिकतम उपयोग हो सके। परन्तु इन टुकड़ों के विभाजनों से क्षति अधिक हैं। खेतों की सीमाओं के रूप में कृषियोग्य भूमि का बड़ा हिस्सा बेकार पड़ा रहता है। खेतों की सुरक्षा के लिए बाड़ी लगाना सहज नहीं होता जिससे इन विखंडित तथा बिखरे खेतों पर आधुनिक विकसित उपकरणों तथा विधियों का उपयोग भी संभव नहीं हो पाता (अली 1942)।

बहुसंख्यक पुराने देशों में जोतों की सीमाएँ निर्धारित करना, छोटे और बिखरे टुकड़ों को मिलाकर बड़े आर्थिक फार्म बनाना प्रमुख समस्याएँ हैं। इनका निदान भूमि सुधार (Land reform and consolidation) तथा चकबन्दी है। भारत में कृषि की स्थिति सुधारने की दृष्टि से स्वतंत्रता के बाद अनेकों भूमि सुधार कानून लागू किए गए। इनका उद्देश्य जमींदारी प्रथा का उन्मूलन, भूमि अधिकार को सरल बनाना तथा काश्तकार को भूस्वामित्व देना, जोत का उच्चतम सीमा (सीलिंग ceiling) निर्धारित करना तथा भूमि का आवंटन, शिकमी या बटाई काश्तकारों (sublet or share cropper) पर नियंत्रण, भूमि के विभाजन पर रोक तथा चकबन्दी और सहकारी कृषि की व्यवस्था प्रमुख हैं। विश्व के अन्य देशों में भी भूमि सुधार की विधियों का पालन हो रहा है। यूरोप के विभिन्न देशों में चकबन्दी में काफी प्रगति हुई है, जिससे कृषि के विकास के लिए आवश्यक अन्य सुविधाओं का विस्तार किया जा सका है (लैम्बट 1963)। जापान में बिखरे खेतों की चकबन्दी करके बड़े आकार के चतुर्भुजाकार प्लाट बनाए गए तथा सिंचाई, यातायात और आवास की व्यवस्था की गई। लैटिन अमेरिका के कुछ देशों में भूमि सुधार तथा भूमि विखंडन को रोकने वाले कानून लागू किये गये हैं। मैक्सिकों में भूमि सुधार के अंतर्गत दो प्रकार के फार्म (ejidos) बनाए गए हैं – निजौ एजिदो – अर्ध सामूहिक एजिदो जिसमें मंहगी मशीनों का कार्य सामूहिक एवं शेष निजौ, तथा पूर्णत: सामूहिक एजिदो।

6.5 विज्ञान तथा तकनीकी का कृषि विकास में योगदान (Role of Science and Technology in Agricultural Development)

कृषि के स्वरूप निर्धारण में तकनीकी के स्तर का बहुत महत्व होता है। यहाँ तकनीकी से तात्पर्य मशीनों एवं उपकरणों के साथ ही कृषि में उपयोग की जाने वाली उन वैज्ञानिक विधियों से भी है जिनका उपयोग कृषक अपने प्राकृतिक पारिस्थितिकी तंत्र का संशोधन करके मानव के लिए उपयोग वस्तुएँ पैदा करने में करता है। तकनीकी के आधार पर कृषि के विविध स्वरूप कहे जाते हैं। इसमें एक ओर आखेट से लेकर चलवासी कृषि, चलवासी पशुचारण और निम्नस्तरीय तकनीकी पर आधारित जौवन –निर्वाह कृषि तक आती है तो दूसरी ओर व्यापार के लिए की जाने वाली पूर्णत: मशीनों पर आधारित कृषि भी है। उल्लेखनीय है कि अविकसित जौवन–निर्वाह कृषि तथा पूर्ण विकसित व्यापारिक कृषि सभी में कृषि उत्पादन में तकनीकी का उपयोग किया जाता है, लेकिन इन तकनीकियों के विकास के स्तर में बहुत अधिक अंतर है। अल्पविकसित तकनीकी वाले भागों में शक्ति के सजौव साधनों (मानव एवं पशु) का ही उपयोग अधिक होता है, लेकिन अधिक विकसित तकनीकी के क्षेत्रों में ऊर्जा के निर्जीव स्रोतों (कोयला, खनिज तेल तथा विद्‌युत) का बहुत अधिक उपयोग होता है।

विकसित तकनीकी को भी सरलतापूर्वक दो समूहों में रखा जा सकता है – एक मानव श्रम बचाने वाली अर्थात श्रम के स्थानापन्न के रूप में प्रयुक्त होने वाली तकनीकी जिसे मशीन तकनीक भी कहा जा सकता है; और दूसरी भूमि की उत्पादकता बढ़ाने वाली वानस्पतिक तथा रसायनिक तकनीकी। उत्पादकता बढ़ाने वाली तकनीकी में उन्नत तथा उपयुक्त बीजों का विकास, मिट्टी की उर्वराशक्ति बढ़ाने वाली विधियाँ, पौध संरक्षण की विधियाँ आदि मुख्य हैं। इन विधियों के कारण उपलब्ध पारिस्थितिकी के अनुरूप फसलों एवं पशुओं की नस्लों का विकास किया गया है, जिससे अब उन क्षेत्रों में भी कृषि संभव हुई है जो कुछ बाधाओं के कारण कृषि के लिए लाभप्रद नहीं समझे जाते थे।

कृषि की इन तकनीकों के विकास का श्रेय पश्चिमी यूरोप के औद्‌योगिक देशों को है। मशीनीकरण की क्रांति अट्ठारहवीं सदी के चतुर्थ चरण में ग्रेट ब्रिटेन में प्रारंभ हुई परंतु इसका पूर्ण विकास यूरोप महाद्‌वीप में खनिज –मेखला के देशों में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में इन देशों ने भूमध्यसागरीय तथा बाल्टिक सागरीय देशों के आधुनिकीकरण के प्रयास किए। यूरोप से यह उत्तरी अमेरिका तथा बाद में आस्ट्रेलिया पहुँची। सन् 1917 की क्रांति के बाद पूर्व सोवियत रूस में भी इसका प्रचार हुआ। यह उल्लेखनीय है कि कृषि के अभी भी अधिकांश एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के विकासशील देशों में मशीनों का बहुत सीमित उपयोग होता है।

मशीनीकरण से प्रभावित क्षेत्रों में भी इसका प्रभाव अलग – अलग मात्रा में पड़ा है। यह प्रभाव उन क्षेत्रों की विशेषताओं – प्राकृतिक संसाधन, सांस्कृतिक स्तर, जनसंख्या का घनत्व, लोगों के दृष्टिकोण आदि पर निर्भर होता है। अतएवं नवीन क्षेत्रों में मशीनीकृत सभ्यता का प्रचार सर्वाधिक हुआ है, क्योंकि यहाँ ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक बाधक परिस्थितियाँ उपस्थित नहीं थी। ऐसे ही उन क्षेत्रों में, जो या तो विरल जनसंख्या के थे तथा तकनीकी स्तर निम्न था, अधिक भूमि उपलब्ध थी जिस पर मशीनों का उपयोग संभव हुआ। इसकी तुलना में सघन बसे देशों में कृषि के

मशीनीकरण का उतना स्वागत नहीं हुआ। सामान्यत: श्रम बचाने वाली मशीनों का उपयोग श्रम की कमी वाले क्षेत्रों में ही हुआ है।

सघन बसे भागों में भूमि की कमी रहती है। यहाँ श्रम की कमी नहीं रहती बल्कि कम भूमि से अधिक उत्पादन की आवश्यकता रहती है। फलत: यहाँ कृषि में वैज्ञानिक विधियाँ, बीजों का चयन, उर्वरकों का उपयोग, रोग तथा कीटाणुओं से सुरक्षा, मिट्टी के अपरदन पर नियंत्रण की विधियाँ आदि को अपनाया गया है तथा मशीनों का उपयोग अपेक्षया कम हुआ है। विकासशील देशों में इसके गहन उपयोग से 'हरित क्रांति' लाने का प्रयत्न किया गया है। इन विधियों के उपयोग से प्रति हेक्टर उत्पादन में वृद्धि होती है और गहन कृषि का विकास होता है। इस प्रकार विपुल उत्पादन देने वाली तकनीकी से सघन बसे क्षेत्रों की खाद्य–समस्या को कम करने में मदद मिलती है। दूसरी ओर, विरल बसे तथा मानव श्रम की कमी वाले क्षेत्रों में मशीनों की मदद से आवश्यकता से अधिक उत्पादन कर लिया जाता है।

मशीनीकरण से प्रभावित क्षेत्र तीन प्रकार के कहे जा सकते हैं –

1. मशीन क्रांति से पूर्व घने बसे और भूमि की कमी वाले क्षेत्र – जैसे पश्चिमी यूरोपीय देश।
2. मशीन क्रांति के बाद बसे क्षेत्र – कम घनत्व और अधिक उपलब्ध भूमि के देश – जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, अर्जेन्टाइना आदि।
3. मशीन क्रांति के समय आंशिक बसे तथा बाद में पुन: बसाव वाले देश – जैसे ब्राजील और रूस।

सघन बसे देशें में मशीनों के साथ विपुल उत्पादन सुलभ बनाने वाली विधियों का भी गहनता से उपयोग होता है फिर भी भूमि की इतनी कमी है और जनसंख्या इतनी सघन है कि ये देश अपने लिए आवश्यक कृषि–पदार्थ उत्पन्न नहीं कर पाते हैं । इनके विपरीत विरल जनसंख्या वाले देशों में मशीनों–उपकरणों का तो गहन उपयोग होता है लेकिन विपुल उत्पादन देने वाली तकनाकी का उतना उपयोग नहीं होता फिर भी प्रति मशीनीयुक्त मानव उत्पादन बहुत अधिक रहता है। फलस्वरूप सामान्यतया ये देश कृषिगत वस्तुओं के निर्यातक देश हैं। तीसरे वर्ग के देशों में भी कृषित भूमि के विस्तार के लिए भारी मशीनों का उपयोग हुआ है।

तकनीकी विकास ने विकसित देशों का रूपातंरण कर दिया है। मशीनों ने गतिशीलता बढ़ा दी और इनके कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन में दक्षता प्राप्त करना भी संभव हुआ। मांग और पूर्ति का क्षेत्र बहुत बढ़ गया। उत्पादन का लक्ष्य आत्म – निर्भरता न होकर आर्थिक लाभ कमाना हो गया है। इस कारण कृषि में भी उद्योगों की भाँति एक ही वस्तु का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाने लगा है और कृषिगत वस्तुओं का भी व्यापार बहुत बढ़ा।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि पिछली शताब्दियों में यूरोप तथा अमेरिका में विज्ञान तथा तकनीकी के योगदान से जो कृषि क्रांति हुई है उसके परिणामस्वरूप न केवल कृषि उत्पादन बढ़ा है बल्कि कृषि पद्धति अधिक कुशल, सरल तथा विश्वसनीय हो गई है। इस सुधार का मुख्य आधार पूँजी का विनियोग है जिसके द्वारा कृषि मशीनों, बेहतर बीजों, रसायनिक उर्वरक तथा सिंचाई के साधनों का उपयोग संभव हुआ है। यह हरित क्रांति अब संसार के अन्य देशों में भी पहुँच गई है। भारत में भी स्वतंत्रता के बाद कृषि नियोजन के द्वारा हरित क्रांति संभव हुई है।

विज्ञान तथा तकनीकी का योगदान कई क्षेत्रों में मिलता है, इनमें मुख्य हैं: (1) भूमि का सुधार तथा सुरक्षा, (2) यंत्रीकरण, (3) फसलों का सुधार और प्रादेशिक भौगोलिक परिस्थितियों के

अनुकूल बीज की किस्मों का विकास, (4)सिंचाई, (5) पशुओं की नस्लों में सुधार, (6) कृषि उत्पादन का भण्डारण तथा सुरक्षा एवं (7) कृषि उत्पादों एवं फार्म निवेशों का वितरण।

1. **भूमि सुधार तथा सुरक्षा (Land Reform) –** पिछली शताब्दी तक किसान मिट्टी की प्राकृतिक उर्वरा शक्ति पर निर्भर रहते थे। जैव – तकनीकी के विकास के साथ मिट्टी की ऊर्वराशक्ति की सुरक्षा तथा संवर्धन संभव हुआ। भारत तथा अन्य देशों में केवल गोबर तथा पत्तों की खाद दी जाती थी, वह भी समुचित मात्रा में नहीं होती थी अतः कृषि उत्पादन गिरता जाता था। इसके निदान के लिए रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन तथा उपयोग आरंभ हुआ जो आधुनिक कृषि का आवश्यक अंग हो गया है।

   दूसरी ओर सीमित ज्ञान के कारण विस्तृत भूमि कृषि के अयोग्य थी। लवणयुक्त (saline) तथा क्षारीय (alkaline) मिट्टी, जल अतिरेक (water–logged) तथा अनअपवाह (ill–drained) के प्रदेश, अति उपयोग तथा मिट्टी अपरदन से नष्ट होने वाले प्रदेश इसी वर्ग के प्रदेश हैं। भारत के तटीय प्रदेशों में लवणयुक्त मिट्टी तथा पंजाब और उत्तर प्रदेश के सिंचित भागों में क्षारयुक्त मिट्टी के विस्तृत प्रदेश हैं जो सुधार के बाद कृषियोग्य बनाये जा सकते हैं। पिछले शीत युग से प्रभावित विस्तृत प्रदेश यूरोप, उत्तरी संयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस में जलनिकास के बाद कृषियोग्य बनाए गए है। इसी प्रकार भूमि संरक्षण की तकनीकी के विकास के बाद विस्तृत प्रदेश नष्ट होने से बचाये गये है।

2. **यंत्रीकरण (Mechanization) –** परम्परागतरूप से कृषिकार्य मानवय श्रम से होता रहा है। आज भी भारत तथा अन्य विकासशील देशों में अधिकांश कृषि–कार्य जैसे, खेत तैयार करना, बोना, निंदाई – गुड़ाई, फसल काटना तथा एकत्रित करना, अनाज निकालना, सभी किसान स्वयं करते हैं। किन्तु धीरे धीरे कृषि–कार्य में पशुओं की सहायता ली जाने लगी। 15वीं तथा 16वीं शताब्दियों में जब नयी दुनिया के देशों में यूरोपीय लोग जाकर बसे तो कृषि के लिए मजदूरों की सबसे गंभीर समस्या थी। उसी काल में अफ्रीकी लोगों का बड़े पैमाने पर आयात किया गया और उसके बाद 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में इस समस्या का निदान कृषि मशीनों विशेष रूप से स्वचालित मशीनों के उपयोग से किया गया। अब नयी दुनिया तथा पश्चिमी विकसित देशों में अधिकांश कृषि–कार्य मशीनों से होने लगा है। इसके कई परिणाम हुए। कृषि–कार्य पहले से कम श्रम वाला हो गया। एक बड़े प्रदेश में कृषि कुछ ही मजदूरों से संभव हो गई। किन्तु उसके साथ ही कृषि में पूँजी का विनियोग बहुत अधिक बढ़ गया। जलवायु संबंधी समस्याओं से फसल को बचाना संभव हो सका। उपयुक्त समय में एक बड़े प्रदेश में बुवाई आदि संभव हो गई। इस प्रकार विरल जनसंख्या वाले प्रदेशों में कृषि उत्पादन बढ़ गया जो अंतर्राष्ट्रीय बाजार में आने लगा। सघन जनसंख्या वाले प्रदेशों में भोज्य सामग्री की माँग पूरी हो सकी। यही कारण है कि पिछली शताब्दी से अनाज अमेरिका से यूरोपीय देशों में आने लगा। यंत्रीकरण का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष है कि कृषि मशीनों की माँग के साथ ही इनका उद्योग भी विकसित हुआ।

3. **फसलों का सुधार (Improvement of Crops) –** वनस्पति विज्ञान के विकास के साथ यह समझा जाने लगा कि कौन से पौधे किन परिस्थितियों में अच्छे विकसित होते और उत्पादन देते हैं। इन पौधों का सुधार किस प्रकार किया जा सकता है जिससे ऐसी फसलें हों

जिनसे उत्पादन अधिक मिले, कठिन जलवायु में भी नष्ट न हों, बीमारियों तथा कीड़ों से बचे रहें। जैसे रूस में गेहूँ की ऐसी किस्में विकसित की गई जो थोड़े काल में पक जायें और कठिन जाड़े में भी बढ़ सकें। भारत में भी मैक्सिकन, कल्याण सोना, पी.वी. 18, सी 306 गेहूँ की प्रचलित किस्में हैं। इसके अतिरिक्त चावल की (आई.आर. 5/9), बाजरा, मूँग, आलू, गन्ना, कपास, चारे की फसलें, तिलहन तथा मूँगफली, तम्बाकू और सोयाबीन की नयी किस्में उपयोग में आने लगी हैं जिनके कारण कम से कम 25% उत्पादन अवश्य बढ़ जाता है।

कृषि की एक गंभीर समस्या रही है – बीमारियाँ तथा कीड़े। ये फसल को बहुत नुकसान पहुँचाते हैं। इनके कारण उत्पादन तो गिरता ही है साथ ही उत्पादन अच्छी किस्म का नहीं रहता। अब फसलों की ऐसी विकसित की गई जिनमें कीड़े और बीमारियाँ न हों। इसके अतिरिक्त कीटाणुनाशक दवाओं का उपयोग भी आरंभ किया गया जिससे इनकी रोकथाम हो सके।

4. **सिंचाई (Irrigation) –** वैज्ञानिक कृषि का आधार सिंचाई है। फसलों की नयी किस्में तथा रासायनिक उर्वरकों के उपयोग में सफलता तभी मिलती है जब सिंचाई में समुचित साधन हों। इस पक्ष में भी विज्ञान तथा तकनीकी का विशेष योगदान रहा (1) बाँध बनाना तथा नहरें निकालना, (2) भूमिगत जल का सर्वेक्षण तथा उसका उपभोग तथा (3) नलकूप, विद्युत पम्पों तथा डीजल पम्पों द्वारा खेतों को जल पहुँचाना सिंचाई के महत्वपूर्ण पक्ष हैं। यही कारण है कि भारत में हरित क्रांति के साथ साथ सिंचित भूमि का विस्तार हुआ।

   डीजल पम्पों तथा विद्युत पम्पों ने इस कार्य को बहुत सरल बनाया है तथा थोड़े काल में ही विस्तृत भूमि में सिंचाई हो सकी है। कुओं, तालाबों तथा नालों आदि से पानी मानवीय अथवा पशु शक्ति के स्थान पर पम्पिंग सेट से खेतों तक पहुँचाया जाता है। ट्यूबवेल ने सिंचाई में क्रांतिकारी योगदान दिया है।

5. **पशुओं की नस्ल का सुधार (Improvement in Animal breed) –** विज्ञान तथा तकनीकी का योगदान पशुपालन में भी समान रूप से हुआ है। वैज्ञानिक विकास के बाद पाश्चात्य देशों में जब पशुओं की नस्ल का सुधार प्रारम्भ हुआ तब इन दोनों वर्गों के पशु अलग अलग पाले जाने लगे। डेरी उद्योग वैज्ञानिक स्तर पर बड़े पैमाने पर विकसित हुआ जिसे श्वेत क्रांति कहते हैं। अपने देश में भी गुजरात तथा पंजाब में श्वेत क्रांति हो रही है। इसके लिए विदेश से दुधारू नस्ल की गायों तथा बैलों का आयात किया गया है तथा भैसों की नस्ल सुधारी गयी है।

   श्वेत क्रांति का एक महत्वपूर्ण पक्ष है दूध का वितरण – मक्खन तथा पनीर का बनाना तथा अतिरिक्त दूध से सूखा दूध बनाना। बड़े पैमाने पर यह प्रक्रिया यंत्रीकरण के द्वारा संभव हुई है। इसी प्रकार मांस वाले पशुओं का पालन कृषि की एक विशिष्ट शाखा के रूप में विकसित हुई है। यह पक्ष अभी भारत में महत्वपूर्ण नहीं है किन्तु यूरोपीय तथा अमेरिकी देशों, आस्ट्रेलिया तथा दक्षिणी अफ्रीका में पशुपालन का यह पक्ष विशेषरूप से विकसित है। ये पशु केन्द्रीय स्तर पर स्थापित बूचड़खानो में लाये जाते हैं तथा मांस को टिनों में बंद करना तथा 'डीप फ्रीज' में बाजार तक पहुँचाना एक महत्वपूर्ण कृषि उद्योग हो गया है।

6. **कृषि उत्पादन का भंडारण (Storage of Agricultural Products) –** विकासशील देशों में तथा भारत में भी कृषि उत्पादन का भंडारण त्रुटिपूर्ण रहा है जिससे हजारों टन भोज्य

सामग्री नष्ट हो जाती है। गाँवों में किसान अपने घरों में भण्डार बनाते है। अब जब अनाज का व्यापार भारत सरकार ने लिया है तो उसके भण्डार का भी प्रबन्ध आवश्यक हो गया है, किन्तु अभी भी समुचित प्रबन्ध नहीं है। कोल्ड स्टोरेज तथा रेफ्रीजरेशन की विधियों के विकास के वाद शीघ्र होने वाले भोज्य पदार्थो की सुरक्षा सम्भव हो सकी। विभिन्न प्रकार के फल तथा सब्जियाँ अब उन प्रदेशों को पहुँच जाती है जहाँ वे पैदा नहीं होतीं, किन्तु जहाँ उनका बाजार है। हिमाचल प्रदेश तथा काश्मीर के फल अब देश के विभिन्न भागों में पहुँच जाते है। आलू, प्याज अब कोल्ड स्टोरेज की सुविधा के कारण साल भर लगभग समान मूल्य पर मिलते है । इसी से सम्बद्घ दूसरी समस्या यह भी है कि जो प्रदेश आवश्यकता से अधिक उत्पादन करतें है उनका अतिरिक्त उत्पादन अन्य प्रदेशों को भेजा जाता है अत: फसल के काटने के बाद परिवहन के विशेष प्रबन्ध आवश्यक है।

भोज्य सामग्री को टनों में बन्द कर सुरक्षित रखने की आधुनिक पद्घति ने भी नष्ट होने वाली वस्तुओं की सुरक्षा संभव कर दी है। अचार, मुरब्बे, पका हुआ खाना, दूध की वस्तुएँ, मांस तथा मछली अब उत्पादन के क्षेत्रों से दूर भी उपलब्ध होने लगी है। इस प्रकार एक मौसम में होने वाले अतिरिक्त उत्पादन को सुरक्षित कर अन्य मौसमों में वितरित किया जाता है। इससे किसानों को अधिक लाभ होता है। भोज्य वस्तुओं की सुरक्षा और हर समय उपलब्धि संभव होती है।

7. **कृषि उत्पादों एवं फार्म निवेशों का वितरण (Distribution of Agricultural Production and inputs) –** परिवहन मार्गो का विकास हरितक्रांति का आवश्यक अंग है। कृषि सम्बन्धी ज्ञान, उर्वरक, बीज, यंत्र आदि गाँवों तक पहुँचाने के लिए परिहवन मार्ग आवश्यक है। कृषि सम्बन्धी ज्ञान यद्‌यपि संचार माध्यमों, जैसे रेडियो, टेलिविजन आदि से पहुँचाये जा सकते हैं, किन्तु किसानों को बहुत सा ज्ञान व्यक्तिगत सम्पर्क से ही प्राप्त होता है। सरकारी कर्मचारी, पड़ोसी, निकटवर्ती नगर आदि से समुचित सम्पर्क परिवहन मार्गो के द्‌वारा संभव होता है। अभिज्ञान के प्रसार के अलावा यातायात के साधनों ने विश्व की सापेक्षिक दूरी को बहुत कम कर दिया है। इनका उपयोग वैज्ञानिक कृषि के लिए आवश्यक निवेशों, जैसे मशीनों, उर्वरक, उन्नत बीज, कीटनाशक दवाइयों को फार्मो तक पहुँचाने में होता है; साथ ही इनके उपयोग से अतिरिक्त उत्पादनों को माँग तक पहुँचाया जाना संभव होता है। इनके कारण ही न्यूजौलैंड के डेरी उत्पाद ब्रिटेन पहुँचते हैं और हिमाचल प्रदेश के फल दक्षिण भारत पहुँच सके। इनकी विशद चर्चा आगे की गई है।

इस प्रकार वैज्ञानिक तथा तकनीकी विकास ने प्रकृति पर कृषि की पूर्ण निर्भरता को बहुत कम कर दिया है। उसकी संरचना में आमूल परिवर्तन कर उसमें गतिशीलता पैदा कर दिया है। फलत: अब कृषि का स्वरूप आत्मनिर्भरता का न रहकर परस्पर निर्भरता का हो गया और इसमें भी निर्माण उद्‌योग की भाँति विशेषीकरण तथा व्यापारिकता जैसे गुण आ गए है। अब यह 'एक उद्‌योग का रूप धारण कर रही है।

बोध प्रश्न1 –

1. कृषि को प्रभावित करने वाले मुख्य मानवीय कारक कौन से हैं?

....

....

.2 कृषि पर सर्वाधिक निर्भरता तथा न्यूनतम निर्भरता वाले महाद्वीपों के नाम लिखिए।

....

....

.3 किस तरह का भूस्वामित्व कृषि विकास के लिए अनुकूल है और क्यों?

....

....

.4 दक्षिणपूर्वी एशिया में जोत की क्या विशेषताएँ हैं?

....

....

.5 मशीनीकरण से प्रभावित क्षेत्र कितने प्रकार के हैं?

....

....

.6 विज्ञान तथा तकनीक का कृषि में योगदान के पांच क्षेत्रों के नाम लिखिए।

....

....

6.6 शासकीय नीतियाँ (Government Policies)

शासकीय नीतियों का भी कृषि स्वरूप पर प्रभाव पड़ता है। यातायात के विकास एवं विस्तार ने कृषिगत वस्तुओं के व्यापार क्षेत्र को बढ़ाया है। यदि मुक्त बाजार (free trade) हो तो अधिकांश देशों में अधिक लाभ देने वाली महँगी वस्तुओं के उत्पादन पर बल दिया जाता। परंतु उन फसलों और पशुगत वस्तुओं का उत्पादन संभव न होता जो अभी सरकारी संरक्षण में पैदा की जाती हैं। दूसरी ओर कम लागत पर पैदा करने वाले देशों में बाजार की सुविधा के कारण गहन कृषि का विस्तार सम्भव होता, परन्तु ऐसा नहीं है। सभी सरकारें विभिन्न रूपों में कृषि को संचालित करती हैं। इसके कई कारण हैं: एक तो कृषि का सीधा सम्बन्ध भूमि से है तथा भूस्वामित्व, जोत का आकार आदि सांस्कृतिक विशेषताओं पर सरकारी नियंत्रण आवश्यक होता है। दूसरे, यह एक लघु व्यवसाय है, जिससे कृषकों को बड़े उद्योगों की भाँति समुचित पूँजी प्राप्त करने और अपने उत्पादों को उचित मूल्यों पर बेचने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। तीसरे, यह एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें जौवनस्तर उठने के साथ ही श्रमिकों की संख्या भी कम होनी चाहिए, परन्तु कृषि के विकास के पूँजी सरलता से नहीं मिल पाती। अंत में कृषिगत वस्तुओं की कीमतें बहुत परिवर्तनशील होती हैं। इन विशेषताओं के कारण शासकीय संरक्षण आवश्यक होता है।

कृषि सम्बन्धी शासकीय नीतियाँ मुख्यतया दो बातों पर आधारित होती हैं, एक, कृषिगत वस्तुओं की आत्मनिर्भरता का स्तर और दूसरे, देश की अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्व। इन दो तथ्यों के

आधार पर विश्व के अधिकांश देशों को तीन वर्गो में रखा जा सकता है (मारगन एवं मुंटन 1974, पृ. 90)। प्रथम वर्ग में वे विकासशील देश आते हैं जिनके आर्थिक तंत्र में प्राथमिक उत्पादन की वस्तुओ के निर्यात का बहुत अधिक महत्व होता है। ऐसे देशों का प्रमुख उद्देश्य खाद्य फसलों में अधिक से अधिक आत्मनिर्भरता प्राप्त करना और मुद्रादायिनी फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहन देना होता है। इसके लिए आवश्यक पूँजी आमतौर पर विकसित देशों से ऋण के रूप में प्राप्त की जाती है। विश्व बाजार में अपने उत्पादों के लिए उचित मूल्य प्राप्त करने का भी प्रयत्न ये देश करते हैं। साथ ही अतिरिक्त ग्रामीण श्रमिकों को औद्योगिक कार्यो में रोजगार दिलाने का भी प्रयत्न किया जाता है। दूसरे वर्ग में निर्माण–उद्योगों में विकसित देश हैं जो खाद्य वस्तुएं आयात कर सकते हैं, फिर भी राजनीतिक कारणों से स्वदेशी कृषि उत्पादन को घटा नहीं सकते, फलत: कृषि को संरक्षण देते हैं। इन देशों की सरकारों का मुख्य लक्ष्य कृषकों की आय को समाज के अन्य वर्गो के समकक्ष रखना, संभावित कृषिगत उपजों के उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना, निर्माण उद्योगों में लगे श्रमिकों तथा नगरीय लोगों की अपेक्षया सस्ती दरों पर खाद्य वस्तुएं उपलब्ध कराना तथा कृषि की उत्पादकता बढ़ाना है। तीसरे वर्ग में संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे अत्यधिक विकसित देश आते हैं जहाँ कृषि उत्पादन की क्षमता बहुत अधिक है और जो अपनी आवश्यकता से अधिक उत्पादन करते हैं, परंतु जनसंख्या की न्यून वृद्धि के कारण अनाजों की स्वदेशी माँग लगभग स्थिर है। असंतुलन को दूर करने, कृषिगत वस्तुओं की मूल्य वृद्धि करने और कृषकों की आय बढ़ाने के लिए इन देशों की सरकारों ने विभिन्न फसलों के अंतर्गत क्षेत्रफल निश्चित करके उत्पादन को नियंत्रित करने का प्रयास किया है।

कृषि को प्रभावित करने वाली शासकीय नीतियों एवं कार्यो को चार समूहों में रखा जा सकता है: (1) उत्पादन संचालित करना, (2) कृषि को संरक्षण देना, (3) कृषिगत वस्तुओं का विपणन नियंत्रित करना, तथा (4) सार्वजनिक सुविधाएं उपलब्ध कराना।

1. **उत्पादन संचालित करना–** सरकार फार्म की उत्पादकता बढ़ाने वाले नियमों के माध्यम से कृषि को सबसे अधिक प्रभावित करती है। इसमें भूस्वामित्व तथा फार्म के आकार संबंधी कानून प्रमुख हैं। सभी देश भूस्वामित्व को इस तरह से नियंत्रित करते हैं कि कृषि का अधिकतम विकास हो। इसी उद्देश्य से लगभग सभी देशों में भूस्वामी कृषक व्यवस्था को प्रोत्साहन दिया जाता है। भारत में भी कृषक और सरकार के बीच विकसित मध्यस्थ भूस्वामियों को समाप्त करने (जमींदारी उन्मूलन) के लिए कई अधिनियम बनाये गये। ऐसे ही जोत के विभाजन को रोकने का प्रयत्न सरकार द्वारा किया जाता है। विश्व के प्रमुख देशों में भूमि सुधार तथा चकबंदी द्वारा फार्म बड़े करके उत्पादकता बढ़ाने का प्रयास सरकारों के प्रयत्न के परिणाम हैं। यूरोप में इन प्रभावों के लिए कई भौगोलिक अध्ययन हुए हैं। भारत में भी चकबंदी के प्रभावों का अध्ययन हुआ है।

   अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर राजनीति का प्रभाव रोपण कृषि के विकास एवं विस्तार पर देखा जा सकता है। पश्चिमी यूरोपीय देशों ने उन रोपण फसलों का विस्तार किया जिनकी कि उन्हें आवश्यकता थी। उदाहरण के लिए पश्चिमी अफ्रीका में रोपण कृषि की फसलें ब्रिटेन तथा फ्रांस की आवश्यकताओं द्वारा निर्धारित हुईं क्योंकि ये क्षेत्र इन देशों के उपनिवेश थे। ब्रिटिश तथा डच लोगों के आक्रमक आर्थिक नीतियों के कारण दक्षिणपूर्वी एशिया के उनके औपनिवेशक क्षेत्रों में चाय और रबर की कृषि का विस्तार हुआ।

भूस्वामित्व के अतिरिक्त भी सरकार कृषि उत्पादकता बढ़ाने के लिए अनेक प्रयास करती है जैसे नये क्षेत्रों पर कृषि का विस्तार और बेकार भूमि को कृषियोग्य बनाना सरकार का ही कार्य समझा जाता है। शुष्क क्षेत्रों पर सिंचाई का विस्तार तथा डेल्टा और नदीतटीय दलदली क्षेत्रों में जल निकास की व्यवस्था सरकारी इंजीनियरिंग प्रयत्नों के फलस्वरूप संभव हो पाती है। पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका, पाकिस्तान तथा भारत में राजस्थान नहर क्षेत्र, पंजाब ओर हरियाणा में सिंचाई का विस्तार और कृषि का विकास इसके उदाहरण हैं। सूडान में जजौरा स्कीम, मिस्र में अस्वान बाँध, सिन्धु घाटी की लवण निक्षेपण की समस्या, निचली मेंकाग घाटी योजना तथा भारत का भाखड़ा – नाँगल सरकारी प्रयत्नों के ही प्रतिफल हैं। इसी भाँति स्पेन में डेल्टा तथा तटीय दलदली भूमि को कृषियोग्य बनाना भी सरकारी नीतियों का परिणाम है। हालैण्ड में बाँध बनाकर नई भूमि प्राप्त करना एक महत्वपूर्ण शासकीय प्रयत्न है। कनाडा में उत्तरी प्रेयरी प्रदेशों पर मेंनीटोवा राज्य में कृषि का विस्तार करने के लिए सरकार द्वारा ही समान रूप से बस्तियाँ बसाई गई।

उत्पादन बढ़ाने के लिए आवश्यक निवेशों की उचित मूल्यों पर व्यवस्था करना सार्वजनिक क्षेत्र का कार्य समझा जाता है। यह बात विशेषरूप से विकासशील देशों के लिए सत्य हैं, जहाँ निवेशों के उपयोग के लिए सरकारी आर्थिक सहायता और अनुदान (Subsidies and grants) भी दिये जाते हैं। इस आर्थिक सहायता का मुख्य उद्देश्य आयात के प्रभाव को घटाना और उत्पादन बढ़ाकर कृषक की आय बढ़ाना होता है। कभी कभी किसी विशेष वस्तु के उत्पादन को बढ़ाने और उपयुक्त कृषि की विधियों को प्रचलित बनाने के लिए भी सहायता दी जाती है। उदाहरण के लिए द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व ब्रिटेन में शक्कर और गेहूँ का उत्पादन बढ़ाने के लिए बहु त आर्थिक मदद दी गई जिनका उद्देश्य आत्मनिर्भरता बढ़ाना था।

इसी भाँति भारत में स्वतंत्रता के बाद कृषि की स्थिति सुधारने के लिए विकास खण्डों (Development blocks) के माध्यम से विस्तृत आर्थिक मदद और अनुदान दिए गए। विभाजन के बाद जूट और कपास का उत्पादन बढ़ाने के लिए इनके उत्पादकों को विभिन्न रूपों की मदद मिली है, फलत: उत्पादन बढ़ा है।

सरकारी नीतियों का उन क्षेत्रों पर अक्षुण्य प्रभाव देखा जा सकता है, जहाँ उत्पादन आधिक्य या अन्य कारणों से भूमि उपयोग में परिवर्तन की आवश्यकता हो। इसका उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका की कपास पेटी है, जहाँ अत्यधिक उत्पादन के साथ मिट्टी का अपरदन प्रमुख समस्या थी। अतएवं भूमि उपयोग नियंत्रण किया गया। फलस्वरूप फसलों के क्षेत्र में कमी हु ई तथा कपास पेटी विभक्त होकर उपयुक्त भागों में केन्द्रित हो गई। इसी भांति संयुक्त राज्य सरकार ने मध्य विशाल मैदान में अन्न की जगह घास पैदा करने के लिए आर्थिक सहायता दी।

2. **कृषि को संरक्षण देना –** उत्पादन बढ़ाने वाली नीतियों के साथ कृषि को प्रतिकूल समयों में संरक्षण देना भी सरकार का उद्देश्य रहा है। यह संरक्षण प्रतिकूल वातावरण (विशेषत: जलवायु) से लेकर बाजार में मूल्यों की अस्थिरता तक से हो सकता है। कृषि श्रमिकों के लिए न्यूनतम मजदूरी निर्धारित करना, अवनति काल में आर्थिक मदद देकर संरक्षण देना, आयात कर, आयात प्रतिबन्ध और कोटा (Quota) व्यवस्था द्वारा आयात को सीमित करके कृषि

उत्पादन को आर्थिक बनाना आदि राजनीतिक संरक्षण हो सकते हैं। इसमें आयात को नियंत्रित करना सबसे महत्वपूर्ण है जिसका उद्देश्य अपेक्षाकृत महँगे घरेलू उत्पादन को आयात की जाने वाली सस्ती वस्तुओं से संरक्षण देना होता है। आयात नियंत्रण के तीन मुख्य तरीके हो सकते हैं – आयात कर बढ़ाना, प्रतिबंध लगाना तथा कोटा निश्चित कर देना। आयात कर सभी वस्तुओं पर समान दरों से हो सकता हैं। जिन बड़े देशों ने स्वदेशी कृषकों को आयात – नियंत्रण द्वारा संरक्षण दिया है उनमें संयुक्त राज्य तथा यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश उल्लेखनीय हैं। यूरोपीय आर्थिक समुदाय के देश समान कर लगाते हैं। उन वस्तुओं पर न्यूनतम कर होता है जिनका कि ये देश उत्पादन नहीं कर पाते, जैसे कि उष्ण कटिबन्धीय खाद्य वस्तुएँ। परन्तु उन वस्तुओं पर अधिकतम कर होता है जो इन देशों में भी उत्पन्न की जाती हैं और जो इन देशों के उत्पादों की प्रतिस्पर्धी साबित होती हैं। इनमें गन्ने की शक्कर उल्लेखनीय है। चुकन्दर की खेती को संभव बनाने के लिए आर्थिक मदद के साथ शक्कर पर आयत कर बहु त अधिक रखा जाता है। ऊँचे कर के साथ कोटा का भी प्रतिबंध लगाना पड़ता है। कोटा व्यवस्था के अंतर्गत किसी वस्तु की एक निश्चित मात्रा ही एक देश से आयात की जा सकती है। घरेलू कृषकों को संरक्षण देने के लिए ब्रिटेन ने सन् 1932 में मुक्त व्यापार पर प्रतिबंध लगाया। इसका विदेशी व्यापार पर प्रभाव स्पष्ट है। न्यूजौलैंड एक ऐसा देश है जहाँ कृषकों का जौवन स्तर भी ऊँचा है और कृषिगत वस्तुएँ न्यूनतम लागत पर उत्पन्न की जाती हैं। इसलिए यह देश पश्चिमी देशों के कड़े आयात प्रतिबंधों को बड़ी सीमा तक सहन कर पाता है परंतु भारत जैसे विकासशील देशों के लिए ऐसा संभव नहीं हो पाता है।

3. **कृषिगत वस्तुओं का विपणन नियंत्रित करना –** वस्तुओं की विपणन – लागत कम करके कीमतें घटाना और वितरण को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से सहकारी विपणन संस्थाएँ बनायी जाती हैं। भारत में "फूड कारपोरेशन आफ इंडिया" (भारतीय खाद्य निगम) तथा सहकारी विपणन समितियाँ स्थापित की गयी हैं। सरकार कृषिगत वस्तुओं का न्यूनतम मूल्य निश्चित करती है, जिससे कृषकों को अपने उत्पादन का उचित दाम मिल सके और उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा मिल सके। हाल ही में भारत की हिमाचल प्रदेश सरकार ने सेव के विपणन को हाथ में लिया है जिससे राज्य के सेव उत्पादकों को अपनी फसल का उचित मूल्य मिलना संभव हु आ है। विकसित देशों में तो मूल्य–निर्धारण हेतु राज्य कुछ पेटियों में विभक्त होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और इंग्लैंड में व्यवस्थाएँ हैं। इंग्लैंड में किसी वस्तु के 2/3 उत्पादक मिलकर एग्रीकल्चर मार्केटिंग बोर्ड द्वारा इस वस्तु का मूल्य निर्धारित करा सकते हैं जो सभी को मान्य हो। दक्षिणी कैलिफोर्निया का राज्य अधिनियम तथा क्षेत्रों को पेटियों में विभक्त करने की नीति इसका एक उदाहरण है।
4. **सार्वजनिक सुविधाएँ उपलब्ध कराना –** सामान्यरूप से कृषि के विकास के लिए आवश्यक सुविधाओं की व्यवस्था सरकार द्वारा की जाती है। कृषक अपने फार्म पर सुविधाओं की व्यवस्था का प्रयास करता है लेकिन अनेकों आवश्यक –सुविधाओं का वह व्यक्तिगत स्तर पर प्रबंध नहीं कर पाता जैसे कि बाँध एवं नहर तथा सड़कों का निर्माण, आर्थिक अनुदान के लिए बैंक एवं सहकारी संस्थाओं की सुविधाएँ उपलब्ध कराना सरकार का ही काम होता है। इसके अलावा सरकार द्वारा ही ग्रामीण क्षेत्रों में संचार के साधनों का विकास किया जाता है,

जिससे फसलों, बाजार, वैज्ञानिक ज्ञान तथा समसामयिक मौसम की सूचना कृषकों तक शीघ्रता से पहुँचे सके। इस प्रकार की सुविधाएँ कृषि विकास के लिए आवश्यक होती हैं।

6.7 परिवहन एवं संचार (Transport and Communication)

अन्य आर्थिक क्रियाओं की भाँति कृषि में भी संचार तथा आवागमन की सुविधाओं का निर्णायक प्रभाव होता है। वर्तमान समय में, जब संपूर्ण संसार एक तंत्र में परिबद्ध हो गया है, विभिन्न क्षेत्रों की कृषि में प्रतिस्पर्धा हो गई है। ऐसी स्थिति में कृषक को बाजार की स्थिति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उसे फसलों के भाव का ज्ञान भी आवश्यक है, जिससे वह अपनी फसलों की संरचना में संशोधन पर अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके। इसके साथ ही कृषि उत्पादकता को बढ़ाने की नई विधियाँ दिन प्रति दिन खोजौ जा रही हैं। इन विधियों की सूचनाएँ एवं सुविधाएँ भी यथाशीध्र किसानों तक पहुँचनी चाहिए। तभी कृषक अपनी कृषि से अधिकतम लाभ लेने की योजना बना सकता है। इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए विश्व के सभी संचार के माध्यमों में कृषि सम्बन्धी सूचनाओं को स्थान दिया गया है। कृषि के स्थानीकरण के सिद्धांतों में इन संचार की सुविधाओं का उपलब्ध होना माना गया है।

कृषि सम्बन्धी सूचनाओं का प्रचार – प्रसार एवं उनका कृषि में उपयोग में बहुत अधिक स्थानिक एवं कालिक अंतर होता है। यह अंतर सूचना स्रोत, सूचना के स्वरूप तथा कृषक के विचारों के कारण होता है। सूचनाओं के स्रोतों को दो वर्गो में रख सकते हैं (मारगन एवं मूंटन. 1974, पृ . 34) – बाह्य स्रोत, जैसे कृषि समितियाँ, अन्वेषण केन्द्र तथा सार्वजनिक प्रचार के साधन; दूसरे, पारस्परिक किसानो से प्राप्त सूचनाएँ। नव अभिज्ञानों की सूचनाएँ तो बाह्य स्रोतों से ही मिलती हैं, लेकिन इनके उपयोग का प्रसार कृषकों के परस्पर सम्बन्धों पर बहुत निर्भर होता है। सूचित की जाने वाली विषय सामग्री भी उसकी स्वीकृति को बड़ी सीमा तक प्रभावित करती है। अगर यह सूचना पूर्णत: नवीन है तो कृषकों को स्वीकार करने में कई समस्याऐं आती हैं लेकिन अगर यह सूचना कृषकों द्वारा उपयोग की जाने वाली विधाओं का संशोधित रूप मात्र है तो किसान उसे आसानी से ग्रहण कर लेते हैं जैसे कि हरितक्रांति में किसानों ने उन्नत बीजों को आसानी से ग्रहण कर लिया, क्योंकि उसके उपयोग के लिए बहुत विस्तृत नये ज्ञान की आवश्यकता नही थी, उनका पूर्व का अनुभव ही पर्याप्त था। "सूचनाओं की उपलब्धि" एवं उनके "उपयोग की क्षमता" दो अंतर्सबंधित बातें हैं। कृषि के विकास के लिए किस प्रकार सूचनाओं की आवश्यकता है, यह बात इस पर निर्भर करती है कि कृषक को अपने पर्यावरण का कितना बोध है। यह बोध उसकी वैयक्तिक क्षमताओं पर निर्भर होता है। ऐसी सूचनाएँ जो उसको बोधगम्य नही हैं, उसको जागृत तो करती हैं, लेकिन वह उनका उपयोग सरलता से प्रारम्भ नहीं कर पाता। इस कारण सूचनाएँ होते हुए भी अभिज्ञानों के उपयोग का स्तर बहुत नीचे होता है। ऐसी स्थिति विकासशील देशों में तो है ही, विकसित देशों में भी है। विकासशील देशों में सार्वजनिक प्रचार के साधन और सीमित होते हैं तथा कृषक के कृषि सम्बन्धी सभी निर्णय अपूर्ण ज्ञान पर आधारित होते हैं।

क्षेत्रों के बीच परस्पर प्रक्रिया उत्पन्न करने में यातायात का बहुत अधिक योगदान है। परिवहन की सुविधा से यातायात में लगने वाला समय, लागत तथा विनाशशीलता कम होती है और कृषि के लिए आवश्यक निवेशों तथा कृषिगत वस्तुओं का आदान – प्रदान तथा गतिशीलता बढ़ जाती है। कृषि के दैनिक कार्यो से लेकर अंतराष्ट्रीय व्यापार तक सभी यातायात के विविध साधनों पर

निर्भर होते हैं । कृषक अपने घर या स्टोर से खेतों तक बीज, खाद, उपकरण ले जाने तथा खेतों से खलिहान तक उपज लाने के लिए किसी न किसी ढोने के साधन का उपयोग करते हैं। ये साधन स्वयं मानव, पशु से लेकर बैलगाड़ी तथा ट्रेक्टर और ट्रक तक हो सकते हैं। विकासशील देशों में मुख्यरूप से सजौव ऊर्जा पर आधारित साधन मुख्य है। निर्जीव ऊर्जा पर आधारित साधनों का उपयोग बड़े कृषक ही कर पाते हैं। परंतु विकसित देशों में ये साधन ही सामान्य हैं। भारत जैसे देशों में स्थानीय परिवहन में बैलगाड़ी सर्वोपरि महत्व की है।

यातायात के इस शुद्ध स्थानीय प्रभाव के साथ ही क्षेत्रीय और प्रादेशिक कृषि पर इसके प्रभाव को स्पष्टत: देखा जा सकता हैं जैसे कि विश्व में कृषि प्रदेशों के अवलोकन से स्पष्ट है कि कुछ ऐसे प्रदेश है जो पूर्णत: विश्व के बाजारों पर निर्भर है, जैसे रोपण कृषि, व्यापारिक अन्नोत्पादन कृषि तथा पशुपालन एवं डेरी। इनका अस्तित्व ही परिवहन की सुविधाओं पर आधारित है। अन्य सभी प्रकार की कृषियों में भी कृषिगत वस्तुओं का कुछ न कुछ व्यापार अवश्य होता है, जिसका स्वरूप भी उपलब्ध यातायात के साधन पर निर्भर होता है।

परिवहन में उसकी क्षमता, गति, आवृत्ति और व्यय प्रमुख विचारणीय बातें हैं। कहाँ किस बात का कितना महत्व है, यह फसल के स्वभाव पर निर्भर करता है जैसे शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं के परिवहन में गति और बारम्बारता का बहुत महत्व होता है, अन्यथा इनको सुरक्षित रखने के लिए विशिष्ट विधियों का उपयोग करना पड़ता है। साग – सब्जी, फल, दूध तथा अन्य डेरी की वस्तुएं इसी प्रकार की हैं। ऐसी वस्तुओं का उत्पादन ऐसे क्षेत्रों में किया जाता है जहाँ से आसानी से कम लागत में शीघ्र ही बाजार तक पहुँचाया जा सके। परिवहन की सुविधा के लिए ही भारत के बड़े नगरों, दिल्ली, मुम्बई, कोलकता के सीमान्त क्षेत्रों से इन वस्तुओं की पूर्ति होती है। इसके विपरीत समुन्नत देशों में द्रुतगामी साधनों की सुविधा के कारण काफी दूरी के क्षेत्रों से विनाशशील वस्तुएँ लाई जा सकती हैं जैसे कि ब्रिटेन के लिए डेरी की वस्तुऐं एवं मांस वायुयानों द्वारा आस्ट्रेलिया एवं न्यूजौलैंड से लाए जाते हैं। पश्चिमी द्वीप समूहों से केला प्रशीतित जलयानों द्वारा निर्यात किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी भाग से पूर्वी भाग को ताजे फल वायुयान द्वारा लाये जाते हैं। इस प्रकार वायुयान द्वारा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का लम्बी दूरियों तक व्यापार बढ़ने की सम्भावनाएं हैं। छोटी दूरियों का वायु परिवहन पूर्ण विकसित है जैसे कि फ्रांस, सिसली तथा खाड़ी के द्वीपों से फल प्रतिदिन वायुदान द्वारा ब्रिटेन पहुँचाये जाते हैं। आस्ट्रेलिया से वायुयान द्वारा मांस निर्यात करने से लाभ यह है कि पशुओं को आंतरिक क्षेत्रों से बंदरगाहों तक लाने का श्रम और समय दोनों बच जाते हैं। वायु परिवहन का उपयोग केवल महँगी वस्तुओं के लिए ही किया जा सकता है।

अंतराष्ट्रीय बाजार के अलावा स्थानीय यातायात में भी गति विचारणीय है और यहाँ वायु परिवहन न तो आर्थिक और न ही संभव होता है। इसी कारण बागवानी की वस्तुओं में सड़क परिवहन का उपयोग होता है। सड़क परिवहन के साथ ही बागवानी वाली कृषि का विस्तार हुआ है। हिमाचल प्रदेश के शीतोष्ण कटिबंध के फल ट्रकों द्वारा सबसे पहले दिल्ली पहुँचाए जाते हैं। इनके बावजूद भी बागवानी कृषि बड़े नगरों के समीप ही विकसित होती है। इसके दो कारण हैं –एक तो बागवानी कृषक जितने ही बाजार के निकट होता है, लाभ कमाने की संभावनाएँ उतनी ही अधिक होती हैं। दूसरे, नगरों के निकट भूमि का सापेक्षित लगान इतना अधिक होता है कि बागवानी जैसी गहन कृषि द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। इनकी तुलना में डेरी उद्योग एक विस्तृत

प्रकार की कृषि है जिससे इसकी आर्थिक लगान देने की क्षमता कम होती है अत: यह नगरीय बाजार से कुछ दूर पर विकसित होती है। दूध कम विनाशशील पदार्थ है और इसका परिवहन भी सरल होता है अत: इसकी पूर्ति विशेष रेलों तथा ट्रकों द्वारा अपेक्षया दूर से भी जा सकती है।

शीघ्रता से नष्ट होने वाली फसलों के परिवहन में गति के साथ उसी बारम्बारता एवं व्यय का भी महत्व होता है। यदि कृषक के पास बाजार तक सीधे परिवहन की सुविधा होती है जिसमें रास्तें में वस्तुओं को उतारने – चढ़ाने की आवश्यकता नहीं होती तो वाहन का भाड़ा अपेक्षा अधिक होते हुए भी कुल परिवहन की लागत कम होती है। फलत: लोग ट्रकों द्वारा माल भेजना अधिक उचित समझते हैं। यद्यपि उसका भाड़ा रेल से अधिक होता है, फिर भी ट्रक माल गन्तव्य तक सीधे पहुँचा देते हैं जिससे मार्गस्थ व्यय और असुविधा की बचत होती है। इसके साथ ट्रकों द्वारा भेजना अधिक सुरक्षित भी समझा जाता है। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि इसकी गति एवं बारम्बारता को आवश्यकतानुसार नियंत्रित किया जा सकता है, रेलों में यह इतना सरल नहीं है। यद्यपि अधिक आयतन एवं भारी वस्तुओं को ढोने की क्षमता रेलों में ही होती है। इस भारी परिवहन के लिए रेल परिवहन किफायती भी पड़ता है। साथ ही भारी वस्तु यदि अधिक दूरी तक जानी हो तो भाड़ा दर भी घटता जाता है।

अविनाशी कृषि उत्पादों के नष्ट होने की आशंका नहीं होती है इसलिए इन्हें परिवहन के लिए तब तक रोका जा सकता है जब तक उन्हें सस्ती दरों पर ढोने की सुविधा न मिले। इस हेतु रबर का उदाहरण लिया जा सकता है। अंतराष्ट्रीय व्यापार मार्ग पर स्थित मलेशिया आदि रबर उत्पादक देशों से रबर का निर्यात उस समय किया जाता है जब यहाँ से जाने वाले जलयानों में अन्य वस्तुओं के यातायात को भीड़ नहीं होती है। उस समय नियमित चलने वाले जलयान सस्ती दरों पर रबर का परिवहन करते है। इस प्रकार ऐसी वस्तुओं के परिवहन में व्यय पर सबसे अधिक विचार किया जाता है। परिवहन व्यय यात्रा की दूरी और वस्तु के भार पर निर्भर करता है। सामान्यरूप से दूरी के साथ परिवहन व्यय बढ़ता है। इसी कारण भारी वस्तुओं का उत्पादन उनके बाजार के निकट होता है। इस प्रकार वस्तुओं के परिवहन–व्यय में वस्तु की कीमत की तुलना में इसकी परिवहन व्यय को वहन करने की क्षमता का अधिक महत्व है। अगर वस्तु की वहन – क्षमता कम है तो बाजार के लिए उत्पादन का प्रोत्साहन नहीं रह जाता है। मक्का सस्ती वस्तु होने के कारण इसका दूर तक परिवहन लाभप्रद नहीं होता है। इसलिए इसे उत्पादक क्षेत्र के निकट पशुओं को खिलाकर महँगी वस्तुओं में परिवर्तित कर लिया जाता है। दूसरी ओर अधिक वहन की क्षमता होने पर वस्तुओं का दूर तक परिवहन भी लाभप्रद होता है जैसे इंग्लैंड के लिए डेरी की वस्तुएँ न्यूजीलैण्ड में उत्पादित की जाती हैं। इन महँगी तथा सरलता से वहनीय वस्तुओं को जहाजों द्वारा लाया जाता है।

यातायात के अधिक द्रुतगामी और सस्ते साधनों की सुविधा बढ़ने के साथ ही कृषि के स्वरूप में भी परिवर्तन आता है। इस सुविधा का प्रभाव कृषि पर दो प्रकार से पड़ता है। एक तो कृषि उपजों को बाजार तक ले जाने की सुविधा तथा दूसरे, उपयोगी वस्तुओं को बाज़ार से लाने की सुविधा। अब यह संभव हो गया है कि कृषक उन फसलों का उत्पादन करें जो उनकी प्राकृतिक पर्यावरण में अधिकतम उत्पादन देने में सक्षम हों। ट्रक जैसे सस्ते और सरल साधनों ने यह संभव बना दिया कि किसान अपनी व्यापारिक फसलों को बाजार तक पहुँचा सकें। सामान्यरूप से देखा जा सकता है कि आंतरिक भागों में पैदा की जाने वाली फसलें, कृषि की विधियों एवं उद्देश्यों में निरंतर

परिवर्तन आ रहा है। यह परिवहन एवं संचार के साधनों की सुलभता के कारण ही संभव हो पा रहा है। इसी तरह का निष्कर्ष चिजम (1962, पृ. 189 - 196) ने भी प्रस्तुत किया है कि वर्तमान समय में फसलों और प्राकृतिक कारकों में जितना घनिष्ट संबंध है वह परिवहन की सतत सरल होने की सुविधा के कारण संभव हुई है। फसलों के उत्पादन में प्रादेशिक विशिष्टता आ रही है।

परिवहन का प्रभाव केवल निर्यात पर ही नहीं उन वस्तुओं के आयात पर भी पड़ता है जो कृषि के विकास के लिए आवश्यक हैं। आंतरिक भागों में बीज, उर्वरक, अच्छी नस्ल के पशु, उपकरण आदि का उपयोग यातायात के विकास पर निर्भर होता है। यातायात की कमी के कारण अगम्य क्षेत्रों में इनका प्रचार नहीं हो पाता है। इस प्रकार बाजार की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा कृषि के विकास दोनों के लिए यातायात का विकास अपरिहार्य है। सस्ते एवं द्रुतगामी परिवहन के साधनों की सुविधा बढ़ा कर निवेशों के आयात और कृषि उपजों के निर्यात की लागत को घटाया जा सकता है। इससे कृषि के स्वरूप में लाभदायी परिवर्तन और कृषि के क्षेत्र का विस्तार किया जा सकता है।

6.8 विपणन (Marketing)

बाज़ार कृषि को कई प्रकार से प्रभावित करता है। कृषिगत वस्तुओं की माँग बढ़ाकर वह कृषि के विस्तार एवं विकास को प्रोत्साहित करता है जिससे खेती का विस्तार अपेक्षाकृत कम उपजाऊ भूमि पर किया जाता है। विस्तार के साथ ही उत्पादन बढ़ाने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक विधियों और निवेशों का उपयोग बढ़ाया जाता है। इस प्रकार वह आवश्यक हो जाता है कि ये निवेश (inputs) कृषकों को सरलतापूर्वक मिल सकें। इनके लिए बाज़ार और उसकी समीपता आवश्यक है। दूसरी ओर इन मशीनों, विधियों एवं निवेशों के उपयोग बढ़ने से पूँजी की आवश्यकता बढ़ती जाती है। इस पूँजी और ब्याज के लाभ को प्राप्त करने के लिए इनके द्वारा प्राप्त कृषि– उपजों का व्यापार आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार विश्व में आधुनिक कृषि का विकास व्यापार का ही परिणाम है।

संचार के साधनों के विस्तार के कारण न केवल विभिन्न भागों की दूरियाँ कम हो गई हैं बल्कि विभिन्न वस्तुओं की मांग और पूर्ति का क्षेत्र भी बढ़ा है। कृषि इस प्रकार के विकास से अप्रभावित नही है। कृषक उन फसलों एवं वस्तुओं का उत्पादन करना चाहते हैं जिनकी अधिकतम माँग हो। यह माँग स्थानीय हो सकती है अथवा माँग–क्षेत्र या बाज़ार हजारों मील दूर भी हो सकता है जैसे न्यूजौलैंड की कृषिगत वस्तुओं का प्रमुख बाज़ार ब्रिटेन है। मलाया का रबर यूरोप और आंग्ल अमेरिका पहुँचता है। यह सत्य है कि विकासशील देशों में उत्पादित कृषिगत वस्तुओं के अधिक भाग का स्थानीय उपयोग होता है, परंतु वहाँ के विदेशी व्यापार में भी उन्हीं की प्रधानता रहती है। दूसरी ओर विकसित देशों में उत्पन्न उपजों का स्थानीय उपयोग कम होता है। फिर भी औद्योगिक निर्मित वस्तुओं की प्रधानता के कारण विदेशी व्यापार में इनका अपेक्षाकृत कम हिस्सा होता है। संयुक्त राज्य, अमेरिका तथा पश्चिमी यूरोपीय देश विश्व की कुल कृषिगत उपजों के व्यापार का आधा से अधिक (सन् 2006 में 52.7 प्रतिशत) और अकेले संयुक्त राज्य अमेरिका 9.8 प्रतिशत प्रदान करता है। पश्चिम यूरोपीय के आयात में 2/3 कृषिगत वस्तुएँ होती हैं।

मशीनीकरण के बाद ही कृषि में एकाकी, स्थानीय आत्मनिर्भरता और सापेक्षिक स्थिरता के स्थान पर पारस्परिक निर्भरता, विशिष्टीकरण, व्यापार तथा अत्यधिक गतिशीलता को स्थान मिला है।

फलस्वरूप कृषि में भी बड़े पैमाने पर उन फसलों के उत्पादन पर जोर दिया गया जिनके उत्पादन की अधिकतम सुविधाएं थीं। इस प्रकार कृषि व्यापारिक हो सकी है। बाजार का स्पष्ट स्थानीय प्रभाव नगरीय क्षेत्रों के समीप भूमि उपयोग पर देखा जा सकता है। भारत तक के बड़े नगरों के समीप ही साग–सब्जी तथा डेरी की वस्तुऐं पैदा की जाती हैं, क्योंकि अपेक्षाकृत अधिक प्रति व्यक्ति आय वाली नगरीय अर्थव्यवस्था में इन वस्तुओं की माँग अधिक रहती है तथा दूर से इनका लाना आर्थिक नहीं होता है। अंतराष्ट्रीय स्तर पर गेहूँ व अन्य अन्न, केला, फल, शक्कर, कपास, जूट तथा ऊन, कहवा, चाय तथा अन्य पेय वस्तुएँ तथा प्राकृतिक रबर के उत्पादन पर बाज़ार का प्रभाव देखा जा सकता है। कुछ कृषि जैसे, कि रोपण कृषि, व्यापारिक अन्नोत्पादन तथा पशुपालन तो पूर्णत: बाज़ार पर निर्भर होती हैं। दूरस्थ बाज़ारों में माँग तथा मूल्य की दशा का इन फसलों एवं वस्तुओं के उत्पादन पर प्रभाव उतनी शीघ्रता से नही पड़ता जितनी शीघ्रता से निर्माण उद्योगों पर उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं की मांग में होने वाले परिवर्तन का पड़ता है। कारण यह है कि कृषि एक जौवीय प्रक्रिया (Biological process) है तथा इस प्रक्रिया को मशीनों की भांति घटाया–बढ़ाया नहीं जा सकता है।

विभिन्न देशों में विपणन की व्यवस्था भिन्न – भिन्न होती है। कुछ देशों में मार्केटिंग बोर्ड्स हैं जो कृषि उपजों के मूल्यों को निर्धारित करते हैं तो कुछ अन्य आर्थिक अनुदान तथा गारंटी के माध्यम से मूल्य को स्थिर बनाये रखते है। न केवल विभिन्न देशों के बीच बल्कि एक ही देश में विभिन्न वस्तुओं की विपणन की व्यवस्थाएँ अलग –अलग होती हैं। उदाहरण के लिए पश्चिमी यूरोप और ग्रेट ब्रिटेन में साग–सब्जी तथा फल उत्पादक अपना संघ बनाकर इनका विपणन करते हैं और इनके सदस्य उन फसलों को पैदा करते हैं जो उनकी विपणन संस्था कहती है। इसके विपरीत अन्नों का व्यापार व्यापारियों द्वारा किया जाता है और हाल ही में इनके अंतराष्ट्रीय व्यापार में तेजौ से वृद्धि हुई है। इनके मूल्यों पर अंतराष्ट्रीय व्यापार का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

कृषि उपजों के विपणन की दृष्टि से बाज़ार के तीन स्तर कहे जा सकते हैं – स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अंतराष्ट्रीय। कृषक अपनी उत्पादित वस्तुओं के कुछ हिस्से का उपयोग स्वयं करता है तथा कुछ हिस्से वो स्थानीय बाज़ार में बेचता है। कई बार ऐसा होता है कि उपभोग में लाई जाने वाली और बेची जाने वाली वस्तु एक ही होती है। विकासशील देशों में इस प्रकार के बाज़ारों का पदानुक्रम वितरण होता है। स्थानीय ग्राम्य बाजार छोटे किसानों के विपणन का केन्द्र होता है। उपभोक्ता सीधे कृषक से वस्तुएँ खरीदते हैं। परंतु नगरीय व्यापारिक केन्द्रों तक बड़े किसानों तथा उन व्यापारियों की ही पहुँच होती है जो छोटे ग्राम्य बाजारों से थोक में कृषि उपजें खरीद लेते है। व्यापारिक समझौते में कृषक का पक्ष हल्का रहता है। किसान बहुसंख्यक होते हैं तथा ग्रामीण क्षेत्रों में फैले होने के कारण उन्हें बाज़ार भाव का भी ज्ञान नहीं होता है। उनकी भंडारण की भी क्षमता कम होती है तथा अपनी अन्य आवश्यकताओं के कारण उत्पादन अधिक समय तक रख भी नहीं सकते हैं। फलत: मध्यस्थ व्यापारियों के साथ कम मूल्यों पर ही बेचते हैं। व्यापारियों के अधिक सीमांत लाभ (marginal profit) के जुड़ जाने के कारण ये वस्तुएँ उपभोक्ताओं को महँगी मिल पाती हैं। कई देशों में व्यापारिक फसलों और पशुओं से प्राप्त उत्पादों को बेचने के लिए सहकारी समितियों का गठन किया गया है। कुछ वस्तुओं के लिए यह व्यवस्था तो आवश्यक है, जैसे डेरी की वस्तुओं के लिए। दूध को छोटे–छोटे किसानों से एकत्रित करके शीघ्र ही

उपभोक्ताओं तक पहुँचाना आवश्यक होता है। ब्रिटेन और आयरलैण्ड में यह कार्य सहकारी दुग्धोद्योग द्वारा किया जाता है। भारत में "कोआपरेटिव मिल्क प्रोड्यूसर्स यूनियन लिमिटेड आनन्द, गुजरात (अमूल)" इसी प्रकार की एक समिति है। इसी आधार पर मध्यप्रदेश, आन्ध्रप्रदेश, दिल्ली और राजस्थान में भी डेरी उद्योग विकसित किया गया है।

विकसित देशों में बेचने की विधियाँ तथा उनके परिवहन की विधियाँ विभिन्न प्रकार की हैं। कृषक अपनी उपजों को सीधे उपभोक्ताओं को बहुत कम बेचते हैं। ऐसा अवश्य हो रहा है कि कुछ फुटकर व्यापारी ही बड़े नगरों के सीमान्त क्षेत्रों में अंडे और मक्खन तैयार कर बाज़ार में बेचते हैं। फल–सब्जी जैसी विनाशशील फसलों का क्रय व्यापारी करते हैं जो इन वस्तुओं को पैकिंग, टिन में बंद करने, प्रशीतन करने तथा सुखाने वाली कंपनियों अथवा सुपरमार्केट चलाने वाली फुटकर विक्रेता कंपनियों को बेचते हैं जैसे कि ब्रिटेन में बागवानी वाली फसलों का विक्रय तीन बड़े थोक विक्रेताओं के माध्यम से होता है। यूरोपीय देशों तथा अमेरिका में पिछले तीन दशकों में सुपर मार्केट के विकास के कारण खाद्य वस्तुओं के व्यापार में बहुत परिवर्तन हुआ है। सुपर मार्केट चलाने वाली कंपनियों इन वस्तुओं को सीधे किसानों से खरीदकर उनको विभिन्न रूपों में तैयार कर पैकेट के रूप में उपभोक्ताओं को बेचते हैं।

अंतराष्ट्रीय व्यापार में भी कृषिगत वस्तुओं का काफी महत्व है तथा व्यापारिक नीतियाँ विकसित देशों के पक्ष में है। कृषिगत वस्तुओं के सबसे बड़े बाजार विकसित देशों में स्थित हैं जहाँ से विकसित और विकासशील दोनों प्रकार के देश खरीद करते हैं जैसे कि खाद्यान्न का अधिकांश व्यापार ब्रिटिश डीलर्स के माध्यम से होता है। आस्ट्रेलिया और कनाडा के गेहूँ का व्यापार भी यहाँ स्थित इन देशों के बोर्डस् द्वारा किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि उन देशों को जिनकी अर्थव्यस्था एक हो फसल के निर्यात पर निर्भर होती है, अंतराष्ट्रीय व्यापार में काफी जोखिम उठाना पड़ता है जैसे कि सेनेगल, न्यूजीलैण्ड और घाना क्रमशः मूँगफली, मांस और कोको के निर्यात पर निर्भर हैं और इन्हें मूल्यों के अतिशयताओं का सामना करना पड़ता है। यह भी उल्लेखनीय है कि विकासशील देश कुछ औद्योगिक कच्चे मालों के निर्यात पर बहुत निर्भर है। इसके विपरीत अधिकांश खाद्यान्नों का निर्यात विकसित देशों के हाथ में है। इन देशों में जनसंख्या के लगभग स्थिर होने के कारण अन्नों की भी माँग स्थिर है, परंतु उत्पादन की क्षमता बहुत अधिक बढ़ा ली गई है। इस कारण यह आवश्यक गया है कि अतिरिक्त उत्पादन को बेचने के लिए ये देश विकासशील देशों से इन अन्नों के व्यापार के लिए उचित तालमेल रखें। ऐसा करने के लिए कुछ देश रियायती दरों पर अन्न बेचते हैं और क्रेता देशों को अनुदान भी देते हैं। इस संदर्भ में कनाडा और आस्ट्रेलिया का गेहूँ का व्यापार उल्लेखनाय है।

बोध प्रश्न 2

1. भंडारण की कृषि में क्या भूमिका है?

   ....

   ....

2. उन शासकीय कार्यो का उल्लेख कीजिए जो कृषि को प्रभावित करते हों।

   ....

   ....

3. कृषि में लगने वाले मुख्य निवेशों का नाम बताइए।

....

....

4. परिवहन का अंतराष्ट्रीय कृषि पर प्रभाव कैसे पड़ता है?

....

....

5. बाज़ार कृषि को कैसे प्रभावित करता है?

....

....

6.9 सारांश (Summary)

कृषि प्राकृतिक तत्वों के साथ मानवीय कारकों से भी प्रभावित होती है। इन कारकों में कृषकों की संख्या तथा उनकी मनोवृत्ति, भूमिस्वामित्व का स्वरूप, खेतों का आकार, आकृति और वितरण, कृषि उपकरण एवं मशीनें, सिंचाई, बाज़ार, परिवहन तथा सरकारी नीतियाँ आदि प्रमुख हैं। इनमें कृषकों की संख्या बहुत महत्वपूर्ण है। यह संख्या एक ओर तो श्रम की पूर्ति तथा उससे सम्बन्धित बातों को प्रभावित करती है, वहीं वह भूमि उपयोग तथा कृषि उपजों की माँग को भी प्रभावित करती है। विकासशील देशों में गरीबी का एक मुख्य कारण कृषि अत्यधिक निर्भरता है जिससे कृषि भूमि का बहुत शोषण किया जाता है, फिर भी कृषि जौवन निर्वाह प्रकार की ही रह जाती है। भूमि स्वामित्व कृषि को कई तरीकों से प्रभावित करता है, कृषि का प्रकार और गहनता सीधे जोत के आकार से संबन्धित होता है। विज्ञान तथा तकनीकी मुख्य रूप से (1) भूमि का सुधार तथा सुरक्षा, (2) यंत्रीकरण, (3) फसलों का सुधार और प्रादेशिक भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल बीज की किस्मों का विकास, (4) सिंचाई, (5) पशुओं की नस्लों में सुधार, (6) कृषि उत्पादन का भण्डारण तथा सुरक्षा एवं (7) कृषि उत्पादों एवं फार्म निवेशों का वितरण के माध्यम से कृषि को प्रभावित करते हैं। शासकीय नीतियों एवं कार्यो को चार समूहों में रखा जा सकता है: (1) उत्पादन संचालित करना, (2) कृषि को संरक्षण देना, (3) कृषिगत वस्तुओं का विपणन नियंत्रित करना, तथा (4) सार्वजनिक सुविधाएँ उपलब्ध कराना।

अन्य आर्थिक, क्रियाओं की भाँति कृषि में भी संचार तथा आवागमन की सुविधाओं का निर्णायक प्रभाव होता है। वर्तमान समय में, जब संपूर्ण संसार एक तंत्र में परिबद्ध हो गया है, विभिन्न क्षेत्रों की कृषि में प्रतिस्पर्धा हो गई है। ऐसी स्थिति में कृषक को बाज़ार की स्थिति का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए संसार के सभी संचार के माध्यमों में कृषि सम्बन्धी सूचनाओं को स्थान दिया गया है। विश्व में कृषि प्रदेशों के अवलोकन से स्पष्ट है कि कुछ ऐसे प्रदेश हैं जो पूर्णत: विश्व के बाजारों पर निर्भर है, जैसे रोपण कृषि, व्यापारिक अन्नोत्पादन कृषि तथा पशुपालन एवं डेरी। इनका अस्तित्व ही परिवहन की सुविधाओं पर आधारित है। बाज़ार कृषि को कई प्रकार से प्रभावित करता है। कृषिगत वस्तुओं की माँग बढ़ाकर वह कृषि के विस्तार एवं विकास को प्रोत्साहित करता है जिससे खेती का विस्तार अपेक्षाकृत कम उपजाऊ भूमि पर किया जाता है। विस्तार के साथ ही उत्पादन बढ़ाने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक

विधियों और निवेशों का उपयोग बढ़ाया जाता है। कृषि उपजों के विपणन की दृष्टि से बाज़ार के तीन स्तर कहे जा कहते हैं – स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अंतराष्ट्रीय।

6.10 शब्दावली (Summary)

- **कृषि में संलग्न जनसंख्या –** वह क्रियाशील जनसंख्या जो कृषि में सक्रियरूप से लगी हो।
- **भूमि अधिकार –** भूमि – अधिकार से तात्पर्य ऐसे समझौते से है जिसके फलस्वरूप भूमि पर कब्जा प्राप्त होता है अत: इसके अन्तर्गत सभी प्रकार की काश्तकारी तथा भूमिस्वामित्व सम्मिलित हैं।
- **असामी कृषक -** भूस्वामी को लगान दे कर खेती का अधिकार प्राप्त करने की व्यवस्था को असामी कृषक कहा जाता है।
- **जोत का आकार –** वह भूमि जिस पर कृषक खेती करता है वह स्वयं की अथवा किराए की भूमि हो सकती है।
- **भूमि सुधार –** कृषि के लिए अनुपयुक्त भूमि को सुधार कर कृषियोग्य बनाना।
- **परिवहन –** वस्तुओं एवं व्यक्तियों का भौतिक स्थानान्तरण परिवहन कहलाता है।
- **संचार –** ज्ञान, विचार विधियों आदि का स्थानान्तरण संचार है।

6.11 संदर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. Found, W.C. (1971) A Theoretical Approach to Rural Landuse Patterns. Edward Arnold, London.
2. Fryer, D.E. (1965) World Economic Development. Mc Graw Hills, New York
3. Singh Jasbir and S.S. Dhillon (1984, 1987, 1994) Agricultural Geography. Tata McGraw– Hill Pub., New Delhi.
4. Singh Jasbir and V.K. Sharma (1985) Determinants of Agricultural Productivity. Vishal Publications, Kurukshetra.
5. Symons, L. (1968) Agriculture Geography. G Bell and Sons. Ltd., London.
6. कुमार, प्रमीला एवं श्रीकमल शर्मा: कृषि भूगोल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, 2008.
7. साइमन, लेसली कृषि भूगोल (अनुवादक एस.एस. कटारे), मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल (म.प्र.)
8. तिवारी आर. सी. तथा बी. एन. सिंह कृषि भूगोल प्रयाग पुस्तक सदन, इलाहाबाद (उ.प्र.)
9. कलवार सुगन चन्द एवं नन्दकिशोर (1994) सामाजिक आर्थिक भूगोल, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर।
10. Kalwar, S.C. (1989): “Socio–Economic Factors Leading to change in the Patterns of Food Productions and Nutrition–Availability in Rajasthan” (Ed.) Food Systems in the World, Rawat Publicaton, Jaipur pp. 199–204.

6.12 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1. कृषि को प्रभावित करने वाले मानवीय कारकों में कृषकों की संख्या तथा उनकी मनोवृत्ति, भूमि स्वामित्व का स्वरूप, खेतों का आकार, आकृति और वितरण, कृषि उपकरण एवं मशीनें, सिंचाई, बाजार, परिवहन तथा सरकारी नीतियाँ आदि प्रमुख है।
2. सर्वाधिक निर्भरता अफ्रीका तथा सबसे कम निर्भरता यूरोप महाद्वीप में है।
3. विभिन्न भूमि - अधिकारों में भूस्वामी अधिकार सबसे अच्छा समझा जाता है। ऐसे कृषकों की भूमि स्वयं की होती है अत: उनका भूमि से लगाव होता है तथा कृषि के सभी लाभ भूस्वामी को ही मिलते है। अतएवं खेती के विकास के लिए अधिक अवसर एवं प्रेरणा मिलती है।
4. दक्षिणपूर्वी एशिया के जोतों की प्रमुख विशेषता छोटे आकार के साथ ही अनेकों टुकड़ों मे विभक्त होना तथा बिखरा होना है। जोत सूक्ष्म आकार की तो है ही साथ ही यह कई टुकड़ों में भी विभक्त होती है।
5. मशीनीकरण से प्रभावित क्षेत्र तीन प्रकार के कहे जा सकते है– (i) मशीन क्रांति से पूर्व घने बसे और भूमि की कमी वाले क्षेत्र, (ii) मशीन क्रांति के बाद बसे क्षेत्र – कम घनत्व और अधिक उपलब्ध भूमि के देश, तथा (iii) मशीन क्रांति के समय आंशिक बसे तथा बाद में पुन: बसाव वाले देश।
6. विज्ञान तथा तकनीकी का योगदान के पांच मुख्य क्षेत्र हैं: (1) भूमि का सुधार तथा सुरक्षा, (2) यंत्रीकरण, (3) फसलों की किस्मों तथा पशुओं की नस्लों में सुधार, (4) सिंचाई, एवं (5) कृषि उत्पादन का भण्डारण तथा सुरक्षा।

बोध प्रश्न 2

1. भण्डारण की सुविधा द्वारा भोज्य सामग्री नष्ट होने से बचाई जाती है जो अन्यथा नष्ट हो जाती थी। एक मौसम में होने वाले अतिरिक्त उत्पादन को अन्य मौसम के लिए संरक्षित किया जाता हैं। विनाशशील वस्तुओं सुरक्षित बचाना भंडारण से संभव होता है। आलू–प्याज कोल्ड स्टोरेज के भण्डारण के कारण लगभग समान दाम पर साल भर उपलब्ध होता है। इस तरह भंडारण भोज्य वस्तुओं की सुरक्षा और हर समय उपलब्धि के माध्यम से कृषि में दक्षता बढ़ाने को प्रोत्साहित करता है।
2. कृषि को संचालित और नियंत्रित करने वाली शासकीय नीतियों एवं कार्यो को चार समूहों में रखा जा सकता है: (i) उत्पादन संचालित करना, (ii) कृषि को संरक्षण देना, (iii) कृषिगत वस्तुओं का विपणन नियंत्रित करना, तथा (iv) सार्वजनिक सुविधाएँ उपलब्ध कराना।
3. कृषि में लगने वाले मुख्य निवेशों में भूमि, जल तथा श्रम के अलावा बीज, उर्वरक, पौध संरक्षक रसायन एवं यंत्र – उपकरण हैं।
4. विश्व में कृषि प्रदेशों के अवलोकन से स्पष्ट है कि कुछ ऐसे प्रदेश हैं जो पूर्णत: विश्व के बाज़ारों पर निर्भर है, जैसे रोपण कृषि, व्यापारिक अन्नोत्पादन कृषि तथा पशुपालन एवं

डेरी। इनका अस्तित्व ही परिवहन की सुविधाओं पर आधारित है। द्रुतगामी साधनों की सुविधा के कारण विनाशशील वस्तुएँ काफी दूरी के क्षेत्रों से आयात – निर्यात की जा सकती हैं जैसे कि ब्रिटेन के लिए डेरी की वस्तुएँ एवं मांस वायुयानों द्वारा आस्ट्रेलिया एवं न्यूज़ीलैण्ड से लाए जाते हैं। पश्चिमी द्वीप समूहों से केला प्रशीतित जलयानों द्वारा निर्यात किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी भाग से पूर्वी भाग को ताजे फल वायुयान द्वारा लाये जाते हैं। इस प्रकार वायुयान द्वारा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का लम्बी दूरियों तक व्यापार बढ़ने की सम्भावनाएं हैं।

5. बाज़ार कृषि को कई प्रकार से प्रभावित करता है। कृषिगत वस्तुओं की माँग बढ़ाकर वह कृषि के विस्तार एवं विकास को प्रोत्साहित करता है जिससे खेती का विस्तार एवं गहनीकरण किया जाता है। विस्तार के साथ ही उत्पादन बढ़ाने के लिए आधुनिक वैज्ञानिक विधियों और निवेशों का उपयोग बढ़ाया जाता है। इस प्रकार यह आवश्यक हो जाता है कि ये निवेश कृषकों को सरलतापूर्वक मिल सकें। इनके लिए बाजार और उसकी समीपता आवश्यक है। दूसरी ओर इन मशीनों, विधियों एवं निवेशों के उपयोग बढ़ने से पूँजी की आवश्यकता बढ़ती जाती है। इसके लिए कृषि – उपजों का व्यापार आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार विश्व में आधुनिक कृषि का विकास व्यापार का ही परिणाम है।

6.13 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. उपयुक्त उदाहरणों सहित कृषि के विकास में तकनीकी कारकों की भूमिका की विवेचना कीजिए।
2. भूमिस्वामित्व एवं जोत के आकार

   अथवा मशीनीकरण एवं बाज़ार का कृषि पर पड़ने वाले प्रभावों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।
3. भारत से उदाहरण देते हुए कृषि पर सामाजिक – आर्थिक

   अथवा तकनीकी – संस्थागत कारकों के प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।
4. उपयुक्त उदाहरणों सहित कृषि के विकास में तकनीकी कारकों की भूमिका की विवेचना कीजिए।

   कृषि पर सरकारी नीतियों के प्रभावों का परीक्षण कीजिए।
5. परिवहन एवं संचार के साधनों का कृषि की संरचना पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 7 : कृषि भूगोल के मॉडल / प्रतिरूप (Models in Agricultural Geography)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 मॉडल की संकल्पना एवं परिभाषा
7.3 मॉडल के लाभ
7.4 मॉडल्स का वर्गीकरण
7.4.1 शार्ले द्वारा वर्गीकरण
7.4.2 किंग एवं कोल द्वारा वर्गीकरण
7.5 कृषि क्षोल के मॉडल्स का वर्गीकरण
7.6 कृषि अवस्थिति मॉडल
7.6.1 वान थ्यूनेन का कृषि अवस्थिति सिद्धान्त
7.6.1.1 वान थ्यूनेन की अवधारणा
7.6.1.2 भूमि कर की संकल्पना
7.6.1.3 वान थ्यूनेन सिद्धान्त के अनुसार भू–उपयोग
7.6.1.3.1 जानसन द्वारा संशोधन
7.6.1.3.2 जे.आर. पीट द्वारा संशोधन
7.6.1.4 आधुनिक युग में वान थ्यूनेन के मॉडल का औचित्य
7.6.2 प्रसरण मॉडल
7.6.2.1 प्रसरण की संकल्पना
7.6.2.2 प्रसरण के तत्व
7.6.2.3 प्रसरण की अवस्थायें (Stages)
7.6.2.3.1 हैगरस्ट्रैण्ड का मॉडल
7.6.2.3.2 हैगरस्ट्रैण्ड की अवधाराणाएँ
7.6.2.3.3 हैगरस्ट्रैण्ड मॉडल की आलोचना
7.6.3 निर्णयकारी मॉडल
7.6.3.1 निर्णयकारी मॉडल की संकल्पना
7.6.3.2 गोल्ड का निर्णयकारी मॉडल
7.6.3.3 सेवेज का निर्णयकारी मॉडल
7.7 सारांश
7.8 शब्दावली
7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ
7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
7.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

7.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे:

- मॉडल की संकल्पना है और उसके लाभ,
- मॉडल्स का वर्गीकरण,
- वान थ्यूनेन सिद्धान्त की अवधारणाएँ,
- वान थ्यूनेन सिद्धान्त में संशोधन,
- आधुनिक युग में वान थ्यूनेन सिद्धान्त का औचित्य,
- प्रसरण मॉडल की संकल्पना, तत्व एवं अवस्थायें,
- हैगस्ट्रैण्ड का मॉडल एवं उसकी अवधारणाएँ,
- निर्णयकारी मॉडल।

7.1 प्रस्तावना (Introduction)

कृषि की बढ़ती हुई विषमताओं, वैविधिताओ एवं जटिलताओं के कारण उसका सामान्य रूप से वर्णन करना कठिन हो गया है इसलिए भूगोलवेत्ताओं ने विभिन्न उपागमों, मॉडल्स, सिद्धान्तों एवं नियमों की ओर अपना विशेष ध्यान केन्द्रित किया है। इसमें मॉडल्स को अधिक वरीयता दी गई है। भूगोल की सभी शाखाओं में मॉडल्स का प्रतिपादन किया गया परन्तु इस इकाई में केवल कृषि भूगोल के मॉडल्स का विवेचन करेंगे।

7.2 मॉडल की परिभाषा (Definition of Model)

मॉडल की परिभाषा विभिन्न भूगोल के विद्वानों ने भिन्न – भिन्न रूप से दी है जिसमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्न हैं:

(i). स्किलिंग (1964) के अनुसार मॉडल, सिद्धान्त, नियम अथवा परिकल्पना एक विचारात्मक संरचना है।

(ii). एकाफ ने मॉडल, सिद्धान्त अथवा नियम को औपचारिक प्रदर्शन माना है जिसे तर्क, सिद्धान्त एवं गणित जैसे उपकरणों की सहायता से प्रदर्शित किया जाता है।

7.3 मॉडल्स के लाभ (Advantage of Models)

मॉडल के निम्नलिखित लाभ (advantage) हैं:

(i). मॉडल अत्यधिक आँकड़े वाले प्रारूप को समझने एवं विश्लेषण में सहायता करते है।

(ii). मॉडल एक रूपरेखा प्रदान करते हैं जिससे आँकड़ों के भण्डार को प्रभावित, एकत्रित। प्रक्रिया एवं विश्लेषण किया जा सकता है।

(iii). किसी तत्व (Phenomenon) के उत्पति एवं प्रसारण के विश्लेषण में सहायता करते हैं।

(iv). मॉडल से सिद्धान्तों एवं नियमों को प्रतिपादित किया जाता है।

(v). मॉडल संयोजन, विचलन एवं संग्रहण में सहायता देते हैं।

(vi). मॉडल वैज्ञानिक विचार के प्रस्फुरण के समझने में सहायता करते हैं।

7.4 मॉडल्स का वर्गीकरण (Classification of Models)

मॉडल्स को विभिन्न भूगोलवेत्ताओं ने कई आधारों पर वर्गीकृत किया है जिसमें मुख्य वर्गीकरण निम्न है:

7.4.1 शार्ले ने मॉडल्स का निम्न वर्गीकरण किया है:

(i). परिक्षाणात्मक मॉडल
(ii). गणितीय मॉडल
(iii). प्राकृतिक मॉडल

7.4.2 सन् 1968 में कोल एवं किंग ने प्रतिरूपों को निम्न भागों में विभाजित किया है:

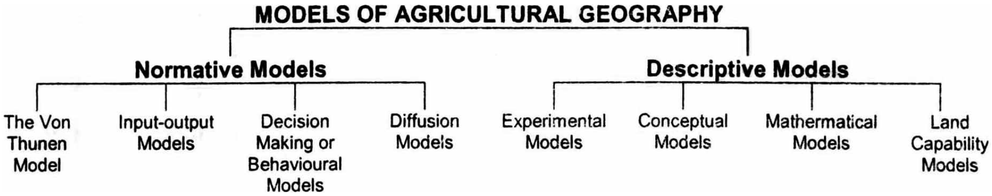

(i). पैमाना मॉडल
(ii). अनुरूपण मॉडल (Simulation Model)
(iii). संकल्पनात्मक प्रतिरूप

7.5 कृषि भूगोल के मॉडल्स का वर्गीकरण (Classification of Models of Agricultural Geography)

इस इकाई में कृषि भूगोल के मॉडल्स का अध्ययन करना है इसलिए इन मॉडल्स/प्रतिरूपों का वर्गीकरण विशेष रूप से दिया जा रहा है:

कृषि भूगोल के मॉडल्स / प्रतिरूपों का वर्गीकरण

मानवीय अथवा आर्थिक प्रतिरूप	विवरणात्मक प्रतिरूप
स्थानीय प्रतिरूप	परिक्षणीय प्रतिरूप
लागत–आगत प्रतिरूप	संकल्पनात्मक प्रतिरूप
निर्णयकारी प्रतिरूप	गणितीय प्रतिरूप
प्रस्फुरण/प्रसरण/प्रतिरूप	भूमिक्षमता प्रतिरूप

इसके पश्चात इन मॉडल्स / प्रतिरूपों को भी कई भागों में वर्गीकृत किया है। यहाँ केवल निम्न तीन प्रतिरूपों के अध्ययन करेंगे:

1. स्थानीय प्रतिरूप
2. प्रस्फुरण प्रतिरूप
3. निर्णयकारी प्रतिरूप

बोध प्रश्न

1. मॉडल को परिभाषित कीजिए।

....

....

2. 1968 में कील एवं किंग ने मॉडल्स/प्रतिरुपों को कितने भागों में बांटा था?

....

....

3. कृषि भूगोल के मॉडल्स को कितने मुख्य भागों में विभाजित किया गया है?

....

....

4. दो मानकीय मॉडल्स का नाम लिखिए।

....

....

7.6 कृषि अवस्थिति मॉडल्स (Agricultural Locational Models)

कृषि कार्य विस्तृत क्षेत्र पर होता है अत: इसका स्थानीयकरण किसी विशेष स्थान पर न होकर उत्पादित फसलों की उपयोगिता एवं लागत पर आधारित होता है। कृषि स्थानीयकरण में किसी क्षेत्र में कौन सी फसल उत्पादित की जाय इसका निर्धारण करना होता है। कृषि के स्थानीयकरण का प्रतिरूप तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त पर आधारित है जोकि मुख्यत: फसलों के उत्पादन की लागत एवं उन्हें उपभोक्ता तक पहुँचाने के परिवहन व्यय पर आधारित है।

7.6.1 वान थ्यूनेन का कृषि अवस्थिति सिद्धान्त (Agricultural Location Theory of Von Thunen)

कृषि स्थानीयकरण के अनेकों मॉडल्स प्रतिपादित किये गये हैं परन्तु इस इकाई में वान थ्यूनेन के प्रतिरूप की व्याख्या की जायेगी। वास्तव में वान थ्यूनेन ने भू–उपयोग संगठन का स्थानिक मॉडल (Model of Spatial Organisation of Landuse) प्रतिपादित किया था।

7.6.2 स्थानिक संगठन का अभिप्राय

स्थानिक संगठन का सामान्य अर्थ मानव द्वारा अपने चतुर्दिक क्षेत्र का उपयोग तथा उस उपयोग की विधि के परिणामस्वरूप निर्मित भूस्वरूप हैं। इस तरह इस संकल्पना में मानव के सभी क्रियाकलाप के समग्र स्वरूप का वितरण का भाव समाहित है। इस समय स्वरूप की अभिव्यक्ति एक तो मूर्त रूप संरचनाओं के माध्यम से होती है, जैसे खेत, कारखाना, गांव, नगर आदि। दूसरे, उन प्रक्रियाओं के माध्यम से होती है जिनके परिणामस्वरूप इन संरचनाओं का जन्म होता है, जैसे आवागमन, परिवहन, संचार आदि। स्थानिक संगठन के आधारभूत सिद्धांत का विश्लेषण फिलब्रिक (1975) ने किया है। उनके अनुसार मानव के सभी कार्य केन्द्राभिमुख होता है जिससे कि कम से कम प्रयत्न से अधिक से अधिक काम किया जा सके। इसे अल्पतम प्रयास का नियम (Principle of least effort) कहते हैं।

कृषि के सदंर्भ में स्थानिक संगठन में कृषिय भूमि उपयोग तथा उनसे जुड़ी प्रक्रियाएं आती हैं। भूमि उपयोग भी अल्पतम लागत तथा अधिकतम लाभ के नियम से नियंत्रित होता है। यह तथ्य एक फार्म से लेकर विश्व स्तर तक देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए चिजम ने (1962, 61 – 64) सिसली के गाँव का अध्ययन कर यह पाया कि अंगूर की खेती गांव के आन्तरिक पेटी में केन्द्रित है, परन्तु जैतून की खेती मध्य पेटी तथा असिंचित कृषि बाहरी पेटी में होती है। चारागाह, बेकार भूमि तथा काष्ठ बाहरी सीमान्त वाली पेटी में स्थित है। इसके कारणों की व्याख्या करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जिस फसल को अधिक मानव–श्रम की आवश्यकता होती है। वह केन्द्र के निकट तथा जिनका कम मानव – श्रम की जरूरत होती हे वे केन्द्र से दूर स्थित होती है। अंगूर की कृषि के लिए अधिक सावधानी तथा समय की जरूरत होने के कारण वह आन्तरिक पेटी में पैदा किया जाता है। इसी तरह के निष्कर्ष ब्लैकी (1970) के हैं जिन्होंने राजस्थान के दो गांवों की कृषि के स्थानीय स्वरूप पर दूरी का स्पष्ट प्रभाव पाया। इसी दूरी के कारण कृषि में उपयोग किए जाने वाले निवेशों की मात्रा भी बस्ती से दूरी बढ़ने के साथ कम होती जाती है।

वास्तव में बस्ती के समीप जनसंख्या का घनत्व अधिक होने के कारण व्यापार तथा श्रम विभाजन एवं श्रम के विशिष्टीकरण की सम्भावना अधिक होती है। फलत: वहाँ की भूमि का लगान इतना अधिक होता है कि कृषि करना सम्भव नहीं होता। इसलिए नगर के केन्द्र के पास उद्योग, व्यापार, आवास आदि क्रियाएं की जाती है। जिनमें उच्च लगान देने की क्षमता होती है। इनसे बाहर उन फसलों की खेती की जाती है जिनके लिए बहुत अधिक मानव–श्रम की आवश्यकता रहती है तथा जिनको शीघ्र बाज़ार तक पहुंचाना आवश्यक होता है। साथ ही इनसे लाभ भी अधिक हो जिससे महंगी भूमि पर इसका उत्पादन संभव हो सके। नगरों के चारो और साग–सब्जी की खेती का संकेन्द्रण इसी कारण होता है। इस आदर्शी स्थिति के अनेकों अपवाद भी हैं। धरातल के स्वरूप, मिट्टी की गुणवत्ता, जलवायु की उपयुक्ता एवं सिंचाई की सुविधा में अंतर होने के कारण भी भूमि उपयोग के स्थानिक स्वरूप में विविधता मिलती है।

7.7.2 प्रतिलाभ का नियम

प्रतिलाभ का तात्पर्य प्राप्त होने वाले शुद्ध लाभ से है। यह शुद्ध लाभ उत्पादित वस्तु के कुल मूल्य से लागत घटाने से प्राप्त होता है। इसे लागत की प्रति इकाई भी व्यक्त किया जा सकता है। अस्तु वर्तमान संदर्भ में कृषिय उत्पादन से मिलने वाली समग्र आय में से उत्पादन लागत निकालने के बाद शेष बची राशि प्रतिलाभ कहलाती है। सामान्यतया उत्पादन के तीन मुख्य घटक माने जाते हैं – भूमि, श्रम तथा पूँजी। इस तरह प्रतिलाभ में इन तीन घटकों का योगदान होता है। अगर इन घटकों में किसी एक, दो अथवा तीनों का उपयोग लगातार बढ़ाया जाय तो एक सीमा तक प्रतिलाभ बढ़ता है। परन्तु इस सीमा के बाद अन्य बातें समान रहने पर भूमि श्रम तथा पूँजी की प्रति अगली इकाई के उपयोग से उत्पादन में होने वाली वृद्धि आनुपातिक वृद्धि से कम होती है। इसे ह्रासमान प्रतिलाभ (Diminishing return) का नियम कहा जाता है। इस नियम को संयुक्त राष्ट्र के खाद्य एवं कृषि संगठन के उदाहरण से समझा जा सकता है। निम्न सारिणी में थाईलैंड में नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों के बढ़ते उपयोग तथा परिणामस्वरूप उपज दर में हुई वृद्धि को प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट है कि उर्वरकों के बढ़ते उपयोग के साथ उपज दर बढ़ती है लेकिन क्रमश: बढ़ते उपयोग के साथ यह वृद्धि घटती जाती है । प्रथम बार उर्वरक के प्रयोग से

उपज दर में 244 किलोग्राम की बढ़ोतरी हुई। उतनी ही मात्रा की उर्वरक की दूसरी किस्त से वृद्धि केवल 120 कि.ग्रा. हुई। इसी तरह चौथी इकाई में वृद्धि केवल 87 कि. ग्रा. रह गई। इसलिए एक कुशल कृषक उस सीमा तक ही उर्वरकों का उपयोग बढ़ाएगा जहाँ अतिरिक्त उर्वरक की लागत की पूर्ति उससे मिलने वाले अतिरिक्त उत्पादन से की जा सके।

तालिका – 7.1: थाईलैंड में नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों के बढ़ते उपयोग का उपज दर पर प्रभाव

उर्वरक का उपयोग किलोग्राम/हेक्टर		चावल की उपज दर (किलोग्राम/ हेक्टर)	
कुल	अतिरिक्त	वास्तविक	वृद्धि
0.0	–	2381	–
12.5	12.5	2625	244
25.0	12.5	2745	120
37.5	12.5	2822	77
50.0	12.5	2909	87

आधार: खाद्य एवं कृषि सगंठन – स्टेटिस्टिक्स ऑफ क्राप रिस्पोंकेस टू फर्टिलाइज़र्स, 1966, पृ: 90।

ह्रासमान प्रतिफल का नियम विभिन्न उत्पादकता वाली भूमि के लिये भी लागू होता है। सामान्यतया बाद में उपयोग में लाई जाने वाली भूमि कम उपजाऊ होती है अत: समान निवेश (input) देने पर भी इस भूमि से अपेक्षतया कम उपज होती है। इस तरह कहा जा सकता है कि निवेशों की प्रति अतिरिक्त इकाई अथवा क्रमश: कम उपजाऊ भूमि की प्रति अतिरिक्त इकाई की उत्पादकता क्रमश: घटती जाती है और एक अवस्था ऐसी आती है कि प्रति इकाई निवेश अथवा प्रति इकाई अतिरिक्त भूमि में लागत की तुलना में लाभ नहीं होता है। ऐसी दशा को उत्पादन की सीमा (margin of production) कहते हैं तथा निवेश की अंतिम इकाई को सीमान्त इकाई (marginal unit) कहते है। यह सीमान्त भूमि से भिन्न है। सीमान्त भूमि का तात्पर्य प्राकृतिक कारणों से कम उपजाऊ भूमि से है जबकि सीमांत इकाई का निर्धारण लाभ के नियमों द्वारा होता है।

ह्रासमान प्रतिफल के नियम को एक अन्य उदाहरण से समझा जा सकता है। (तालिका– 7.2)। यह मान लें कि किसी फार्म पर भूमि तथा पूँजी का निवेश समान है तथा केवल श्रमिक की संख्या बढ़ाई जाती है तो निम्न परिणाम हो सकते हैं। दूसरे श्रमिक के लगने पर उत्पादन तीन गुना हो जाता है तथा उत्पादन में 1000 इकाई की वृद्धि हो जाती है। इस अतिरिक्त उत्पादन को सीमान्त उत्पादकता कहते हैं। औसत प्रति श्रमिक उत्पादकता (750 इकाई) इस सीमान्त उत्पादकता से कम है। तीसरे श्रमिक के आने पर सीमान्त उत्पादकता 1250 इकाई बढ़ जाती है तथा औसत उत्पादकता भी बढ़कर 917 हो जाती है। इस तरह प्रतिलाभ बढ़ता जाता है, क्योंकि लागत की इकाई की वृद्धि के साथ – साथ सीमान्त तथा औसत उत्पादकता दोनों बढ़ रहे हैं चौथे श्रमिक के जुड़ने पर प्रथम बार सीमान्त उत्पादकता घटने लगती है तथापि औसत उत्पादकता बढ़ती रहती है। पांचवे श्रमिक के जुड़ने पर सीमान्त उत्पादकता और घटती है तथापि औसत उत्पादन अधिकतम 980 हो जाता है। यह स्थिति बढ़ते प्रतिलाभ का द्योतक है। इसके बाद श्रमिक बढ़ाने पर दोनों सीमान्त उत्पादकता तथा औसत उत्पादन दोनों घटते हैं। यही ह्रासमान

प्रतिलाभ की स्थिति है। यदि और अधिक श्रमिक बढ़ाए जाए तो नकारात्मक प्रतिलाभ की दशा आती है जिस में अतिरिक्त श्रम की सीमान्त उत्पादकता प्रथम श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता से भी कम हो जाती है।

तालिका – 7.2 : श्रमिक संख्या में वृद्धि का उपज दर तथा प्रतिलाभ पर प्रभाव

श्रमिक संख्या	कुल उत्पादन	सीमान्त उत्पादकता	प्रति श्रमिक औसत उत्पादकता
1	500	500	500
2	1500	1000	750
3	2750	1250	917
4	3900	1150	975
5	4900	1000	980
6	5800	900	967
7	6550	750	936
8	7150	600	894

ह्रासमान प्रतिफल न केवल घटती उपज दर बल्कि बढ़ती हुई लागत का भी परिणाम होता है। यदि अच्छी भूमि और कम उपजाऊ भूमि दोनों से समान उत्पादन प्राप्त करना हो तो कम उपजाऊ भूमि पर अच्छी भूमि की तुलना में अधिक निवेश लगाना पड़ता है। इन निवेशों का उपयोग घटाकर लागत को कम किया जा सकता है। ऐसा करने पर आय बनाये रखने के लिये अपेक्षतया अधिक भूमि पर कृषि का विस्तार करना पड़ता हैं इसी कारण विस्तृत अन्न उत्पादन (extensive grain farming) या पशुचारण (livestock ranching) कम उपजाऊ भूमि पर किया जाता है। इस तरह कृषि को सीमित करने वाली अधिक लागत, न्यून उत्पादकता, न्यून लाभ धारणाओं को विस्तीर्ण सीमा (extensive margin) कहा जाता है। यह सीमा बाजार–मूल्य के साथ बदलती रहती है। इसके विपरीत ऐसी भी परिस्थिति हो सकती है जब लागत घटने आदि के कारण अन्य गहन प्रकार की कृषि प्रारम्भ करना लाभप्रद हो जाता है। इसे गहन सीमा (intensive margin) कहा जाता है। (चिजम 1966, पृ. 51–53)। यह भी संभव है कि एक उद्यम की विस्तीर्ण सीमा दूसरे उद्यम की गहन सीमा हो और जब दोनों सीमान्त सम्पाती होते है तो उन्हें स्थानांतरण सीमा (margin of transference) कहा जाता है।

अगर शुद्धरूप से अर्थशास्त्रीय शब्दों में कहा जाए तो कृषि–उत्पादन अथवा कृषि–वस्तुओं की पूर्ति उनकी माँग द्वारा संचालित होती है। माँग और पूर्ति का सीधा प्रभाव उनके मूल्य पर पड़ता है और यही मूल्य पुन: माँग और पूर्ति का प्रभावित करता है। इस कारण उस आर्थिक क्रिया का स्थानीयकरण माँग और पूर्ति के नियमों द्वारा संचालित होता है। जिसके सभी उपादान आर्थिक होते हैं। जब पूर्ति स्थिर हो और माँग बढ़ रही हो तो मूल्य भी बढ़ता है। इसके विपरीत यदि माँग स्थिर हो और पूर्ति बढ़ रही हो तो कीमत घटती है। ऊँची कीमत होने पर क्रेताओं की संख्या कम हो जाती है। सेद्धान्तिकरूप से पूर्ण विकसित बाज़ार होने पर क्रेताओं–विक्रेताओं की क्रियाएँ एक संतुलित मूल्य के ईद–गिर्द घटने – बढ़ने वाली कीमतों द्वारा निर्धारित होती है। संतुलित मूल्य वह मूल्य है जिस पर क्रेता खरीदने और विक्रेता बेचने के लिए तैयार हो। माँग अथवा पूर्ति में परिवर्तन के साथ इस संतुलित मूल्यों में भी परिवर्तन होता है। स्थानीयकरण को समझने के लिये

यह कल्पना की जा सकती है कि किसी एक नगर की माँग की पूर्ति एवं निश्चित संख्या के फार्मो द्वारा की जाती है। अगर इस नगर की माँग बढ़ती है तो पूर्ति हेतु, अन्य फार्मो पर उत्पादन बढ़ाना आवश्यक होगा। इसके विपरीत माँग घटने पर उत्पादन क्षेत्र को कम करना होगा। साथ ही बढ़ती माँग गहन कृषि द्वारा की जाती है तथा घटती माँग के कारण सभी फार्मो पर उत्पादन की गहनता कम हो सकती है। इसी भाँति कृषि उपज दर बढ़ाने वाली तकनीकी के आने पर स्थिर माँग की पूर्ति के लिए उत्पादन का क्षेत्रफल कम करना पड़ सकता है।

इन नियमों का प्रभाव विश्वस्तर पर भी देखा जा सकता है। बढ़ती जनसंख्या, ऊँचे उठते हुए जौवनस्तर और उद्योगों के लिये कच्चे मालों की बढ़ती माँग के कारण कृषि का उत्पादन बढ़ रहा है। परंतु इस वृद्धि में बहुत अधिक प्रादेशिक विभेद है जिसका सीधा संबंध माँग और पूर्ति की स्थिति से है जैसे कि विकसित देशों में प्रति व्यक्ति खाद्य वस्तुओं का उपभोग लगभग स्थिर है, जनसंख्या भी लगभग स्थिर – सी है, उत्पादकों को बाह्य प्रतिस्पर्धा से सुरक्षा है, फलत, खाद्य उत्पादन क्षेत्र भी स्थिर हैं। ऐसी दशा में अगर कोई ऐसी तकनीकी विधि ढूँढ ली जाए जिसके उपयोग से प्रति हेक्टर उपज बढ़ा ली जाए तो क्षेत्रफल निश्चित रूप से घट सकता है। ब्रिटेन की बागवानी कृषि में ऐसा ही हुआ है। इन फसलों की बढ़ती उपजदर के द्वारा ही बढ़ती माँग को पूरा किया गया है, क्षेत्रफल नहीं बढ़ा है। (वेस्ट तथा गैसन 1966, 56 – 58)।

मूल्य, पूर्ति और माँग अंतसंबन्धो को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि मूल्य में परिवर्तन के अनुपात में मांग और पूर्ति में कितना परिवर्तन होता है। इस आनुपातिक सम्बन्ध को मूल्य – प्रत्यास्थता (Elasticity) कहा जाता है। इन्हें सूत्र के रूप में निम्नानुसार लिखा जाता है।

$$\text{माँग की प्रत्यास्था (Elasticity of Demand)} = \frac{\text{क्रय की गई वस्तु की मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

$$\text{पूर्ती की प्रत्यास्था (Elasticity of Supply)} = \frac{\text{बेची गई वस्तु की मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

विभिन्न कृषिगत वस्तुओं की प्रत्यास्थता भिन्न – भिन्न होती हैं जैसे कि विकसित देशों में माँग की स्थिरता के कारण मुख्य खाद्य – वस्तुओं की माँग की प्रत्यास्थता बहुत कम होती, परंतु फल, सब्जियों तथा माँस की माँग में प्रत्यास्थता बहुत अधिक है। इन उपजों की माँग पर आय में होने वाले परिवर्तन का प्रभाव बहुत अधिक होता है। इसी कारण इसके उत्पादक विकसित क्षेत्रों में बाज़ार ढूँढ़ते हैं। इसके विपरीत मूल खाद्य वस्तुओं की माँग की प्रत्यास्थता विकासशील देशों में अधिक है। इसी, कारण गेहूँ जैसे विकसित देशों की फसल का उत्पादन मुख्यत: तभी बढ़ सकता है जब विकासशील देशों का बाज़ार बढ़ाया जा सके।

इसी भाँति यदि पूर्ति की प्रत्यास्थता को देखा जाए तो पाते हैं कि वृक्षीय फसलों की प्रत्यास्थता वार्षिक फसलों की तुलना में बहुत कम होती है, जैसे कि गेहूँ चावल, मूँगफली आदि के उत्पादन को माँग के अनुसार अगले साल भी बढ़ाया जा सकता है, परंतु चाय, कोको, कहवा आदि वृक्षीय फसलों की बढ़ी माँग के लिए उत्पादन कई वर्षो में ही बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि नये बागानों से उत्पादन प्राप्त करने में समय – लगता है। घटती माँग का भी ऐसा ही प्रभाव होता है। यह भी उल्लेखनीय है कि इन प्रत्यास्थताओं पर स्थानापत्र वस्तुओं और उपभोक्ता की रुचि का भी महत्वपूर्ण प्रभाव होता है। जैसे कि रबर की माँग निरंतर बढ़ रही है, परंतु प्राकृतिक रबर का

उत्पादन उस गति से नहीं बढ़ सका; क्योंकि उसके स्थानापन्न कृत्रिम रबर का उत्पादन बहुत बढ़ा। जूट की भी यही दशा है।

स्थानीयकरण में सापेक्षिक लाभ (Comparative advantage) का नियम भी महत्वपूर्ण होता है जैसे कि फसल उत्पन्न की जाए या पशुपालन किया जाए अथवा मिश्रित कृषि अपनाई जाए आदि का निर्णय इनसे सम्भावित लाभ के आधार पर किया जाता है। इसी भाँति फसलोत्पादन एवं पशुपालन में भी अधिक लाभ देने वाली वस्तु का उत्पादन किया जाता है।

7.7.3 लगान की अवधारणा

अर्थशास्त्र में भूमि – को उत्पादन का घटक माना जाता है। शास्त्रीय अर्थशास्त्र में श्रम, पूँजी तथा भूमि किसी भी उत्पादन के तीन मुख्य घटक हैं! इनके उपयोग के बदले में भुगतान करना पड़ता है। उत्पादन का वह भाग जो श्रमिक को उत्पादन हेतु श्रम देने के बदले मिलता है उसे मजदूरी/वेतन (wages) कहते हैं। इसी तरह पूँजी को उसके पूँजी पति को उसके पूँजी के उपयोग के बदले में मिलने वाला हिस्सा लाभांश कहा जाता है तथा भूस्वामी को उसके भूमि को उपयोग की अनुमति के बदले मिलने वाला उत्पादन का भाग लगान कहलाता है।

शब्दकोषों में लगान को इस तरह परिभाषित किया गया है। कि भूमि जैसे उत्पादन घटक के उपयोग के बदले मिलने वाला वह प्रतिलाभ जो उत्पादन लागत से अधिक हों। किसी दूसरे की भूसम्पत्ति के उपयोग के बदले में का सत्कार द्वारा संविदा के माध्यम से निर्धारित तथा एक निश्चित अन्तराल में देय राशि ही लगान है। 'किसी कृषित भूमि अथवा सुधारी गई भूमि से प्राप्त लाभ में से उत्पादन – लागत को घटाने के बाद शेष राशि लगान है। लगान के आरम्भिक सिद्धांत में रिकार्डो का (1817) लगान का सिद्धांत हैं।

आर्थिक लगान (economic rent) वास्तविक लगान से भिन्न अवधारणा है। आर्थिक लगान में केवल भूमि के उपयोग हेतु लगान की कल्पना होती है जबकि राजस्व लगान में इसके साथ भूमि पर उपलब्ध सुविधाओं का भी लगान सम्मिलित होता है। आर्थिक लगान की का कारण भूमि की गुणवत्ता में अंतर होना है। सिद्धान्त: सीमांत उत्पादन वाली अथवा सबसे निम्न कोटि की भूमि का कोई आर्थिक लगान नहीं होता, क्योंकि इस भूमि पर उत्पादन–लागत और उत्पादित वस्तु के कुल मूल्य में अंतर होता है। समान दशा में किसी भूमि से इस सीमांत भूमि से प्राप्त लाभ से अधिक लाभ ही आर्थिक लगान है। भूमि की प्रति इकाई सीमांत उत्पादन बढ़ने के साथ आर्थिक लगान भी बढ़ता है। इस तरह किसी भूमि का आर्थिक लगान उस भूमि की सीमांत उत्पादकता और सीमांत भूमि की उत्पादकता का अंतर होता है। सीमांत उत्पादन फसलों के उत्पादन में लगने वाली लागत और उन्हीं फसलों के कुल मूल्य का अंतर होता है। इस प्रकार लगान औसत उत्पादन से न निश्चित होकर सीमांत उत्पादन से निश्चित होता है। इसके निर्धारण में अन्य कारकों के अलावा परिवहन व्यय और बाजार से दूरी का भी प्रभाव पड़ता है।

जे.एच. वॉन थूनेन पहले व्यक्ति थे जिन्होंने लगान के स्थानिक स्वरूप की व्याख्या की जिससे केन्द्रीयता तथा परिवहन का महत्व स्पष्ट हुआ। इसलिए उनके सिद्धान्त के संदर्भ में इसे देखना उचित है।

7.4 आर्थिक लगान पर आधारित वॉन थ्यूनेन का सिद्धान्त / मॉडल

जे. एच. वॉन थ्यूनेन आर्थिक स्थानयीकरण के सिद्धांत प्रस्तुत करने वाले संस्थापकों में से एक थे। वॉन थ्यूनेन (1783 – 1850) एक जर्मन भूस्वामी थे। उन्होंने सत्ताईस वर्ष की उम्र में अपना टेलो नाम कृषि फार्म चलाना शुरू किया और मृत्युपर्यन्त इसमें लगे रहे। इसी के साथ उन्होंने बड़े ही वैज्ञानिक तरीकों से कृषिय भूमि उपयोग का सर्वोत्तम हल ढूढ़ने का कार्य किया। इस खोज के लिए उन्होंने अपने अनुभवगत आंकड़ों और अपने फार्म के लेखा जोखा का ही उपयोग किया। इनकी यह खोज एक पुस्तक एकांकी राज्य जर्मन में "Der Isolierte Staat" शीर्षक से सन् 1826 में प्रकाशित हुई। इनके इस प्रकाशन का तत्कालीन आर्थिक सोच पर विशेषकर कृषि के भौगोलिक विश्लेषण पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इनके सिद्धांत का अंग्रेजौ में विश्लेषण करने वाले विद्वानों में ग्रोटवाल्ड (1959), चिजम (1962), जोन्सन (1962) तथा पीटर हाल (1966) उल्लेखनीय है। पीटर हाल ने वॉन थ्यूनेन की पुस्तक को वार्टेनबर्ग द्वारा किये गये अंग्रेजौ अनुवाद का अपनी टिप्पणी और व्याख्या के साथ संपादित किया है।

7.4.1 मुख्य लक्ष्य

वॉन थ्यूनेन के विश्लेषण का मुख्य लक्ष्य यह स्पष्ट करना था कि बाजार से दूरी बढ़ने के साथ कृषिय भूमि उपयोग क्यों और कैसे बदल जाता है । इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने मूलत : दो मॉडलों का सहारा लिया ।

1. किसी भी फसल के उत्पादन की गहनता (intensity of production) बाजार से दूरी के साथ घटती है! उत्पादन की गहनता का तात्पर्य भूमि की प्रति इकाई पर उपयोग किए जाने वाले निवेश की मात्रा से है । उदाहरण के लिए, 'किसी भू –भाग पर जितना अधिक श्रम, पूँजी, उर्वरक आदि का उपयोग होगा, उत्पादन की गहनता उतनी ही अधिक समझी जाएगी ।
2. बाजार से दूरी बढ़ने के साथ भूमि उपयोग का प्रकार भी बदलता जाता है ।

7.4.2 परिकल्पनाएं एवं आधारभूत तत्व

यह निर्विवाद है कि कृषि कार्य बहुसंख्यक तत्वों द्वारा प्रभावित होता है । उनमें से वॉन थ्यूनेन ने एक तत्व बाजार से दूरी –३:। कृषि की गहनता और भूमि उपयोग के प्रकार पर पड़ने वाले प्रभाव का ही विश्लेषण किया है । ऐसा करने के लिए उन्होंने यह माना कि बाजार के अलावा अन्य कारकों का प्रभाव सर्वत्र समान है । इसको उन्होंने निम्न कल्पनाओं द्वारा व्यक्त किया है।

1. एक एकाकी प्रदेश हो जिसका विश्व के अन्य भागों से कोई सम्बन्ध न हो ।
2. इस एकाकी प्रदेश के केन्द्र में एक नगर हो जो इस प्रदेश को कृषिय वस्तुओं के लिए एम मात्र बाजार हो ।
3. इस एकाकी प्रदेश में धरातल पूर्णत : समतल तथा अन्य भौतिक दशाएं, जैसे मिट्टी की उर्वराशक्ति, जलवायु आदि समान हों जिसमें उत्पादन की लागत तथा परिवहन की दर सर्वत्र समान हों । ऐसे क्षेत्र को समदैशिक (Isotropic) मैदान कहते है।
4. नगर की मांग की पूर्ति इसी प्रदेश के कृषकों द्वारा की जाती हो तथा बदले में वे औद्योगिक उत्पादन प्राप्त करते ।

5. कृषक स्वयं अपनी उपजें केन्द्रीय नगर तक ले जाते हों तो परिवहन का साधन (उस समय घोड़ा गाड़ी) एक प्रकार का हो जिससे परिवहन का व्यय दूरी और भार के अनुपात में बढ़ता हो ।
6. इस एकाकी प्रदेश के कृषक अधिकतम लाभ कमाने के इच्छुक हों । फलस्वरूप वे केन्द्रीय नगर की मांग ने अनुसार फसलों के उत्पादन में स्वाभाविक रूप से परिवर्तन करते हों ।

वान थ्यूनेन के कृषिय भूमि उपयोग के सिद्धांत का मूलाधार ही आर्थिक लगान (ह00त0णए [00१) है । उनका मानना है कि किसी भूभाग पर उसी फसल का उत्पादन किया जाता है जिस फसल से अधिकतम आर्थिक लगान प्राप्त हो सकता है । आर्थिक लगान का तात्पर्य किसी भूभाग पर पैदा की गई फसल के बेचने से प्राप्त आय में से उस फसल के उत्पादन पर किया गया व्यय तथा उत्पादन – स्थल से बाजार तक लाने का परिवहन निकाल देने पर बचा हुआ लाभ है । वान थूनेन के इस साधारणीकृत मॉडल में उत्पादन पर होने वाला व्यय तथा प्रति इकाई उत्पादन को समान माना गया है । केवल परिवहन व्यय दूरी पर निर्भर करता है । यदि खेत बाजार के निकट स्थित है तो परिवहन व्यय कम और आर्थिक लगान अधिक होगा । खेत की बाजार से दूरी बढ़ने के साथ परिवहन व्यय बढ़ता जाता है एवं आर्थिक लाभ क्रमशः कम होता जाता है । इस प्रकार आर्थिक लगान खेत की स्थिति पर निर्भर है । इसी कारण आर्थिक लगान को स्थानीयकरण लगान (Locational Rent) कहा गया । इस लगान को निम्न सूत्र द्वारा व्यक्त किया जाता है-

अ ल. = उ (मू–ला) - उ.दू. (प.द.)

LR = Y (P–C) – YD (F)

यहां अ.ल. (LR) = प्रति इकाई क्षेत्र स्थानीयकरण लगान
उ (Y) = प्रति इकाई फसल की उपज
प (P) = फसल का बाजार भाव
ला (C) = फसल का उत्पादन की लागत (व्यय)
दू (D) = उत्पादन क्षेत्र से बाजार की दूरी
प.द. (F) = परिवहन दर

चित्र 7.1 से स्पष्ट है कि फसल का उत्पादन का व्यय (लागत) और बाजार में प्रति इकाई मिलने वाली कीमत सभी खेतों में समान है । अतर है तो केवल बाजार से दूरी में । जैसे –जैसे नगर से दूरी बढ़ती जाती है, फसल के परिवहन का खर्च बढ़ता जाता है फलत : बचत (आर्थिक लगान) कम होती जाती है । यह 'म' बिन्दु पर शून्य हो जाता है । इस कारण यहां उस फसल का उत्पादन लाभदायक नहीं होता । इसे हो सीमान्त भूमि (Marginal Land) कहते हैं ।

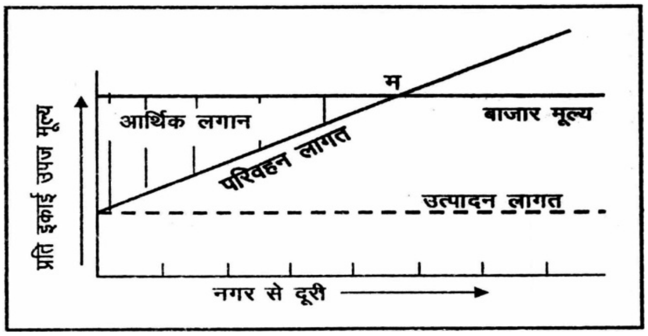

चित्र – 7.1 : नगर से दूरी एवं प्रति इकाई उपज मूल्य

इस बात को एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है । एक काल्पनिक क्षेत्र में' आलू उत्पादन के आर्थिक लगान सम्बन्धी सूचनाएं निम्न हैं –

प्रति हेक्टर उत्पादन	1500 कि ग्राम
आलू का बाजार भाव	रु. 5. 00 प्रति कि ग्राम
उत्पादन व्यय	रु. 2. 00 प्रति कि ग्राम
परिवहन व्यय की दर	रु. 0. 10 प्रति कि ग्राम प्रति कि मी.

ऐसी दशा में यदि आलू की खेती बाजार में की जाये तो आलू को बाजार तक लाने पर व्यय नहीं करना पड़ेगा । अत :

स्थानीयकरण लगान = 1500 (5. 00 – 2. 00) – 1500(0.10×0)

= 4500 रु. प्रति हेक्टर होगा । यह अधिकतम लाभ होगा ।

यदि आलू का खेत बाजार से 5 किलोमीटर दूर स्थित हो तो स्थिति अलग होगी । यद्यपि आलू की प्रति हेक्टर उपज, उत्पादन व्यय और भाव पूर्ववत् होने पर भी इस किसान को आलू बाजार तक लाने के लिए व्यय करना पड़ेगा । अस्तु आर्थिक लगान (शुद्ध लाभ) घटकर न 1500 (5. 00 – 2.00) – 1500 (0. 10 × 5) । रु. 3750 – 00 प्रति हेक्टर रह जाएगी । इस दशा में आलू उत्पादन का सीमान्त क्षेत्र बाजार से 30 किलोमीटर की दूरी पर होगा जहां आलू पैदा करके बाजार में लाकर बेचने पर किसान को कोई लाभ नहीं होगा । दूरी के साथ किस तरह आर्थिक लगान घटता है, इसे निम्न रूप में प्रस्तुत किया जा सकता

तालिका– 7. 3 : दूरी तथा आर्थिक लगान का सम्बन्ध

बाजार से दूरी (कि.मी.)	0	5	10	15	20	30
बाजार भाव (रूपये)	7500	7500	7500	7500	7500	7500
उत्पादन व्यय (रूपये)	–3000	–3000	–3000	–3000	–3000	–3000
कुल परिवहन व्यय(रूपये)	–0.000	–750	–1500	–2250	–3000	–4500
कुल आर्थिक लगान (रूपये)	4500	3750	3000	2250	1500	00.00

इस प्रकार किसी भी फसल के उत्पादन की गहनता का बाजार के निकट अधिक होने की संभावना अधिक होती है g क्योंकि वहां बचत अधिक होती है । जिसका उपयोग गहनता बढ़ाने में किया जा सकता हैं बाजार से स्त्री बढ़ने के साथ गहनता कम होती जाती है ।

एक फसल की भांति अनेक फसल के उत्पादन के स्थानीयकरण को नियंत्रित करने वाले मूलभूत नियम वही हैं, अतंर उनकी लागतों एवं कीमतों में हो सकता है । प्रत्येक फसल निम्न चार बातों में से एक, अनेक अथवा सभी में एक –दूसरे से भिन्न हो सकती है – 1 बाजार भाव, 2. परिवहन की लागत, 3. उत्पादन की लागत और 4. प्रति हेक्टर उपज दर । इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक फसल का आर्थिक लगान में दूरी बढ़ने के साथ आने वाली कमी की दर अलग – अलग होती है । इनके आधार पर बनाया गया स्थानीयकरण वक्र अलग – अलग होता है । इस वक्र की अधिकतम ऊँचाई (बाजार: में स्थिति होने पर प्राप्त स्थानीयकरण लगान) फसलों के आजार भाव और उनके उत्पादन लागत के अंतर पर निर्भर होती है तथा वक्र का ढाल (दूरी के साथ स्थानीयकरण लगान घटने की दर) वस्तु के परिवहन व्यय पर निर्भर करता है । यह उल्लेखनीय– है कि परिवहन की दर वस्तु के भार, आयतन और विनाशशीलता पर निर्भर होती है । वास्तविक जगत में इन चारों बातों को एक साथ देखा जाता है।और किसी खेत विशेष पर वही

फसल पैदा की जाती है अथवा उस खेत का वही उपयोग किया जाता है जिससे अधिकतम स्थानीयकरण लगान प्राप्त हो सकता है । चित्र 7.2 में विभिन्न कृषि उत्पादों के स्थानीयकरण लगान के वक्र बने हैं । बाजार से किसी भी निश्चित दूरी पर इन वक्रों की सापेक्षिक ऊँचाई ही यह निश्चित करती है कि उस दूरी पर भूमि का उपयोग किस काम के लिए किया जाये । चित्र से स्पष्ट है कि बाजार से लगभग 6 मील की दूरी तक साग–सब्जी की खेती से स्थानीयकरण लगान अधिकतम है । फलत: इस क्षेत्र की भूमि पर इन्हीं का उत्पादन होगा । पुन: 6 से 13 मील तक डेयरी का वक्र सबसे ऊपर है जो अधिकतम लाभ का सूचक है । इसलिए इस भाग पर भूमि का अनुकूलतम उपयोग डेयरी उत्पादन है । इससे आगे 50 मील तक गेहूँ की कृषि ही अधिकतम लाभ का भूमि उपयोग होगा । इस उदाहरण में मांस वाले पशुओं का पालन से प्राप्त स्थानीयकरण लगान का वक्र कहीं भी सर्वोपरि नहीं है । इस कारण मांस वाले पशुओं के पालन में भूमि नहीं लगाई जा सकती है ।

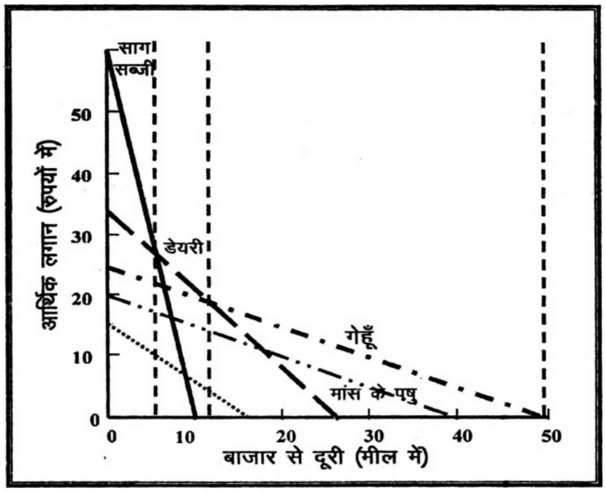

चित्र– 7.2 : बाजार दूरी एवं आर्थिक लगान

उपर्युक्त चित्र में क्षैतिज अक्ष पर विभिन्न भूमि उपयोगों की दूरियों को लेकर तथा बाजार को केन्द्र मानकर चारों तरफ घुमा दिया जाये तो संकेन्द्रीय (concentric rings) वृत्त बन जाते हैं । प्रत्येक वृत्त खण्ड में भूमि का उपयोग अधिकतम लाभ वाले काम के लिए किया जाता है ।

बोध प्रश्न – 2

1. अल्पतम प्रयास का नियम क्या है?

   ....

   ....

2. अंगूर एवं जैतून में किसकी खेती के लिए अधिक मानव– श्रम की आवश्यकता होती है?

   ....

   ....

3. नगर से दूरी बढ़ने पर निवेश की मात्र घटती है अथवा बढ़ती है?

   ....

………………………………………………………………………………

4. ह्यासमा ने प्रतिलाभ क्या है?

………………………………………………………………………………

………………………………………………………………………………

5. आर्थिक लगान क्या है?

………………………………………………………………………………

………………………………………………………………………………

इसी अधिकतम भूमि लगान (Land Rent) के आधार पर वान थ्यूनेन ने भूमि उपयोगिता मण्डल को प्रतिपादित किया जिसमें मण्डी की स्थिति (केन्द्रीय नगर) तथा 6 संकेन्द्रीय कृषि पेटियों हैं । जो आरेख 7. 3 में प्रदर्शित है । फल एवं शीघ्र खराब होने वाले उत्पादन नगरीय मण्डी के निकट उत्पन्न किये जाते हैं तथा हल्के भार एवं कम स्थान घेरने वाली उपज मण्डी से छू की पेटी में उत्पादित की जाती है । वान थ्यूनेन की भूमि उपयोग की पेटियों की व्याख्या निम्नलिखित है और इसका संक्षिप्त विवरण तालिका 7. 4 में दिया गया है :

1. **शाक सब्जी एवं दूध उत्पादन पेटी :** यह मण्डी 7,नगर से लगी हुई पेटी है जो लगभग एक प्रतिशत भूमि में है । यह मण्डी से 0.8 किमी. अर्धव्यास वाले मृत में पाई जाती है । इसमें शाक सब्जी का उत्पादन किया जाता है और रु के लिए पशुओं का पालन किया जाता है क्योंकि ये सभी उत्पाद शीघ्र ही खराब होने वाले हैं । यहां की भूमि उर्वर है और इसकी उर्वरता को बनाये रखने के लिए नगर से खाद कम वाहन व्यय से लाई जाती हैं । यहाँ की भूमि उपयोग गहनता अधिक है एवं खेत को परती नहीं छोड़ा जाता है ।
2. **ईंधन एवं इमारती लकड़ी उत्पाद पेटी :** यह वनो की पेटी है जो संपूर्ण क्षेत्र से 3 प्रतिशत भाग में लगभग 5 किमी. चौड़ी गोलाकार पट्टी में पाई जाती है । यहाँ से ईंधन एवं भवन निर्माण को लकड़ी प्राप्त होती है । क्योंकि उस समय यूरोपीय देशों में इमारती लकड़ी एवं ईंधन की आवश्यकता अधिक थी और इनका भार अधिक था । इसलिए इस प्रकार की पेटी का नगर के निकट होना आवश्यक था ताकि परिवहन व्यय कम लगे और भूमि लगान अधिक प्राप्त हो । यहाँ घने जंगल है अत: भूमि उपयोग गहनता भी अधिक होगी ।
3. **बिना पड़त फसल उत्पादन :** यह पेटी शुद्धरूप से शस्यों के उत्पादन के लिए है जो संपूर्ण क्षेत्र के 3 प्रतिशत भाग में फैली हुई है । यहाँ भूमि का प्रत्येक भाग शस्य उत्पादन के लिए उपयोग किया जाता है । यहाँ पर शस्य गहनता अधिक है । यहाँ मृदा की उर्वरता बनाये रखने के लिए 6 वर्ष का फसल चक्र – राई दो वर्ष, आलू सोया, कलोवर एवं जौ प्रत्येक एक वर्ष अपनाया जाता है । राई एवं आलू यहां की मुख्य फसलें है :

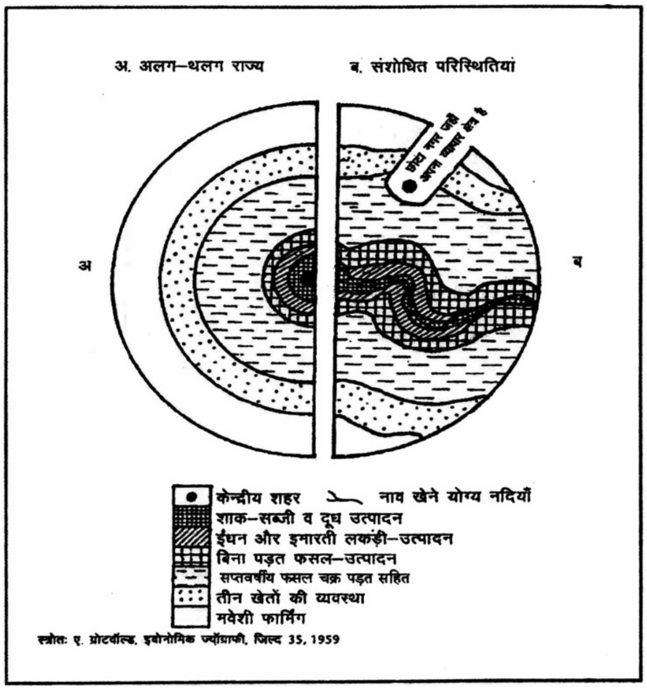

चित्र–7.3 : वान थ्यूनेन कृषि पेटियाँ

तालिका–7.4 : वान थ्यूनेन की कृषि भूमि उपयोग पद्धति

वृत खण्ड	क्षेत्रफल प्रतिशत में	केन्द्रीय नगर से सापेक्षिक दूरी	भूमि का उपयोग का प्रकार	विपणन की मुख्य वस्तु	उत्पादन पद्धति
0	0.1 से कम	–0.1	नगरीय–औद्योगिक	औद्योगिक वस्तुएं	प्रदेश का व्यापारिक नगर
1	1	01.–0.6	गहन कृषि	दूध, साग–सब्जी	अति गहन दुग्ध एवं सब्जी उत्पादन, खाद का अधिक उपयोग
2	3	0.6–3.5	वन	जलाऊ एवं इमारती लकड़ी	संतुलित वानिकी
3	3	3.6–4.6	विस्तृत कृषि	राई–आलू	षदवर्षाय परती रहित फसल चक्र –राई– 2, आलू– 1 वेच 1,क्लोर1, जौ–1
4	30	4.7–34	विस्तृत कृषि	राई	सप्तवर्षीय फसल चक्र–चरागाह 3, राई 1, जौ–पड़त ।
5	25	34–44	त्रिखेत प्रणाली	राई–पशु उत्पाद	त्रिक्षेत्रे पद्धति – 1 राई आदि, 2 चरागाह, 3 परती
6	38	45–100	पशुपालन	पशु उत्पाद	पशुपालन, पशुओं के लिए कुछ राई इत्यादि

4. **फसल की खेती, पड़त एवं चरागाह :** यह अन्न उत्पादन की वह पट्टी है जिसमें परती एवं चरागाह भूमि भी निहित है । यह संपूर्ण क्षेत्रफल के 30 प्रतिशत भाग में पाई जाती है । यहाँ पर फसलों के साथ–साथ पशुओं के लिए चारा भी पैदा किया जाता है । यहाँ पशु परती भूमि का भी उपयोग करते हैं । यहाँ पर कृषि की गहनता कम है । राई यहाँ ही मुख्य शस्य है ।

यहाँ पर कृषक 7 वर्षीय फसल चक्र अपनाते हैं ताकि भूमि की उर्वरता बनी रहे । शस्य चक्र में राई, जौ, ओट, चारा, आलू चारा एवं परती का है । इस पेटी में चरागाहों को अधिक वरीयता दी जाती है । यहाँ से मांस के लिए जौवित पशुओं को मण्डी में भेजा जाता हैं ।

5. तीन खेत प्रणाली वाली पेटी : यह शस्य उत्पादन की सबसे दूर वाली पेटी है जो सकल क्षेत्रफल के 25 प्रतिशत भाग पर पाई जाती है । यहाँ शस्य गहनता बहुत ही कम है । इस पेटी में 173 भाग पर शस्य उत्पादन, 173 भाग में पशुपालन तथा 173 भाग पड़त पड़ी रहती है । इस पेटी में भी मण्डी के निकट शस्य की गहनता अधिक होती है और दूर वाले भागों को चरागाहों के लिए उपयोग किया जाता है ।
6. पशुपालन पेटी : यह सबसे अधिक दूरी की अन्तिम पेटी है । जो सकल क्षेत्रफल के 37. 9 प्रतिशत क्षेत्रफल पर पाई जाती है । यहाँ पर मुख्य रूप से पशुपालन किया जाता है और यहाँ के पशुउत्पाद को मण्डी में भेजा जाता है । कभी– कभी जौवित पशुओं की मण्डी में भेजा जाता है ।

वान थ्यूनेन द्वारा प्रतिपादित पेटियां

भूमि उपयोग एवं शस्य गहनता का विश्लेषण करने से यह भली भाँति विदित होता है कि कृषक अधिक आर्थिक लगान प्राप्त करने के लिए भूमि उपयोग को बदलते रहते हैं तथा ज्यों–ज्यों मण्डी से दूरी बढ़ती है, शस्य गहनता या भूमि उपयोग गहनता घटती जाती है । यह दोनों तथ्य वान थ्यूनेन के निम्न दोनों सिद्धांतों की पुष्टि करते हैं ।

(i) शस्य स्थान्तरित सिद्धांत (Crop substitution theory) (ii) शस्य गहनता सिद्धांत (Crop intensity theory)

7.6.1.4 वान थ्यूनेन के सिद्धान्त 7 मॉडल में संशोधन

वान थ्यूनेन के मॉडल में अनेकों विद्वानों ने संशोधन किया है क्योंकि वान थ्यूनेन ने जिन मान्य अवधारणाओं के आधार पर अपना मॉडल प्रतिपादित किया है वह वास्तविक जगत में, न आज के आधुनिक युग में और न उनके ही युग में पाई जाती थी । इसके अतिरिक्त इस युग की मान्यताएं एवं आवश्यकताएं परिवर्तित हो गई है । इस एटमी एवं स्टील के युग में इमारती लकड़ी एवं लकड़ी के ईंधन का उपयोग बहुत कम हो गया है । परिवहन के साधन एवं उनके व्यय में अत्यधिक अंतर आ गया है इसलिए बहुत से विद्वानों ने वान थ्यूनेन के मॉडल में संशोधन किया है । सर्वप्रथम वान थ्यूनेन ने ही अपने मॉडल में बाद में एक नदी का परिवहन के साधन एवं एक छोटे नगर को मण्डी के रूप में जोड़ा था । क्योंकि जल यातायात का व्यय थल यातायात व्यय का 1710 भाग था इसलिए इसका प्रभाव कृषि भूमि उपयोग पर पड़ा । इसी प्रकार छोटे नगर का भी प्रभाव पड़ा । यद्यपि अनेक विद्वानों ने इनके मॉडल में संशोधन किया है, परंतु यहां पर केवल ओलफ जानसन एच जे. आर. पीट का संशोधन प्रस्तुत किया जा रहा है ।

7.6.1.4.1 ओलफ जानसन (Olf Johnson) द्वारा संशोधन

ओलफ जॉनसन स्वीडन के भूगोलवेत्ता रम्य अर्थशास्त्री थे । उन्होने 20 वीं सदी के आरम्भ में यूरोप में कृषि का गहन अध्ययन करने के पश्चात् 1925 में वान थ्यूनेन के प्रतिरूप में संशोधन किया । इन्होंने उत्तरी पश्चिमी –यूरोप के तट की स्व बड़े नगर के रूप में संकल्पना की जो एक

नाव्य नदी के मुहाने पर स्थित है । नाव्य नदी पूर्व से पश्चिम को प्रवाहित होती है । इस अवधारणा के पश्चात् उन्होंने 7 भूमि उपयोगी की पेटियों का निर्धारण किया (चित्र 7.4) । प्रथम पेटी सघन फल, सब्जी एवं पुष्पोत्पादन की है क्योंकि इस युग में पुष्पों की अधिक मांग है । दूसरी पेटी केवल सब्जी एवं फल की है जिसमें कम नाशवान साग, सब्जी जैसे आलू प्याज आदि तथा चारे की फसल भी उत्पादित की जाती है । तीसरी पेटी में सघन कृषि रख पशुपालन कार्य सम्पन्न किया जाता है । चौथी पेटी में मोटे अनाज एवं कपास की कृषि की जाती है । यहाँ पर सूखी घास एवं कम सघन पशुपालन भी होता है । पांचवी पेटी मुख्यतया चारागाहों की पेटी होती है जिसमें मांस, चर्बी, चमड़े आदि का कार्य किया जाता है । छठी पेटी अन्य कृषि से सम्बन्धित है । यहाँ कृषि कार्य बहुत कम होता है इस क्षेत्र में बाहरी परिधि वन क्षेत्रों से परिपूर्ण होता है । इस संशोधन के विश्लेषण से यह तथ्य विदित होता है कि अन्न फसल की दो मूल अवधारणाएं, बाजार एवं परिवहन व्यय अब भी भूमि उपयोग को काफी सीमा तक प्रभावित करते हैं और उसके कृषि स्थानीयकरण के दोनों सिद्धान्त सही हैं ।

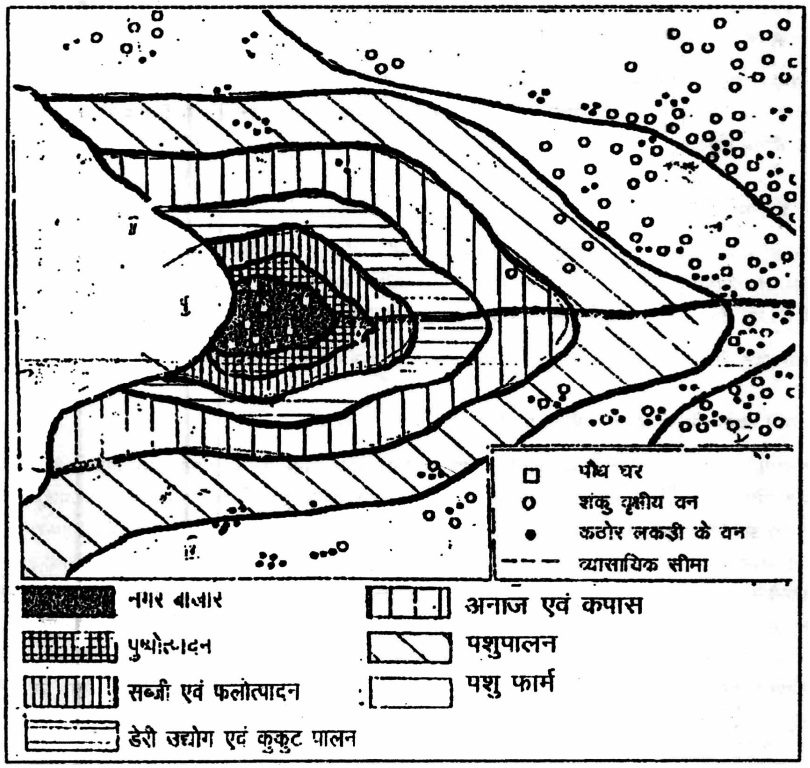

चित्र – 7.4 : ओलफ जानसन द्वारा संशोधित कृषि प्रतिरूप

जे. आर. पीट द्वारा संशोधन: पीट महोदय ने1969 में अपने लेख " Spatial Expansion of Commercial activity in the 20th Century :A Von Thuen Interpretation" के आधार पर इस मॉडल में संशोधन किया है । उनके. से वान थ्यूनेन की अवधारणा पूर्णरूपेण सही नहीं है । कृषि के स्थानीयकरण में भौतिक, आर्थिक एवं सामाजिक घटकों का ?? योगदान है अत: इन्होंने इन सभी के भूमि लगान (Land Rent) पर प्रभाव को प्रदर्शन करने के लिए इस मॉडल में 0 किया है । उन्होंने भौतिक घटकों को उर्वरक मिट्टी, आर्थिक घटकों को एक छोटा उपनगर एवं सांस्कृति घटकों को मानव ' को चयनित करके इनके प्रभाव को आरेख 75 में प्रदर्शित किया है ।

यह पांच क्षेत्रों (सेक्टर) में विभाजित है । इन्होंने तीन – शस्यों, AB तथा C के खेती को चयनित किया है । A अधिक भूमि लगान, छ मध्यम भूमि लगान, एवं p कम भूमि लगान का प्रतीक है । प्रथम सेक्टर सामान्य है एवं जटिलताओं से युक्त है तथा यहाँ फसलों का रूप सामान्य है और भूमि लगान नगर से दूरी के साथ–साथ घटता जाता है । दूसरे सेक्टर पर इन्होंने शस्य 4 एवं ठे के मध्य एक उर्वरक मृदा के क्षेत्र की संकल्पना की है जिसका अनुकूल प्रभाव वहाँ की उत्पादकता पर पड़ेगा और उसके आस–पास भूमि लगान अधिक होगा । तीसरे सेक्टर में एक छोटे उपनगर की संकल्पना की है जिसका शस्यों के उत्पादन को प्रभावित करने का अपना प्रभाव क्षेत्र है । चौथे सेक्टर में इन्होंने मानव के प्रतिकूल व्यवहार को प्रदर्शित किया है जो एलन ग्रेड के अध्ययन पर आधारित है ।

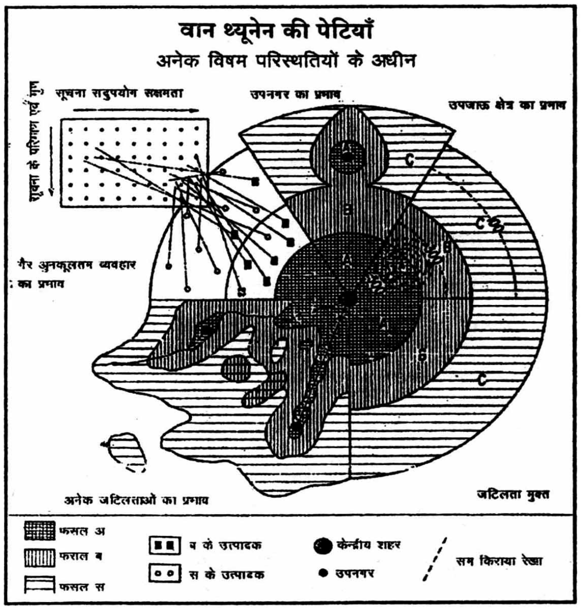

चित्र–7.5 वान थ्यूनेन की पेटियाँ अनेक विषम परिस्थितियों के अधीन

इसमें इन्होंने दिखाया है कि कैसे सूचनाओं से परिपूर्ण व्यक्ति छ शस्य को p: शस्य की पेटी में पैदा करके अधिक लाभ उठाता है और इसके अभाव वाला मनुष्य p शस्य को छ शस्य क्षेत्र में पैदा करके कम लाभ उठाता है । अन्तिम सेक्टर में इन्होंने अनेक जटिलताओं के प्रभाव को प्रदर्शित किया है जिसमें नदी एवं रेलगाड़ी के यातायात साधन, एक उपनगर एवं एक रेलहेड नगर उर्वरक मृदा, मुख्य नगर आदि के प्रभाव को भू–उपयोग पर दर्शाया है । यह संशोधन अपने आप में बहु त उचित है परंतु इसको आलोचनात्मक विश्लेषण में यह प्रतीत होता है कि वान थ्यूनेन के कृषि स्थानीयकरण के दोनों सिद्धान्त उचित प्रतीत होते हैं ।

बोध प्रश्न –3

1. वान थ्यूनेन के सिद्धान्त की कितनी अवधारणाएं हैं?

   ....

   ....

2. वान थ्यूनेन के भूमि लगान का क्या सूत्र है?

   ....

3.	वान थ्यूनेन के मॉडल में भू–उपयोग की कितनी पेटियाँ हैं?	
	....	
	....	
4.	ओलफ जॉनसन के भू–उपयोग प्रतिरूप की किन्हीं दो पेटियों का नाम लिखिए।	
	....	
	....	

7.6.1.5 आधुनिक युग ,में वान थ्यूनेन के मॉडल का औचित्य :

इन विषमताओ, वैविधताओं एवं जटिलताओं के आधुनिक युग में वान थ्यूनेन के मॉडल का क्या औचित्य है? इस पर अनेक भूगोलवैत्ताओं ने मन्थन किया है । यहाँ पर सबका वर्णन संभव नहीं है परन्तु इसके औचित्य को तीन स्तरों पर परखा जा सकता ??

(क) ग्रामीण / फार्म स्तर पर

(ख) प्रादेशिक स्तर पर

(ग) महाद्वीपीय स्तर पर

इन तीनों स्तरों पर इसके औचित्य का अध्ययन अनेक विद्वानों ने विकसित एवं विकासशील देशों के सन्दर्भ में किया है परन्तु यहाँ पर प्रत्येक का केवल एक अध्ययन प्रस्तुत हैं :

(क) ग्रामीण / फार्म स्तर (Microlevel)

इस स्तर पर अफ्रीका (पोरथोरो रण स्टील), यूरोप (वीयला, सुमेला, थीरी, प्रेस्टनीका) एवं भारत (ईनायत अहमद. नूरमुहम्मद, शफी) में कई अध्ययन हुए हैं । ये अध्ययन विकसित, नवीनतम विकसित, एवं विकासशील देशों का प्रतिनिधित्व करते हैं । इन सब अध्ययनों में यह सामान्य रूप से पाया गया है कि जैसे –जैसे आबादी (मण्डी) से दूर जाते।। हैं, फसलों के प्रकार, प्रारूप एवं उत्पादकता में परिवर्तन आता है और शस्य गहनता भी कम होती जाती है । ये दोनों बाते वान थ्यूनेन के मॉडल के अनुसार है ।

(ख) प्रादेशिक स्तर(Meso Level)

इस स्तर पर भी वान थ्यूनेन के मॉडल के औचित्य का अध्ययन अनेक विद्वानों ने किया है । उदाहरणार्थ स्टैमर ने हेमवर्ग में, फिलीपीनों ने पेरिस में, दयाल ने आस्ट्रेलिया में एवं ग्राफिथ ने चुरूगवे में इसका अध्ययन किया है । इन सभी अध्ययनों के विश्लेषण से भी प्रतीत होता है कि कुछ संशोधनों के पश्चात् आज भी वान थ्यूनेन का सिद्धान्त सही है ।

(ग) महाद्वीपीय स्तर (Macro Level)

सन् 1952 में वान वाल्केनवर्ग और हेल्ड ने जोनासन के विचारों की पुष्टि अपनी यूरोप की पुस्तक में की है । इन लोगों ने आठ प्रमुख फसलों गेहूं राई, जौ, जई, चुकन्दर, आलू फल एवं चारा के औसत उत्पादन के आधार पर शस्य गहनता का फ़?' किया । (चित्र 7. 0) । इस चित्र से स्पष्ट है कि उत्तर –पश्चिमी यूरोप के विस्तृत बाजार क्षेत्र से बाहर की ओर गहनता की '00 पेटियां पाई जाती हैं । सर्वाधिक गहनता केन्द्रीय नगरीय औद्योगिक प्रदेश में है जो दक्षिण पूर्वी इंग्लैण्ड, उत्तर –पूर्वी फ्रांस, बेल्जियम, नीदरलैण्ड, और उत्तरी जर्मनी में फैला है । इससे बाहर दूरी के साथ यह गहनता कम होती जाती है ।

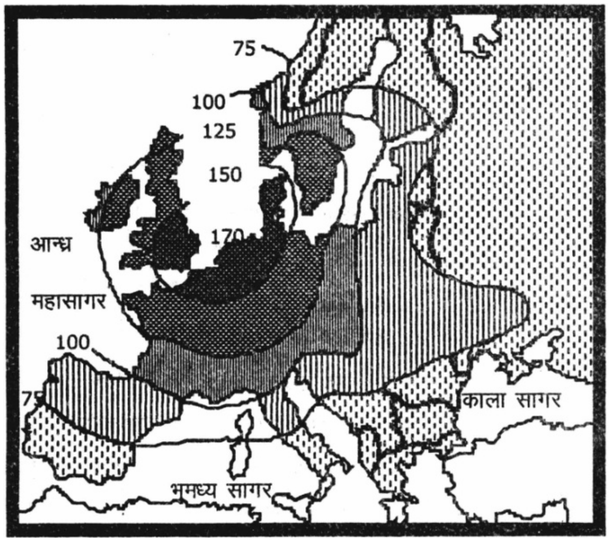

चित्र– 7.6 : यूरोप में कृषि की गहनता का सूचकांक (वाल्केनवर्ग एवं हेल्ड के अनुसार)

वान थ्यूनेन के मॉडल आलोचना भी बहुत हुई है जिसका मुख्य आधार उनकी अवास्तविक मान्यताओं पर है । यह मॉडल कृषि सम्बन्धी लघु अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षो पर आधारित है । परिवहन के साधन बदल गये –हैं तथा प्रतिदिन प्रतिमील के समान किराये की अवधारणा बदल गई है । अधिक दूरी में अनुपातिक किराया कम लगता है । आज की बदलती परिस्थितियों में कोई कृषि जागीर अथवा जायदाद अलग – अलग स्थित नहीं है । तीव्रगति के यातायात के साधनों से दूरियाँ कम हो गई है । विश्व की मण्डियाँ सिकुड कर एक दूसरे के नजदीक आ रही है । विश्व एक ग्लोबल गाव हो गया है । कृषक अपनी उपज आसानी से विश्व व्यापार में बेच सकता है । इसके अतिरिक्त और अनेक कारणों से भी इस मॉडल की कई भूगोलवेत्ताओं ने आलोचना की है।

इसमें सिनकिलियर (1967), मैटिगली (1977), ग्रासपैपन (1976) और शफी (1997) आदि हैं । सिनकित्मिर ने नगर के परिवर्तनशील संकल्पना के आधार पर इस मॉडल की आलोचना की है । उन्होंने कहा कि नगरों के चारों ओर शस्य गहनता कम होती हे और जैसे –जैसे दूर जाते है शस्य गहनता बढ़ती जाती है जो वान थ्यूनेन के मॉडल के विपरीत है । शफी ने अलीगढ़ के कायेल तहसील के 35 चयनित गांवों के अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला की शस्यों की गहनता एवं उनका हस्तान्तरण मण्डी :की स्थिति के साथ–साथ सिंचाई के साधन एवं अन्य सुविधाओं पर आधारित होता है । इन सबके बाबर यह कहा जा सकता . कि यह मॉडल भू –उपयोग की व्याख्या करने में काफी सहायक है ।

वर्तमान समय में वान थ्यूनेन मॉडल की सार्थकता

वान शेन थ्यूनेन द्वारा कथित उपयोग की पेटियों का क्रम एवं लक्षण वर्तमान विश्व में नहीं मिलता है । नगरों के चारों ओर भूमि उपयोग का स्वरूप भले ही वान थ्यूनेन द्वारा प्रस्तावित क्रम में न हो, परंतु आज भी आर्थिक लगान ही भूमि उपयोग को निश्चित करता ' । – अवश्य है कि यह आर्थिक लगान केवल परिवहन व्यय पर ही निर्भर नहीं है । आज भी विकसित और विकासशील दोनों क्षेत्रों में ग्रसे के चारों ओर आंतरिक पेटी में गहन उद्यान कृषि और दूध का उत्पादन किया जाता है । सभी नगरों के नगर–ग्राम सीपा पर इन्हें देखा जा सकता है । एक ओर

जहां भोपाल जैसे नगर के सीमांत सत्र पर इसी तरह की कृषि उपस्थित है (कुमार 1976). वहीं संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तरपूर्वी भाग में वाशिंगटन से बोस्टन तक के मैगालोपोलिस क्षेत्र की कृषि की विशेषता उद्यानिकी, डेयरी और मुर्गीपान ही है । (गोटमन 1961 पृ. 263) ।

वान थ्यूनेन के मॉडल का परीक्षण कई लोगों ने अलग–अलग परिस्थितियों में किया है । विद्वानों ने फार्म और गांव से लेकर महाद्वीप स्तर तक थ्यूनेन के मॉडल की सार्थकता का परीक्षण किया है । चिजम ने विविध उदाहरण द्वारा यह स्पष्ट किया है कि फार्म और गाव स्तर पर भी थ्यूनेन की भूमि उपयोग का वृत्तीय स्वरूप देखा जा सकता है (चिजम 1962, पृ. 47 – 75 और 12 न – 153) । इन दशाओं में परिवहन व्यय खा में नहीं समय और श्रम के रूप में नापा जाता है । इस कारण अधिक श्रम चाहने वाली फसलें बस्ती के समीप पैदा की जाती हैं । ब्लैक (1970, 1971) ने उक्त भारत के चार गांवों का विशद अध्ययन कर शल्य एवं भूमि उपयोग की गहनता के आधार पर शस्य मंडल बनाया है और इस निष्कर्ष पर पहुंचे है कि बस्ती से दूरी बढ़ने के साथ गहनता घटती जाती है, यद्यपि शस्य प्रतिरूप की व्याख्या केवल परिवहन व्यय के ही आधार पर नहीं की जा सकती है ।

देश स्तर पर भी वान थ्यूनेन के सिद्धांत के परिपेक्ष्य में उपयोग के स्वरूप देखा गया है और यह पाया गया है कि आधुनिक तकनीकी ओर वैज्ञानिक प्रगति के परिप्रेक्ष्य में अगर थ्यूनेन के मॉडल में कुछ शिथिलता लाकर देखें तो उनका मॉडल सही दिखता है । जैसे कि बुकानन एवं हुरविज (195, पृ. 236) ने दक्षिणी अफ्रीका के नेटाल बंदरगाह से आंतरिक भाग की ओर के भूमि उपयोग को चार मंडलों – क्रमश: उद्यान कृषि, डेयरी, उत्पादन तथा मास हेतु पशुपालन में रखा है । इसी तरह ग्रिफिन (1973) ने युरुग्वे में वान थ्यूनेन के सिद्धांत का परीक्षण किया और पाया कि अगर थ्यूनेन के मॉडल में वृत्ताकार खंड और भूमि की उर्वरता सम्बन्धी शर्तो को शिथिल कर दिया जाये तो वास्तविकता थ्यूनेन के मॉडल के समान हैं मान्टविडो नगर से बाहर की ओर प्रथम पेटी बागवानी कृषि, द्वितीय डेयरी, तृतीय अन्न उत्पादक और अंत में पशुचारण पेटी स्थित है ।

पीट (1972) अठारहवीं और उन्नींसवीं सदी में खाद्य वस्तुओं के आयातक ब्रिटिश बाजार का यूरोप की कृषि पर पड़ने वाले प्रभावी की चर्चा करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि सन् 1860 के दशक तक वान थ्यूनेन जैसी पेटियां अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर स्पष्ट हो चुकी थी । इन पेटियों में से आंतरिक पश्चिमी आप और उत्तर–पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका बागवानी कृषि और डेयरी – दायाद दक्षिणपूर्वी यूरोप, स्पेन और अमेरिका का मध्य पश्चिमी भाग अन्न तथा अमेरिका का पश्चिमी भाग, अर्जेन्टाइना, दक्षिणी अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड से ऊन, चमड़ा और मांस की आपूर्ति होने लगी थी ।

निष्कर्ष

यह निर्विवाद है कि वान थ्यूनेन द्वारा प्रस्तावित भूमि उपयोग का प्रतिरूप अब वैसा ही वास्तविक जगत में नहीं मिलता ??? उसमें अनेकों रूपान्तरण हो चुके हैं । इनके कई कारण हैं । हैगेट एवं उनके. साथियों (1977, पृ. 211 – 222) के शब्दों के आधार पर इन्हें निम्न चार वर्गो में रख सकते हैं :

1. संसाधनों में विभिन्नता
2. विभिन्न संसाधनों के मध्य स्थानापन्नता,
3. क्षेत्रीय संकेन्द्रण, एवं

4. आचरणपरक विभिन्नता

धरातल का स्वरूप, मृदा की गुणवत्ता, जलवायु की उपयुक्तता रख जल संसाधन की उपलब्धता में अंतर होने के कारण भी भूमि उपयोग थ्यूनेन के आदर्शी स्थिति से भिन्न होता है । वैज्ञानिक विकास ने जहां एक ओर परिवहन द्रुत, सरल एवं सस्ता बना " वहीं उत्पादन में उपयोग आने वाले कारकों के स्थानापन्न भी उपलब्ध कराये हैं जैसे कि मृदा की उर्वरता का स्थानापन्न 9' उर्वरक, भूमि की कमी का हल उसका गहन एवं बहु फसली उपयोग आदि है । इसी तरह कृषि उत्पादनों का उपयुक्त क्षेत्रों में संकेन्द्रण से बड़े पैमाने के उत्पादन का लाभ मिलता है, जिससे बाजार से दूर होने पर और विनाशशीलता के होते हुए भी अ0 होता रहता है जैसे कि हिमाचल प्रदेश का सेव उत्पादन तथा न्यूजीलैण्ड की डेयरी फार्मिग । इनसे भी महत्वपूर्ण हैं व्यक्ति के आचरणपरक कारक । कृषक अपूर्ण ज्ञान की दशा में कृषि संबंधी निर्णय लेता है । फलत : अधिकतम लाभ की दृष्टिकोण से नहीं, अधिकतम सुरक्षा की दृष्टि से निर्णय लेता है । किसान के अलावा राजनैतिक ((व प्रशासनिक नीतियाँ भी आदर्शी दशाओं में व्यतिक्रम पैदा करती हैं ।

बोध प्रश्न – 4

1. वान थ्यूनेन के अवस्थिति सिद्धान्त के औचित्य को कितने स्तरों पर परखा जा सकता है?

   ………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………

2. यूरोप में वान थ्यूनेन के मॉडल के आधार पर अध्ययन करने वाले तीन विद्वानों के नाम बताओं।

   ………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………

3. क्षेत्रीय स्तर पर वान थ्यूनेन के मॉडल के अध्ययन करने वाले किन्हीं दो विद्वानों के नाम बताओ ।

   ………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………

4 वान थ्यूनेन के मॉडल की आलोचना करने वाले दो विद्वानों के नाम बताओं ।

   ………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………

7.6.2 प्रसरण प्रतिरूप

7.6.2.1 प्रसरण प्रतिरूप की संकल्पना

कोई भी नवीन विधि, तकनीक, विचार, शिल्प आदि भी यथास्थिति दशा के उन्नतिशील प्रवृति लाने के लिए की जाये उसे नवाचर कहते हैं तथा स्थान व समयानुसार इन्हीं नवाचरों के प्रसार को प्रसरण / प्रस्फुरण कहते हैं क्योंकि यह बहुत ही जटिल समस्या है इसलिए विभिन्न विषयों के

विद्वानों ने इससे सम्बन्धित मॉडल्स को प्रतिपादित किया है । समाजशास्त्री ने जाति, संस्कृति एवं विचार प्रस्फुरण प्रतिरूपों का प्रतिपादन किया है जबकि अर्थशास्त्रियों ने आर्थिक तत्वों से सम्बन्धित प्रस्फुरण प्रतिरूपों का प्रतिपादन किया है । कृषि भूगोल में भी प्रस्फुरण मॉडल का प्रतिपादन 1941 में कार्लसावर ने किया था जिसमें उन्होंने कृषि प्रस्फुरण का विवरण दिया है । उनके अनुसार पृथ्वी के रिक्त स्थानों का भरना एक सामान्य समस्या है इसलिए उनका मानना है कि सांस्कृतिक क्षेत्र में नवीन फसल, तकनीक, शिल्प आदि का आगमन होता है ।
नवाचरों के प्रस्फुरण अध्ययन से नियोजकों को इसकी प्रकृति प्रारूप आदि का ज्ञान होता है । विकास की प्रक्रिया में तथ्यों की जानकारी की भूमिका किसी क्षेत्र विशेषज्ञ में नवाचरों के प्रस्फुरण की संभावना, भविष्य में नवाचरों के प्रस्फुरण में नये आयाम अपनाने की नीति का ज्ञान होता है । इसके अतिरिक्त यह एक वैज्ञानिक कार्यक्रम भी है ।

7.6.2.2 प्रस्फुरण के तत्व

प्रस्फुरण के पांच मुख्य तत्व हैं, नवाचर, प्रसारण तंत्र, सामाजिक –सांस्कृतिक तंत्र, स्थानिकी तंत्र एवं समय । इन पाँचों तत्वों के सकारात्मक परिस्थति से नवाचरों का प्रस्फुरण क्षेत्र होता है जबकि इसके विपरीत परिस्थितियों में यह बहु त मन्दगति से होता है ।

7.6.2.3 नवाचरों के प्रस्फुरण की अवस्थायें

नवाचरों को संभावित स्वीकारकर्ता आसानी से एक बार में नहीं स्वीकार करता है अपितु वह उसके लाभ –हानि का विश्लेषण आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक दृष्टि से करता है, और वह पूरी तरह से संतुष्ट होने के पश्चात् ही नवाचारों को स्वीकार करता है । अत : नवाचारों के प्रस्फुरण में मुख्यतया पाँच अवस्थायें है । पहली अवस्था नवाचार के विषय में परिचित होना है । (Awareness stage) । दूसरी अवस्था उन नवाचार के प्रति ध्यान आकर्षित करना (Attention stage) है । तीसरी अवस्था नवाचार के उपयोग से हानि रण लाभ का मूल्यांकन(Evaluation stage) करना है। चौथी अवस्था मूल्यांकन से संतुष्ट होने के बाद नवाचार का उपयोग (Trial stage) करना है । और पांचवी अवस्था इस नवाचार को पूर्णरूप से स्वीकार (Adoption stage) करने की है ।
इसी प्रकार सम्भावित स्वीकारकर्ता समान नहीं होते हैं । उनकी आर्थिक,सामाजिक, सांस्कृतिक परिस्थितियाँ नवाचारों के स्वीकृति को प्रभावित करती हैं । इस प्रकार से कुछ सम्भावित स्वीकारकर्ता किसी नवाचार को शीघ्र स्वीकार कर लेते हैं और कुछ देर से स्वीकार करते है और कुछ लोग तो बहन ही अन्त में स्वीकार करते हैं ।

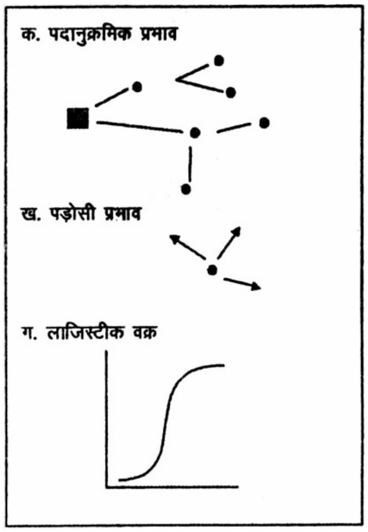

चित्र – 7. 7 : नवाचारों के प्रस्फुरण की अवस्थाएँ

कृषि में दिन प्रतिदिन इन नई तकनीक, उपकरण, कृषि विधि, बीज, रासायनिक उर्वरक, सिंचाई विधियाँ, आदि का आगमन होता है । जो समय एवं स्थान के साथ प्रस्फुरित होती है अत: इन

नवाचरों के प्रस्फुरण की प्रक्रिया, प्रवृत्ति एवं प्रारूप का अध्ययन आवश्यक है । T.Haggerestrand ने सावर के पश्चात् पहली बार व्यवस्थित रूप से नवाचार प्रस्फुरण प्रक्रिया का औपचारिक अध्ययन किया है । उन्होंने स्वीडन के पशुपालन में एक टीके के प्रस्फुरण का अध्ययन 50 वें दशक में किया । परन्तु इनके अध्ययन ने 1967 में भूगोलवेत्ताओं का ध्यान आकर्षित किया । जब ग्रेड महोदय ने इनके अध्ययन का अनुवाद अंग्रेजौ भाषा में किया । हैगरस्ट्रैड ने यह अध्ययन स्वीडन में एफ बी. जनपद में किया था जहाँ पर उन्होंने कृषि की विभिन्न प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हुए प्रस्फुरण प्रक्रिया में तीन मुख्य विशेषताओं की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया । इस प्रकार उन्होंने निम्न संकल्पनाओं को प्रस्थापित किया :

(क) नवाचरों के स्थानीय प्रस्कुरण में पदानुक्रमिक प्रभाव है (Hierachrical effect) अर्थात् उच्च जगहों पर आविष्कारिक उच्च कोटि नवाचरों का प्रस्फुरण उसके आस –पास एवं दूर –दूर तक होता है जबकि निम्नक्रम के स्थान पर निम्न कोटि के आविष्कार नवाचार का प्रस्फुरण कई क्षेत्रों में होता है ।

(ख) नवाचरों के स्थानीय प्रस्फुरण में पड़ौस का प्रभाव अधिक होता है अर्थात् नवाचार के आविष्कारक स्थान के आस – पड़ौस में प्रस्फुरण अधिक होता है ।

(ग) प्रस्फुरण की प्रवृत्ति में Logistic प्रभाव (लोगीस्टिक effect) पाया जाता है अर्थात् समय के साथ नवाचरों के प्रस्फुरण की प्रवृत्ति. Logistic वक्र की प्रवृत्ति की तरह होती है जिसका आधार अंग्रेजौ के D अक्षर जैसा होता है ।

हेगरस्ट्रेण्ड ने इस प्रतिरूप में आपसी वार्तालाप को अधिक वरियता प्रदान की है । इस प्रतिरूप को विकसित करने के उन्होंने मान्टीकारलों के Simualttion विधि का उपयोग किया है इसके लिए उन्होंने स्व औसत सूचना क्षेत्र (Mean Information Field) की कल्पना की है जिसमें प्रत्येक वर्ग एक संभावित स्वीकार कर्ता को प्रदर्शित करता है । हेगरस्ट्रेण्ड ने अपने प्रतिरूप में कुल मिलाकर निम्न लिखित अवधारणाएँ मानी हैं :

1. आरम्भ में केवल सूचना वाहक ही सूचना (नवाचार) अधिग्रहित करता है ।
2. नवाचार के स्वीकार करने की सम्भावना स्वीकारकर्ता के अवरोधक स्तर पर निर्भर है ।
3. सूचनाएँ मौखिक रूप से आमने –सामने ग्रहण की जाती है अर्थात् सूचना वाहक एवं स्वीकारकर्ता के जोड़े व्यक्तिगत रूप से आपस में मिलते हैं ।
4. सूचना किसी विशिष्ट समय एवं अन्तराल से पहुँचाई जाती है अत : नवाचारों के उपयोग के समयानुसार सूचना पहुंचाई जाती है । –साधारणतया शस्य के बोने एवं काटने के समय ।
5. सूचना वाहक समय–समय पर सूचना लेकर दूसरे व्यक्ति को सूचना देता है ।
6. सूचना वाहक जितनी सक्रियता एवं विश्वास से नवाचार, प्रस्फुरण करता है, स्वीकारकर्ता उसे उसी भांति प्राप्त करता है।
7. किसी भी स्थिति में औसत मिलो की बारम्बारता (Frequency) सभी परिस्थितियों के 'लिए,समान हो।
8. निकट की स्थिति में मिलने की सम्भावना दूर की स्थितियों से अधिक है ।
9. एक सम्भावित स्वीकारकर्ता के नवाचार के बारे में सुनते ही उसे अधिग्रहण करने की आशा की जाती है।

10. दो स्थितियों के मध्य नदी या पहाड़ आदि के आने से आपसी मिलन (मिलाप) की कम सम्भावना है ।

इन सभी अवधारणाओं के आधार पर हैगस्ट्रेण्ड ने समय के अन्तराल पर M.I.F. में नवाचार के स्वीकारकर्ता के नम्बर सुनिश्चित किये हैं । तथा उसके Cumulative योग को लाइनग्राफ द्वारा दर्शाया गया है । इन्हीं आँकडों की सहायता से उन्होंने लाजिस्टीक मान भी ज्ञात किया है और उसे भी इस प्रकार से उसी लाइनग्राफ वाले आरेख में दिखाया गया है । इससे यह ज्ञात हुआ कि प्रस्फुरण वक्र लाजिस्टीक वक्र के साथ –साथ चल रहा हें । इसी के आधार पर उन्होंने अपने प्रतिरूप का प्रतिपादन किया है कि नवाचरों का प्रस्फुरण लाजिस्टिक वक्र के अनुसार है जिसकी रूपरेखा अंग्रेजौ के अक्षर S से मिलती है। जिसका अर्थ है कि प्रारंभ मे नवाचरों के प्रस्फुरण की प्रक्रिया धीमी होती है क्योंकि उसमें अनेकों प्राकृतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक बाधाएँ आयेगी परन्तु ज्यों–ज्यों इन बाधाओं को दूर किया जायेगा, प्रस्फुरण की प्रक्रिया तीव्र हो जायेगी । अन्त में यह अपनी चरम सीमा पर पहुंचकर नीचे गिरना आरंभ कर देती है ।

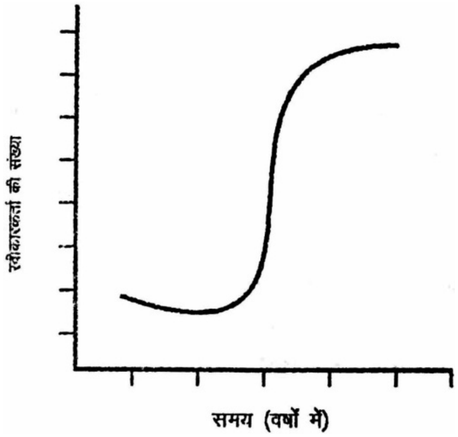

चित्र– 7.8 : समय एवं स्वीकार कर्ताओं की संख्या

इस प्रतिरूप की कुछ विद्वानों ने कई आधारों पर आलोचनायें कि हैं

1. टारन्ट ने 1970 में कहा कि नवाचार का प्रस्कुरण एक लगातार प्रक्रिया है इसे खण्डों में नही बांटा या सकता है ।
2. ब्राउन ने 1970 में लिखा कि हर स्वीकारकर्ता को बराबर मिलने की संकल्पना असत्य है । इसमें प्रचार करने वाली संस्थाओं की भी भूमिका है ।
3. कृषि की गंभीर एवं जटिल स्थिति में प्रस्फुरण के प्रारूप को सूचना के प्रसार के आधार पर नहीं समझा जा सकता है ।
4. हैगरस्ट्रेण्ड के अनुसार स्वीकार करना एक सीखने की प्रक्रिया है परन्तु यह मानव के स्वभाव, व्यवहार एवं मानसिकता पर आधारित है । हेगरस्ट्रेण्ड ने इन बातों को ध्यान में नहीं रखा है।
5. नूरमुहम्मद ने अपने अध्ययन में यह सिद्ध किया है कि नवाचारों का प्रस्फुरण लाजिस्टीक वक्र के बजाय दूसरे दर्जे के वक्र (Second Degree Curve) के साथ –साथ चलता है ।

बोध प्रश्न– 5,

1. प्रस्फुरण की संकल्पना को समझाइए ।

....

	....
2	प्रस्फुरण के कितने तत्व है? दो का नाम लिखिए ।
	....
	....
3.	प्रस्फुरण के अधिग्रहण की कितनी अवस्थायें हैं?
	....
	....
4.	हैगरस्ट्रेण्ड ने किसी विधि का प्रयोग किया है?
	....
	....
5.	हैगरस्ट्रेण्ड ने कितनी अवधारणाओं को माना था?
	....
	....

7.6.3 निर्णयकारी प्रतिरूप

7.6.3.1 निर्णयकारी मॉडल / की संकल्पना,

स्थानिक प्रतिरूप कृषि के औसत आकड़ों पर आधारित होते हैं । हम भू–उपयोग के स्थानिक प्रारूप का निर्धारण व्यक्तिगत स्तर के आकड़ों के औसत स्तर पर करते हैं परन्तु यह आकड़ा मनुष्य के केवल आर्थिक दशाओं पर आधारित न होकर अन्य कारकों जैसे मनुष्य का व्यवहार, सामाजिक क्ष सांस्कृतिक स्थिति एवं मानसिकता आदि पर भी निर्भर करता है अत : मनुष्य विभिन्न परिस्थितियों में इन्हीं आधारों पर विभिन्न निर्णय लेता है'। निर्णयकारी प्रतिरूप इसी स्थिति को प्रदर्शित करते हैं ।

क्रीड़ा सिद्धान्त की निर्णयकारी प्रक्रिया में अधिक भूमिका जिसे पीलन एवं हेडी (1960), लागहम (1963 गोल्ड (1963) हेडी (1968) एवं हैजेल (1970) ने कृषि अध्ययनों में । उपयोग करने का प्रयास किया है । कृषि सामान्यतया मौसमी दशाओं पर निर्भर करती है । जिसमें सूखा, बाढ़, अतिवृष्टि एवं सामान्य वर्षा जैसी संभावनाएँ पाई जाती है । जिनका प्रभाव कृषकों के फसल उत्पादन पर स्पष्ट रूप से पड़ता है । इन दशाओं के प्रति किसानों की विभिन्न प्रक्रियाएं होती हैं जो उनके अपने–अनुभव पर आधारित होती है अत : उत्पादन की अनिश्चितता व जोखिम सम्बन्धी सूचनाओं के अभाव में ईष्टतम् (Optimum) उपज कैसे प्राप्त हो । यही इस प्रतिरूप की संकल्पना एवं विषय है ।

अनिश्चितता एवं जोखिम सम्बन्धी सूचनाओं के अभाव में वास्तविक जगत का मानव सीमित विकल्पों के. आधार पर निर्णय लेता है जबकि अधिक लाभ उठाने के –अनेक विकल्प उसके आसपास होते है अत : वास्तविक मनुष्य (Real Man) कभी भी ईष्टतम् –लाभ नहीं उठा सकता है । इनके विपरीत आधुनिक / आर्थिक मनुष्य (Modern/Ecnomic Man) जिसके पास हर प्रकार की सूचनाएँ हैं, ईष्टतम लाभ प्राप्त कर सकता है क्योंकि उसकी क्षमता बहुत अधिक है जो

वास्तविक मानव के पास नहीं हो सकती है । उल्पर्त महोदय के एक अध्ययन से विदित होता है कि वास्तविक मनुष्य सम्भावित उत्पादन का केवल 40– 90 प्रतिशत तक प्राप्त कर सकता है । मनुष्य पर्यावरण में एक क्रीड़ा खेलता है जिसमें उसे कुछ विकल्प संभव हैं । उदाहरण के लिए वर्षा को लीजिए । इसकी मात्रा, आने रण जाने का समय, विचलन आदि की बहु त सम्भावनाएँ हैं । दूसरी ओर कृषक अपनी भूमि उपयोग, शस्य प्रारूप आदि को बदल सकता है । इन परिस्थितियों में कौन सी चाल चले (विधि अपनाएँ) कि उसे अधिकतम उत्पादन मिल सके । यहाँ पर वह कृषि कार्य सम्बन्धी निर्णय अपने अनुभव के आधार पर लेता है जो सही हो सकता है और गलत भी हो सकता हैं । यदि निर्णय सही हु आ है तो उसे अधिक उत्पादन मिलेगा और यदि गलत हु आ है तो कम उत्पादन मिलेगा । उपरोक्त कल्पना को टारन्ट (1974) के आव्यूह से समझा जा सकता है । मौसम की प्रत्येक दशा में कृषक खरा लिये गये प्रत्येक निर्णय (फसल का चयन) से होने वाले उत्पादन के लिए निम्न आव्यूह से समझा जा सकता है :

तालिका– 7.2 : विभिन्न पर्यावरणीय दशाओं में शस्य उत्पादन

फसलें	पर्यावरणीय दशाएँ		
	आर्द्र (उच्च)	मध्य आर्द्र (मध्यम)	शुष्क (निम्न)
फसल ‘अ’	20	15	10
फसल ‘ब’	105	35	0
फसल ‘स	15	30	60

उपरोक्त आव्यूह में कृषकों के निर्णय लेने की कई सम्भावनाएँ है । यदि कृषक अपने अनुभव के आधार पर यह सोचता है कि इस साल वर्षा अधिक होगी इसलिए वह अधिक वर्षा वाली फसल 'ब' का चयन करेगा । परन्तु यदि वर्षा अधिक होने के बजाय बहु त कम हु ई तो उसे शून्य उत्पादन या यदि औसत वर्षा हु ई तो कुल 35 कु. उत्पादन मिलेगा । इसी प्रकार यदि वह अपने अनुभव से यह समझता है कि वर्षा बहु त कम होगी और वह कम वर्षा वाली फसल 'स ' को बोता है । अब यदि उसके अनुसार वर्षा बहु त कम हु ई तो उसे शस्य 'स ' से 60 कु. उपज मिलेगी और यदि इसके विपरीत हु आ तो उसे केवल 15 कु. उत्पादन मिलेगा । इसी प्रकार उसे शस्य ' अ ' के चयन से 20, 15 या 10 कु. उत्पादन मिलेगा । इन परिस्थितियों में कृषक क्या निर्णय ले? निर्णायक प्रतिरूप में आता है । साधारणतया खतरों से –बचने वाला शस्य 'स ' का चयन करेगा क्योंकि हर हाल में 15 कु. से कम उत्पादन मिलने कीं संभावना नहीं है परन्तु अर्धप्रधान (Enterprising) कृषक जो खतरा सहन कर सकता है । शस्य 'ब ' का चयन करेगा जो कि अधिकतम उत्पादन देगी । पी. आर. गोल्ड ने निम्न आरेख द्वारा यह सुझाव दिया है कि कृषक को शस्य 'ब ' ((व 'स ' का चयन करना चाहिए क्योंकि इन्हीं दोनों से अधिकतम उत्पादन है । इसे गणितीय विधि द्वारा परिकलित किया जा सकता है, जिससे ज्ञात होता है । किसी क्षेत्र विशेष में 155 प्रतिशत शस्य 'ब ' एवं 845 प्रतिशत शस्य 'स ' फसलों के बोने से सर्वोत्तम उपज प्राप्त की जा सकती है । इसे अधिकतम न्यूनतम समाधान एवं वाल्ड प्रमाण कहा जाता है । यह जौवन निर्वाह कृषि के लिए उपयुक्त है जो जरा भी खतरा उठाने के लिए तैयार नहीं हैं । इसे अतिरिक्त लाप्लास प्रमाप, हरपिज का आशावाद–निराशावाद प्रमाप, सेवेज का निम्न खिन्नता प्रमाप आदि भी विधि है ।

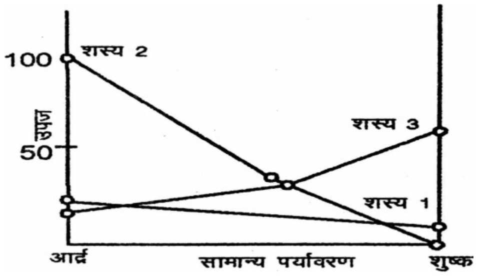

चित्र– 7.9 : विभिन्न पर्यावरणीय दशाओं में शस्य उत्पादन

7.6.3.3 सेवेज का निर्णयकारी प्रतिरूप

सेवेज ने निम्न खिन्नता वाला प्रतिरूप प्रतिपादित किया है जो निम्नलिखित प्रमाप का प्रतिरूप कहा जाता है । इसे तालिका 7. 4 में दिखाया गया है इस तालिका से विदित होता है कि सबसे न्यून खिन्नता शस्य 'ब ' के पैदा करने से होती है अत: कृषक शस्य 'ब ' का चयन उत्पादन के लिए करेगा । खिन्नता प्रमाप वाल्ड प्रमाप की तुलना में कम निराशावादी है । इससे कैसे चुनाव किया जा सकता है । जिसमें उत्पादन अधिक हों ।

शस्य	आद्र			अर्द्ध आद्र			शुष्क			खिन्ता का योग
शस्य 'अ'	अधिकता	वास्तविक	खिन्नता	अधिकता	वास्तविक	खिन्नता	अधिकता	वास्तविक	खिन्नता	
शस्य 'ब'	105	20	85	35	15	20	60	10	50	155
शस्य 'स'	150	105	0	35	35	0	60	0	60	60
	150	15	90	35	39	5	60	60	0	95

बोध प्रश्न–6

1. निर्णयकारी प्रतिरूप में किस प्रकार के दो मनुष्यों की संकल्पना की गई है?

   ....

   ....

2. तालिका 7 .2 में किस शस्य के बोने से 15 कु. से कम उत्पादन नहीं मिलेगा?

   ....

   ....

3. वाल्ड प्रमाप का दूसरा नाम क्या है?

   ....

   ....

4. सेवेज के प्रतिरूप में न्यूनतम खिन्नता किस शस्य के बोने से है?

   ....

   ....

5. शस्य 'स' के बोने से सेवेज के अनुसार कितनी खिन्नता है?

   ....

....

शस्य का चयन मौसमी अवस्थाओं के अतिरिक्त सरकारी नीति, बाजार की मांग, कृषकों का स्वास्थ्य,फसलों की बीमारी, श्रम उपलब्धता, कृषकों की जाति एवं धर्म, उसकी आयु, एवं अनेक अनिश्चितताओं से भी प्रभावित होती है । इसलिए निर्णय 0 की महत्ता और बढ़ जाती है ।

7.7 सारांश (Summary)

कृषि प्रतिरूप कृषि की विषमताओं, वैविधिताओ एवं जटिलताओं को समझने एवं वर्णन करे में काफी लाभदायक है । विद्वानों ने ? प्रकार के प्रतिरूपों का प्रतिपादन करके उन्हें विभिन्न वर्गो में विभाजित किया है । कृषि भूगोल के मॉडल्स को मुख्यतया दो उसके पश्चात् दोनों को चार–चार भागों में विभाजित किया जा सकता है । वान थ्यूनेन का प्रतिरूप भू –उपयोग का प्रसिद्ध . है जिसमें उन्होंने दो सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है । (1) शस्य गहनता सिद्धान्त (11) शस्य स्थानान्तरण सिद्धांत । दोनों काफी हद तक आज भी मान्य है । नवाचार प्रचार प्रतिरूप नवाचरों के प्रस्फुरण के प्रवृत्ति एवं प्रारूप को समझने में ' उपयोगी है । यह प्रतिरूप नियोजकों के लिए मार्गदर्शन का कार्य करेगा । निर्णय के प्रतिरूप को कृषकों की खना के अभाव जटिलताओं की स्थिति में निर्णय लेने में अधिक उपयोगी होंगे ।

7.8 शब्दावली Glossary)

- **स्थानिक संघटन :** स्थानिक संघठन का सामान्य अर्थ मानव द्वारा अपने चतुर्दिक क्षेत्र का उपयोग तथा उस उपयोग की विधि के परिणामस्वरूप निर्मित भूस्वरूप है ।
- **प्रतिलाभ :** कृषिय उत्पादन से मिलने वाली समग्र आय में से उत्पादन लागत निकालने के बाद शेष बची राशि प्रतिलाभ कहलाती है ।
- **आर्थिक लगान :** किसी भूमि से इस सीमान्त भूमि से प्राप्त लाभ से अधिक लाभ ही आर्थिक लगान है ।
- **परिवहन लागत.** वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुंचाने के समग्र खर्च को परिवहन लागत कहते हैं । इसमें लादने तथा उतारने का भी व्यय सम्मिलित होता है ।
- **उत्पादन लागत** ' वस्तु के उत्पादन में लगने वाला व्यय उत्पादन लागत है । इसमें संसाधनों पर किया गया व्यय, लागत का व्यय तथा पारिश्रमिक आदि सम्मिलित होता है ।
- **समदैशिक.** सभी ओर समान भौतिक दशाओं वाला भूभाग।

7.9 संदर्भ ग्रंथ Reference)

1. Hussain Majid, Agricultural Geography, Inter India Publications,New Delhi ,1919.
2. Singh, j.and S.S.Dhillon,agricultural Geography .Tatas McGraw Hill Pub.New Delhi, 1988.
3. कुमार, प्रमीला एवं श्रीकमल शर्मा : कृषि भूगोल, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल, 2006.
4. तिवारी आर. सी. तथा बी.एन. सिंह कृषि भूगोल प्रयाग पुस्तक सदन इलाहाबाद

5. Chishilm, M (1957) Regional variations in road transport cost of milk collection from framers in England and Wales, farm Economist,3pp 30–38.
6. Chisholm, M. (1962) Rural Settlement and landuse: An Essay in Location.London, Hutchinson Library.
7. Chisholm, M. (1966) Geography and Economics. London. Hutchinsn Library publication.
8. Dunn,E.S. (1954) The Location of Agricultural Production. Gainesville : University of Florida.
9. Found. W.C. (1971) A Theoretical Approach to Rural Landuse Patterns. London: Edware Arnold.
10. Garrison,W.L. and D.F. Marble (1957) The Spatial Structure of Agricultural activities,ann. Ass. Am. Geog.52, pp 290–297.
11. Haggett,p. et. al(1977) Locational analysis in Humna Geography. London: Edward Arnold.
12. Thunen, J.H. von (1826) Der Isolierate Staut in Beziehung and Landwirtschaft and Nationalkonomie, pt,I Rostock.Collected edition, pt.I,II and III ,1876, Berlin.
13. Thoman, R.S. and P.B. Corban.(1962–1974) The Geography of Economick Activity. 3rd ed. With p.B. Corbin New York: McGraw Hill Books Co.
14. Van, Valkenburg.S. and (1952) Europe. Europe. New York: john Willy.

7.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न– 1

1. मॉडल सिद्धान्त, नियम अथवा परिकल्पना की एक विचारात्मक संरचना है ।
2. तीन भागों में बाटा था
3. दो

   (i). कृषि अवस्थिति मॉडल "

   (ii). प्रस्कुरण मॉडल बोध प्रश्न–2

बोध प्रश्न–2

1. कम से कम प्रयत्न में अधिक से अधिक काम
2. 3 अंगूर
3. घटती है।

4. निवेश की प्रत्येक अगलीइकाई के प्रयोग से उत्पादन में होने वाली वृद्धि का 00I0 वृद्धि से कम होना

5. किसी भूमि में सीमान्त भूमि से प्राप्त लाभ से अधिक लाभ ही आर्थिक लगान है।

बोध प्रश्न–3

1. 5 बवधारणाएँ
2. LR=yp–E–yfd
3. 6 पेटियाँ है।
4. (i) सघन सब्जी फल एवं पुष्पोत्पादन

   (ii). सब्जी एवं फल

बोध प्रश्न–4

1. तीन स्तरों पर
2. वीयला, समुएला, वीरी
3. ई.दयाल एवं फिलोपीनों
4. सिनकिलीयर एवं मैटिगली

बोध प्रश्न – 5

1. किसी नवाचार के प्रस्फुरण की प्रक्रिया को प्रस्फुरण कहते है ।
2. 5 तत्व हैं (i) नवाचार (1;) संस्थानिक तंत्र
3. 5 अवस्थायें हैं
4. Monte Carlo की सम्मिश्रण विधि
5. 10 अवधारणाओं को माना है ।

बोध प्रश्न– 6

1. वास्तविक मनुष्य एवं आर्थिक मनुष्य
2. शस्य 'स'
3. अधिकतम–न्यूनतम समाधान
4. शस्य 'ब' 5. 155

7.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. वान थ्यूनेन के प्रतिरूप में भूमि लगान / अवस्थिति लगान की व्याख्या कीजिए और सोदाहरण इसे समझाइये ।
2. वान थ्यूनेन के मॉडल का संक्षिप्त वर्णन कीजिए ।
3. वान थ्यूनेन के मॉडल को किन–किन विद्वानों ने संशोधित किया है । जे आर. पीट के संशोधन की व्याख्या कीजिए ।
4. वान थ्यूनेन के मॉडल के औचित्य का मूल्यांकन कीजिए ।
5. हैगरस्ट्रेण्ड के मॉडल का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए ।
6. निर्णायकारी मॉडल क्या है? वास्तविक मनुष्य एवं आर्थिक मनुष्य में क्या अंतर है?
7. सेवेज के निर्णय की प्रतिरूप की व्याख्या उदाहरण सहित कीजिए ।

इकाई 8 : कृषि नवाचारों का प्रसरण (Diffusion of Agricultural Innovations)

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 कृषि नवाचार से तात्पर्य

8.3 सेद्धान्तिक पृष्ठभूमि

8.3.1 हैगरस्ट्रेण्ड का सिद्धान्त

8.3.2 प्रेरित नवाचार के सिद्धान्त

8.3.3 बोसरप का विचार

8.3.4 तकनीकी मांग के सिद्धान्त

8.4 नवाचार अभिग्रहण का स्तर

8.5 नवाचारों के अभिग्रहण की प्रक्रिया

8.5.1 संचार प्रणाली

8.5.2 सूचना स्त्रोतों की विश्वसनीयता

8.5.3 प्रसरण की प्रक्रिया

8.6 बाधाएँ

8.7 अभिग्रहण की अवस्थाएँ

8.8 नवाचारों के गुण

8.9 अभिग्रहणकर्त्ता की क्षमता एवं अभिग्रहण की प्रक्रिया

8.9.1 वैयक्तिक गुण

8.9.2 परिस्थितिजन्य विशेषताएँ

8.9.3 सामाजिक गुण

8.10 अभिग्रहणकर्त्ता की क्षमता के प्रभावों के उदाहरण

8.11 सारांश

8.12 शब्दावली

8.13 सन्दर्भ ग्रन्थ

8.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

8.0 उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेगें –

- कृषि के नवाचार तथा उनकी क्या कृषि– विकास में भूमिका,
- कृषि के नवाचार के विकास तथा प्रसरण सम्बन्धी सिद्धान्त,

- कृषि के नवाचारों के प्रसरण की प्रक्रिया, सूचना तंत्र की भूमिका तथा प्रसरण में आने वाली बाधाएं,
- कृषि के नवाचार के अभिग्रहण की अवस्थाएं,
- नवाचार अभिग्रहण में नवाचारों के गुण तथा किसानों की क्षमता का प्रभाव ।

8.1 प्रस्तावना (Introduction)

विकास की चाहत विश्व के सभी देशों रण समाज को है । विकास एक व्यापक अवधारणा हैं जिसका सम्बन्ध सामाजिक कल्याण से है । इसके उपादानों में उत्पादन बढ़ाना, उसके लाभों का समान वितरण और साथ ही पर्यावरण का संरक्षण हैं । बिना उत्पादन उत्पादकता बढ़ाए हु ए लोगों के कल्याण को बेहतर दशा में पहुँचाना संभव नहीं है और उत्पादन तथा उत्पादकता बढ़ाने के लिए व्यवस्था बनानी होती है जिसमें नवीन तरीकों, विधियों, निवेशों और संस्थाओं वैज्ञानिक आधार बनाकर उन्हें अधिक कुशल ' जा सके । इसे ही सामान्य अर्थो में आधुनिकीकरण कहा जाता है । आधुनिकीकरण का आरम्भ इन नवाचारों का उनके अन्वेषण स्थान से उपभोक्ताओं तक पहुँचाने से होता है । नवाचारों सम्बन्धी सूचनाएँ प्राप्त होने पर भी सभी कृषक उनका समानरूप से उपयोग नहीं कर पाते है । यह तथ्य हरितक्रांति के परिणामों के सर्वेक्षणों से स्पष्ट हो चुका है । उनकी स्वीकृति रख अभिग्रहण (adoption) कृषक की क्षमता पर निर्भर होता हैं । इस इकाई का उद्देश्य कृषि नवाचारों के प्रसरण एवं अभिग्रहण की प्रक्रिया का विश्लेषण करना है।

8.2 कृषि नवाचार से तात्पर्य (Meaning Of Agricultural innovations)

समोन्नत कृषि तकनीक, उपकरण, निवेश और कृषि की विधियों का उपयोग करना ही कृषि का आधुनिकीकरण है, जिससे ऊत्पादन एवं उत्पादकता बढ़ाई जा सके । इन उन्नत विधियों आदि को नवाचार ' (innovation) कहा जाता है । ये नवाचार पहिले से 0' में आने वाली प्रौद्योगिकी रख विधियों के संशोधित रूप हो सकते हैं अथवा सर्वथा नवीन हो सकते हैं । इस तरह किसी भी समाज द्वारा नवीन अथवा संशोधित समझे जाने वाले विचार, वस्तु एवं विधियाँ ही नवाचार कहलाती हैं (दास गुप्ता, 1989, 12) । कृषि के सन्दर्भ में ये नए अथवा परिवर्धित निवेश हो सकते हैं, जैसे – विपुल उत्पादन देने वाले बीज, रासायनिक उर्वरक, पौध संरक्षक रसायन, यन्त्र उपकरण अथवा कृषि की नवीन एवं संशोधित विधियाँ हो सकती हैं, यथा समतलीकरण, बंधानकरण, बोने की संशोधित विधियाँ, निराई, कटाई के नए तरीकें, बीज उपचार, भूमि उपचार, जल एवं उर्वरकों के अधिक प्रभावी उपयोग का ढंग, सुरक्षित भंडारण की विधि, पशुपालन की उन्नत विधि आदि, अथवा फार्म –व्यवस्था एवं विपणन की संशोधित विधियों हो सकती हैं । वास्तव में नवाचार की मूल आत्मा नवीन विचार (ideas) होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति विविध पदार्थो (Materials) के रूप में होती है । अधिकतर कृषिगत नवाचार पदार्थ के रूप में होते हैं जिनका कि निवेश, उपकरण तथा यंत्रों के रूप में उपयोग होता है परन्तु वैज्ञानिक ज्ञान एवं कृषि की विधियों नवीन विचारों के उदाहरण हैं । इस तरह नवाचार विचार तथा वस्तु दोनों रूपों में हो सकता है ।

नवाचारों से सम्बद्ध दो अन्य प्रक्रियाएं है । एक है प्रसरण और दूसरी है अभिग्रहण । सामाजिक विज्ञानों में प्रसरण का तात्पर्य नवीन विचारों, वस्तुओं एवं विधियों का उनके उद्‌गम अथवा निर्माण –केन्द्र से उपभोक्ताओं तक पहुंचने की प्रक्रिया से है । किसी समयावधि में व्यक्ति अथवा समाज द्‌वारा नवाचारों के स्वीकारने की प्रक्रियाएं प्रसरण (Diffusion) कहलाती है। दूसरे शब्दों में किसी विशिष्ट सूचनातंत्र से जुड़े किसी भी सामाजिक मूल्य वाले व्यक्ति, समुदाय जैसी किसी इकाई द्‌वारा किसी नवीन वस्तु, विचार अथवा विधि की एक निश्चित कालावधि में अभिस्वीकृति ही प्रसरण कहलाता है । व्यक्तियों एवं समाज द्‌वारा अनुशंसित विचारों, विधियों एवं निवेशों का पर्याप्त समय तक सतत् उपयोग करना अभिग्रहण (छत09११ं0त) कहलाता है । ये तीनो प्रक्रियाएं अन्तर्सम्बन्धित होती है ।

8.3 सेद्धान्तिक पृष्ठभूमि (Theoretical Background)

प्रसरण तथा अभिग्रहण के विषय में कई तरह के सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं । इनमें हैगरस्ट्रैण्ड ने प्रसरण के क्षेत्र ग्रे भौगोलिक शोध की आधारशिला रखी, परन्तु उन्होंने अपने सिद्धान्त में आर्थिक कारकों को महत्व नहीं दिया जिससे उनका सिद्धान्त वास्तविक जगत की दशाओं की पूरी तरह से व्याख्या नहीं कर पाता है । इसके बाद प्रसरण के सम्बन्ध में कई नए विचार आए । इन सभी सेद्धान्तिक विश्लेषणों को चार वर्गों में रख सकते हैं (गोल्डमन 1993, 44 – 52) : –

1. हैगरस्ट्रेण्ड का प्रसरण सिद्धान्त (Hagerstrand's Theory of Diffusion)
2. प्रेरित नवाचार के सिद्धान्त (Theories of Induced Innovations)
3. प्रेरित नवाचार के सिद्धान्त पर बोसेरप का प्रभाव (Boserup's influence on Induced Theories)
4. तकनीकी मांग के सिद्धान्त (Theories of Thechnological Demand)

8.3.1 हैगरस्ट्रैण्ड का प्रसरण सिद्धान्त (Hagerstrand's Theory of Diffusion)

भूगोल में प्रसरण के सिद्धान्त के विकास में हैगरनैण्ड को अग्रणी शोधकर्ता माना जाता है (1 व 53, 1965, 1967) । उन्होंने मध्य स्वीडन में कृषि की विभिन्न नवीन विधियों के अभिग्रहण का अध्ययन करके यह स्पष्ट किया कि किस तरह मूल स्थान से बाहर की ओर प्रसारित हुए हैं । हैगरस्ट्रैण्ड ने अपने कार्यो से दो मौलिक योगदान दिये हैं – एक, नवाचारों के प्रसरण की प्रक्रिया को अवधारणा के रूप में प्रस्तुत करना, और दूसरा अपने विचारों को परिचालित करने की विधितंत्र का विकास । इन दोनों की विशद् चर्चा ब्राउन तथा मूर ने की है (ब्राउन तथा मूर 1969)।

I. **संकल्पना (Concept) –** हैगरस्ट्रैण्ड की संकल्पना का आधार यह है कि नवाचारों का अभिग्रहण सीखने की प्रक्रिया का परिणाम है । इस सिद्धान्त में सूचनाओं की गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारकों को सम्मिलित किया जाना चाहिए । इस प्रकार इनका मानना है कि प्रसरण रख अभिग्रहण सूचनाओं के प्रतिरूप, उनकी बारम्बारता, गहनता और प्रभाविता को नियंत्रित करने वाले व्यक्तिगत गुण और दूसरे समाचारों की प्राप्ति तथा अभिग्रहाग में आने वाली बाधाओं पर निर्भर होता है । हैगरस्ट्रैण्ड का मानना है कि सूचनाएं सार्वजनिक सूचना के स्रोतों अथवा पूर्व अभिग्रहिताओं से उत्पन्न खेती हैं, लेकिन इनका प्रसरण व्यक्तिगत सम्पर्को

के माध्यम से होता है । यह सम्पर्क सूचना लेने वाले के सम्पर्क जाल पर निर्भर होता है । इन सम्पर्क जालों का प्रभावित मार्ग में आने वाले विभिन्न अवरोधों पर निर्भर होती है । ये अवरोध धरातल के गुण हो सकते हैं, जैसे उच्चावच, पर्वत श्रेणी, नदी, झील आदि अथवा राजनीतिक हो सकते हैं, यथा देश की सीमाएं अथवा सामाजिक– आर्थिक हो सकते हैं । आधुनिक समय में सूचनाओं को प्रसारित करना उतना बड़ी समस्या नही है जितनी कि सूचना उपलब्ध होते हुए भी अभिग्रहण का कम होना है । यह अभिग्रहिता व्यक्तिगत और सामाजिक गुणों पर निर्भर होती है । इस पर पदानुक्रम का भी प्रभाव होता है ।

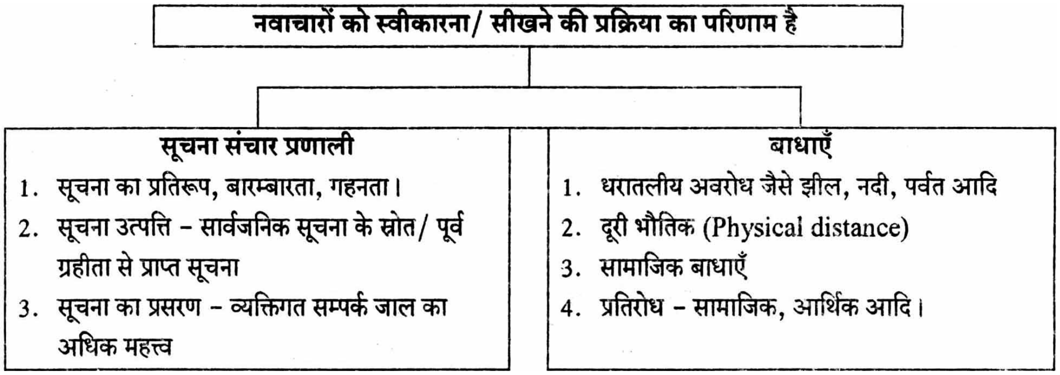

चित्र – 8.1 : हैगरस्ट्रैण्ड की प्रसरण सम्बन्धी सेद्धान्तिक अवधारणाएँ

II. **विधितंत्र विकास (Methodological Development) :** – इनके इस मॉडल के उपयोग के लिए गणना की जटिल विधियों की आवश्यकता होती है । हैगरस्ट्रैण्ड का खरा महत्वपूर्ण योगदान इस उद्देश्य के लिए मोटे काली (Monte Carlc Method) विधि विकसित करना है (हैगरस्ट्रैण्ड 1965) । यह एक अनुकरण मॉडल है । विचारों और नवाचारों के क्षेत्रीय प्रसरण का अनुरूप प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने कई नियम बनाए तथापि कुछ ऐसे कारक बच गए जो इन नियमों में नही बंध सके । उनका प्रसरण पर यादृच्छिक प्रभाव पड़ता है । इस यादृच्छिक गुण के कारण मानव के कार्य को प्रभावित करने वाले बहुसंख्यक कारकों पर विचार करना सम्भव होता है । इनसे मानव के अतार्किक और गैर – आर्थिक तरीके से किए गए कार्य भी समझे जा सकते हैं । हैगरस्ट्रैण्ड के निम्न तीन नियम हैं :

1. **पहिला नियम–** जैसे ही नवाचार के विषय में सूचना मिलती है यह प्रयोग में लाया – जाने लगता है ।
2. **दूसरा नियम —**यह नियम एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक सूचना पहुँचाने की पद्धति सम्बन्धी है । इसके दो तरीके हो सकते हैं
   (i). किसानों में सूचनाओं का आदान –प्रदान आमने –सामने सम्पर्क द्वारा होता है । (ii) इसकी बारम्बारता पारस्परिक दूरी पर निर्भर होती है । दूरी के साथ सूचनाओं के घटते प्रभाव को स्पष्ट करने के लिए दूरी क्षय फलन (distance decay) की गणना आवश्यक होती हैं अर्थात् दूरी के प्रति इकाई वृद्धि के साथ सूचनाओं के प्रभाव में कितनी कमी आती है, इस सम्बन्ध को दूरी – क्षय फलन कहते हैं । यद्यपि क्षय की दर बदलती रहती है, परन्तु उसकी गणना का आधार वही रहता है । स्वीडेन के उदाहरण में हैगरस्ट्रेण्ड ने स्थानीय जनसंख्या के आव्रजन की दूरियों (migration

distances) के आधार पर दूरी – क्षय फलन की गणना की । इस तरह हैगरस्ट्रैण्ड ने प्रसरण को संचार प्रणाली के कार्य के रूप में प्रस्तुत किया है ।

3. **तीसरा नियम –** सूचनाओं का आदान –प्रदान सम्बन्धी है । किसान में सूचनाओं का आदान प्रदान एक निश्चित अन्तराल पर होता है, जिसे सन्तति अन्तराल कहा जाता है । इसके अन्तर्गत एक अभिग्रहणकर्ता अन्य व्यक्तियों तक सूचनाएं पहुंचाता है ।

8.3.2 प्रेरित नवाचार के सिद्धान्त (Theories of Induced Innovations)

नवाचारों के प्रसरण तथा अभिग्रहण सम्बन्धी आर्थिक सिद्धान्त कुछ भिन्न हैं । इनमें यह माना गया है कि उत्पादन के मुख्य कारकों की कमी और मूल्य में वृद्धि होने के कारण ही तकनीकी विकास एवं परिवर्तन होता है । उत्पादन के मुख्य कारक भूमि, श्रम तथा पूँजी हैं । इन्हीं की कमी और अधिकता ही नवाचारों की खोज, प्रचार एवं प्रसार को प्रभावित करती है जैसे कि श्रम की कमी के कारण मशीनों और भूमि की कमी के कारण उपज बढ़ाने वाली विधियों तथा निवेशों की खोज की जाती है । इसके साथ ही सापेक्षिक बचत और बढ़ती मांग भी तकनीकी विकास को प्रेरित करते हैं । इससे जुड़ा प्रश्न यह है कि क्या नवाचार उत्पादन के कारकों की कमी तथा हानि के कारण विकसित किए जाते और स्वीकार किए जाते हैं अथवा कम उत्पादन लागत और लाभ की भावना से प्रेरित होते हैं? अगर हरितक्रान्ति का भारत में विस्तार को देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां भूमि की कमी को पूरा करने वाली तकनीकी का उपयोग उन क्षेत्रों में केन्द्रित नही हुआ है जहां अधिक जनसंख्या के घनत्व के कारण भूमि पर दबाव बहुत अधिक है अर्थात भूमि की कमी है, जैसा कि प्रेरित नवाचार सिद्धान्त की मान्यता है ।

8.3.3 प्रेरित नवाचार के सिद्धान्त पर बोसरप का प्रभाव Boserop's influence on Induced Theories)

प्रेरित नवाचारों के इन सिद्धान्तों से अलग बोसरप का सिद्धान्त है । बोसरप ने अपनी पुस्तक कृषिय वृद्धि की दशाएं (1965) में कृषि तकनीकी में परिवर्तन एवं विकास का कारण जनसंख्या की वृद्धि को माना है । उनका मानना है कि भूमि का क्षेत्रफल तो स्थिर है परन्तु जनसंख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है । फलत : कृषित भूमि अधिक से अधिक उत्पादन करने की कोशिश की जाती है । इस कारण भूमि को पडती 'रखने की अवधि घटाई जाती है । इस प्रकार की कृषि पद्धति के लिए अधिक श्रम की जरूरत होती है । इसका सकारात्मक प्रभाव कृषि की उत्पादकता बढ़ाने वाले नवाचारों का विकास है । नए बीज, नए उपकरण, भूमि प्रबन्धन की नवीन विधियां विकसित एवं उपयोग में लाई जाती 'हैं । कृषि विकास में ग्रामीण परिवहन तथा अन्य अधोसंरचनात्मक विकास का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है ।

8.3.4 तकनीकी माँग का सिद्धान्त (Theories of Technological Demand)

बोसरप तथा प्रेरित सिद्धान्तों के सम्मिश्रण से तकनीकी मांग का सिद्धान्त विकसित हुआ है । इन सिद्धान्तों में नवीन तकनीकी ग्रहण करने के पीछे मुख्य कारण जनसंख्या की वृद्धि को माना गया है । साथ ही किसी प्रदेश में किस तरह की तकनीकी की आवश्यकता है यह वहाँ भूमि की

अधिकता अथवा कमी पर निर्भर होता है । तकनीकी उपयोग की दिशा एवं दर का लक्ष्य उत्पादन के कारकों की लागत कम करना होता है । इस दृष्टि से तकनीकी तीन प्रकार की हो सकती है :

(i). उपज बढ़ाने वाली

(ii). श्रम बचाने वाली तथा

(iii). गुणवत्ता सुधारने वाली ।

इन तकनीकी की माँग जनांकिकी विशेषताओं पर निर्भर होती है । सघन बसे क्षेत्र में भूमि की कमी के कारण उत्पादन बढ़ाने वाली तकनीक की मांग रहती है । इसके विपरीत विरल बसे क्षेत्रों में भूमि तो पर्याप्त होती है, परन्तु श्रमिकों का अभाव होता है । अत: श्रम बचाने वाली तकनीक की आवश्यकता होती है । उल्लेखनीय है कि श्रम बचाने वाली तकनीक की मांग का मजदूरी दर से सीधा सम्बन्ध है । जिन क्षेत्रों में पहिले से ही मशीनों और अन्य आधुनिक निवेशों का उपयोग हो रहा है वहाँ उत्पादक्सावर्धक तकनीकी की मांग अधिक होती है ।

8.4 नवाचार अभिग्रहण का स्तर (Adoption Level of Innovations)

व्यक्तियों अथवा समुदायों द्वारा अनुशंसित विचारों, विधियों एवं निवेशों का पर्याप्त समय तक सतत् उपयोग करना ही अभिग्रहण कहलाता है । यह चिरस्थायी आचरण नहीं है । कृषि सम्बन्धी नवीन तकनीकी एवं विधियों कें उपयोग का निर्णय कृषक अकेले लेता है । उसका यह निर्णय उसके भौतिक परिवेश के अलावा उसकी व्यक्तिगत र सामाजिक और आर्थिक स्थितियों द्वारा निर्धारित होता है । प्रत्येक व्यक्ति की ये स्थितियों अलग–अलग होती हैं । परिणामस्वरूप प्रत्येक किसान अलग –अलग धरातलों पर सोचकर निर्णय लेता है । चाहे यह निर्णय परिवार के मुखिया का हो, परंतु भारत के संदर्भ में इसे परिवार का संयुक्त निर्णय माना जाना चाहिए । अत : नवाचार के अभिग्रहण की अभिव्यक्ति की सबसे छोटी इकाई क्रियाशील जोत होती है । यहाँ उल्लेखनीय है कि नवाचार के विभिन्न तत्व सामाजिक स्तर एवं संरचना के प्रति उदासीन (neutral) नहीं होते है । इस कारण वे सभी कृषकों को समानरूप से उपलब्ध नहीं हो पाते है । हरित क्रांति के प्रभावों सम्बन्धी अध्ययनों से स्पष्ट हुआ है कि इन तत्वों का सम्बन्ध जोत के आकार से है । पूँजी–साध्य होने के कारण इनका उपयोग एक निश्चित आकार से बड़ी जोत वाले कृषक ही कर पाते हैं । फलत : एक ही समाज के विभिन्न आकार की जोत वाले कृषकों का अभिग्रहण–स्तर भी अलग–अलग होता है । पुन : व्यक्ति के मूल्य, दृष्टिकोण, विचार आदि मूलत : सामाजिक गठन की अभिव्यक्ति है । इसी कारण अलग–अलग सामाजिक गठन वाले समुदायों में अभिग्रहण के स्तर में अतर होता है । क्योंकि विभिन्न आकार के जोतकार और विभिन्न सामाजिक स्तर के किसान सर्वत्र मिश्रित रूप से फैले हैं, इस कारण अभिग्रहण का क्षेत्रीय स्वरूप भी मिश्रित प्रकार का होता है परंतु जहाँ किसी सामाजिक वर्ग के किसानों अथवा एक जोत –समूह का बाहुल्य होता है वहाँ नवीन विधाओं के उपयोग का उभरने वाला चित्र उस वर्ग विशेष से काफी प्रभावित होता है । सीमांत और लघु जोत मध्यप्रदेश के पूर्वी भाग और राज्य की जनजातीय मेलखाएँ अभिग्रहण में अन्य क्षेत्रों से पूर्णत : भिन्न हैं ।

बोध प्रश्न

1. नवाचार किसे कहते हैं?

....

....

2. प्रसरण का क्या मतलब है?

....

....

3. अभिग्रहण का अभिप्राय समझाइए ।

....

....

4. सूचना के स्रोतों के कौन–कौन से दो मुख्य प्रकार हैं?

....

....

5. सूचना का व्यक्तिक स्रोत् क्यों सबसे ज्यादा प्रभावी है?

....

....

8.5 नवाचारों के अभिग्रहण की प्रक्रिया (Procedure of Innovation Adoption)

किसी नवीन चीज को व्यवहार में लाना वास्तव में सीखने की प्रक्रिया है । यह सीखना कई बातों और पर निर्भर होता है । नवाचारों का अभिग्रहण मुख्यत : निम्न तीन बातों पर निर्भर होता है:–

1. नवाचारों सम्बन्धी सूचनाओं के प्रभावी ढंग से प्रसार,
2. नवाचारों के गुण, तथा
3. अभिग्रहीता के व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आर्थिक गुण ।

8.5.1 संचार प्रणाली (Channeis of Communication)

जैसा कि कहा गया है कि किसी नवाचार को ग्रहण करना वास्तव में सीखने की प्रक्रिया का परिणाम होता है (outcome of the learning process) । इसमें सूचना का प्रसार महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है । सूचना के स्रोत (source), माध्यम (channels), रूप (form),गहनता (intensity), प्रसार की सामग्री एवं विधि (content and method of transmission) एवं बारम्बारता (frequency) तथा विश्वसनीयता (credidility) किसी नवाचार के प्रसरण में बहुत महत्वपूर्ण होते हैं ।

मोटे तौर पर सूचना के स्रोतों को दो वर्गो में रखा जाता है : – (अ) औपचारिक अथवा संस्थागत (institutional or formal) और (ब) अनौपचारिक अथवा गैर–संस्थागत (informal or non–instututional)। इन स्रोतों को पुन : दो प्रकारों में रखा जा सकता है – (i) अव्यक्तिक (impersonal) तथा (ii) व्यक्तिक (personal) ।

(अ) संस्थागत अव्यक्तिक माध्यमों द्वारा सूचना के आदान–प्रदान में आमने–सामने सम्पर्क महीं होता है ।

इसके रूप हैं – एक, छपे (मुद्रित) जनसंचार के साधन, अखबार, समाचार पत्र, बुलेटिन, पम्पलेट, पोस्टर आदि; दूसरे, गैर छपे अथवा इलेक्ट्रानिक जनसंचार के साधन (रेडियो, टीवी. और चलचित्र) । इन साधनों के द्वारा एक समय में ही बहुसंख्यक लोगों तक सूचना पहुँचाई जा सकती है र परंतु उनका प्रभाव गहरा नहीं होता है ।

संस्थागत व्यक्तिक स्रोतों में कृषि –विस्तार कार्यकर्ता एवं कृषि वैज्ञानिक आते हैं । संवाददाता एवं संवाद प्राप्तकर्ता आमने–सामने होते हैं । परिणामस्वरूप सूचना को गहराई से पहुँचाने एवं किसानों को नवाचार ग्रहण करने को मनाने में व्यक्तिक सात –का श्लाघनीय योगदान होता है । क्योंकि संस्थागत स्रोतों का उद्भव किसान के से बाहर होता है, इसलिए इन्हें विश्वव्यापी (cosmopolite) स्रोत् कहा जाता है । ।

(ब) गैर संस्थागत स्रोंत किसानों के सामाजिक व्यवस्था के अंग होते हैं इसलिए इन्हें स्थानीय (localite) सोत कहा जाता है । बाह्य स्रोंतों से प्राप्त सूचनाएं पड़ोसियों, मित्र, सम्बन्धियों और साथी ग्रामीणों के पारस्परिक,वैयक्तिक सम्बन्धों के –द्वारा समाज में फैलती हैं । इसे 'पड़ोसीपन (neighbourhood) का प्रभाव कहा जाता है ।

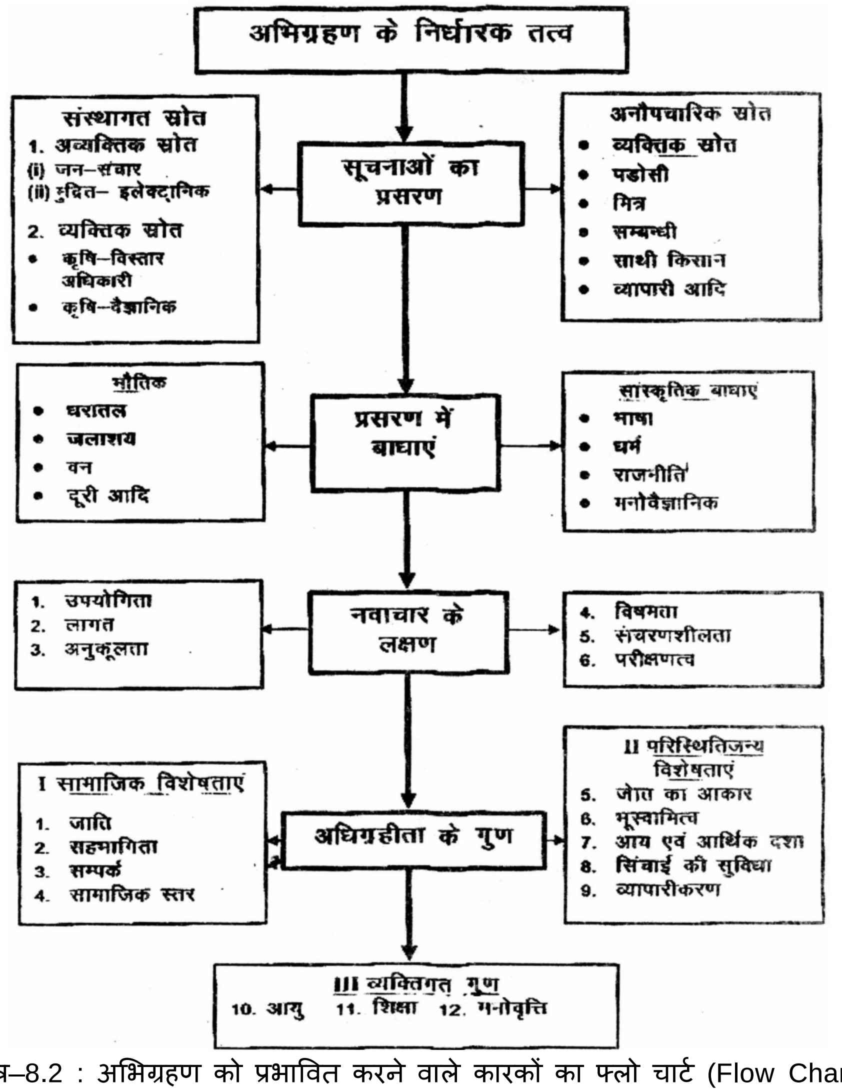

चित्र–8.2 : अभिग्रहण को प्रभावित करने वाले कारकों का फ्लो चार्ट (Flow Chart)

8.5.2 सूचना स्रोतों की विश्वसनीयता (Reliability of Information Sources)

भारत में नवाचारों सम्बन्धी सूचना के प्रसार तथा उपयोग पर किए गए अध्ययनों के निष्कर्ष निम्नानुसार है :

1. व्यक्तिक स्रोतों की विश्वसनीयता अपेक्षया अधिक होती है । अत: इनका उपयोग भी अधिक किया जाता है ।
2. दोनों वर्गो के व्यैक्तिक स्रोतों का लगभग समान महत्व है ।
3. कृषि–विस्तार में लगे कार्यकर्त्ताओं में अन्यों की तुलना में ग्राम सेवक ही प्रभावी होता है ।
4. सूचना के स्रोतों मे! पड़ोसी, मित्र एवं सम्बन्धीगण क्रमश : प्रथम, द्‌वितीय एवं तृतीय कम में रखे जाते हैं ।
5. अव्यक्तिक स्रोतों में प्रदर्शन, प्रदर्शनी एवं रेडियो को विश्वसनीय माना जाता है ।

सूचकों के सातों की प्रभाविता जानने के लिए मध्यप्रदेश के छिदवाता –बोतल पठार के अध्ययन के निष्कर्ष को देखा जा सकता है (शर्मा 1998) जिसमें 'उन्नत बीज ऐ? के सूचना –स्रोतों को चुना गया । इस क्षेत्र में कुल सर्वेक्षित 475 में से 379 जोतकर उन्नत बीजों का उपयोग करते हैं । इसकी जानकारी किसान एक से अधिक स्रोत से प्राप्त करते हैं; परंतु I स्रोतों का सापेक्षिक महत्व अलग – है (तालिका 8.1) । इन स्रोतों में व्यक्ति वाले स्रोत सबसे प्रमुख सोत हैं । साथी कृषक उन्नत बीजों के प्रमुख स्रोत सभी वर्गो में हैं । दूसरी ओर प्रकाशित साहित्य ओर अन्य संस्थागत गैर –व्यक्तिक स्रोतों का महत्व अपेक्षया कम है । उल्लेखनीय है कि संस्थागत और व्यक्तिक खेतों का महत्व मध्यम और बड़े जाते वाले किसानों तथा उच्च वर्गीय और पिछड़े वर्ग के किसानों के लिए अन्य वर्ग के किसानों से अधिक है ।

तालिका 8.1: उन्नत बीजों सम्बन्धी विभिन्न स्रोतों से सूचना प्राप्त करने वाले कृषकों का प्रतिशत

साथी कृषक	निज अनुभव	सरकारी कर्मचारी	व्यापारी	रेडियो/ टी.वी.	प्रदर्शन	साहित्य	कृषि मेला	अन्य
96	88	77	33	32	9.5	3.4	2.4	0.3

8.5.3 प्रसरण की प्रक्रिया (process of Diffiusion)

प्रसरण की प्रक्रिया को विस्तार की विधि के आधार पर (फैलाव, पुनर्स्थापन) अथवा संरचनात्मक गुणों के आधार पर (संसर्गज, पदानुक्रमिक) वर्गीकृत किया जाता हे । फैलाव (expansion) में पुराने ग्रहीता तो रहते ही हैं नए ग्रहीता और जुड़ जाते हैं । जिससे पूर्वकाल की तुलना में वर्तमान में वितरण का प्रतिरूप बदल जाता है । पुनर्स्थापना (Relocation) प्रक्रिया में नवाचार पुरानी स्थितियों को छोड़कर नई स्थितियों पर पहुँचता है । प्रसरण की संरचना के आधार पर ये संसर्गज (contagious) और पदानुक्रमिक (hierachical) हो सकता है विधि में प्रसरण व्यक्तिगत संपर्क के माध्यम से महामारी की भाँति होता है परंतु पदानुक्रमित प्रसरण में नवाचार बड़े केन्द्रों से छोटे स्थानों की ओर क्रम में फैलते हैं ।

नवाचार की लहरें (Innovation Waves)

नवाचार के प्रसरण की तुलना लहर से की जाती है । जिस तरह से अपने उद्भव के स्थान से जैसे –जैसे लहरें दूर होती जाती हैं उनकी शक्ति घटती जाती है, उसी तरह नए विचार जैसे –जैसे अपने उत्पत्ति के स्थान से दूर होते जाते हैं उनको स्वीकार करने वालों का अनुपात कम होता जाता है (चित्र – 8. 3) । चित्र – 8. 3 से स्पष्ट है कि किस तरह समय के साथ नवचार की लहर का प्रभाव क्रमश: घटता जाता है । पहली अवस्था में उद्यम स्थल के पास बड़ी संख्या में लोग नवाचार को ग्रहण करते हैं तथा दूर वाले कम ही लोग इसे अपनाते हैं । दूसरे काल (संतति) में लहर की दूरी बढ़ जाती है g उसका प्रभाव – क्षेत्र का हो जाता है, परन्तु उसका शिखर (उंचाई) नीचे आ जाता है तथा मूल स्थान से हट जाता है । इसी क्रम में हर अगली अवस्था में शिखर (सर्वाधिक ग्रहणकर्ता) मूल उद्गम सच दूर हटता जाता है तथा नीचा होता जाता है, अर्थात् उसके प्रभाव की गहनता कम होती जाती है और एक अवस्था ऐसी आती है कि वह शक्तिहीन हो जाता है ।

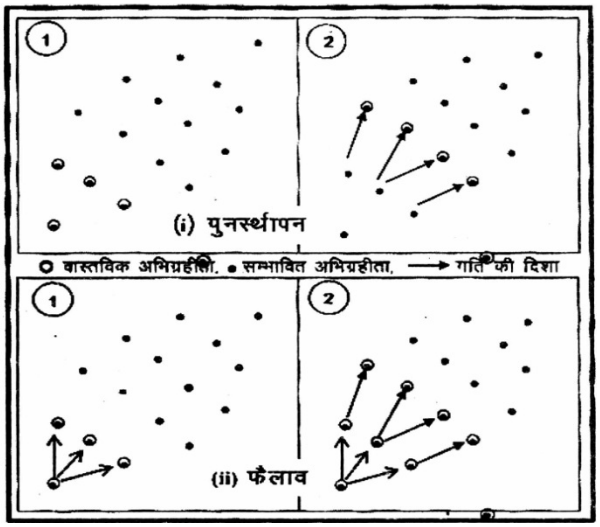

चित्र – 8.3 : नवाचार अभिग्रहण की प्रक्रियाएँ

8.6 बाधाएँ (Barriers)

व्यक्तिगत सम्बन्धों का जाल एवं आकृति मुख्यत: विभिन्न बाधाओं की उपस्थिति पर निर्भर करती है । ये बाधाएँ भौतिक हो सकतीं हैं जो सूचनाओं के प्रवाह को रोकती है, जैसे – नदी, झील, वन, पहाड़ अथवा दूरी अथवा सामाजिक हो सकती हैं जैसे भाषा, जाति धर्म, राजनीति आदि। इन बाधाओं की दो विशेषताओं – पारगम्यता permeability) और अभिमुखता (orientation) प्रभावों की चर्चा की गई है । पारगम्यता के आधार पर ये चार प्रकार की हो सकती हैं । (1) अति अवशोषक (super absorbing), (2) अवशोषक (absorbing), (3) परावर्तक (reflecting) तथा (4) सीधे परावर्तक बाधाएँ (direct reflecting barriers) । अति अवशोषक बाधा नए सम्पर्को को सोख लेते हैं और मूल संवाद (transmeters) को नष्ट कर देते हैं । अवशोषक बाधाएँ नए सम्पर्को को नष्ट करती हैं परंतु मूल प्रेषकों को यथावत छोड़ देती हैं । परावर्तक बाधाएँ नए सम्पर्को को सोखते हैं, परंतु उसी समयावधि में अन्य नए सम्पर्क बनने देती हैं, मुख्यत: संवाद उत्पत्ति के हिस्से में ही है । प्रत्यक्ष परावर्तक बाधाएँ पारगम्य होती हैं

। वे सम्पर्को को सोखती नहीं बल्कि यादृच्छिक वितरित कर देती हैं, परंतु गहनता कम हो जाती है ।

इसी तरह अभिमुखता के अनुसार बाधाएँ संवाद्र की धारा के समानान्तर, उसके अनुप्रस्थ जिसके किनारे पर ही दर्रे हों अथवा मध्य में गैपवाला अनुप्रस्थ हो सकता है । इस अभिमुखता का प्रसरण की दिशा पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है ।

8.7 अभिग्रहण की अवस्थाएँ (Stages of Adoption)

किसी नवाचार को अपनाकर उपयोग करने की प्रक्रिया अचानक नहीं होती है, बल्कि इसमें समय लगता है। इस समयावधि में कृषक कई अवस्थाओं से गुजरता है, जिनमें पाँच को अधिकांश लोग स्वीकार करते हैं। ये हैं – सजगता (awareness), अभिरुचि (interst),मूल्यांकन (evaluation), परीक्षण (trial), और अभिग्रहण (adoption)।सजगता की दशा में व्यक्ति.को नवाचार के विषय में परिचयात्मक जानकारी तो मिलती है, परंतु विस्तृत जानकारी नहीं। यह सूचना की स्थिति होती है। दूसरी अवस्था अभिरुचि की है जिसमे व्यक्ति नवाचार के प्रकृति, कार्य, प्रक्रिया और उपयोगिता के विषय में विस्तृत जानकारी प्राप्त करने में अभिरुचि लेता है। इसके बाद कृषक अपनी परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में नवाचार के व्यवहारिकता का सापेक्षिक मूल्यांकन करता है। अन्य उपलब्ध स्थानापत्रों की तुलना में नवाचार की उपादेयता और अतिरिक्त कार्य का भी अनुमान लगाता है। कभी–कभी व्यवहारिकता को देखने लिए नवाचार का छोटे पैमाने पर परीक्षण के तौर पर उपयोग हो जाता है। इसी के अनुभव के आधार पर ही नवाचार या तो स्वीकार किया है अथवा अस्वीकार। इसे आरेख के रूप में निम्नानुसार दिखाया जा सकता है (चित्र 8.3) ।

चित्र 8.3 में सिन्हा द्धय द्वारा सन् 1974 में पंजाब के चार गांवों में जानवरों की कृत्रिम गर्भाधान की विधि के अपनाने की अवस्थाओं को प्रस्तुत किया गया है। इन–लोगों ने पाया कि कुल 143 किसानों में से 13 किसानों ने इस नवाचार को पहिली सजगता अवस्था मे ही अस्वीकार कर दिया तथा प्रारम्भिक जानकारी के बाद किसी ने इसे स्वीकार नहीं किया। इनमें से छः ने अभिरुचि और परीक्षण की अवस्थाओं को छोड़ते हुए सजगता से सीधे मूल्यांकन की अवस्था में पहुंच गए। अन्य 20 किसान सजगता से अभिरुचि की अवस्था को छोड़ते हुए परीक्षण करने की अवस्था में पहुंचे। कुल में से 104 प्रथम से दूसरी अवस्था अर्थात् सजगता के बाद दूसरी अवस्था अभिरुचि पर पहुँचे। पहिली अवस्था मे बाद की अवस्थाओं भी किसान विभिन्न अवस्थाओं से गुजरते हुए अन्त में केवल 103 किसानों ने ही कृत्रिम गर्भाधान की विधि को अपनाया।

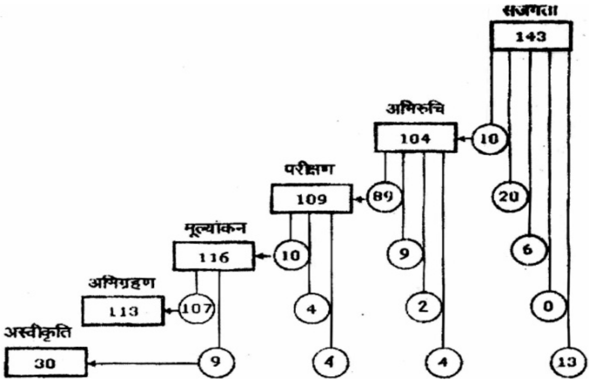

चित्र–8.3 : नवाचार अभिग्रहण की पाँच अवधारणाएँ

अभिग्रहण के समय के आधार पर अभिग्रहीताओं को पाँच वर्गो में रखा जाता है । इसे रोजर्स और शूमेकर ने परिवर्तन मापक (innovative scale) कहा है । इसकी मदद से कृषकों को नवाचारों के उपयोग के आधार पर एक अविराम मापक में वर्गीकृत किया जाता है । जब किसी नए समाज में कोई नवाचार लाया जाता है तो आरंभ में केवल कुछ लोग ही उसे स्वीकारते हैं । इन्हें प्रवर्तक (innovativativators) कहा जाता है । तदनंतर अपनाने वालों की संख्या तेजौ से बढ़ने लगती है । इन किसानों को आरंभिक अभिग्रहीता (early adopters) तथा आरंभिक बहुमत (early majority) कहा जाता है । इसके बाद स्वीकार करने की दर घट जाती है । इस समय के ग्रहीताओं को विलंबित बहुमत (late majority) कहा जाता है । अंत में अत्यंत कम होकर समाप्त हो जाती है, तब तक अधिकांश कृषक उस नवाचार को स्वीकार कर चुके होते हैं । इस अंतिम काल के ग्रहीता को पश्चगामी (laggards) कहते हैं । अगर इन वर्गो को वक्र के रूप में प्रस्तुत किया जाय तो इसका आकार 'बेल ' प्रकार का होगा ।

8.8 नवाचारों के गुण (Traits of Innovations)

नवाचार के कम से छ : लक्षण उसकी स्वीकृति को प्रभावित करते हैं, (i) उपयोगिता (utility), (ii) लागत (cost), (iii) अनुकूलता (compatibility), (iv) जटिलता (complexity), (v) संचरणशीलता (communicability)और (vi) उसकी विभाजकता / परीक्षणत्व (divirsibility/trialability) । उपयोगिता का तात्पर्य किसानों द्वारा अनुभव की जाने वाली उपयोगिता और लाभ की मात्रा से है । यह पूर्णत : आर्थिक लाभ मात्र नहीं है । अनुकूलता समाज की विचारधारा, मूल्यों और प्रथाओं से अनुरूपता की मात्रा को कहा जाता है । इसके दो रूपों का उल्लेख किया जाता है, भौतिक अनुकूलता, सांस्कृतिक अनुकूलता । नवीन वस्तु एवं विचारों को समझने एवं उपयोग करने की सापेक्षिक कठिनाई को जटिलता सरल नवाचार शीघ्रता से ग्रहण कर लिए जाते हैं । संचरणशीलता का तात्पर्य नवाचार के अवलोकन, प्रदर्शन एवं पहुँचाने की सरलता की मात्रा से है । किसी नवाचार का छोटे पैमाने पर परीक्षण कर सकने के गुण की मात्रा को परीक्षणत्व कहा जाता है । उल्लेखनीय है कि इन लक्षणों में से संचरणशीलता और विभाजकता के अलावा अन्य लक्षण किसानों की अनुभूति से सम्बन्धित हैं न कि वे नवाचार के गुण हैं ।

तालिका – 8.2 : कृषिय नवाचारों को स्वीकारने वाले कृषकों का सर्वेक्षित कृषकों में प्रतिशत

नवाचार	छिदवाड़ा -बैतूल पठार	छत्तीसगढ़ बेसिन
उन्नत बीज	79..8	25.2
सिंचाई	63	55.3
उर्वरक	61.6	93.9
बोते समय उर्वरक	54.5	55
थ्रेशर	43.2	0.4
पम्प सेट	42.5	5
स्प्रेयर	25.9	4.6
कीटनाशक	23.8	48.5
रसायन	22.9	19.1
बीजोपचार	18.7	5.7

भूमि उपचार	15	4.2
ट्रेक्टर	13.5	1.1
डस्टर	12.2	5
मिट्टी परीक्षण	11.2	–
कुल जोतकर	**475**	**262**

नवाचार के गुणों के प्रभाव को तालिका 8. 2 की सहायता से समझा जा सकता है । तालिका में 14 नवाचारों के विषय में किसानों से प्राप्त उत्तर है जिससे स्पष्ट है कि उन्नत बीजों को किसानों बड़ी सहजता से स्वीकार किया है । इसके कारण हैं इसकी उपयोगिता, कम लागत, आर्थिक अनुकूलता, उपयोग में नगन्य जटिलता, संचरणशीलता और परीक्षणत्व हैं । किसान पहिले से ही बीजों का उपयोग करते रहे हैं, अत: उन्नत बीज उनके लिए न तो नए थे और कीमत में भी बहुत अन्तर नही था । इन्ही विशेषताओं के कारण सिंचाई और उर्वरकों का भी प्रचलन काफी हुआ है । इसके विपरीत भूमि उपचार, बीज उपचार, मिट्टी परीक्षण आदि नवीन विधियाँ उनकी समझ से दूर होने के कारण उतने ग्राह्य नही हो पाए । इनकी अधिक लागत भी एक कारण है । इसी तरह ट्रैक्टर एक उपयोगी यंत्र है, परन्तु अधिक कीमत के कारण यह सब के बस की बात नही है । इस प्रकार किसान नवाचारों की उपयोगिता का अपनी आवश्यकता और क्षमता के अनुसार परीक्षण करके ही अपनाता है ।

8.9 अभिग्रहणकर्त्ता की क्षमता एवं अभिग्रहण की प्रक्रिया

सूचनाओं के फैलाव के साथ ही अभिग्रहणकर्त्ता के गुण भी नवाचारों के ग्रहण करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । इनकी संख्या काफी अधिक हो सकती है; परंतु उनमें से 12 प्रमुख समझे जाते हैं। इन्हें भी तीन समूहों में रखा जाता है : –

(अ) वैयक्तिक (Personal) गुण– (i) आयु, (ii) शिक्षा, (iii) मनोवृत्ति,

(ब) संरचनात्मक (Structural situational) विशेषताएँ– (i) भूमि स्वामित्व (ii) जोत का आकार,(iiii) आय एवं आर्थिक स्थिति, (iv) सिंचाई सुविधा एवं, (v) कृषि का व्यापारीकरण ।

(स) सामाजिक (Social) विशेषताएँ– (i) जाति, (ii) सामाजिक सहभागिता, (iii) बाहय, (iv) विस्तार अधिकारियों से सम्पर्क, एवं (v) जौवनस्तर ।

8.9.1 वैयक्तिक गुण (Personal Qualities)

शिक्षा एवं प्रकृति और जौवन–मूल्य इन तीन व्यक्तिगत गुणों को लेकर काफी शोध किया गया है। आयु और नवीन तरीकों के अभिग्रहण का सुस्पष्ट सम्बन्ध नहीं पाया गया है (दासगुप्ता 1989, 76 – 77), परंतु प्रवृत्ति नकारात्मक सम्बन्ध की ओर है । यह देखा गया है कि मध्य आयु वर्ग के किसानों में युवा और वृद्धों की अपेक्षया अभिग्रहण की प्रवृत्ति अधिक होती है ।

साक्षरता और शिक्षा तथा नई विधियों एवं तकनीकों के उपयोग का सीधा और महत्वपूर्ण सम्बन्ध पाया जाता है । इसका कारण है कि शिक्षित प्रचार के मुद्रित सामग्री का उपयोग कर सकता हैं जिससे नवाचार की सूचना उसे अपेक्षया शुद्ध और जल्दी मिल जाती है । दूसरे, शिक्षा किसान की सजगता, जागरूकता और तर्क –शक्ति को बढ़ा कर उन्हें अधिक सक्षम बनाती है । इसी तरह किसानों की मान्यताएँ एवं प्रवृत्ति उनकी सामुदायिक एवं व्यक्तिगत गतिविधियों को नियंत्रित

करती हैं । ये सभी संस्कृति के अंग हैं । नवाचार यदि इन मूल्यों के अनुकूल होता है तभी ग्रहण किया जाता है । परम्परावादी और विकसित समाज की विशेषताओं की चर्चा की जा चुकी है जिनके कारण विकसित समाज में नई विधाएँ एवं विचार शीघ्रता से स्वीकार कर लिए जाते हैं ।

8.9.2 परिस्थितिजन्य विशेषताएँ

किसान जिन दशाओं में रहकर खेती करता है वे भी उसकी अभिग्रहण की प्रवृत्ति को प्रभावित करती हैं जैसे कि अगर उसके पास स्वयं की भूमि नहीं हैं तो वह कृषि–विकास के स्थायी उपादानों का उपयोग नहीं करता है । इन संरचनात्मक कारकों में भूस्वामित्व, जोत का आकार, सामाजिक –आर्थिक स्तर, आय, सिंचाई की सुविधा की उपलब्धता और कृषि का व्यापारीकरण प्रमुख हैं । भूस्वामित्व से कृषक को भूमि पर स्थायी सुधार का अधिकार मिलता है । अन्य कारक उसके व्यय करने की क्षमता तथा सामाजिक प्रतिष्ठा निर्धारित करते हैं । इस प्रतिष्ठा के माध्यम से उसकी प्रशासनिक, आर्थिक और राजनीतिक संस्थाओं तक पहुँच बन जाती है । से सभी दशाएँ नवाचारों को ग्रहण करने में सहायक होती हैं । सिंचाई की सुविधा का होना तो प्राथमिक आवश्यकता है और व्यापारीकरण से किसान की कृषि–सुधार के लिए व्यय करने की क्षमता बढ़ जाती है ।

8.9.3 सामाजिक गुण (Social Qualities)

कई सामाजिक गुणों का नवाचारों के ग्रहण करने पर स्पष्ट प्रभाव होता है । जाति उनके मूल में है जो अन्य सामाजिक गुणों को बड़ी सीमा तक निर्धारित करती है । भारतीय समाज में सामाजिक स्तर तो जाति से जुड़ा है । उसकी शिक्षा, 'मान्यताएँ, विचार, सामाजिक कार्यो में सहभागिता, बाहरी सम्पर्क आदि सभी जाति से सीधे जुड़े हैं । इन सभी के अनुकूल होने पर ही नई चीजें समाज और किसान तक पहुँच पाती हैं ।

8.10 अभिग्रहणकर्त्ता की क्षमता के प्रभावों के उदाहरण

ऊपर वर्णित अभिग्रहण को प्रभावित करने वाले किसानों के कतिपय गुणों के प्रभाव को देखने के लिए मध्यप्रदेश तथा छत्तीसगढ़ के जोतकारों का प्रतिदर्श सर्वेक्षण किया गया हैं । यहाँ छिंदवाड़ा–बैतूल (475 जोतकार) जिले तथा छत्तीसगढ़ बेसिन (262 जोतकार) का उदाहरण दिया जा रहा है (शर्मा 1998) । इन जोतकारों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकाला जा सकता है । सीमित जगह के कारण निर्णायक दो कारकों को चुना गया है । चुने गए कारक हैं – जोत का आकार और जोतकार का समुदाय । इनका कृषि में उपयोग होने वाले निवेश, उपकरण रख नवीन विधियों के स्वीकार करने पर पड़ने वाले प्रभाव को तालिका से समझा जा सकता है ।

8.10.1 जोत का आकार (Size of Holding)

नई आचार संहिता का पालन किसान की सामाजिक संरचना एवं आर्थिक क्षमता पर भी निर्भर रहता है । नवाचार के अधिकांश तत्वों के आयोग के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है । यह पूँजी और, व्यय की क्षमता बचत पर आधारित होती है और बचत की मात्रा जोत के आकार पर निर्भर होती है । फलत : पूँजी लगाने की क्षमता जोत का आकार बढ़ने के साथ बढ़ता जाता है । वास्तविकता भी यही है । इस कारण एक ही क्षेत्र के विभिन्न जोताकार वाले किसानों में नवाचार

का संचरण समान नहीं होता । यह तथ्य तालिका– 8.3 से सुस्पष्ट है । इस तालिका के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सामान्यरूप से सीमांत और लघु किसानों में नए तरीके अपनाने वालों का अनुपात क्षेत्र के अनुपात से कम एवं बहुत कम है । दूसरी ओर मध्य और बड़ी जोत पर अभिग्रहण अधिक और बहुत अधिक है । यदि तालिका 82 में लिखित नवाचारों के अनुपातों को सूचकांकों में बदलकर देखा जाय तो बात अधिक स्पष्ट हो जाती है । तालिका 83 में इस क्षेत्र के प्रत्येक चर के औसत को 100 मान कर वास्तविक मूल्यों को सूचकांकों में बदला गया है । इससे स्पष्ट है सीमांत और लघु जोत वाले सूचकांक 100 से कम हैं जबकि मध्यम और बड़ी जोतों में 100 से ज्यादा । अगर इन सूचकांकों को जोड़ा जाय तो छिंदवाड़ा–बैतूल पठार के लिए सीमांत वर्ग का योग 1119, लघु का 1193, अर्द्धमध्यम का 1428 मध्यम जोत का 1829 और बड़ी जोत का 2080 आता है । इससे स्पष्ट है कि अर्द्धमध्यम आकार तक की जोत के अभिग्रहण स्तर में बहुत अतर नहीं है, परंतु मध्यम और वृहद जोतों के कुल सूचकांक इनसे बहुत अधिक हैं । अभिग्रहण की न्यूनतम जोत सीमा 4 हेक्टर कही जा सकती है । छत्तीसगढ़ में यह अन्तर बहुत ही चिन्ताजनक है । वहाँ इन सूचकांकों को योग सीमांत वर्ग का योग 296, लघु का 632, अर्द्धमध्यम का 1080, मध्यम जोत का 2583 और बड़ी जोत का 7653 आता है । इससे स्पष्ट है कि बड़ी जोत का औसत मध्यम जोत के औसत से दो गुना से अधिक और सीमांत से अर्द्धमध्यम जोतों का औसत का तीन गुना है । इस तरह सीमान्त जोत का अभिग्रहण 1 है तो छोटी जोत का 2, अर्द्धमध्यम का 4, मध्यम का लगभग 9 और बड़ी जोत का 26 आता है । इससे स्पष्ट है कि नवाचारो के उपयोग में जोत की आकार का निर्णायक प्रभाव पड़ता है ।

तालिका– 8.3 : जोत के आकार तथा समुदाय का नवाचरण के अभिग्रहण पर प्रभाव

जोत का आकार	सीमान्त	लघु	अर्द्ध मध्यम	मध्यम	बड़ी
छिंदवाड़ा–बैतूल पठार	1119	1193	1428	1829	2080
छतीसगढ़ बेसिन	296	632	1089	2583	7653
समुदाय	अनु. जनजाति	अनु. जाति	पिक्षड़ा वर्ग	अन्य	
छिंदवाड़ा–बैतूल पठार	531	1002	1954	2431	
छतीसगढ़ बेसिन	661	727	1652	1453	

8.10.2 समुदाय एवं अभिग्रहण (Community and Adoption)

न केवल जोत के आकार बल्कि सामाजिक मूल्यों का भी अभिग्रहण से घनिष्ठ सम्बन्ध है । इस बात को स्पष्ट करने के लिए समुदायवार विभिन्न निवेश के चरों को वर्गीकृत किया गया है (तालिका 8. 3.) । इससे स्पष्ट है कि अनुसूचित जनजाति एवं अनुसूचित जाति समुदायों के कृषकों में नए तरीके अपनाने वालों का प्रतिशत क्षेत्र के औसत से कम और बहुत कम है । दूसरी ओर पिछड़े वर्ग और उच्च वर्ग के किसानों में यह अनुपात अधिक से बहुत अधिक है । पुन: विभिन्न चरों के क्षेत्र के औसतों को 100 सूचकांक मानकर प्रतिशत मूल्यों को सूचकांक में बदलने पर स्थिति अधिक साफ हो जाती है । एकाकी चरों के सूचकांक भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं । सभी चरों का प्रत्येक समुदाय का योग और भी रोचक है । छिंदवाड़ा–बैतूल पठार में जनजातीय समुदाय का योग केवल 531 और अनुसूचित जातियों का 1002 है । उल्लेखनीय है कि ये दोनों योग इसी तरह से निकाले गए सीमांत और लघु किसानों के योगों से भी कम है ।

पिछड़े वर्ग का योग 1954 है जो अर्द्धमध्यम आकार की जोत के योग से अधिक परंतु मध्यम से कम है । उच्च जातीय समुदायों का योग 2431 है । इस तरह इन चारों समुदायों के योगों का अनुपात लगभग 1 : 2 : 4 : 5 का है । इससे निर्विवाद स्पष्ट होता है कि सामाजिक मूल्यों मान्यताओं, दृष्टिकोणों और स्तर का नवाचारों के अभिग्रहण पर स्पष्ट छाप होती है । छत्तीसगढ़ में सर्वाधिक सूचकांक पिछड़े वर्ग के लिए है ।'

बोध प्रश्न – 2

1. प्रसरण की फैलाव प्रक्रिया क्या है?

   ....

   ....

2. प्रसरण के मार्ग में आने वाली भौतिक बाधाओं दो नाम लिखिए ।

   ....

   ....

3. अभिग्रहण की अवस्थाओं के नाम लिखिए ।

   ....

   ....

4. नवाचार की अनुकूलता का क्या मतलब है?

   ....

   ....

5. नवाचारों को स्वीकार करने में जोत का आकार क्यों महत्वपूर्ण है?

   ....

   ....

8.11 सारांश (Summary)

कृषि का आधुनिकीकरण मूलतः एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा कृषि का स्वरूप बदलकर उत्पादकता बढ़ाने का प्रयास किया जाता है । यह रूपांतरण कृषि के नए निवेशों, विधियों एवं यंत्रों की मदद से किया जाता है । उन्हें ही नवाचार कहा जाता है । कृषि नवाचार में सम्मिलित अधिकांश उपादान कृषक समाज से बाहर के होते हैं । इन सम्बन्धी सूचना के स्रोतों में व्यक्तिक स्रोत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ऐसी दशा में किसान अपने प्रश्नों एवं शंकाओं का उत्तर तत्काल पा जाता है । सूचना–प्राप्ति तथा उसको उपयोग में लाने के पूर्व किसान एक निश्चित विचार की प्रक्रिया से गुजरता है । कृषि नवाचारों के उपयोग पर भौतिक अनुकूलता के अलावा कृषक की निजौ, सामाजिक एवं आर्थिक परस्थितियों का निर्णायक प्रभाव पड़ता है ।

8.12 शब्दावली (Glossary)

- **नवाचार (Innovation) :** समाज द्वारा नवीन अथवा संशोधित समझे जाने वाले विचार, वस्तु एवं विधियों को नवाचार कहा जाता हैं ।

- **प्रसरण (diffusion) :** नवाचारों का उनके अन्वेषण के स्थान से उपभोक्ताओं तक पहुँचाने की प्रक्रिया प्रसरण कहलाती है ।
- **अभिग्रहण (adoption) :** व्यक्तियों एवं समाज द्वारा अनुशंसित विचारों, विधियों एवं निवेशों का पर्याप्त समय तक सतत् उपयोग करना अभिग्रहण कहलाता है ।
- **औपचारिक सूचना के स्रोत :** संस्थाएं जो नवाचार सम्बन्धी सूचनाएं उपलब्ध कराती हैं ।
- **अनौपचारिक सूचना के स्रोत :** किसान समाज द्वारा सूचनाओं का आदान –प्रदान अनौपचारिक स्रोत हैं । ये सामाजिक व्यवस्था के अंग होते हैं ।
- **अव्यक्तिक (impersonal) सूचना के स्रोत :** जिसमें सूचना के आदान –प्रदान में आमने – सामने नहीं होता ।
- **व्यक्तिक (Personal) सूचना के स्रोत :** वे सूचना के स्रोत जिसमें संवाददाता एवं संवाद प्राप्तकर्ता आमने –सामने होते हैं ।
- **फैलाव (expansion) :** फैलाव प्रसरण की वह प्रक्रिया है जिसमे पुराने ग्रहीता तो रहते ही हैं नए और जुड़ जाते हैं जिससे पूर्वकाल की तुलना में वर्तमान में वितरण का प्रतिरूप बदल जाता है ।
- **पुनर्स्थापना (Relocation) :** पुनर्स्थापना प्रसरण की वह प्रक्रिया है जिसमे नवाचार पुरानी स्थितियों को छोड़कर नई स्थितियों पर पहुँचता है ।
- **उपयोगिता –**उपयोगिता का तात्पर्य किसानों द्वारा अनुभव की जाने वाली उपयोगिता और लाभ की मात्रा है ।
- **अनुकूलता –** समाज की विचारधारा,मूल्यों और प्रथाओं अथवा भौतिक दशाओं के अनुरूपता की मात्रा को अनुकूलता कहा जाता है ।
- **संचरणशीलता –** संचरणशीलता का तात्पर्य नवाचार के अवलोकन, प्रदर्शन एवं पहुँचाने की सरलता की मात्रा से है ।
- **परीक्षणत्व –**किसी नवाचार का छोटे पैमाने पर परीक्षण कर सकने के गुण को परीक्षणत्व कहा जाता है ।

8.13 संदर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. Blaut, J.N. (1977),"Two Views of Diffusion" , Ann. Asso. Am. Geogr. 67.3]347–349.
2. Brown, L.A. & Cox, K.R.(1971),"Empiribal Regularities in the Diffusion of Innovation", Ann.Asso.Am. Geogrs, 61,551–559.
3. Dasgupta. S. (1989), Diffusion of Agricultural Innovation in Village India, New Delhi Wiley Eastern Limited.
4. Goldman, abe, (1963),"Agricultural Innovation in Three Areas of Kenya: Neo–Boserupian Theories and Regional Characterization", Eco. Geog.69.1,44–71.

5. Hagerstrand, T., (1967). Innovation Diffusion as a Spatial Process. Translated from Swedish by A. Pred and G. Hagg, Chicago & London: Chicago Univ. Press.
6. Misra, R.P. (1968), Diffusion of Agricultrural Innovation .Mysore.
7. Rogers, E.M.,& Shoemaker, F.F.(1971), Communication of Innovations: & Crop Cultural Approach. New York: The Free Press.
8. Sharma, S.K. (1998)," Adoption of Agricultural Development Measures in relation to Size and Tenancy of Operational Holdings in Madhya Pradesh," Indian Journ.of Regional Science, XX–2,27–39.
9. Sharma, S.K. (1998), Reflection of Social Enequality on Adoption of Development Measures: an example of Agricultural Innovations" ,PP. 165–177 in Y.G. Joshi and D.K. verma, eds , Social Environment for Sustainable Development.Jaipur: Rawat publications.
10. Sinha, M.N. and P.R.R. Sinha, (1974),"Adoption Process as operating with Artificial Insemination", Indian Journal of Extension Education, 10,36–41.
11. कुमार, प्रमीला एवं श्रीकमल शर्मा (2008) : कृषि भूगोल, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल.
12. तिवारी आर. सी. तथा बी. एन. सिंह कृषि भूगोल प्रयाग पुस्तक सदन इलाहाबाद[?

8.14 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. समाज द्वारा नवीन अथवा संशोधित समझे जाने वाले विचार, वस्तु एवं विधियों को नवाचार कहा जाता हैं ।
2. नवाचारों का उनके अन्वेषण के स्थान से उपभोक्ताओं तक पहुँचाने की प्रक्रिया प्रसरण है ।
3. व्यक्तियों एवं समाज द्वारा अनुशंसित विचारों, विधियों एवं निवेश का पर्याप्त समय तक सतत् उपयोग करना अभिग्रहण कहलाता है ।
4. औपचारिक अथवा संस्थागत और अनौपचारिक अथवा गैर–संस्थागत ।
5. इस लिए कि इसमें संवाददाता एवं संवाद प्राप्तकर्त्ता आमने –सामने होते हैं । फलत: किसानों की शंका का समाधान तत्काल हो जाता है ।

बोध प्रश्न– 2

1. फैलाव प्रसरण की वह प्रक्रिया है जिसमें पुराने ग्रहीता के साथ –साथ नए ग्रहीता और जुड़ जाते हैं । इस कारण नवाचार के उपयोगकर्ताओं का क्षेत्र बढ़ जाता है ।
2. भौतिक बाधाओं में मुख्य हैं नदी, झील, वन, पहाड़ और दूरी ।

3. अभिग्रहण की अवस्थाओं के नाम हैं – सजगता, अभिरूचि, मूल्यांकन, परीक्षण, अभिग्रहण अथवा अस्वीकृति ।
4. नवाचार का समाज की विचारधारा, मूल्यों और प्रथाओं तथा भौतिक दशाओं के अनुरूप होना अनुकूलता कहलाती है ।
5. नवाचारों की अभिस्वीकृति में जोत का आकार इस लिए महत्वपूर्ण है क्योंकि नवाचारों के लिए आवश्यक पूँजी और व्यय की क्षमता बचत पर आधारित होती है और बचत की मात्रा जोत के आकार पर निर्भर होती है ।

8.15 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. नवाचारों के विकास, प्रसरण एवं अभिग्रहण सम्बन्धी सिद्धान्तों की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए ।
2. कृषि नवाचार के अभिग्रहण को प्रभावित करने वाले कारक –समूहों का उल्लेख करते हुए संचार प्रणाली की प्रभाविता का विश्लेषण कीजिए ।
3. अभिग्रहणकर्ता के गुण किस तरह कृषि नवाचारों के उपयोग को प्रभावित करते हैं, समझाइए।
4. कृषि नवाचार के अभिग्रहण की विभिन्न अवस्थाओं की क्रियाओं की समीक्षा कीजिए ।

इकाई 9 : भूमि उपयोग एवं भूमि क्षमता वर्गीकरण (Land Use and Land Capability Classification

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 सामान्य भूमि उपयोग
 9.2.1 भूमि उपयोग की आर्थिक संकल्पना
 9.2.2 भूमि उपयोग क्षमता की संकल्पना
 9.2.3 सर्वोतम या आदर्श भूमि उपयोग की संकल्पना
 9.2.4 तुलनात्मक लाभ की संकल्पना
 9.2.5 क्षेत्रीय संतुलन की संकल्पना
 9.2.6 दूरी की संकल्पना
 9.2.7 भूमि उपयोग की व्यावहारिक संकल्पना
 9.2.8 भूमि उपयोग के अध्ययन में प्रत्यक्षीकरण तथा प्रतिमूर्ति की संकल्पना
9.3 भूमि उपयोग नियोजन के लिए भूमि वर्गीकरण
 9.3.1 विश्व में भूमि उपयोग सर्वेक्षण का वर्गीकरण
 9.3.2 भारत में भूमि उपयोग सर्वेक्षण का वर्गीकरण
9.4 भूमि क्षमता वर्गीकरण के लिए पारिस्थतिकीय उपागम
 9.4.1 भूमि क्षमता वर्गीकरण की अमेरिकन पद्धति
 9.4.2 भूमि क्षमता वर्गीकरण की ब्रिटिश पद्धति
9.5 सारांश
9.6 शब्दावली
9.7 संदर्भ ग्रंथ
9.8 बोध प्रश्नों के उत्तर
9.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

9.0 उद्देश्य (objectives)

इस अध्याय में सामान्य भूमि उपयोग से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर चर्चा की गयी है। इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप समझ सकेंगे :

- भूमि उपयोग सम्बन्धी संकल्पना तथा विधि तंत्र,
- भूमि उपयोग नियोजन हेतु भूमि वर्गीकरण,
- भूमि क्षमता वर्गीकरण के लिए पारिस्थितिकीय उपागम ।

9.1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रारम्भिक रूप में प्रकृति से किसी भी क्षेत्र में जिस प्रकार का भी भूमि का उपयोग है उसे Landuse कहा जाता है। यह मानव द्वारा भूमि के उपयोग की महत्ता को प्रदर्शित करता है। वन, चारागाह, रेगिस्तान, नदियों के मैदान आदि भागों को मनुष्य ने उपयोग में लिया हो अथवा नहीं लिया हो, वहाँ पर मनुष्य का प्रभाव कम और प्रकृति का प्रारम्भिक प्रभाव अधिक देखने को मिलता है। यदपि वर्तमान में विश्व के ऐसे बहुत कम क्षेत्र बचे हैं, जो मनुष्य द्वारा अछूते हैं। इसका प्रमुख कारण मनुष्य का अत्यधिक गतिशील एवं सक्रिय होना है। मनुष्य की पहुंच दुर्गम से दुर्गम स्थल तक भी हो गई है और इसी कारण वह प्रत्येक प्रकार के भूमि उपयोग के बारे में जानने लगा है।

भौगोलिक अध्ययन के अन्तर्गत भूमि उपयोग एक महत्वपूर्ण पक्ष है। भूमि उपयोग का सर्वेक्षण व्यावहारिक विज्ञान के विषयों में प्रमुख है। भूमि उपयोग के विभिन्न मानचित्रों को किसी क्षेत्र के प्रादेशिक नियोजन एवं विकास संबंधी कार्यो के लिए महत्वपूर्ण उपकरण माना जाता है। वर्तमान समय में विद्वान प्रयोग (Use), उपयोग (Utilization) एवं भूमि संसाधन उपयोग (Land Resource utilization) की अलग–अलग व्याख्या करने पर बल देते हैं। फॉक्स के अनुसार जो भू–भाग प्रकृति प्रदत्त विशेषताओं के अनुरूप रहता है, उसे 'भूमिप्रयोग' के अन्तर्गत रखा जाता है। यदि इस प्रकार के भूभाग पर मानवीय छाप अंकित हो जाती है अथवा मानव अपनी आवश्यकतानुसार भूमि का उपयोग कर लेता है, तो उस भू–भाग के लिए 'भूमि उपयोग' शब्द का उपयोग उचित है।

9.2 सामान्य भूमि उपयोग : संकल्पना एवं विधितंत्र(General Landuse : Concept and Methodology)

भूमि उपयोग के भौगोलिक अध्ययन का मुख्य पक्ष होने के कारण इसके अध्ययन के लिए आधारभूत संकल्पनाओं का सही–सही ज्ञान होना आवश्यक होता है। भूमि उपयोग के विशद् अध्ययन से पूर्व भूमि, भूमि प्रयोग, भूमि उपयोग एवं भूमि संसाधन उपयोग के बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है :

(1) **भूमि (Land) :** इस शब्द का उपयोग सामान्यत: धरातल के ठोस भाग को व्यक्त करने के लिए किया जाता है किन्तु इस शब्द का उपयोग भूगोलवेताओं एवं कृषि वैज्ञानिकों द्वारा बड़े ही व्यापक अर्थो में किया जाता है। प्रारम्भ मे भूमि शब्द का अर्थ मकानों, सड़कों, खेतों, चरागाहों, जंगलों, खनिजों के स्त्रोत जैसे - बालू, मृदा, पत्थर आदि के रूप मे होता था किन्तु 'भौगोलिक संदर्भ में धरातल, वायुमण्डल और समुद्र के रूप में भूमि को परिभाषित किया जा सकता है,। भौगोलिक संदर्भ में भूमि के अन्तर्गत धरातल, जल, हिम जिसमें भवनों, खेतों, खनिज संसाधनों, जल संसाधनों, वायु संसाधनों आदि को सम्मिलित किया जा सकता है, क्योंकि उक्त सभी किसी न किसी रूप में भूमि के उपयोग को प्रभावित करते हैं अत: भूगोल की मुख्य संकल्पना भूमि से ही जुड़ी हुई है। मानव द्वारा भूमि पर विभिन्न क्रियाकलाप किये जाते हैं तथा मानव अपने विभिन्न उद्देश्यों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भूमि का सदियों से अनेक रूपों में उपयोग करता रहा है और करता रहेगा।

(2) **भूमि–प्रयोग (Land use):** भूमि का प्रकृति प्रदत्त विशेषताओं के अनुरूप उपयोग ही भूमि प्रयोग है। फॉक्स (1956) के अनुसार भूमि प्रयोग स्वाभाविक विशेषताओं के अनुसार भू–धरातल का यथार्थ तथा विशिष्ट उपयोग। ("Land use is the actual and specific use to which the land surface is put in term of inherent landuse characteristics") अत: प्राकृतिक रूप में जिस भू–भाग का उपयोग हो रहा हो, उस भू–भाग के लिए भूमि–प्रयोग शब्द का उपयोग करना अधिक उचित होगा।

(3) **भूमि उपयोग (Land Utilization) :** जब मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार किसी भू–भाग को काम में लेता है तो उसके लिए भूमि उपयोग शब्द का इस्तेमाल -करना अधिक उपयुक्त रहेगा। इसके अन्तर्गत मानवीय क्रियाओं का योगदान अधिक महत्वपूर्ण हो जाता है, जबकि उस भू–भाग का प्राकृतिक स्वरूप क्षीण हो जाता है। फॉक्स के अनुसार – 'Land Utilization the process of exploting the landuse that is applied to specific objectives' डी.एस.चौहान (1966) के अनुसार – प्राकृतिक वातावरण में भूमि–प्रयोग एक तात्कालिक प्रक्रिया है, जबकि भूमि उपयोग मानवीय इच्छाओं के अनुरूप अपनायी गयी दीर्घकालिक प्रक्रिया है।

इसी प्रकार सी. वैनजेटी (1972) के अनुसार - "Land Utilization is the expression of the natural and human environment which is strictly connected with physical climate and pedological conditions as well as human activity that modified those conditions to fulfill practical goals" डॉ. ब्रजभूषण सिंह के अनुसार भूमि प्रयोग शब्द का उपयोग कृषि से पूर्व की अवस्था के लिए अधिक उपयुक्त है जिसके अन्तर्गत वातावरण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता, परन्तु जब मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भूमि का लाभप्रद उपयोग अपनाता है तो उसे भूमि उपयोग कहना अधिक उपयुक्त होगा।

(4) **भूमि–संसाधन उपयोग (Land–Resource Utilization) :** भूमि–संसाधन उपयोग शब्द का प्रयोग कुछ अर्थशास्त्रियों द्वारा भूमि उपयोग के स्थान पर किया गया है। उनका विचार है कि मनुष्य जब भूमि का उपयोग अपनी इच्छाओं एवं आवश्यकताओं के अनुसार करने में कामयाब हो जाता है तो वह भूमि संसाधन के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

भूमि उपयोग की भी अन्य विषयों की भाँति कुछ विशिष्ट संकल्पनाऐं हैं, जो इसकी विषयवस्तु को स्पष्ट करती हैं । भूमि उपयोग की मुख्य संकल्पनाएं निम्नानुसार है।

(1) भूमि उपयोग की आर्थिक संकल्पना (Economic Concept of land utilization);
(2) भूमि उपयोग क्षमता की संकल्पना (concept Of Land Utilization Efficiency);
(3) सर्वोत्तम या आदर्श भूमि उपयोग की संकल्पना (Concept Of the Best or Ideal Land Utilization);
(4) तुलनात्मक लाम की संकल्पना (Concept of Comparative Advantage);
(5) क्षेत्रीय संतुलन की संकल्पना (Concept of Regional Equilibrium);
(6) दूरी की संकल्पना (Concept of Distance):
(7) भूमि उपयोग की व्यावहारिक संकल्पना (Behavioural concept of Land Utilization);

(8) भूमि उपयोग के अध्ययन में प्रत्यक्षीकरण तथा प्रतिमूर्ति की संकल्पना (Concept of Perception and Image of Land Utilization).

9.2.1 भूमि उपयोग की आर्थिक संकल्पना (Economic Concept of Land utilization)

लोगो द्वारा भूमि का उपयोग अपनी भिन्न–भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किया जाता है, किन्तु भूमि को एफ भूगोलवेत्ता भिन्न रूप में देखता है, जैसे – (1) प्रकृति (Nature), (2) क्षेत्र (Space), (3) उत्पादन के रूप में (Production Factors), (4) स्थिति (Situation), (5) उपभोग पदार्थ (Consumption Goods). (6) पूँजी (Capital), (7) सम्पत्ति (Property)., आदि के रूप में भूमि को भूगोलवेत्ताओं द्वारा क्षेत्र (Space) के रूप में देखा जाता है। क्षेत्र का 'अर्थ उसके द्वारा सामान्यतया धरातल, मृदा तथा पृथ्वी के रूप में लगाया जाता है। उसका अभिप्राय उन स्थानों से होता है जहाँ मानव द्वारा खाद्यानों का उत्पादन अपने जौवन निर्वाह के लिए किया जाता है। इस रूप में उपयोगिता की दृष्टि से भूमि आर्थिक संसाधन बन जाती है. उदाहरणार्थ आर्थिक दृष्टि से जो क्षेत्र महत्वहीन एवं अविकसित है, वे भविष्य में विकसित एवं महत्वपूर्ण हो सकते हैं। दूसरी और वर्तमान में जो क्षेत्र उपयोगिता के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण हैं, वे भविष्य में महत्वहीन हो सकते हैं। मानव जब अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भूमि को परिवर्तित और परिमार्जित करता है तो वह आर्थिक संसाधन इकाई के रूप में परिवर्तित हो जाती है। भूमि उपयोग से जनजौवन एवं आर्थिक विकास हेतु जब उत्पादक कारक के रूप में भोज्य पदार्थ, उद्योगो के लिए कच्चा माल शक्ति प्रदान करने वाले संसाधनों आदि की प्राप्ति होती है, तो उस समय वह आर्थिक संसाधन के रूप में कार्य करती है।

9.2.2 भूमि उपयोग क्षमता की संकल्पना (Concept of Land Utilization Efficiency)

भूमि संसाधन इकाई की उत्पादन क्षमता ही भूमि उपयोग क्षमता है। ऐसी भूमि की क्षमता को सर्वाधिक उपयुक्त माना जाता है, जिस इकाई क्षेत्र में उत्पादन की लागत की अपेक्षा शुद्ध लाभ की मात्रा अधिक होती है अत: भूमि उपयोग क्षमता का निर्धारण इसी शुद्ध लाभ के आधार पर किया जाता है। इसका निर्धारण सामान्यतया किसी निश्चित समय ओर उपलब्ध तकनीकी विकास के स्तर के आधार पर किया जाता है तथा इसे मुद्रा के रूप में स्पष्ट किया जाता है। प्रो. स्टेम्प ने ग्रेट–ब्रिटेन में, डाकुचायेव ने रूस में एवं डब्ल्यू. एल. पावर्स ने इराक में भूमि उपयोग क्षमता निर्धारित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है।

9.2.3 सर्वोत्तम या आदर्श भूमि उपयोग की संकल्पना (Concept of The Best or Ideal Land utilization)

सर्वोत्तम अथवा आदर्शतम भूमि उपयोग के संदर्भ में यह बात महत्वपूर्ण है कि किसी भी भूमि इकाई का अनेक रूपों में उपयोग किया जा सकता है। जो माना जाता है कि भूमि के अनेक उपयोगों में से किसी एक उपयोग का निर्धारण करते समय उपयोगकर्ता आर्थिक आय अथवा औसत आय के सिद्धान्त से प्रभावित रहता है। किसी निश्चित अवधि में भूमि इकाई से अधिकतम शुद्ध आय की प्राप्ति हो, उस रूप में ही भूमि इकाई का उपयोग हो। आदर्शतम उपयोग वही

कहलाता है जिससे सर्वाधिक आय की प्राप्ति हो अत: तुलनात्मक लाभ के सिद्धान्त के आधार पर सर्वोत्तम भूमि उपयोग की संकल्पना निर्धारित होती है।

वर्तमान वैज्ञानिक एवं तकनीकी युग में भूमि के भिन्न–भिन्न उपयोग बढ़ते जा रहे हैं। अब वैज्ञानिक विधियों द्वारा इस बात का निर्धारण किया जाता है कि किसी क्षेत्र की भूमि का किस रूप में उपयोग किया जाये। किसी निश्चित अवधि में भूमि इकाई का उपयोग इस रूप में होना चाहिये कि उस भूमि सें अधिकतम शुद्ध आय की प्राप्ति हों सके अत: आदर्शतम भूमि उपयोग की संज्ञा ऐसे उपयोग को दी जा सकती है, जिससे सर्वाधिक आय की प्राप्ति होती है।

9.2.4 तुलनात्मक लाभ की संकल्पना (Concept of Comparative Advantage)

भूमि उपयोग के अध्ययन में कृषि, भूगोलवेत्ताओ ने पिछले कुछ वर्षो में तुलनात्मक लाभ की संकल्पना को विशेष महत्ता प्रदान की है। निर्णयकर्ता तुलनात्मक लाभ के आधार पर भूमि उपयोग का निर्धारण करते है। संयुक्त राज्य अमेरिका की कपास पेटी, ब्राजील का कहवा, मलेशिया का रबड़ उत्पादन, यूक्रेन में गेहूँ, भारत की काली मृदा के क्षेत्र में कपास आदि का तुलनात्मक लाभ के आधार पर ही निर्धारण किया गया है ।

भूमि उपयोग के अन्तर्गत तुलनात्मक लाभ दो प्रकार के होते है – प्रथम प्राकृतिक तुलनात्मक लाभ (Natural Comparative Advantage) तथा द्वितीय आर्थिक तुलनात्मक लाभ (Economic Comparative Advantage) । प्राकृतिक तुलनात्मक लाभ से आशय उन प्राकृतिक कारकों से है, जिनकी सहायता से उत्पादन इकाई क्षेत्र में अधिक लाभ की प्राप्ति अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन होने से होती है । उदाहरणार्थ भूमि की उत्पादक क्षमता के कारण प्रति हेक्टेयर अधिक उत्पादन, प्राकृतिक तुलनात्मक लाभ का ही परिणाम है । दूसरी ओर उन आर्थिक कारकों के कारण जिनसे किसी भी उत्पादन इकाई में दूसरे की अपेक्षा अधिक उत्पादन होने से शुद्ध आय अधिक होती है, आर्थिक तुलनात्मक लाभ की श्रेणी में रखा जाता है ।

9.2.5 क्षेत्रीय संतुलन की संकल्पना (Concept of Regional Equilibirum)

क्षेत्रीय संतुलन की संकल्पना भूमि उपयोग के अन्तर्गत अपना विशिष्ट स्थान रखती है । किसी भी क्षेत्र में निर्णयकर्ता माँग एवं पूर्ति की स्थिति को संतुलित रखने का प्रयास करता है । वर्तमान में तीव्र आर्थिक एवं तकनीकी विकास के कारण नगरीय भागों और औद्योगिक क्षेत्रों का विकास तीव्र गति से हो रहा हे, जिसका इन क्षेत्रों के समीपस्थ स्थित भूमि पर स्पष्ट प्रभाव देखने को मिल रहा है। विशेष रूप से कृषि भूमि उपयोग के क्षेत्र इस कारण अधिक प्रभावित हो रहे हैं। अनेक स्थानों के कृषि योग्य भूमि के उर्वर भाग आवासों, सड़को, उद्योगों, नहरों आदि के उपयोग के रूप में परिवर्तित हो रहे हैं। ऐसा अनुमान है कि यदि यही स्थिति बनी रही तो अगले 20 वर्षो में पृथ्वी की सतह का एक तिहाई कृषि योग्य भू–भाग समाप्त हो जायेगी। यदि कृषि भूमि उपयोग को अन्य उपयोगों के काम में लिया जायेगा तो कृषि भूमि उपयोग में लगातार कमी होती जायेगी, इससे अन्य प्रकार के भूमि उपयोग पर दबाव बढ़ेगा, जिस कारण समस्त पारिस्थितिकीय संतुलन बिगड़ता जायेगा, जोकि मानव जगत के लिए उपयुक्त स्थिति नहीं होगी।

9.2.6 दूरी की संकल्पना (Concept of Distance)

दूरी की संकल्पना का ग्रामीण भूमि उपयोग विश्लेषण में महत्वपूर्ण स्थान है। आर्थिक इकाई के रूप में दूरी का प्रभाव भूमि उपयोग पर पड़ता है। ग्रामीण भूमि उपयोग तथा दूरी के सम्बन्धों को सर्वप्रथम जर्मन विद्वान वॉन थ्यूनेन ने सेद्धान्तिक रूप में प्रस्तुत किया। ऐसा माना जाता है कि भूमि उपयोग स्वरूप में बाजार तथा शहरी केन्द्रों से दूरी बढ़ने के साथ उत्पादकता लगता है। जैसे –जैसे खेतों की दूरी कृषकों के निवास स्थान से बढ़ती जाती है, वैसे–वैसे फसल प्रारूप में अंतर आता जाता है तथा शुद्ध लाभ की मात्रा में भी कमी होती जाती है। साथ ही भूमि इकाई की मुख्य यातायात साधनों से दूरी बढ़ने के साथ उत्पादकता और शुद्ध लाभ से भी हास होता जाता है तथा भूमि उपयोग में भी भिन्नता देखने को मिलती है अत: भूमि उपयोग को प्रभावित करने वाले अनेक आर्थिक कारकों में दूरी का महत्वपूर्ण स्थान है।

9.2.7 भूमि उपयोग की व्यावहारिक संकल्पना (Behavioural Concept of Land Utilization)

उत्पादक अथवा कृषक की परिस्थिति एवं व्यवहार से यह संकल्पना सम्बन्धित है। यहाँ पर व्यवहार का अर्थ कृषक के निर्णय से सम्बन्धित है। उत्पादक अथवा कृषक स्वयं ही निर्णय करता है। न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ प्राप्त करना कृषक का मुख्य उद्देश्य होता है, दूसरी ओर उपभोक्ता का भी यही प्रयास रहता है कि वह कम लागत पर अधिक तथा अच्छी किस्म की वस्तु प्राप्त कर सके। इस प्रकार अपने–अपने हितों एवं स्वार्थो

के लिए विविध अर्थव्यवस्थाओं में सलंग्र लोग भिन्न–भिन्न प्रकार के निर्णय लेते हैं। मनुष्य को निर्णय लेते समय विभिन्न जटिल प्रक्रियाओं से गुजरना पड़ता है, वहाँ के वातावरण के साथ अनुकूलन भी करना पड़ता है तथा उसी के आधार पर निर्णय लिये जाते है। ये पूर्ण रूपेण अनुभव पर ही निर्भर करते हैं। इस प्रकार निर्णयों की उपादेयता, उपयोगिता और व्यावहारिकता उनके लागू करने पर ही निर्भर करती है।

9.2.8 भूमि उपयोग के अध्ययन में प्रत्यक्षीकरण तथा प्रतिमूर्ति की संकल्पना (Concept of Perception and Image of Land utilization)

प्रत्यक्ष तथा प्रतिमूर्ति ज्ञान से निर्णय प्रक्रिया प्रभावित होती है और उसी के आधार पर ही निर्णयन वातावरण का निर्धारण होता है। व्यक्ति अथवा कृषक स्वयं या दूसरे व्यक्तियों द्वारा प्राप्त अनुभवों पर आधारित अर्जित जानकारी तथा बाहरी साधनों से प्राप्त ज्ञान का उपयोग भूमि उपयोग सम्बन्धी निर्णय में करता है। उसका इस प्रकार का कार्य प्रत्यक्ष रूप से अवबोध द्वारा प्रभावित होता है। उदाहरण के रूप में कहा जा सकता है कि सम्भावित मूल्यों के आधार पर कृषक को उत्पादन लेने से पहले फसलों का निर्धारण करना होता है अत: उसे यह निर्णय लेना पड़ता है कि भूमि का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किस फसल के उत्पन्न करने से होगा। इस प्रकार आयु, अनुभव, आर्थिक–सामाजिक स्तर, सक्रियता, शैक्षणिक स्तर, नवीन स्थल की जानकारी, पूर्व में लिये गये निर्णयों का प्रभाव, जोखिम उठाने का साहस, उद्देश्य आदि भी निर्णयकर्ता पर निर्भर करता हैं। भौतिक एवं आर्थिक दोनों ही दशाओं से कृषक का निर्णय प्रभावित होता है अत: मानव के व्यवहार को प्रदर्शित करने वाली निर्णयन एक जटिल प्रक्रिया है। प्रत्यक्ष तथा प्रतिमूर्ति ज्ञान से

निर्णयन के संबंध में हैगेट (1965) के विचार महत्वपूर्ण हैं–मनुष्य की निर्णय लेने सम्बन्धी प्रक्रिया न ही पूर्ण रूपेण तर्क संगत है और न ही पूर्णत: व्यवस्थित है, किन्तु यह अवसर पंसद और परिकलन की संभाव्यता सम्बन्धी सम्मिश्रण है।

उक्त सभी संकल्पनाओं के अध्ययन के पश्चात् इस बात का आभास होता है कि भूमि उपयोग का अर्थ बहुत ही विस्तृत और व्यापक है। मानवीय आवश्यकता एवं मानव सभ्यता के विकास के साथ भूमि उपयोग का स्वरूप परिवर्तित एवं परिमार्जित होता रहा है तथा होता भी रहेगा।

बोध प्रश्न1–

.1 भूमि प्रयोग कातात्पर्य है ?

....

....

.2 भूमि प्रयोग व भूमि उपयोग शब्दों में सर्वप्रथम किसने अन्तर किया ?

....

....

.3 भूमि उपयोग किसे कहते हैं ?

....

....

.4 भूमि उपयोग की मुख्य संकल्पनाएँ कितनी हे?

....

....

.5 ग्रामीण भूमि उपयोग तथा दूरी के सम्बन्धों से सम्बन्धित सिद्धान्त को सर्वप्रथम किसने प्रतिपादित किया?

....

.6..

भूमि उपयोग के अध्ययन में प्रत्यक्षीकरण तथा प्रतिमूर्ति से सम्बन्धित विचार किसके महत्वपूर्ण है?

....

....

9.3 भूमि उपयोग नियोजन के लिए भूमि वर्गीकरण (Land Classification for Landuse Planning)

विश्व के भिन्न –भिन्न भागों में वहाँ की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए, समय–समय पर विभिन्न प्रकार के भूमि वर्गीकरणों को विकसित किया गया तथा उनके द्वारा लाभ उठाया गया।

वास्तव में भूमि उपयोग सम्बन्धी अध्ययन इस शताब्दी का ही उपहार है। यद्पि मानव प्राचीन काल से ही पृथ्वी पर उपलब्ध भूमि उपयोग से जुड़ा रहा है। तथा उससे उसकी विभिन्न गतिविधियाँ भी प्रभावित रही हैं मनुष्य ने प्रारम्भ से ही उसी के अनुरूप अपनी गतिविधियो को भी संचालित किया है किन्तु इस परिवर्तन की प्रक्रिया में मनुष्य स्वयं भी प्रभावित हु आ है। दूसरे शब्दों में स्वयं उसके क्रियाकलापों में उसके द्वारा किये गये भूमि उपयोग के माध्यम से परिवर्तन आया है।

भूमि के वर्गीकरण से आशय मुख्य रूप से यही है कि भूमि के गुणों के अनुसार विशेष उद्देश्यों के लिए किया गया वर्गीकरण ही भूमि वर्गीकरण कहलाता है। सामान्यतया सकल कृषि क्रियाकलापों के विकस में कृषि हेतु किया गया भूमि वर्गीकरण सहायक सिद्ध होता है, किन्तु भूमि का मूल्यांकन एक ही उघम के लिए भी किया जा सकता है। इनके परिणामों के आधार पर मानचित्रों का निर्माण किया जाता है, जिनका उपयोग कृषि नियोजन सम्बन्धी विविध कार्यो के लिए किया जाता है।

भूमि उपयोग वर्गीकरण के सामान्त: दो मुख्य घटक है:

1. भूमि की धारण 'क्षमता – इसके अन्तर्गत मुख्य रूप से भूमि के विभिन्न भौतिक गुणों के मूल्यांकन के आधार पर भूमि की कृषि संबंधी उत्पादन क्षमता का निर्धारण किया जाता है। भूमि के जो भौतिक गुण होते हैं, वे अपरिवर्तनशील. होते है। मृदा की मूल सामग्री, वर्षा. तापक्रम, मृदा के कण, संरचना व उसमें निहित ह्यूमस, जलधारण क्षमता जैसे भूमि के स्वाभाविक गुणों पर आधारित होते हैं। इनमें परिवर्तन सामान्यत: लघु अवधि में नही होकर दीर्घावधि में होता है ।

   इसके अतिरिक्त आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियों, सिंचाई के साधनों की उपलब्धता, फार्म–संरचना, अपेक्षाकृत श्रम में लागत–मूल्य, तकनीकी स्तर, पूँजी तथा मूल्यों में स्थायित्व के आधार पर किसी क्षेत्र में भूमि के गुणों का मूल्यांकन किया जाता है।

2. भूमि के उपयोग की विधि जानने के अलावा भूमि उपयोग के अनुसंधान एवं सर्वेक्षण का मुख्य लक्ष्य यह रहता है कि भूमि का पूर्व में किस प्रकार का उपयोग होता रहा है। इस प्रकार के अध्ययन में हमारा लक्ष्य केवल यही नहीं होना चाहिये कि अतीत काल से उस भूमि का उपयोग क्या रहा है, अपितु लक्ष्य यह भी होना चाहिये कि वर्तमान में स्थित भूमि के उपयोग को बदलकर उसे किस प्रकार लाभप्रद एवं रख उपयोगी बनाया जा सकता है। भूमि उपयोग सर्वेक्षण के माध्यम द्वारा ही यह ज्ञात करना होता है। उपयोग के उन दोषों का निराकरण किस प्रकार किया जाये तथा उसका दुरूपयोग कैसे रोका जा सकता है और भूमि उपयोग में सुधार अब तक किये गये परीक्षणों एवं विश्लेषणें से प्राप्त ज्ञान के आधार पर किस तरह किया जा सकता है। एक ऐसी योजना बनाना जिसके आधार पर भविष्य में भूमि उपयोग को विस्तृत आधार प्रदान किया जा सके, यही भूमि उपयोग के अध्ययन का अंतिम लक्ष्य होना चाहिये अत: किसी भी देश में भूमि उपयोग सम्बन्धी योजना एवं कार्यक्रम का उद्देश्य राष्ट्रीय समृद्धि और व्यक्तिगत लाभ प्रदान करने के साथ ही उस देश के लोगों एवं पारिस्थितिकी के अनुकूल होना चाहिये। भूमि उपयोग के प्रकारों एवं शस्य–स्वरूप में संतुलन कृषि भूमि उपयोग के शोध का मुख्य लक्ष्य हो, जिससे सुविधापूर्वक यह निर्णय लिया जा

सके कि भूमि के किस टुकड़े का उपयोगी किस रूप में किया जाना उपयोगी एवं लाभप्रद रहेगा।

जितना प्राचीन सम्बन्ध हमारा कृषि सम्बन्धी कार्य से रहा है, उतना ही प्राचीन–इतिहास विश्व के भूमि उपयोग सर्वेक्षण का भी है। भूमि उपयोग सम्बन्धी क्रमबद्ध ज्ञान हतें, तभी से देखने को मिलता है, जब से भूमि से लगान अथवा राजस्व (Revenue) की प्राप्ति प्रारम्भ हुई। भूमि उपयोग के विभिन्न सर्वेक्षणों तथा अध्ययन सम्बन्धी तकनीकी ज्ञान के विकास में जौ.पी. मार्श, कार्ल आ सॉवर (1919); डब्ल्यू डी. जोन्स एवं वी.सी. फिन्च (1925) आदि विद्वानों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। उक्त विद्वानों ने आर्थिक भूगोल (Economic geography) नामक पत्रिका में अपने लेख प्रकाशित करवाकर भूमि उपयोग सम्बन्धी अध्ययन की आधारशिला रखने का कार्य किया है ।

9.3.1 विश्व में भूमि उपयोग सर्वेक्षण (Land Utilization Survey in the world)

1920 से 1930 के मध्य का काल इस दृष्टि से ऐतिहासिक था, जब बड़ी मापनी पर विभिन्न क्षेत्रों के स्थलाकृतिक मानचित्र उपलब्ध हुए तथा विभिन्न क्षेत्रों के फोटोचित्र मानचित्रों की आवश्यकता सम्बन्धी पूर्ति करते थे। एल.डी. स्टाम्प तथा बक जैसे विद्वानों द्वारा भूमि उपयोग सम्बन्धी विस्तृत योजना का कार्य किया गया। भूमि उपयोग के अध्ययन एवं नियोजन, क्रमबद्ध एवं वैज्ञानिक स्वरूप को समझने में इस क्षेत्र में उनके द्वारा किये गये अथक प्रयासों से विशेष सहायता मिली।

(i). ब्रिटिश पद्धति को भूमि उपयोग की प्रथम वैज्ञानिक पद्धति के रूप में माना जाता है। इस पद्धति को एल.डी. स्टाम्प के निर्देशन में विकसित किया गया। स्टेम्प के निर्देशन में किया गया भूमि उपयोग का सर्वेक्षण 1931 से प्रारम्भ होकर 1939 में समाप्त हुआ। उनके द्वारा सर्वेक्षण का कार्य छः इंच बराबर एक मील वाले मापक के आर्डिनेन्स मानचित्रों के आधार पर लगभग 22000 स्वयंसेवी शिक्षकों और विद्यार्थियों के सहयोग से पूर्ण किया गया। 1948 में एक पुस्तक "The Land of Britain : Its Use and Misuse" के रूप में इस भूमि उपयोग सर्वेक्षण की प्रथम रिपोर्ट प्रकाशित हुई।

इस पुस्तक में स्टेम्प ने भूमि उपयोग सम्बन्धी विविध मानचित्रों को जिनमें अनेक रंगों द्वारा भूमि का विभाजन किया था, प्रकाशित कराया था। स्टॉम्प ने ब्रिटेन के भूमि उपयोग सर्वेक्षण के क्षेत्रों का विभिन्न रूपों में विभाजन प्रस्तुत किया। उनके भूमि उपयोग वर्गीकरण की मुख्य किस्में कृष्य भूमि (Arable Land); स्थायी चारागाह एवं मिडो भूमियाँ (Permanent Pastures Medow Lands); अस्थाई चरागाह, ऊबड़–खाबड़ पहाड़ी, हीथलैण्ड व मूरलैण्ड (Rough hills, Pastures, Heathland, Moor land, Nurseries); वन एवं काष्ठ भूमि (Forest and Wood land) फल बागान, उघान एवं नर्सरी (Gardens, Orchards land, Nurseries); कृषि के लिए अनुत्पादक भूमि (Land Agriculturally Unproductive); विशिष्ट भूमियाँ (Special Land) को विभिन्न रंगों जैसे क्रमश: गहरा भूरा हल्का हरा, पीला, गहरा 'हरा, बैंगनी, लाल, नीले आदि रंगों द्वारा प्रदर्शित किया गया है । कृषि नियोजन सम्बन्धी कार्य के लिए इस भूमि उपयोग सर्वेक्षण के माध्यम से महत्वपूर्ण सहायता प्राप्त हुई तथा वर्तमान में भूमि का उपयोग किस श्रेणी के अन्तर्गत किया जा रहा

है, इसकी जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता बढ़ी। कुछ समय पश्चात इस बात की आवश्यकता महसूस हुई कि पूर्व में ब्रिटेन की भूमि उपयोग सम्बन्धी किया गया सर्वेक्षण पुराना हो गया है, अत: पुन: ब्रिटेन का द्वितीय भूमि उपयोग सर्वेक्षण कराया जाये।

इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए किंग्स कॉलेज, लन्दन की एलिस कोलमैन (Alice Coleman) के निर्देशन में 1960 में ब्रिटेन की द्वितीय भूमि उपयोग का सर्वेक्षण प्रारम्भ किया गया। इस सर्वेक्षण में व्याख्यात्मक साहित्य सहित मानचित्रों का नवीनक्रम प्रस्तुत किया गया जो अधिक उपयोगी एवं महत्वपूर्ण था। इन मानचित्रों का मापक 1:25000 था तथा कोलमैन ने ब्रिटेन के भूमि उपयोग के विभाजन के लिए 13 प्रमुख वर्ग अपनाये, जिन्हें भूमि के प्रकारो की संख्याओं द्वारा प्रदर्शित किया गया। इसके भूमि उपयोग के प्रकार और रंग निम्नानुसार थे – (1) कृष्य भूमि–हल्का भूरा; (2) घास क्षेत्र–हल्का हरा; (3) काष्ठ भूमि–गहरा हरा; (4) फलों के बगीचे–बैंगनी धारियाँ; (5) विपणि उद्यान–बैंगनी; (6) रूक्ष एवं हीथ भूमि– पीला (7) अधिवास–कत्थई; (8) उद्योग–लाल; (9) परिवहन–संतरी (10) खुला स्थान–चूना हरा; (11) परित्यक्त भूमि –काली धारियाँ; (12) जल एवं दलदल–हल्का नीला; (13) वनस्पति रहित भूमि –सफेद। उक्त भूमि उपयोग सर्वेक्षण के अन्तर्गत कुछ भूमि उपयोग के प्रकारों के अलावा शेष सभी प्रकारों के उप–विभाग भी किये गये थे।

(ii). पोलैण्ड के भूगोलवेत्ताओं का भूमि उपयोग सर्वेक्षण सम्बन्धी विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पोलिश भूगोलवेत्ताओं द्वारा विश्व के सभी देशों को भूमि उपयोग सर्वेक्षण के क्षेत्र में नेतृत्व प्रदान कर एक नया मार्ग प्रशस्त किया। उनके द्वारा वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पद्धतियों को भूमि उपयोग सम्बन्धी सर्वेक्षणों में महता प्रदान की गयी क्योंकि दोनों उद्देश्यों को पृथक नहीं किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय भूगोल संघ (International Geographical Union - I.G.U) के तत्वावधान में पोलिश भूमि उपयोग सर्वेक्षण सम्बन्धी अभियान प्रारम्भ हुआ। इसके माध्यम से विभिन्न संगोष्ठियों, बैठकों, सम्मेलनों आदि का समायोजन कर इसकी विषय–वस्तु को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करके कार्य प्रणाली का निर्माण किया गया । 1947 में जिवोन्सकी के निर्देशन में 1 : 25000 की मापनी पर मानचित्रों का निर्माण प्रारम्भ किया गया। तत्पश्चात् 1956 में कोस्ट्रोविस्की के निर्देशन में इस कार्य को आगे बढ़ाया गया।

कोस्ट्रोविस्की की आई.जौ.यू. अध्यक्षता मे 1964 में कृषि प्रकारिकी आयोग (Commission of Agricultural Typology) का गठन किया गया। इस प्रकार इन्होंने भूमि उपयोग सम्बन्धी अध्ययनों में महत्वपूर्ण कार्य का महान योगदान दिया। कृषि प्रकारो को सुनिश्चित करने तथा कृषि प्रदेशों को निर्धारित करने में कृषि प्रकारिकी द्वारा बहुत सहायता मिली। कृषि प्रकारिकी के आधार पर विश्व के सभी क्षेत्रों का सर्वेक्षण करने के पश्चात् कृषि प्रदेशों को सीमांकित करने का कार्य किया जा सकता है। कृषि योजनाओं की दृष्टि से पोलैण्ड में भूमि उपयोग सर्वेक्षण सम्बन्धी कार्य बहुत ही उपयोगी एवं महत्वपूर्ण रहा है। इस प्रकार के भूमि उपयोग सम्बन्धी अध्ययनों का प्रकाशन वहाँ की विख्यात शोध पत्रिका ज्योग्राफिया पोलोनिका में लगातार होता रहा है।

(iii). कृषि नियोजन का आधार बनाने के लिए संयुक्त अमेरिका ने भूमि क्षमता सर्वेक्षण का कार्य प्रारम्भ किया गया। 1930 के पश्चात् जब यह महसूस किया गया कि संयुक्त राज्य अमेरिका

का बहुत बड़ा भू–भाग उचित भूमि उपयोग के अभाव में नष्ट हो रहा है। भू–क्षरण, मृदा के प्रकार, धरातलीय ढाल, नवीन भूमि की पद्धतियों आदि के अनुसार सघन सर्वेक्षणों के आधार पर इस हानि से बचने के लिए भूमि उपयोग संरक्षण सेवाओं ने देश के विभिन्न भागों के विस्तृत भूमि उपयोग मानचित्रों की एक श्रृंखला का निर्माण किया। वहाँ पर भूमि क्षमता सर्वेक्षण के सम्बन्ध में दो सिद्धान्त काम में लिये गये– (1) किस प्रकार के उपयोग के लिए भूमि अधिक उपयुक्त है, तथा (2) इस भूमि खण्ड की अन्य भूमि खण्डों की अपेक्षा उत्पादकता की क्या सम्भावनाएं है?

संयुक्त राज्य अमेरिका में तीन मुख्य क्षेत्रों–टेनिसी घाटी, मिशिगन क्षेत्र एवं प्यूरोटोरिकों को भूमि उपयोग सर्वेक्षण के लिए चुना गया, जिनके उद्देश्य भिन्न–भिन्न थे। टैनिसी घाटी का सर्वेक्षण अधिक विस्तृत तथा भिन्नात्मक विधि (Fractional Code) द्वारा किया गया था जिसमें अध्ययन की इकाई के रूप में जिला स्तर को लिया गया था। भूमि के गुणों एवं विशेषताओं के आधार पर क्षेत्र का मूल्यांकन किया गया। मिशीगन क्षेत्र का अध्ययन आर्थिक नियोजन के रूप में किया गया। 1932 में आर्थिक नियोजन हेतु इस क्षेत्र का सर्वेक्षण कार्य प्रारम्भ किया गया। इस सर्वेक्षण में कृषि भूमि क्षमता के अध्ययन के लिए विभिन्न भौगोलिक कारकों को दृष्टिगत रखते हुए सम्बन्धित मानचित्रों का भी निर्माण किया गया। इसी प्रकार प्यूरोटोरिकों क्षेत्र का भूमि उपयोग सर्वेक्षण ग्रामीण भूमि उपयोग वर्गीकरण तथा बस्तियों के रूप में कृषि भूमि की क्षमता एवं वर्गीकरण का निर्धारण किया गया।

(iv). चीन में सर्वप्रथम जॉन लासिंग बक (John Lossing Buck) ने ओ.ई. बेकर (O.E Baker) द्वारा प्रचलित एवं उपयोग में ली गयी कृषि भूमि उपयोग सर्वेक्षण पद्धति को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। बक के सर्वेक्षण का उद्देश्य चीन में कृषि सम्बन्धी कार्य के लिए सुलभ ज्ञान प्राप्त करना था जिसके द्वारा राष्ट्रीय कृषि नीति के लिए आधार तैयार किया जा सके। साथ ही उन्होंने सर्वेक्षण सम्बन्धी कार्य तीन प्रमुख उद्देश्यों को लेकर प्रारम्भ किया, जैसे :

(1) चीन की कृषि सम्बन्धी वास्तविकता से अवगत होना;
(2) विद्यार्थियों को भूमि उपयोग की तकनीकों के बारे में प्रशिक्षित करना; तथा
(3) चीन की जनसंख्या एवं खाद्यान्न सामग्री की उपलब्धता आदि के सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति ज्ञान कर भूमि उपयोग सर्वेक्षण के माध्यम से समाधान खोजना।

प्रतिदर्श पद्धति का इस भूमि उपयोग सर्वेक्षण में उपयोग करते हुए प्रादेशिक स्तर पर शोधकर्ताओं को नियुक्त किया गया तथा स्थानीय कार्यकर्ताओं का भी सहयोग प्राप्त किया गया। इस प्रकार के सर्वेक्षण का कार्य चीन में अपने आप में एक विलक्षण प्रकार का तथा महत्वपूर्ण था, जिसके लिए राष्ट्रीय योजनाएं देश के विकास के लिए प्रस्तावित की गयी।

(v). के.वी. ज्वोरिकीन (K.V. Zvorikin) के निर्देशन में रूप में भूमि उपयोग सर्वेक्षण सम्बन्धी कार्य किया गया। इनके द्वारा भूमि की क्षमता का मौद्रिक भाषा में देश के अलग–अलग क्षेत्रों में मूल्यांकन किया गया। मानचित्रण सम्बन्धी कार्य भूमि के भौतिक गुणों तथा कृषि पद्धति के आधार पर किया गया। रूस के भूमि उपयोग सर्वेक्षण में निम्न संकेतांको का उपयोग किया गया – (1) उच्चावच और ढाल, (2) मृदा के प्रकार, (3) भूमि उपयोग का स्वरूप, (4) वनस्पति, (5) भूमि जोत की दशायें, (6) जल–स्तर की स्थिति। उक्त सभी तत्वों के आधार पर निरीक्षण करते हुए भूमि उपयोग संबंधी मानचित्रों का निर्माण किया गया। इसमें मुख्य

रूप से पिछले वर्षो में शस्यावर्तन, फसलों के बोने का ढंग, सिंचाई, पानी का निकास, वेदिका निर्माण आदि को सम्मिलित किया गया है। फसलों की पैदावार संबंधी आँकड़ों को एकत्रित कर उनका विश्लेषण किया गया है। भूमि के लक्षणों का वर्णन भी भूमि उपयोग सर्वेक्षण की रूसी पद्धति में किया जाता है। जिससे उर्वरता तथा भावी उपयोग के सम्बन्ध में जानकारी मिल जाती है। यथार्थ भूमि उपयोग की जानकारी प्राप्त करना रूसी भूमि उपयोग सर्वेक्षण का महत्वपूर्ण कार्य था। इन सबसे प्राप्त विभिन्न निष्कर्षो के आधार पर भूमि के विभिन्न प्रकारों का निर्धारण किया जाता है। अत: कहा जा सकता है कि रूस की आर्थिक स्थिति को मजबूती प्रदान करने में ज्वोरिकीन के निर्देशन में किया गया रूस का भूमि उपयोग सर्वेक्षण बहुत ही सहायक सिद्ध हुआ है।

9.3.2 भारत में भूमि उपयोग सर्वेक्षण (Land Utilization Survey in India)

पूरे भारतवर्ष में भूमि उपयोग सर्वेक्षण और फसल उत्पादन आंकलन की योजना भारत सरकार के प्रतिदर्श सर्वेक्षण निदेशालय द्वारा 1951 से प्रतिदर्श विधि द्वारा चलायी जा रही है। इसके माध्यम से देश में रबी एवं खरीफ फसलों के मुख्य अनाजों के पूरे उत्पादन का आंकलन किया जाता है। भारतीय भूगोवेत्ताओं द्वारा भी देश में भूमि उपयोग सर्वेक्षण का कार्य किया गया है जो ब्रिटेन में स्टॉम्प द्वारा काम में ली गयी भूमि उपयोग सर्वेक्षण सम्बन्धी पद्धति से प्रेरित है। भारत में भी विश्व के अन्य देशों की भाँति कृषि क्षमता, कृषि गहनता, कृषि उत्पादकता, कृषि कुशलता आदि भूमि उपयोग सम्बन्धी विविध पक्षों पर अनेक लेख प्रकाशित हुए है।

एस.पी. चटर्जी (1945 – 1952) द्वारा पश्चिमी बंगाल के चौबीस परगना और हावड़ा जिलों में देश में सर्वप्रथम भूमि उपयोग सर्वेक्षण एवं शोध कार्य का प्रारम्भ किया । चटर्जी द्वारा किया गया यह कार्य हमारे लिए एक आदर्श बन गया । गोदावरी नदी क्षेत्र में भूमि उपयोग सम्बन्धी शोध आधारित सर्वेक्षण एवं विवेचनात्मक अध्ययन वी.एल.एस. प्रकाशराव (1947 – 1956) द्वारा किया गया। जालन्धर जिले के पूर्वी भाग में भूमि समस्या का विस्तारपूर्वक अध्ययन तथा व्यास एवं सतलज नदियों के दोआब क्षेत्र में भूमि उपयोग का विस्तृत अध्ययन ओपी भारद्वाज द्वारा किया गया । एम. शफी द्वारा 1963 में पूर्वी उत्तर प्रदेश का भूमि उपयोग सम्बन्धी महत्वपूर्ण एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया। भारत में भूमि उपयोग सम्बन्धी शोध कार्य उक्त भूगोलवेत्ताओं द्वारा किया गया है। वह न केवल सराहनीय और प्रेरणास्पद है, बल्कि नये शोधार्थियों एवं सर्वेक्षकों के लिए नए मार्गो एवं नई दिशाओं में कार्य करने के लिए प्रेरणा का स्रोत बना है ।

देश के अन्य भूगोलवेत्ताओं द्वारा भी बाद में इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया गया, जिसमें भाटिया एवं माजिद हुसेन द्वारा किया गया कार्य विशेष रूप से शस्य संयोजन एवं विश्लेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। जसबीर सिंह तथा पी एस. तिवारी द्वारा भूमि उपयोग के क्षेत्र में प्रकाशित कृषि मानचित्रावली भी शोधकर्ताओं और अध्ययनकर्ताओं के लिए विशेष उपयोगी है। इसके अतिरिक्त गांगुली, मुनिसरजा, आर.पी. मिश्र, अय्यर, सिद्दीकी रफी उल्लाह, गुप्ता आदि के कार्य भी सराहनीय है। इन सभी भूगोलवेत्ताओं ने भूमि उपयोग के विभिन्न पक्षों का अपने शोध प्रबंधों अथवा शोध लेखों के माध्यम से महत्वपूर्ण अध्ययन तथा विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वर्तमान में देश में भूमि उपयोग सम्बन्धी शोध एवं सर्वेक्षण कार्यो के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

(यू.जौ.सी.), आई सी.एस.एस.आर., भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् आदि राष्ट्रीय संस्थाओं द्वारा आर्थिक सहयोग प्रदान कर इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य करने हेतु प्रोत्साहित किये जाने का प्रयास किया जा रहा है।

बोध प्रश्न–2

1. ब्रिटेन में भूमि उपयोग की प्रथम वैज्ञानिक पद्धति किसने विकसित की ?

   ……………………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………………

2. ब्रिटेन का भूमि उपयोग सर्वेक्षण कब आरम्भ हुआ ?

   ……………………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………………

3. द्वितीय भूमि उपयोग सर्वेक्षण किसके निर्देशन में आरम्भ किया ?

   ……………………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………………

4. द्वितीय भूमि उपयोग सर्वेक्षण कौन से वर्ष में प्रारम्भ किया ?

   ……………………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………………

5. एलिस कोलमैन ने भूमि उपयोग सर्वेक्षण के लिए भूमि उपयोग के कितने मुख्य वर्ग बनाये ?

   ……………………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………………

6. कृषि प्रकारिकी आयोग का गठन कब किया गया ?

   ……………………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………………

7. कृषि प्रकारिकी आयोग (1964) के अध्यक्ष कौन थे ?

   ……………………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………………

8. जे. एल. वक्र ने कौन से देश में भूमि उपयोग सम्बन्धी कार्य किया ?

   ……………………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………………

9.4 भूमि क्षमता वर्गीकरण के लिए पारिस्थितिकीय उपागम (Ecological Approach to Land Capability Classification)

भूमि वर्गीकरण के लिए भूमि की उत्पादन क्षमता या उपयुक्तता की मात्रा एक महत्वपूर्ण पक्ष है। इसका निर्धारण करने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि की दृष्टि से भूमि कितनी उपयोगी है, इस बात का मूल्यांकन किया जा सके। प्राकृतिक पर्यावरणीय कारकों पर भू–उत्पादन की जाँच मुख्य रूप से आधारित है। मृदा का गठन या कण आकार, भूमि का ढाल, मृदा की संरचना, वर्षा, तापमान, जल का प्रवाह एवं उपलब्धि आदि को दृष्टिगत रखते हुए भू–क्षमता की दृष्टि से भूमि का वर्गीकरण किया जाता है। भिन्न–भिन्न फसलों को उत्पन्न करने की क्षमता विभिन्न प्रकार की मृदाओं में होती है। मृदा में भू–क्षमता सम्बन्धी कुछ प्राकृतिक गुण मुख्य रूप से पाये जाते हैं, जो कतिपय फसलों के उत्पादन में विशेषरूप से सहायक तथा निर्धारक होते हैं।

भूमि के विभिन्न अनुकूलित उपयोगों को निर्धारित करने के लिए भूमि उपयोग क्षमता या संभाव्यता वर्गीकरण भूमि को विभाजित करने ढंग है। भूमि से उपयोग से वर्तमान में अधिकतम लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से ही ऐसा विभाजन किया जाता है। इसके अन्तर्गत मृदा के अतिरिक्त भू–प्रबंध, भूमि की भौतिक विशेषताओं आदि को भी दृष्टिगत रखा जाता है। जे.एच. स्टैलिंग के अनुसार मृदा संरक्षण के लिए महत्वपूर्ण मृदा कारकों को व्यवस्थित करने में भूमि उपयोग क्षमता विभाजन से मदद मिलती है। (Landuse capability classification help to organise soil factors for conservation).

किसी इकाई क्षेत्र में भूमि की उत्पादन क्षमता ही भूमि क्षमता है। भूमि की क्षमता उत्तम तब ही मानी जाती है जब शुद्ध लाभ उत्पादन लागत की अपेक्षा अधिक होता है। भूमि क्षमता का इसी शुद्ध लाभ के आधार पर निर्धारण किया जा सकता है । किसी भी क्षेत्र की भूमि की कृषि क्षमता समस्याग्रस्त क्षेत्र, जैव रासायनिक तकनीकों के प्रति उसकी अनुक्रिया, कृषि पद्धतियों के बारे में जानकारी आदि भूमि क्षमता मानचित्र से प्राप्त की जा सकती है। इसकी सहायता से परिवर्तनशील कृषि तकनीक एवं पर्यावरण के अनुसार फसल की अनुकूलता के अनुरूप तर्कसंगत भूमि उपयोग तथा फसल प्रारूप विकसित किया जा सकता है, इसी कारण इस वर्गीकरण की अत्यधिक व्यावहारिक उपयोगिता है। कृषि नियोजन हेतु कार्यक्रमों में भूमि क्षमता वर्गीकरण मानचित्रों की किसी भी क्षेत्र के लिए प्रमुख भूमिका रहती है। भूमि को उसके निरंतर एवं बहुउपयोग के कारण उत्पन्न उर्वरा ह्यास से बचाया जा सके (ताकि मृदाएं भविष्य में कृषि कार्य के लिए उपयोगी रहें) यह भी भूमि उपयोग क्षमता वर्गीकरण का एक अन्य उद्देश्य है । पिछले कुछ दशकों में विश्व के कुछ देशों के विद्वानों ने वहां की भौतिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए भिन्न–भिन्न भूमि क्षमता वर्गीकरण की पद्धतियों को काम में लिया है। इस क्षेत्र में संयुक्त अमेरिका और ब्रिटेन के विद्वानों द्वारा किये गये कार्य महत्वपूर्ण रहे हैं।

9.4.1 भूमि वर्गीकरण में अमेरिकन पद्धति (American Pattern of Land Classificatin)

संयुक्त राज्य अमेरिका के कृषि विभाग के निर्देशन में संचालित राष्ट्रीय मृदा संरक्षण सेवा (National Soil Conservarion Service) द्वारा भूमि उपयोग क्षमता का वर्गीकरण किया गया है। जिसके मुख्य उद्देश्य ये हैं :

(i). अनुकूलतम भूमि उपयोग क्षमता को प्रति एकड़ भूमि उत्पादन से निर्धारित करना,

(ii). विभिन्न इकाईयों के लिए संरक्षण फार्म प्रयोजना भूमि क्षमता वर्गीकरण के आधार पर निर्मित करना, एवं

(iii). मृदा सम्बन्धी हास को रोककर उसकी उत्पादकता में बढ़ोतरी करना।

संयुक्त राज्य अमेरिका के कृषि विभाग द्वारा किये गये भूमि क्षमता वर्गीकरण के अन्तर्गत दो प्रमुख वर्ग तथा आठ उपवर्ग हैं :

(1) कृषि सम्बन्धी कार्य के लिए उपयुक्त भूमि (Land Suitable for Agriculture)

(i). ऐसी अति उत्तम भूमि, जिन्हें साधारण कृषि विधियों के माध्यम से बिना हानि पहुंचाये जोता जाता है।

(ii). उत्तम भूमि और उसके उपयोग में सामान्य कमियाँ।

(iii). साधारण उत्तम भूमि जिसके उपयोग में कुछ बाधायें हैं। इसे नियमित रूप से जोतने योग्य, अपरदन के प्रति सचेत रहने पर बनाया जा सकता है।

(iv). ऐसी खराब भूमि जिसके उपयोग में अनेक बाधायें है, पाँच अथवा छः वर्षो का शस्यावर्तन (Crop–Rotation) इसके लिए आवश्यक है।

(2) कृषि सम्बन्धी कार्य के लिए अनुपयुक्त भूमि (Land not Suitable for agriculture)

(v). ऐसी भूमि जो नम, पथरीलीयुक्त अन्य कारणों से जिस पर कृषि करना संभव न हो, किन्तु जो लगभग समतल हो । कुछ सीमितताओं के साथ ऐसी भूमि का वृक्षारोपण एवं पशुचारण कार्य में उपयोग करना उचित रहता है ।

(vi). खड़े ढाल वाली, ऊबड़–खाबड़, शुष्क, तर आदि भूमि जो खेती के लिए अनुपरक्त होती है। चरागाहों, वृक्ष फसलों आदि के लिए इस प्रकार की भूमि का उपयोग किया जा सकता है।

(vii). चराई अथवा वृक्षारोपण, कठोर सीमाओं या भयंकर अपरदन संकट के कारण इस भूमि उपयोग का प्रमुख लक्षण 'है । इसमें मृदाएँ बहुत उथली होती हैं, जो प्राय: अपरदित हो जाती है । इन क्षेत्रों में वृक्षारोपण सम्बन्धी कार्य को पसंद किया जाता है।

(viii). दलदल, मरूस्थल, बीहड़ भूमि, उच्च पर्वतों आदि को भूमि की इस श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है। वृक्षारोपण, चराई एवं कृषि के लिए यह भूमि अनुपयुक्त होती है।

9.4.2 भूमि वर्गीकरण की ब्रिटिश पद्धति (British Pattern of Land Classification)

1931–1939 में ग्रेट ब्रिटेन में स्टेम्प के निर्देशन में बड़े पैमाने पर भूमि उपयोग मानचित्र तैयार किये गये। भूमि क्षमता तथा पैतृक उर्वरता पर यह वर्गीकरण आधारित है। द्वितीय विश्वयुद्ध काल के समय तब की आवश्यकताओं की पूर्ति ब्रिटेन में भूमि क्षमता सम्बन्धी मानचित्र बनाने में भूमि उपयोग सर्वेक्षण का महत्वपूर्ण योगदान था। उस समय की मांग भूमि के ऐसे सरल वर्गीकरण के निर्माण की थी जिसे राष्ट्रीय योजना के लिए आधार के रूप में काम में लिया जा सके। जहां तक

संभव हो उत्तम कृषि पर भवन–निर्माण सम्बन्धी कार्य न हो, इसका मुख्य उद्देश्य यही था। इस वर्गीकरण की निम्न मुख्य श्रेणियाँ हैं :

(1) **पहला प्रमुख वर्ग–उत्तम गुणवत्ता युक्त भूमि** :उत्तम प्रबंध के द्वारा उच्च उत्पादकता भूमि की इस श्रेणी से प्राप्त होती है, जिसके प्रमुख लक्षण हैं :
भूमि अधिक उत्थिर न हो, समतल, मन्द ढाल, सूर्यानुकूल अभिमुखता, मृदा गहरी, जल की अनुकूल दशायें, मृदा का गठन अधिकतम दोमट आदि।

(2) **द्वितीय प्रमुख वर्ग–मध्यम गुणवत्ता युक्त भूमि :** इस श्रेणी में भूमि उत्तम प्रबंध के बावजूद मध्यम गुणवत्ता वाली होती है। जिसके प्रमुख लक्षण हैं : भूमि उच्च उत्थित, ढलुवाँ, प्रतिकूल सूर्य अभिमुखता, मृदा उथली तथा दोषपूर्ण जल दशायें।

(3) **तीसरा प्रमुख वर्ग–निम्न गुणवत्ता युक्त भूमि :** भूमि की स्थिति एवं मृदा सम्बन्धी कारकों के प्रतिकूल प्रभावों के कारण इस श्रेणी की भूमि की उत्पादकता निम्न स्तरीय होती है।

ब्रिटेन की भूमि को स्टॉम्प ने 10 भूमि क्षमता वर्गो में रखा हैं :

1–A	:	प्रथम श्रेणी की जोतने योग्य भूमि
2–A	:	अच्छी जुताई योग्य भूमि
3–G	:	प्रथम श्रेणी की घास भूमि
4–G	:	अच्छी घास भूमि
5–G	:	निम्न भूमि और मौलिक चरागाह भूमि
6–G	:	मध्यम श्रेणी की घास भूमि
7–G	:	निम्न गुणवत्ता वाली भारी भूमि
8–H	:	निम्न गुणवत्ता वाली पर्वतीय भूमि
9–H	:	निम्न गुणवत्ता वाली हल्की भूमि
10–H	:	अति निम्न भूमि

संपूर्ण ब्रिटेन के मानचित्रों को तैयार करने में उक्त तीन प्रमुख वर्गो को 10 उपवर्गो में विभाजित करने की विधि में उपयोग किया गया। किसी भी क्षेत्र की भूमि क्षमता वर्गीकरण के बाद वहाँ उत्पन्न की जाने वाली कृषि तथा मृदा संरक्षण का अध्ययन करना आसान हो जाता है। निम्न तथ्यों को एक सुदृढ़ भूमि उपयोग नियोजन के लिए ध्यान में रखना आवश्यक होता है। जैसे– (1) भूमि का मुख्य उपयोग, (2) फसल पद्धति, (3) खेती करने का ढंग, (4) संकट से सुरक्षा, (5) जल का उचित उपयोग एवं निकास, तथा (6) भूमि की उर्वरा शक्ति।

बोध प्रश्न–3

1. अमेरिकन पद्धति में भूमि को मुख्यत: कितने वर्गो में वर्गीकृत किया ?
....
....

2. अमेरिकन पद्धति में भूमि को कितने उपवर्गो में विभाजित किया ?
....
....

3. डडले स्टेम्प ने ब्रिटेन की भूमि को मुख्यत: कितने वर्गो में वर्गीकृत किया ?

……………………………………………………………………………………

……………………………………………………………………………………

4. स्टेम्प ने ब्रिटेन को कितने उपवर्गो में बाँटा है ?

……………………………………………………………………………………

……………………………………………………………………………………

9.5 सारांश (Summary)

इस इकाई में भूमि उपयोग सम्बन्धी विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। इकाई को मुख्य रूप से चार भागो में विभाजित किया गया है। किसी भी प्रकार के भौगोलिक अध्ययन में भूमि उपयोग सम्बन्धी अध्ययन एक महत्वपूर्ण पक्ष है। भूमि उपयोग सम्बन्धी विभिन्न एवं विविध मानचित्र किसी भी क्षेत्र के प्रादेशिक नियोजन एवं विकास से जुड़े कार्यो के लिए महत्वपूर्ण उपकरण के रूप में काम करते हैं। भौगोलिक अध्ययन का मुख्य पक्ष होने के कारण भूमि उपयोग के भौगोलिक अध्ययन के लिए इसकी आधारभूत संकल्पनाओं का सही–सही ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। भिन्न–भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु भूमि का भिन्न–भिन्न लोगों द्वारा उपयोग किया जाता है। भूमि उपयोग की विभिन्न संकल्पनाओं का विशद् अध्ययन करने के पश्चात् इस तथ्य का आभास होता है कि भूमि उपयोग का अर्थ बहुत ही गहन, व्यापक और विस्तृत है।

विश्व के अलग–अलग भागों में वहाँ की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए विद्वानों द्वारा समय–समय पर विभिन्न प्रकार के भूमि वर्गीकरणों को विकसित कर लाभ उठाया गया है। भूमि के गुणों के अनुसार विशेष उद्देश्यों के लिए किया गया वर्गीकरण कहलाता है। हमारा कृषि सम्बन्धी कार्य से जितना पुराना सम्बन्ध है, उतना ही प्राचीन इतिहास विश्व में भूमि उपयोग सर्वेक्षण का भी है। भूमि उपयोग वर्गीकरण की ब्रिटिश पद्धति को भूमि उपयोग की प्रथम वैज्ञानिक पद्धति के रूप में माना जाता है। साथ ही भूमि वर्गीकरण के लिए भूमि की उत्पादन क्षमता अथवा उपयुक्तता भी एक महत्वपूर्ण पक्ष है। भूमि उपयोग क्षमता अथवा सम्भाव्यता वर्गीकरण भूमि के विभिन्न अनुकूलित उपयोगों को निर्धारित करने के लिए भूमि को विभाजित करने का ढंग है। दूसरे शब्दों में किसी इकाई क्षेत्र में भूमि की उत्पादन क्षमता ही भूमि क्षमता है। शुद्ध लाभ, उत्पादन लागत की अपेक्षा जब अधिक होता है, तब ही भूमि की क्षमता उत्तम मानी जाती है। तथा भूमि क्षमता का इसी शुद्ध लाभ के आधार पर निर्धारण किया जा सकता है।

9.6 शब्दावली (Glossary)

- **संसाधन –** साधन, सम्पत्ति, सामग्री जुटाने की विधि
- **स्रोत –** उद्रम, आधार, मूल कारण
- **शुष्क –** सूखा, मरूस्थल
- **खरीफ –** वर्षा आरम्भ होने पर बोई जाने वाली फसलें
- **मृदा अपरदन –** मृदा का जल व वायु द्वारा कटाव
- **मृदा संरक्षण –** मृदा के अपरदन को रोकना

- **उच्चावच -** धरातल
- **जलवायु –** वायुमण्डल की दीर्घकालिक अवस्था
- **क्षमता -** दक्षता
- **शस्य संयोजन –** विभिन्न फसलों का समूह ।

9.7 संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. Symon, L. : Agricultural Geography, Bell & sons, London, 1967.
2. Kostrowicki, J. : World Types of Agriculture, Polish Academy, Warsaw, Poland.
3. Noor Mohd. : New Dimensions in Agriculture, Concept, New Delhi, 1991.
4. Singh & Dhillon : Agricultural Geography, Tata McGraw Hill, New Delhi, 1994,
5. Whittlesey, D. : Major Agricultural Regions of the Earth, A.A.A.G Vol. 26,1939.
6. Baker, O.E. : Agricultural Regions of North America, Economic Geography, 2,1929.
7. Morgan, W.B. & : Agricultural Geography, Methuen Co., London, 1971.
8. Stamp, L,D. : The Land of Britain : Its Use & Misuse, Longman, Green & Co., London,1948.
9. Coleman, AI : The Second landuse Survey - Progress and Prospect, Geographical Journal, 127,1961.
10. Husain, M. : Agricultural Geography, Inter India Publications, New Delhi, 1979.
11. Shafi, M. : Agricultural Productivity and Regional Imbalances - A Study of Uttar Pardesh, Concept, New Delhi, 1983.
12. प्रमिला कुमार : कृषि भूगोल, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।
13. ब्रज भूषण सिंह : कृषि भूगोल, ज्ञानोदय प्रकाशन, ग़ोरखेपुर।

9.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. जो भूभाग प्रकृति प्रदत्त विशेषताओं के अनुरूप रहता है।
2. फाक्स ने
3. मानव अपनी आवश्यकतानुसार भूमि का उपयोग करता है उसे भूमि उपयोग कहते हैं।
4. आठ
5. वान थ्यूनेन ने

6. हैगेट (1965) के

बोध प्रश्न–2

1. डडले स्टेम्प ने
2. 1931 में
3. एलिस कोलमैन के
4. 1960 में
5. 13 मुख्य वर्ग
6. 1964 में
7. प्रो. कोस्ट्रोविकी
8. चीन में

बोध प्रश्न–3

1. दो
2. आठ उपवर्गों में
3. तीन मुख्य वर्गों में
4. उपवर्गों में ।

9.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भूमि वर्गीकरण की अमेरिकन पद्धति का संक्षिप्त विवरण दीजिये ।
2. उपयुक्त उदाहरण देते हुए क्षमता की विधियों का वर्णन कीजिये ।
3. भूमि उपयोग सर्वेक्षण के उद्देश्यों, नीतियों एवं नियोजन की व्याख्या कीजिये ।
4. भूमि उपयोग की संकल्पना एवं विधि तंत्र को समझाइये ।
5. भूमि वर्गीकरण की ब्रिटिश पद्धति की विशेषताएं बताते हुए स्टॉम्प के भूमि उपयोग सर्वेक्षण के बारे में बताइये ।
6. कृषि भूमि उपयोग की संकल्पना, इतिहास एवं सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये ।
7. आप द्वारा अध्ययन किये गये विभिन्न देशों के भूमि–वर्गीकरण पर एक भौगोलिक निबंध लिखिये ।

इकाई 10 : कृषि दक्षता / उत्पादकता (Agricultural Efficiency / productivity)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 कृषि दक्षता एवं उत्पादकता की संकल्पनाएँ
10.3 कृषि उत्पादकता मापने की समस्याएँ
10.3.1 पहली समस्या
10.3.2 दूसरी समस्या
10.3.3 तीसरी समस्या
10.3.3.1 भूमि
10.3.3.2 श्रम
10.3.3.3 पूँजी
10.3.4 चौथी समस्या
10.4 कृषि उत्पादकता मापने की विधियाँ
10.4.1 एम. जौ. केन्डाल की विधि ।
10.4.2 एस एस. भाटिया की विधि
10.4.3 जौ. वाई ऐनेदो की विधि
10.4.4 शफी की संशोधित विधि "
10.4.5 बी एन. सिन्हा की विधि
10.4.6 वहन क्षमता विधि
10.4.7 मुद्रामान विधि
10.5 सारांश
10.6 शब्दावली
10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ
10.8 बोध 'प्रश्नों के उत्तर
10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे :

- कृषि दक्षता एवं उत्पादकता
- कृषि उत्पादकता का मापने की समस्याएँ,
- कृषि उत्पादकता मापन की मुख्य विधियाँ ।

10.1 प्रस्तावना (Introduction)

किसी क्षेत्र के कृषि विकास और नियोजन के लिए उस क्षेत्र के कृषि उत्पादकता प्रदेशों का सीमांकन एवं निर्धारण आवश्यक है; इसके निर्धारण की बहुत सी विधियों का प्रतिपादन किया गया हैं परन्तु कृषि उत्पादकता के निर्धारण में अनेकों समस्याएँ है । फिर भी बहुत से विद्वानों नें कृषि उत्पादकता का निर्धारण किया है जैसे एम. जौ. केन्डाल, जसबीर सिंह, ऐनेदी, शफी, मुनिस रजा, नूर मुहम्मद, माजिद, आदि ।

10.2 कृषि उत्पादकता एवं दक्षता की संकल्पना

कृषि दक्षता रख उत्पादकता कृषि भूगोल में दो ऐसी कल्पनाएँ है जिन्हे अधिकतर भूगोलवेत्ता समनार्थी मानते हैं जो कि उचित नहीं है । कृषि उत्पादकता किसी कृषि विशेष क्षेत्र के किसी एक समय में तथा उसी समय के तकनीकी स्तर के आधार पर समस्त फसलों की प्रति इकाई उत्पादन को कहते हैं जैसा कि शफी ने 1960 में उत्तर प्रदेश की कृषि दक्षता का मूल्यांकन, कृषि दक्षता में लागत घटाने पर शेष बचे उत्पादन को कृषि दक्षता कहते हैं । वर्तमान समय में कृषि उत्पादकता में तो वृद्धि हो रही है जबकि कृषि दक्षता घट रही है । वर्तमान समय में उर्वरकों, कीटनाशक औषधियों ट्रेक्टरों, थ्रेशर इत्यादि का उपयोग होने से कृषि लागत बढ़ रही है जिसकी वजह से कृषकों को मिलने वाला लाभ घट रहा है अत: कृषि दक्षता घट रही है ।

कृषि उत्पादकता का प्राथमिक सम्बन्ध प्रति ईकाई उत्पादन से है जो सभी प्राकृतिक, आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारणों के अन्तरसम्बन्ध का प्रतिफल है क्योंकि ये सभी कारक गत्यात्मक हैं अत: इनके द्वारा प्रतिफलित कृषि उत्पादकता भी परिवर्तनशील है! इसलिए यह कहा जा सकता है कि कृषि उत्पादकता विभिन्न प्राकृतिक एवं मानवीय प्रयासों के अन्तर्सम्बन्धों से प्रभावित प्रति इकाई कृषि क्षेत्र से प्राप्त उत्पादन है ।

10.3 कृषि उत्पादकता एवं दक्षता मापने की समस्याएँ

परम्परागत रूप से भूगोलवेत्ता एवं अर्थशास्त्री इसका मापन भूमि, श्रम एवं पूँजी के आधार पर करते ' थे और सामाजिक एवं पर्यावरणीय विषयक व्यय की ओर ध्यान नहीं देते थे, परन्तु आजकल कृषि उत्पादकता के मापन में पारिस्थितिकी संतुलन, सामाजिक स्वीकारता, टेक्नोआर्थिक समर्थतता, मृदा उर्वरता में संतुलन बनायें रखना आदि आयामों का ध्यान में रखना आवश्यक है परन्तु इसका उपयोग विश्वसनीय आकड़ों के अभाव के कारण कम हो रहा है । कृषि दक्षता एवं उत्पादकता के मापने में कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है, जिसमें से मुख्य समस्याएँ निम्न है.

19.3.1 पहली समस्या

कृषि की परिभाषा एवं उसका विषय दोनों हैं । कुछ विद्वान कृषि को केवल शस्यों को उत्पादित करने तक ही सीमित रखते है जबकि अन्य इसमें पशुपालन को सम्मिलित करते है । कुछ विद्वान तो मत्स्य पालन को भी इसी के अन्तर्गत मानते हैं ।

10.3.2 दूसरी समस्या

कृषि उत्पादन के स्वरूप एवं इकाई से सम्बन्धित इस संदर्भ में चार जाते सामने आती है परन्तु हर रक की कुछ न कुछ समस्याएँ है :

(i). कृषि उत्पादकता शस्यों के भार के आधार पर मापी जाय । इसमें समस्या यह है कि कृषि उपज का भार तुलनात्मक नहीं है । उदाहरणार्थ अफीम, चाय, काफी आदि की प्रति इकाई उत्पादन को गन्ने, गेहूँ आदि की प्रति इकाई उत्पादन के भार से नहीं किया जा सकता 'है और यदि ऐसा किया गया तो गन्ने वाले क्षेत्रों को उत्पादकता अत्यधिक होगी और अफीम, चाय, काफी आदि वाले क्षेत्रों से अधिक होगी ।

(ii). उपरोक्त समस्या के समाधान हेतु कुछ विद्वानों ने (बक, खुसरो) उपज के भार के बजाय उसके अन्न तुल्य (Food grains's Equivalant) में मापन का सुझाव दिया है जिसके अनुसार समस्त खाद्यान्नों की उपज की अमुख कृषि क्षेत्र के मुख्य अन्न की बराबर में प्रामाणिक मानक से परिवर्तित कर लें ताकि सभी खाद्यान्न एक इकाई में आ जाय और इस प्रकार कृषि उत्पादकता का मापन किया जा सके । परन्तु सभी खाद्यान्न अपनी पौष्टिकता में समान नहीं है और कृषि उपज में खाद्यान्नों के अतिरिक्त अन्य फसलों का भी उत्पादन होता है ।

(iii). उपरोक्त समस्या समाधान हेतु कुछ विद्वानों (केन्डाल, शफी, स्टेम्प) ने खाद्यान्नों के उत्पादन को कैलौरीज मान में परिवर्तित करने का सुझाव दिया है जिसमें कृषि के सभी खाद्यान्नों को प्रमाणिक मान के आधार पर कलौरीज में परिवर्तित करके कृषि उत्पादकता निर्धारण करने की विधि का उपयोग किया है । स्टेम्प एवं शफी ने इसके प्रमाणिक पौष्टिक इकाई (Standard Nutrition Unit) मे भी परिवर्तित करके कृषि उत्पादकता का मापन किया है ।

(iv). सभी कृषि उत्पाद खाद्यान्न नहीं होते हैं, इसमें कपास. जूट आदि भी आते हैं जिन्हें कैलोरीज में परिवर्तित नहीं किया जा सकता है अत: कुछ विद्वानों ने (केन्डाल, मुनिस रजा, माजिद हुसेन, नूरमुहम्मद आपि) ने कृषि उत्पाद को मुद्रा (भ0ए0?) में परिवर्तित करके कृषि उत्पादकता मापने का सुझाव दिया है, जो कि अधिक न्यायसंगत है ।

10.3.3 तीसरी समस्या

कृषि उत्पादकता को किसके सम्बन्ध में मापी जाय, इसमें तीन विकल्प है.

10.3.3.1 भूमि

यदि कृषि उत्पादकता भूमि के संदर्भ में मापी जाती है तो प्रश्न यह उठता है कि क्षेत्र विशेष का कुल क्षेत्रफल, शुद्ध कृषि क्षेत्र र सकल बोया गया क्षेत्र अथवा कुक फसल कटाई क्षेत्र के संदर्भ में इसका मापन किया जाए । हर एक के साथ कुछ न कुछ समस्याएँ जुड़ी है अत : अर्थशास्त्रियों ने मानक हेक्टेयर की संकल्पना दी है जिसके संदर्भ में कृषि उत्पादकता निकालना चाहिए ।

10.3.3.2 श्रम

यदि कृषि उत्पादकता की श्रम के संदर्भ में गणना की जाय तो प्रश्न यह है कि कुल श्रमिक, किराये के श्रमिक, मुफ्त के श्रमिक,परिवार के श्रमिक अथवा किस श्रमिक के आधार पर कृषि उत्पादकता को मापा जाय । इस का निर्धारण करते हुये ' गया है कि 8 घण्टे कृषि में काम करने को एक श्रमिक मान लिया जाय

10.3.3.3 पूँजी

इसी प्रकार यदि पूँजी के आधार पर कृषि उत्पादकता का निर्धारण किया जाए तो कौन सी पूँजी, अचल (Fixed) पूँजी, चल (floating) पूँजी अथवा कार्यरत (working) पूँजी को आधार माना जाए, क्योंकि हर एक में कुछ न कुछ समस्याएँ हैं ।

10.3.4 चौथी समस्या

कृषि उत्पादकता निर्धारण विधियों को चयनित करने से जुड़ी समस्या है जिसके मापन के लिए अनेकों विधियों का किया गया है यद्यपि हर एक विधि की अपनी विशेषताएँ एवं त्रुटियाँ हैं ।

बोध प्रश्न– 1

.1 मुहम्मद शफी ने किसी वर्ष में उत्तर प्रदेश की कृषि उत्पादकता का मूल्यांकन किया था?

....

....

.2 कृषि उत्पादकता को संक्षिप्त में परिभाषित कीजिए ।

....

....

3. कृषि उत्पादकता मापन की कितनी मुख्य समस्याएँ है?

....

....

4. कृषि उत्पादकता सामान्यत किन तीन विकल्पों के संदर्भ में मापी जाती है?

....

....

5. तीन भूगोलवेत्ताओं के नाम बताओं जिन्होंने कृषि उत्पादकता को मुद्रामान में मापने का सुझाव दिया है?

....

....

10.4 कृषि उत्पादकता / दक्षता के मापने की विधियाँ (Methods of Measuring (Efficiency /Agricultural productivity

कृषि की उत्पादकता की गणना के लिए उपयोग की जानें वाली विधियों में जसबीर सिंह एवं ढिल्लों ने निम्न चौदह विधियों का उल्लेख किया है (सिंह एवं ढिल्लों 1994, पृ. 241) :

1. प्रति इकाई कृषिय उत्पादन का मूल्य निर्धारण ।
2. प्रति श्रमिक अथवा प्रति मानव –दिवस उत्पादन ।
3. निवेश–उत्पादन का अनुपात एवं लाभांश का निर्धारण ।
4. प्रति व्यक्ति अन्न –तुल्य उत्पादन के रूप में कृषिय उपज को व्यक्त करना ।
5. कोटि–गुणांक विधि (केंडाल 1939, स्टेम्प 1960, शफी 1960) ।
6. भारित कोटि –गुणांक विधि (साप्रे एवं देशपांडे 1964, तथा भाटिया 1967) ।
7. –जनसंख्या के रूप में वहन– क्षमता (स्टैम्प 1958) ।
8. उत्पादकता –सूचकांक (इनेदी 1964, शफी 1972, 1974) ।
9. वहन क्षमता (जनसंख्या के रूप में) के आधार पर उत्पादकता–सूचकांक (सिंह 1072, 1974)।
10. शस्य उपज एवं सकेन्द्रण सूचकांक का कोटि –गुणांक (सिंह 1976) ।
11. अध्ययन क्षेत्र में प्रति इकाई सकल फसलों के मूल्य की प्रादेशिक उत्पादकता से तुलना ।
12. तीन विचलको –उपजदर, अन्न तुल्य और कृषि –तंत्र की गहनता एवं प्रसरण 0'. की मदद से कृषि उत्पादकता का निर्धारण ।
13. प्रति हेक्टर प्रति श्रमिक शुद्व आय ।
14. कृषि–निष्पादन का भारित संयुक्त स्तर (सिंह 1990) ।

दसूरी ओर शफी (1984 पृ. 155 –169) ने उत्पादकता निर्धारित करने वाली विधियों को 00?' है जिन्हें निम्न सात समूहों में रखा जा सकता है : –

1. सापेक्षिक उत्पादन की विधियां
2. कोटि गुणांक विधि
3. भारित कोटि गुणांक विधि
4. दक्षता –सूचकांक विधि
5. वहन – क्षमता द्वारा उत्पादकता निर्धारण की विधियां
6. श्रम –उत्पादकता
7. उत्पादकता सूचकांक

इन विधियों में से प्रचलित एवं चर्चित कुछ विधियों का वर्णन यहाँ दिया जा रहा है ।

10.4.1 एम. जौ. केन्डाल विधि (M.G. Kendall's Methods)

केन्डाल ने कोटिगुणांफ विधि का प्रतिपादन 1939 में इंग्लैण्ड में कृषि उत्पादकता मापन हेतु ' था। इन्हीं ने कृषि उत्पादकता प्रति एकड़ प्रत्येक उपज के भार धनराशि एवं कलोरीज के संदर्भ में ज्ञात किया है । सर्वप्रथम उन्होंने इंग्लैण्ड की प्रत्येक काउन्टी (48) में उत्पन्न होने वाली दस प्रमुख फसलों – गेहूँ ओट, राई, जौ, फल, सब्जी, आलू सोरघम, चुकन्दर एवं फूल का चयन किया और उनके तीन कृषि वर्षो के औसत प्रति इकाई उपज को उनके भार के सम्बन्ध में निकाला ।

उसके पश्चात् उसे धनराशि एवं कलोरीज में परिवर्तित किया । अत: इन्हीं तीनों विचलनों के आधार कृषि उत्पादकता का आकलन कोटिगुणांक विधि से किया जा कि निम्न प्रकार है

(i). फसलों के भार के आधार पर कृषि उत्पादकता

इस विधि में केन्डाल ने इंग्लैण्ड की सभी 48 काउन्टीज का 10 चयनित मुख्य फसलों के तीन साल के प्रतिएकड़ औसत उपज के आधार पर उनके कोटि का निर्धारण किया जो कि 1 से लेकर 48 तक होगा । कोटि का निर्धारण अवरोही क्रम में निश्चित किया गया अर्थात् अधिकतम प्रति इकाई उपज वाले काउन्टी के प्रथम (1) तथा सबसे कम प्रति इकाई उपज वाली काउन्टी की अन्तिम कोटि (48) दिया गया । तत्पश्चात प्रत्येक काउन्टी को कोटिगुणांक निम्न सूत्र से निकाला :

$$RC = \frac{CrR}{N}$$

जहाँ

RC= Ranking Coefficient कोटिगुणांक

CrR = Rank of the Crop फसल की कोटि

N = Number of Crops फसलों की कुल संख्या

इसका तात्पर्य यह हुआ कि उन्होंने प्रत्येक काउन्टी का कोटिगुणांक ज्ञात करने के लिए उस काउन्टी की सभी 10 फसलों के कोटि का योग करके उसे फसलों की संख्या से विभाजित कर दिया है जो उस काउन्टी की औसत कोटि है । इसी को केन्डाल ने कोटिगुणांक कहा है इस विधि के अनुसार उच्च उत्पादकता वाली इकाईयों का कोटिगुणांक कम होगा तथा इसके विपरीत कम उत्पादकता वाली इकाई का कोटि गुणांक अधिक होगा ।

इस विधि को निम्न तालिका से भलीभाँति समझा जा सकता है ।

तालिका– 10.1 : कोटि गुणांक की गणना

काउन्टी	Rank of 10 Selected Crops										$\sum$ Rank	$\frac{\sum Rank}{N}$	कोटि गुणांक
	1	2	3	4	5	6	7	8	9	10			
X_1	5	2	1	8	11	4	3	6	9	13	62	$\frac{62}{10}$	6.2
X_2	2	4	8	6	10	3	1	5	7	9	55	$\frac{55}{10}$	5.5
X_3	1	11	8	2	5	15	8	3	47	2	102	$\frac{102}{10}$	10.2
X_4	4	6	13	10	14	7	36	25	11	5	131	$\frac{131}{10}$	13.1
X_n	10	17	15	11	7	2	12	14	13	27	128	$\frac{128}{10}$	12.8

तालिका 10.1 के अनुसार काउन्टी X_2 कोटिगुणांक सबसे कम अर्थात् 5.5 है अत: यह सबसे अधिक कृषि उत्पादकता की काउन्टी है जबकि काउन्टी X_4 का कोटिगुणांक सबसे अधिक 13.1 है इसलिए यह सबसे कम कृषि उत्पादकता वाली काउन्टी हैं । कें–डाल ने इस कोटिगुणांक को अवरोही / आरोही क्रम में करके ब्रिटेन के कृषि उत्पादकता प्रदेशों में विभाजित किया है ।

इसी प्रकार केन्डाल ने प्रत्येक काउन्टी की प्रति इकाई उपज को धनराशि में परिवर्तित कर उनके कोटि का निर्धारण किया है । तत्पश्चात् इसी सूत्र के अनुसार प्रत्येक इकाई का कोटिगुणांक

निकाल कर उन्हें आरोही 7 अवरोही क्रम में समायोजित कर कृषि उत्पादकता प्रदेशों का निर्धारण किया है ।

केन्डाल ने इसी प्रक्रिया को कृषि उत्पादकता को कलोरीज के सम्बन्ध में मापन करके उपयोग किया है और तदानुसार कृषि पादकता प्रदेशों का निर्धारण किया है ।

इस विधि का उपयोग करके स्टेम्प ने यूरोप के 20 देशों का 9 फसलों के उपज के आधार पर कृषि उत्पादकता का निर्धारण कर – है कृषि प्रदेश।, में विभाजित किया । इसी प्रकार शफी ने उत्तर प्रदेश के 48 जनपदों की कृषि उत्पादकता का निर्धारण 8 खाद्यान्न हमलों के प्रति एकड़ औसत उपज के आधार पर निकाल कर उत्तर प्रदेश को कृषि उत्पादकता प्रदेशों में विभाजित किया है ।

यह विधि बहुत ही सरल है । परन्तु, इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि यह फसलों के क्षेत्र के बजाय उनके उत्पादन को महत्व देती है जिसके, प्रतिफल कभी–कभी गलत हो सकते हैं । शस्य उत्पादन के साथ–साथ उसके क्षेत्रफल को भी सम्मिलित करना चाहिए । उदाहरणार्थ यदि किसी इकाई क्षेत्र में गेहूँ की उपज प्रति इकाई बहुत अधिक है परन्तु उसके अर्न्तगत क्षेत्रफल नगण्य है तो उस इकाई की उत्पादकता इस आधार पर बहुत बढ़ जायेगी परन्तु वास्तविक रूप में गेहूँ का महत्व कृषि उत्पादकता की दृष्टि से कम है ।

बोध प्रश्न – 2

1. केन्डाल ने कोटिगुणांक विधि का प्रतिपादन कब किया था?

   …………………………………………………………………………………………….

   ……………………………………………………………………………………………..

2. केन्डाल ने किन 10 फसलों का चयनित किया था?

   …………………………………………………………………………………………….

   ……………………………………………………………………………………………..

3. उन्होंने इंग्लैण्ड के कितनी काउन्टीज को कृषि उत्पादकता निकाली थी?

   …………………………………………………………………………………………….

   ……………………………………………………………………………………………..

4. उत्पादकता की कोटिगुणांक विधि का क्या सूत्र है?

   …………………………………………………………………………………………….

   ……………………………………………………………………………………………..

5 अधिक कृषि उत्पादकता वाले क्षेत्र के कोटिगुणांक का मान सबसे कम या अधिक होता है?

   …………………………………………………………………………………………….

   ……………………………………………………………………………………………..

10.4.2 एस. एस. भाटिया विधि (S.S. Bhatia Method)

एस. एस. भाटिया (1967) ने भी उत्तर प्रदेश की कृषि दक्षता निर्धारण हेतु कृषि दक्षता सूचकांक विधि का प्रतिपादन किया । सर्वप्रथम शस्यों की उपज एवं क्षेत्रफल के आधार पर निम्न रह से कृषि दक्षता ज्ञात की ।

इस विधि को उन्होंने दो स्तरों में विभक्त किया । प्रथम स्तर पर उपज सूचकांक तथा दूसरे पर कृषि दक्षता सूचकांक (Agricutural Efficiency Index) ज्ञात की ।

(i). उपज सूचकांक -

$$1ya = \frac{yc}{yr} \times 100$$

Where 1ya is the yield index of crop a

Yc is the acre yield of crop a in component unit.

Yr is the average acre yield of crop a in the entire study area.

(ii). कृषि दक्षता

$$Ei = \frac{1ya \times ca + 1yb \times cb + ...1yn \times cn}{ca + cb.........cn}$$

Where ; Ei is the agricultural efficiency index

1ya, yb,1yn etc are the proportion of crop land devoted to different crops.

Ca, Cb etc represent the proportion of crop land devoted to different crops.

उपरोक्त सूत्र निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जाता है ।

जयपुर जिले में गेहूँ की औसत उपज 18 क्विटंल प्रति हेक्टर है जबकि राज्य में गेहूँ की औसत उपज 12 क्विटंल प्रति हैक्टर है

अत : गेहूँ का उपज सूचकांक $\frac{18}{15} \times 100 = 120$

मानलों जयपुर जिले में विभिन्न फसलों का कुल कृषि क्षेत्र से प्रतिशत व ज्ञात किए गए उपज सूचकांक इस प्रकार है :

तालिका - 10.1 : जयपुर जिले में फसल क्षेत्र प्रतिशत में एवं उपज सूचकांक

क्र. सं.	फसल	फसल का क्षेत्र प्रतिशत में	उपज सूचकांक
1.	बाजरा	40.00	125
2.	सारसों	40.00	80
3.	गेहूँ	14.00	120
4.	तिल	3.00	70
5.	चना	6.50	78
6.	जौ	7.00	115
7.	ज्वार	5.00	90
8.	चौला	3.5	115

9.	मोठ	4.00	112
10.	उड़द	1.00	85

उपरोक्त दस फसलों का क्षेत्र प्रतिशत में रख उपज सूचकांक के आधार पर कृषि दक्षता पर ' प्रकार ज्ञात की जायेगी :

$$Ei = \frac{125\times40+80\times16+120\times14+70\times3+78\times6.5+115\times7+90\times5+115\times3.5+112\times4.6+85\times1}{40+16+14+3+6.5+7+3.5+4+1}$$

$$= \frac{5000+1280+1680+210+507+805+450+402.50+448+85}{40+16+14+3+6.5+7+5+3.5+4+1}$$

$$= \frac{10867.50}{100}$$

=108.67

इसका तात्पर्य यह हुआ कि जयपुर जिले की कृषि दक्षता राज्य से अधिक है । जयपुर जिले कृषि दक्षता राज्य के औसत से 8. 67 प्रतिशत अधिक है ।

बोध प्रश्न– 3

1. भाटिया ने कौन से वर्ष में उत्तर प्रदेश की कृषि दक्षता ज्ञात की है ।

………………………………………………………………………………………………………..

……………………………………………………………………………………………………….

2. भाटिया ने अपने सूत्र को कितने भागो में विभक्त किया है

………………………………………………………………………………………………………..

……………………………………………………………………………………………………….

3. भाटिया कृषि दक्षता मापने का क्या सूत्र है ।

………………………………………………………………………………………………………..

……………………………………………………………………………………………………….

10.4.3 ईनेदी की विधि (Enyedi's Method)

हंगरी के प्रोफेसर ईनेदी (Enyedi,1964) ने उत्पादकता सूचकांक (Productivity Index) निर्धारण के लिए निम्न सूत्र का
उपयोग किया–

$$\frac{Y}{yn} : \frac{T}{Tn}$$

यहाँ y = चयनित फसल का सम्बन्धित इकाई क्षेत्र में कुल उत्पादन,

yn= उसी फसल का देश में कुल उत्पादन

T= इकाई क्षेत्र में कुल कृषित भूमि,

Tn = देश में कुल कृषित भूमि

ईनेदी के रू को निम्न उदाहरण से स्पष्ट है :

'अ' जिले में गेहूँ को उपज = 23 क्विटंल / हेक्टर

राष्ट्रीय स्तर गेहूँ की उपज = 15 क्विटंल / हेक्टर

'अ ' जिले का गेहूँ के अन्तर्गत क्षेत्र = 15,000 हेक्टर

राष्ट्रीय स्तर पर गेहूँ के अन्तर्गत क्षेत्र = 10, 00,000 हेक्टर

'अ ' जिले का कुल फसलों के अन्तर्गत क्षेत्र = 50,000 हेक्टर

राष्ट्रीय स्तर पर कुल फसलों के अन्तर्गत क्षेत्र = 57, 00, 000 हेक्टर

इनेदी का सूत्र – $\frac{Y}{yn}:\frac{T}{Tn}$

गेहूँ की फसल का ' अ ' जिले में उत्पादन = 23 $\times$15000 = 3, 45,000 क्विंटल

गेहूँ की फसल का राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादन = 15 $\times$ 10, 00, 000 = 150, 00,000 क्विंटल

$$=\frac{3,45,000}{150,00,000}:\frac{50,000}{57,00,000}$$

$$=\frac{3,45,000}{150,00,000}:\frac{57,00,000}{50,000}$$

$$=\frac{1311}{50}$$

=2.61 अर्थात 2.61$\times$100=261

उपरोक्त परिणाम से अवगत होता है कि 'अ' जिले का उत्पादकता सूचकांक 261 है । इसका तात्पर्य हुआ कि 'अ' जिलें में गेहूँ की फसल की 5 उत्पादकता सूचकांक राष्ट्रीय स्तर से 161 प्रतिशत अधिक है ।

10.4.4 शफी की संशोधित विधि (Modified Method of Shafi)

प्रोफेसर शफी ने ईनेदी के रू से भारत का कृषि उत्पादकता सूचकांक निर्धारित करने का प्रयास किया संतोषप्रद परिणाम नहीं निकलने पर कुछ संदेह हुआ और कई उदाहरण लेकर इस रू की जांच की तो अवगत हुआ कि भी फसल का एक जिले में प्रति हेक्टर उपज राष्ट्रीय स्तर के बराबर या कम होने पर भी उत्पादकता सूचकांक अधिक आती है जो निम्न उदाहरण से स्पष्ट है

'ब' जिले में गेहूँ की उपज = 15 क्विंटल / हेक्टर

गेहूँ की राष्ट्रीय स्तर पर उपज = 15 क्विंटल / हेक्टर

जिलों 'ब ' में गेहूँ के अन्तर्गत क्षेत्र = 15, 000 हेक्टर

राष्ट्रीय स्तर पर गेहूँ का क्षेत्र = 10, 00, 000 हेक्टर

'ब ' जिला का कुल फसली क्षेत्र = 50, 000 हेक्टर

राष्ट्रीय स्तर पर कुल फसली क्षेत्र = 57, 00, 000 हेक्टर

उपरोक्त सूत्र के अनुसार 'ब ' जिले का उत्पादकता सूचकांक =

$$=\frac{2,25,000}{150,00,000}:\frac{50,000}{57,00,000}$$

$$=\frac{2,25,000}{150,00,000}:\frac{57,00,000}{50,000}$$

$$=\frac{171}{100}$$

1.71 अर्थात 1.71 $\times$100 =171

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है कि जिला 'ब' में गेहूँ की औसत उपज राष्ट्रीय औसत उपज राष्ट्रीय औसत उपज के बराबर ही है अत: उत्पादकता सूचकांक बराबर होना चाहिए लेकिन जिला 'ब' में गेहूँ का उत्पादकता सूचकांक तुलना में अधिक है ।

इनेदी के सूत्र में मुख्य दोष यह है कि फसलों में क्षेत्र का उत्पादकता सूचकांक पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है । इसी कारण 'ब ' जिला में गेहूँ की प्रति हेक्टर उपज राष्ट्रीय स्तर के बराबर होते हुए भी उत्पादकता सूचकांक अधिक है ।

प्रो. शफी ने इनेदी के सूत्र में संशोधन किया । संशोधित सूत्र इस प्रकार है –

$$\left(\frac{yw}{t}+\frac{yr}{t}+\frac{ymi}{t}.....n\right):\left(\frac{yw}{T}+\frac{yr}{T}+\frac{ymi}{T}....n\right)$$

or

$$\frac{\sum ny}{t}:\frac{\sum ny}{T}$$

इस संशोधित सूत्र के अनुसार चुनी हुई फसलों का क्षेत्र, उपज व उत्पादन छोटी इकाई व राष्ट्रीय स्तर पर लेकर उत्पादकता सूचकांक निकाला जाता है जो निम्न उदाहरण से स्पष्ट है –

'ब' जिले में गेहूँ की उपज = 15 क्विंटल /हेक्टर

'अ' जिला में चावल की उपज = 20 क्विंटल /हेक्टर

राष्ट्रीय स्तर पर गेहूँ की उपज = 12 क्विंटल /हेक्टर

राष्ट्रीय स्तर पर चावल की उपज = 16 क्विंटल /हेक्टर

'अ' जिला में गेहूँ का क्षेत्र = 50,000 हेक्टर

'अ' जिला में चावल का क्षेत्र = 1000 हेक्टर

राष्ट्रीय स्तर पर गेहूँ का क्षेत्र = 10,00,000 हेक्टर

राष्ट्रीय स्तर पर चावल का क्षेत्र. = 15,00,000 हेक्टर

$$=\left(\frac{yw}{t}+\frac{yr}{t}\right):\left(\frac{yw}{t}+\frac{yr}{t}\right)$$

$$=\left(\frac{7,50,000}{50,000}+\frac{20,000}{1000}\right):\left(\frac{120,00,000}{10,00,000}+\frac{240,00,000}{15,00,000}\right)$$

$$=\left(\frac{77,00,000}{51,000}\right):\left(\frac{360,00,000}{25,00,000}\right)$$

$$=\frac{1925}{1836}$$

=1.26=1.2$\times$100=126

उपरोक्त परिणाम से स्पष्ट है 'अ' जिले की उत्पादकता राष्ट्रीय स्तर से 26 प्रतिशत अधिक है।

बोध प्रश्न– 4

1.	इनेदी कौन से देश के निवासी थे?	
	....	
	....	
2.	इनेदी का उत्पादकता सूचकांक ज्ञात करने का सूत्र क्या है?	
	....	
	....	
3.	शफी का संशोधित सूत्र क्या है?	
	....	
	....	
4.	यदि जिला व राष्ट्रीय स्तर एक फसल की उपज समान हो तो इनेदी की विधि से जिले की उत्पादकता कितनी होगी?	
	....	
	....	

10.4.5 बी. एन सिन्हा की विधि (B.N.Sinha's Method)

बी.एन.सिन्हा (1968) ने मानक विचलन (Standard Devition) विधि का उपयोग करके 'कृषि उत्पादकता' निर्धारित करने की एक विधि प्रस्तुत की है। उन्होंने जिले को एक इकाई मानते हुए देश में उत्पादित की जाने ' 25 फसलों के क्षेत्र व उत्पादन के आकड़े एकत्रित किए। उन्होंने समस्त फसलों को निम्न चार सूत्र में विभाजित किया:

1. अन्न की फसले (Cereals)
2. दालों की फसले (Pulses)
3. तिलहन फसले (Oilseeds)
4. मुद्रादायिनी फसले (Money crops)

उन्होंने अपने अध्ययन के लिए सन 1963–64 को आधार वर्ष माना तथा प्रति हेक्टर औसत 0 ज्ञात करने के लिए अन्न दालें और तिलहन के कुल उत्पादन को उनके फसली क्षेत्र से विभाजित किया । मुद्रादायिनी फसलसों के लिए प्रति हेक्टर औसत मुद्रा स्व निकाला गया तथा समस्त भारत के लिए चार फसल समूहों का निम्न सूत्र से औसत किया:

अन्न की फसलों की औसत उपज = $\bar{c} = \frac{\sum ci}{n}$

दालों की फसलों की औसत उपज = $\bar{p} = \frac{\sum ci}{n}$

तिलहन की फसलों की औसत उपज = $\bar{o} = \frac{\sum oi}{n}$

मुद्रादायिनी फसलों की औसत उपज = $\bar{m} = \frac{\sum mi}{n}$

उदाहरण : अन्न की फसलों का परिकलन :

क्र.सं.	जिले	प्रति हेक्टर अन्न उपज (टन)	क्षेत्र प्रतिशत में	ci	ci^2
1.	A	0.30	60	0.30	0.09
2.	B	0.60	50	0.60	0.36
3.	C	0.40	40	0.40	0.16
4.	D	1.00	45	1.00	1.00
5.	E	0.80	55	0.80	0.64
				$\sum ci = 3.40$	$\sum ci^2 = 2.25$

समस्त जिलों का औसत $= \bar{c} = \frac{\sum ci}{n}$

$$= \frac{3.10}{5}$$

= 0.62

$$\bar{c}^2 = 0.38$$

इसी प्रकार अन्य समूहों का भी $\overline{p,o,m}$ मे ज्ञात किया ।

सभी फसलों समूहों का औसत ज्ञात करने के उपरान्त मानक विचलन (Standard Deviation) सूत्र का उपयोग किया गया ।

अन्न की फसलों के लिए $\sigma c = \sqrt{\frac{\sum ci^2}{n} - \bar{c}^2}$

$$= \sqrt{\frac{2.25}{5} - 0.38}$$

$$= \sqrt{0.45 - 0.38}$$

$$= \sqrt{0.07}$$

=0.26

इसी प्रकार σP, σo,एवं σm ज्ञात किए ।

मानक विचलन ज्ञात करने के उपरान्त Standard score निम्न्न सूत्र से ज्ञात किए :

$$Zic = \frac{ci - \bar{c}}{\sigma c}$$

'अ' जिले की अन्न्न फसलों के लिए –

$$= \frac{0.30 - 0.62}{0.26}$$

$$= \frac{0.32}{0.26}$$

=1.23

इसी प्रकार zip,zio,zim की गणना की गई । हालाकि Standard score भी कृषि उत्पादकता मापने के लिए एक अच्छी विधि है, लेकिन इसमें फसलों के क्षेत्र को शामिल नहीं किया जाता है।

इसमें क्षेत्र से भारित (Weighatage) करने के लिए Zi मूल्यों को क्षेत्र से गुफा किया जाता है जैसे -zic $\times$ Ac=1.23 $\times$ 60=73.8I

कुल कृषि उत्पादकता ज्ञात करने के लिए प्रत्येक फसल समूह के zi मूल्यों को प्रत्येक समूह के क्षेत्र के प्रतिशत (%) से गुणा किया जाता है ।

$$\bar{z} = \frac{(zic.A^c) + (zip.A^p) + (zi^0.A^0)}{A^0 + A^p + A^0 + A^m}$$

मानलो विभिन्न फसल समूहों का zi मूल्य का क्षेत्र (%) इस प्रकार है : ।

'अ' जिले में

Zi	zi मूल्य	क्षेत्र प्रतिशत में
Zic	1.23	60
Zip	1.05	12
Zio	1.30	25
Zim	0.75	3

अब ' अ ' जिलें की $\bar{z}$ गणना इस प्रकार करेंगे :

$$\bar{z} = \frac{(1.23\times 60) + (1.05\times 12) + (1.30\times 25) + (0.75\times 3)}{60+12+25+3}$$

$$= \frac{73.8+12.6+32.5+2.25}{60+12+25+3}$$

=1.21

इसी आधार से देश के प्रत्येक जिले का राष्ट्र की तुलना में उत्पादकता स्तर ज्ञात करके धनात्मक संख्याओं को अवरोही क्रम में तथा ऋणात्मक संख्याओं को आरोही क्रम में रखकर चतुर्थक (Quartile) में विभाजित करके कृषि उत्पादकता को 8 श्रेणियों में विभाजित किया जाता है।

बोध प्रश्न–5

1. बी.एन. सिन्हा ने भारत की कृषि उत्पादकता कौन से वर्ष में निर्धारित की थी।
………………………………………………………………………………
……………………………………………………………………………
2. बी.एन. सिन्हा ने फसलों को कितने समूहों में विभक्त कियो है?
………………………………………………………………………………
……………………………………………………………………………
3. सिन्हा ने भारत की कृषि उत्पादकता को कितने भागों में विभाजित किया है?
………………………………………………………………………………
……………………………………………………………………………

10.4.6 वहन क्षमता विधि (Carrying Capacity Method)

यह विधि एल.डी.स्टेम्प ने सन् 1956 में अन्तर्राष्ट्रीय भौगोलिक संघ की बैठक में रियो–डि–जनेरो में प्रस्तुत किया था। भारतीय संदर्भ में यह अधिक उपयुक्त है, क्योंकि क्षेत्रफल और खाद्य वस्तुओं में खाद्यान्न ही मुख्य हैं। इसी कारण शफी (1967) और जसबीर सिंह (1972, 1974)

ने इसका उपयोग किया है। इस विधि से यह ज्ञात किया जाता है कि कृषित भूमि की प्रति इकाई (प्रति हेक्टर 7प्रति वर्ग किमी.) में कितने लोगों के भरण–पोषण की क्षमता है। यही क्षमता कृषि की उत्पादकता की द्योतक है। भरण–पोषण क्षमता (वहन–क्षमता) ज्ञात करने के पहिले प्रत्येक खाद्य फसलों के उत्पादन को कैलोरीज में बदला जाता है। टन–को कैलोरी में बदलने की प्रक्रिया को सरल बनाने के लिए उत्पादन की जगह प्रति हेक्टर उपज दर को ले सकते हैं। साथ ही समस्त विचारधीन खाद्य फसलों के कुल क्षेत्र को 100 प्रतिशत मानकर प्रत्येक फसल का इस कुल क्षेत्र में से प्रतिशत हिस्सा निकालकर उपयोग करते हैं । इस क्षेत्रफल और उपजदर का गुणा करके कुल उत्पादन ज्ञात करते हैं । पुन : प्रत्येक फसल के कुल उत्पादन (जो कि ग्रा. में होगा) क्योंकि उपज दर कि ग्रा में है) को उस फसल के प्रति कि.ग्रा. निहित कैलोरी से गुणा करते है तथा सभी फसली के कैलोरिक उत्पादन में से 16.8% भाग घटा देते हैं, क्योंकि यह स्वीकारा गया है कि कुल उत्पादन का 16.8 प्रतिशत तक बीज आदि के रूप में रख लिया जाता है अथवा व्यर्थ चला जाता है । अस्तु शेष बचा हुआ भाग ही भरण– पोषाण के लिए उपलब्ध रहता है । यह कैलोरिक उत्पादन प्रति 100 हेक्टर अर्थात प्रति वर्ग किलोमीटर है । इस गणना की प्रक्रिया निम्नानुसार होती है ।

प्रथम चरण : खाद्य फसलों के प्रति वर्ग किलोमीटर कैलोरी उत्पादन ज्ञात करना : रायपुर जिले का उदाहरण

क्रम	खाद्य फसल	उपज दर (कि.ग्रा./हे.)	कृषित भूमि का प्रतिशत	सकल उत्पादन	कैलोरी प्रति	कुल उत्पादित
1	2	3	4	5	6	7
1.	चावल	1333	73.8	98375	3450	339394
2.	ज्वार	838	0.04	34	3490	119
3.	मक्का	1019	0.07	71	3420	243
4.	कौदो –कुटकी	135	2.99	404	3280	1325
5.	तुअर	735	0.26	191	3430	655
6.	गेहूँ	955	1.35	1289	3460	4460
7.	चना	490	1.34	657	3490	2293
8.	तिवड़ा	296	11.34	3357	3450	11582
9.	उर्दू	159	2.34	372	3470	1291
10.	मूँग –मोठ	165	0.53	87	3480	303
11.	कुलथी	338	0.38	128	3450	442
12.	मसूर	275	0.26	80	3450	268
	कुल	–	**94.73**	–	–	**362375**

उदाहरण मध्य प्रदेश के रायपुर जिले का लिया गया है। समझने के लिए केवल कुछ खद्या फसलों को लिया है अन्य खाद्य– फसले छूट गई है । फसले स्तम्भ 2 में अंकित है। इन्ही फसलों के प्रति हेक्टर उपज स्तम्भ 3 में लिखी गई । फसलों के छूट गई है । चुनी गयी फसलें स्तम्भ 2 में अंकित हैं । इन्हीं फसलों की प्रति हेक्टर उत्पादन की जगह इसी उपज –दर की

मदद से ही संबंधित फसल का प्रति 100 हेक्टर में कुल उत्पादन की गणना की जाती इस ' 1 गणना के लिए उपज दर के साथ संदर्भित फसल के अन्तर्गत भूमि का कुल पु भूमि में प्रतिशत हिस्से का उपयोग किया जाता है जैसे जिले में 1989–90 में कुल कृषित भूमि 1136 हजार हेक्टर है जिसमे 38.5 हजार हेक्टर चावल के अंतर्गत है। अस्तु चावल के अन्तर्गत क्षेत्र कुल कृषित क्षेत्र का 73.8 प्रतिशत डसी तरह अन्य फसलों के अन्तर्गत प्रतिशत भूमि की गणना की गई है (स्तम्भ 4) । पुन उपज दर में प्रतिशत भूमि का गुणा (स्तम्भ 3×5) करके सकल उत्पादन की गणना की गई है । जैसे कि चावल का सकल उत्पादन $1333\times73.80=98375$ कि. ग्रा होगा । इसी तरह व्यय फसलों के कुल उत्पादन की गणना की गई है (स्तम्भ 5) । पुन : प्रत्येक फसल के प्रति किलोग्राम से प्राप्त कैलोरिक मान (स्तम्भ – 6 – लेकर सकल उत्पादन से गुणा करके की उपज को कैलोरीज में बदला गया है । उदाहरण के लिए चावल –के सकल उत्पादन 98375 कि. ग्रा. में प्रति कि ग्रा. प्राप्य कैलोरीज 3450 का गुणा करके 339394 हजार कैलोर्रा पाते हैं । अब चावल –उत्पादन कैलोरीज के रूप में हो गया । अन्य फसलों का रूपान्तरण करके परिणाम स्तम्भ 7 में रखा गया है ।

द्वितीय चरण – उत्पादित कैलोरीज में उपभोग के लिए प्राप्य

= कुल उत्पादन 362375 हजार कैलोरीज

इसका 16.8 प्रतिशत उपभोग के लिए अनुपलब्ध होता है ।

इस लिए 362375 – 60879 = 301496 हजार कैलोरी

तुतीय चरण – प्रति वर्ग किलो मीटर कैलोरी में उत्पादन

$$=\frac{301496}{94.73}\times100=318268.76$$ हजार कैलारी

चतुर्थ चरण – अनुकूलतम प्रतिवर्ग किलो मीटर वहन क्षमता ज्ञात करना । इसके लिए प्रति औसत व्यक्ति प्रति वर्ष वांच्छित कैलोरीज की गणना आवश्यक है । इसे स्टेम्प ने 'प्रामाणिक पोषक इकाई (Standard Nutritional Unit SNU) कहा है । भारत में औसत प्रति व्यक्ति प्रति दिन की आवश्यकता 2114 कैलोरीज –जगकी गई है । इस आधार पर प्रति साल की आवश्यकता 7, 72,138 कैलोरीज आती है । यही प्रमाणिक पोषक इकाई (SNU) है । पोषण के लिप प्रति इकाई उपलब्ध कैलोरीज को इस प्रामाणिक इकाई से विभाजित करने पर प्रति वर्ग कि मी. कितने लोग पोषित हो सकते हैं यह ज्ञात हो जाता है । यही वहन क्षमता है । इसे सूत्र के रूप में इस तरह लिख सकते हैं –

$$cp=\frac{co}{sn}$$

यहाँ Cp= जनसंख्या के रूप में वहन क्षमता,

Co= प्रति वर्ग कि मी. पोषण के लिए उपलब्ध कैलोरीज तथा

Sn= प्रति वर्ष प्रति व्यक्त आवश्यक पोषण ।

रायपुर के उदाहरण में

$$=\frac{3,182,68,760}{7,72,138}=412$$ व्यक्ति प्रति वर्ग किलो मीटर ।

प्रत्येक जिले की राज्य अथवा देश में सापेक्षिक स्थिति ज्ञात करने के लिए निम्न सूत्र को उपयोग में लाया गया है । इसे सिंह (1972, 1974) ने उत्पादकता सूचकांक (Index of Agricultural Efficiency) कहा है ।

$$=\frac{Cpe}{Cpr}\times 100$$

यहाँ lae = गणना की इकाई की कृषि – उत्पादकता का सूचकांक,

Cpe = गणना इकाई में जनसंख्या के रूप में वहन–क्षमता (प्रति वर्ग कि.मी.)

Cpr= राज्य 7 देश की जनसंख्या के रूप में प्रति वर्ग किमी. वहन क्षमता

बोध प्रश्न– 6

1. वहन क्षमता विधि को सर्वप्रथम किसने प्रस्तुत किया?

   ....

   ....

2. डडले स्टेम्प ने वहन क्षमता विधि को सर्वप्रथम कहाँ व कब प्रस्तुत की ?

   ....

   ....

3. शफी ने भारत में इस विधि का उपयोग कब किया?

   ....

   ....

4. स्टेम्प ने प्रामाणिक पौषक इकाई किसे कहा है?

   ....

   ....

10.4.7 कृषि उत्पादकता की मुद्रामान विधि

उपरोक्त विधियों में कृषि की दक्षता फसल के क्षेत्रफल और उनकी उपज के भार के पर निश्चित की गई है परन्तु कृषि में विभिन्न प्रकार की उपज होती है जिनकी क्षेत्रफल, भार अथवा कैलोरीज के आधार पर सही आंकलन नहीं किया जा सकता है क्योंकि सभी उपजों को कैलोरीज परिवर्तित नहीं किया जा सकता है और सभी योग्य फसलों का पौष्टिक मान भी बराबर नहीं होता है । इसलिए सब उपजों को समान मान कर कृषि उत्पादकता का करना न्याय संगत नहीं है अत : इसी के समाधान के लिए विद्वानो ने सकल उपज को मुद्रामान में परिवर्तित करके कृषि उत्पादकता के आंकलन का सुझाव दिया है । इसेमें सर्वप्रथम केन्डाल का नाम आता है । उसके उपरान्त अन्य विद्वानों ने भी (मूनिस, मार्लन, नूर मुहम्मद आदि) मुद्रामान के आधार पर कृषि उत्पादकता का मापन किया है ।

10.8 सारांश (Summary)

किसी भी क्षेत्र के कृषि विकास एवं नियोजन के लिए कृषि उत्पादकता निर्धारण एवं प्रादेशिक आवश्यक है । कृषि उत्पादकता निर्धारण –में अनेक समस्याएं है जैसे कृषि की परिभाषा एवं विषय, शस्यो के पोष्टिकता में अन्तर, अरताद्य शस्य, उत्पादकता के मापन का सन्दर्भ (भूमि,

क्षय एवं पूँजी) इत्यादि। कृषि दक्षता / उत्पादकता की केन्डल, भाटिया, इनेदी, शफी की संशोधन विधि, बी.एन सिन्हा व जसबीर की वहन क्षमता आदि का सोदाहरण विस्तार से विवेचना की गई है।

10.6 शब्दावली (Glossary)

- **कृषि उत्यादकता** : कृषि उत्पादकता का सम्बन्ध प्रति इकाई उत्पादन से है जो प्राकृतिक, आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारणों के अन्तरसम्बन्ध का प्रतिफल है।
- **कृषि दक्षता** : उत्पादन में से लागत घटाने के उपरान्त शेष उत्पादन।
- **अन्न तुल्य** : सभी खाद्यान्नों का एक मुख्य अन्न में परिवर्तन करना।
- **सामाजिक स्वीकारता** : जिससे समाज के सभी व्यक्ति स्वीकार करते है।
- **टैक्नो आर्थिक** : तकनीकी एवं आर्थिक दृष्टि से।
- **कार्यरत पूँजी** : जो पूँजी उत्पादन में लागई जाती है।
- **कोटि गुणांक** : किसी प्रशासनिक इकाई में उपज के आधार पर शस्य कोटि निर्धारण करना और कुल शस्य कोटि –में शस्यों की संख्या से विभाजित करने से प्राप्त परिणाम।
- **उपज :** प्रति हेक्टर शस्य उत्पादन।
- **वहन क्षमता :** प्रति इकाई जनसंख्या के भरण पोषण की क्षमता।
- **मुद्रामान विधि :** सभी शस्यों की उपज को मुद्रा में र्पारेवर्तित करना।

10.7 सन्दर्भ ग्रन्थ)

1. प्रमीला कुमार, श्री कमल शर्मा : कृषि भूगोल, मध्य प्रदेश, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, 1996.
2. Bhatia, S.S.: A New Measure of Agricultural Efficiency in Uttar Pradesh, India Eco. Goeg–43,pp.: 244–60,1967
3. Enyedi, G.Y. Geographical Types of Agriculture, Budapest : Applied Geography in Hungary.
4. Hussain Magid: Agricultural Geography, Geography,New Delhi
5. Kendall, M.G.: The Geographical Distributions of Crop production is England, pp. 387–406 in B.J.L. Berry and D.F. Marble, eds, Spatial Analysis: A Reader in Statistical Geography, Englewood Cliffs: Pruritic–Hall Inc,1968.
6. Mohammod ,Noor ed: prespective on Agriculture Geography, 5 volumes, Concept pub. Co. New Delhi,1980
7. Shafi. M: Measurement of Agricutureal Efficiency in Uttar Pradesh, Eco. Geog. 36, pp. 269–305,1960.
8. Singh, Jasbir: A New Techinques for Measuring Agricultual production in Haryana, India, The Geogr 19–I. P.P.19–33,1972
9. Sinha, B.N. : Agricultural Efficiency in India, The Geog. 15 special volume, pp. 101–127, 1968

10. Kalwar, S.C.: Methods of Determaing Agricultural Efficiency– A case study of Jaipur District, Studies in Geography, U. O.R. Jaipur, pp–67–71.,1972

10.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. 1960
2. कृषि उत्पादकता के लागत–आगत वो अनुपात को कहते हैं ।
3. 3
4. भूमि, श्रम एवं पूँजी
5. एन.जौ. केन्डाल, मुनिस रजा, मू मुहम्मद

बोध प्रश्न - 2

1. 1939
2. गेहूँ_ ओट, राई, जौ, फल, सब्जी, आलू सोरजम, चुकन्दर एवं फूल
3. 48
4. $C = \frac{CrR}{N}$
5. सबसे कम होता है ।

बींध प्रश्न–. 3

1. 1967
2. 2 दो में

3 $Ei = \frac{1y_a c_a + 1y_b c_b + 1y_c b + ... 1y_n c_n}{c_a + c_b + c_c ... c_n}$

बोध प्रश्न–4

1. हंगरी के
2. $= \frac{Y}{Y_n} \div \frac{t}{T_n}$
3. $= \frac{\sum^{n} y}{t} \div \frac{\sum^{ny}}{T}$
4. राष्ट्रीय स्तर से अधिक होगी ।

बोध प्रश्न–5

1. 1968 में
2. चार में
3. आठ में

बोध प्रश्न–6

1. डडले स्टेम्प ने
2. रियो–डि जेनेरो में 1956 में

3. 3 1967 में

4. प्रति औसत व्यक्ति प्रति वर्ष वांछित कैलोरी को

10.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कृषि उत्पादकता किसे कहते है? इसके मापन में क्या कुछ मुख्य समस्याएँ है ?
2. कृषि उत्पादकता के मापन की कौन–कौन सी विधियाँ है? एन.जौ. केन्डाल की विधि की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
3. शफी ने इनेदी के सूत्र का किस प्रकार से संशोधन किया है? उदाहरण सहित बताइए ।
4. भाटिया एवं इनेदी की कृषि उत्पादकता विधियों की व्याख्या कीजिए ।
5. बी.एन. सिन्हा की कृषि उत्पादकता मापन विधि को सोदाहरण समझाइये ।
6. वहन क्षमता विधि का परिकलन कैसे किया गया है? उदाहरण सहित वर्णन कीजिए ।

इकाई 11: कृषि मूल्यांकन प्रविधियाँ : शस्य श्रेणी, शस्य गहनता, शस्य विविधता एवं शस्य संयोजन प्रदेश (Agricultural Evalutation, Techniques: Crop Ranking, Cropping Intensity, Crop Diversification and Crop Combination Regions

इकाई की रूपरेखा –

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 शस्य श्रेणी
14.2.1 प्रथम कोटि शस्य श्रेणी
14.2.2 द्वितीय कोटि शस्य श्रेणी '
14.2.3 तृतीय कोटि शस्य श्रेणी
11.3 शस्य गहनता
11.3.1 शस्य गहनता की संकल्पना
11.3.2 शस्य गहनता मापन विधि
11.3.3 राजस्थान में शस्य गहनता
11.4 शस्य विविधता
11.4.1 शस्य विविधता की संकल्पना
11.4.2 शस्य विविधता निर्धारण विधि
11.4.3 राजस्थान में शस्य विविधता
11.5 शस्य संयोजन
11.5.1 शस्य संयोजन की संकल्पना
11.5.2 शस्य संयोजन. प्रदेशों के सीमांकन की विधियाँ
11.5.2.1 स्वैच्छिक चयन विधि
11.5.2.2 सांख्यिकीय विधि
11.5.2.2.1 वीवर की विधि
11.5.2.2.2 डोई की विधि
11.5.2.2.3 रफीउल्ला की विधि
11.5.2.2.3 कोस्टोविकी की विधि
11.6 राजस्थान में शस्य संयोजन
11.7 सारांश

11.8 शब्दावली
11.9 संदर्भ ग्रन्थ
11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
11.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

11.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे :

- कृषि मूल्यांकन की प्रविधियाँ,
- शस्य श्रेणी की संकल्पना एवं उसका विवरण,
- शस्य गहनता की संकल्पना एवं उसका मापन
- राजस्थान के शस्य गहनता
- शस्य विविधता की संकल्पना रथ राजस्थान में शस्य विविधता,
- शस्य संयोजन की संकल्पना, निर्धारण विधियाँ एवं राजस्थान के शस्य संयोजन प्रदेश ।

11.1 प्रस्तावना (Introduction)

कृषि का सूक्ष्म रख तुलनात्मक मूल्यांकन आवश्यक है ताकि कृषि विकास की संभावनाओं पर विचार किया जा सके । कृषि का मूल्यांकन कई आधारों पर किया जा सकता है जैसे शस्य श्रेणी, शस्य गहनता, शस्य विविधता, शस्य संयोजन, कृषि दक्षता / कृषि उत्पादकता आदि । इस इकाई में कृषि मूल्यांकन के केवल शस्य श्रेणी, शस्य गहनता, शस्य विविधता एवं शस्य संयोजन की विधियों का विवेचन किया गया है ।

11.2 शस्य श्रेणी (Ranking of Crops)

कृषि में विभिन्न शस्यों का उत्पादन किया जाता है । विकासशील देशों में प्राय: एक विशेष फसल को अत्यधिक वरीयता दी जाती है । परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य फसलें भी उत्पादित की जाती है । विकासशील देशों में विशेष रूप से जहाँ जौवन निर्वाह कृषि की जाती है विभिन्न प्रकार की फसलों का उत्पादन किया जाता हैं । परन्तु किसी भी देश या प्रदेश में सभी फसलें किसी भी आधार पर समान नहीं होती हैं अत: फसल विशेष के आधार पर कृषि का मूल्यांकन किया जाता है । इस विधि का उपयोग कृषि प्रादेशीकरण में किया जाता है । इस विधि को स्वैच्छिक चयन विधि कहते हैं । इस विधि में फसलों के क्षेत्रफल अथवा उत्पादन के आधार पर उनका स्थान सुनिश्चित किया जाता है । तत्पश्चात् विभिन्न कोटि की शस्य को श्रेणी का निर्धारण किया जाता है ।

11.2.1 प्रथम कोटि शस्य श्रेणी (First Ranking Crops)

इसमें किसी क्षेत्र विशेष में उत्पन्न की जाने वाली सभी फसलों का क्षेत्रफल या प्रतिशत क्षेत्र मालूम किया जाता है । यह क्षेत्रफल या प्रतिशत अध्ययन क्षेत्र के छोटी इकाई स्तर पर निकाला जाता है । उसके पश्चात् क्षेत्रफल या प्रतिशत के आधार प्रत्येक इकाई

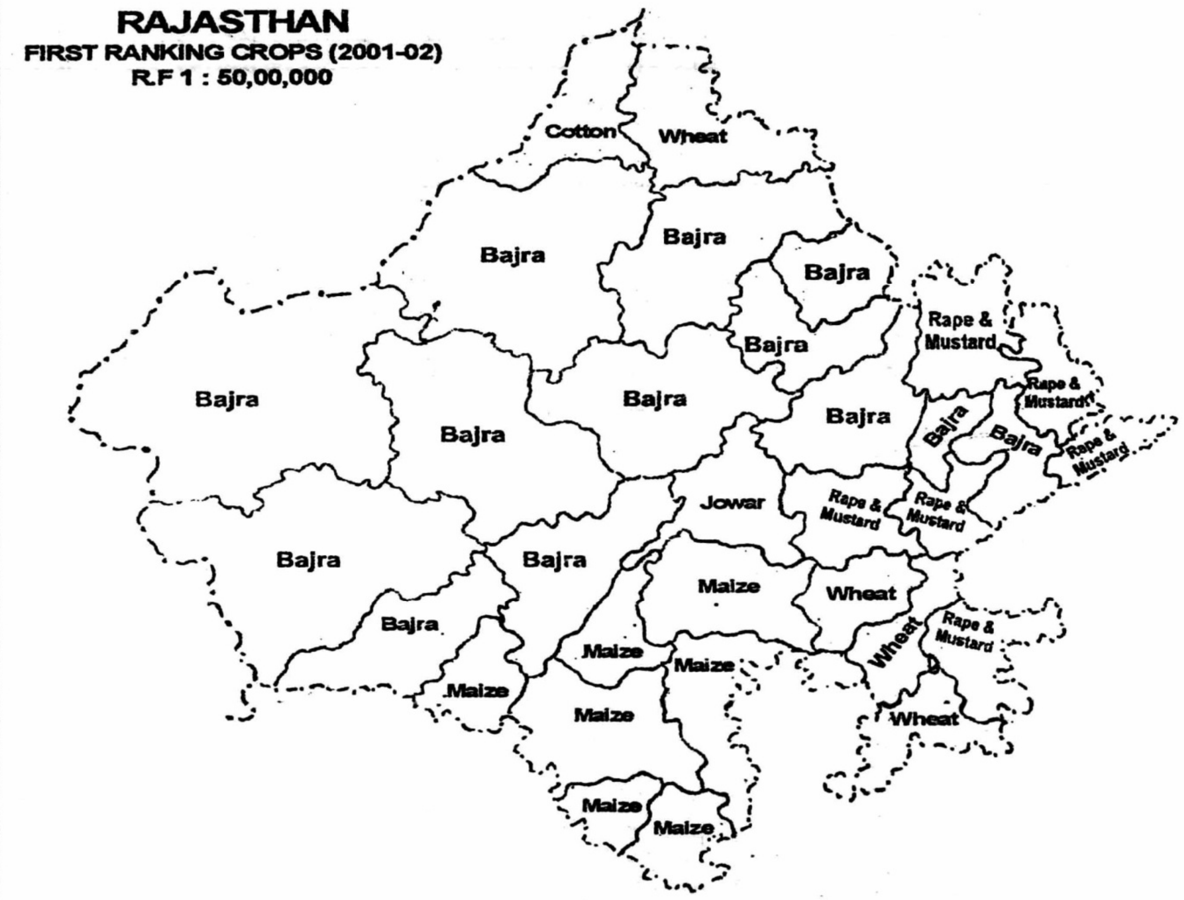

Crops in the rank	No. of Districts	% to total districts
Bajra	13	40.63
Maize	7	21.88
Rape & Mustard	6	18.75
Wheat	4	12.50
Jowar	1	3.12
Cotton	1	3.12
	32	100%

मानचित्र–11.1 : प्रथम कोटि की शस्य

Crops in the rank	No. of Districts	% to total districts
Wheat	16	50.00
Rape & Mustard	5	15.64
Bajra	4	12.56
Jowar	2	6.25
Gram	2	6.25
Maize	1	3.12
Cotton	1	3.12
Sesamum	1	3.12
	32	100%

मानचित्र–11.2 : द्वितीय कोटि की शस्य

Crops in the rank	No. of Districts	% to total districts
Wheat	9	28.13
Rape & Mustard	6	18.76
Gram	4	12.50
Jowar	3	9.38
Bajra	2	6.25
Maize	2	6.25
Rice	2	6.25
Castor seed	2	6.25
Ground nut	1	3.12
Sesamum	1	3.12
	32	100%

मानचित्र–11.3 : तृतीय कोटि की शस्य

के प्रथम कोटि वाली फसलों का चयन किया जाता है और इन्हें मानचित्र पर दर्शाया भी जा सकता है । उदाहरण के लिए2001 – 02 के आँकडों के अनुसार राजस्थान के प्रत्येक जिले की प्रथम कोटि वाली शस्यों को मानचित्र 11.1 में दर्शाया गया है जिसमें विदित होता है कि राजस्थान में बाजरा, मक्का, सरसों, गेहूँ ज्वार एवं कपास प्रथम कोटि की शस्य हैं । बाजरा राजस्थान की मुख्य शस्य है जो 13 जिलों में प्रथम कोटि की शस्य हैं जबकि मक्का 7 जिलों में प्रथम कोटि पर है । तीसरी महत्वपूर्ण शस्य सरसों है जो 6 जिलों में प्रथम कोटि पर है । गेहूँ चौथी महत्वपूर्ण शस्य है जो सिर्फ 4 जिलों में प्रथम कोटि की शस्य है ।

11.2.2 द्वितीय कोटि की श्रेणी

दूसरे कोटि की शस्यों का वितरण मानचित्र 11. 2 में दर्शाया गया है जिससे विदित होता है कि यहाँ पर द्वितीय कोटि में 8 फसलें हैं जो गेहूँ सरसों, बाजरा, ज्वार, चना, मक्का, कपास एवं तिल है । द्वितीय कोटि की शस्यों में गेहूँ का प्रथम स्थान है जो 16 जिलों में द्वितीय कोटि पर है इसके पश्चात् सरसों एवं बाजरा आते हैं जो क्रमश: 5 एवं 4 जिलों में दूसरी कोटि पर हैं ।

11.2.3 तृतीय कोटि शस्य श्रेणी (Third Ranking Crops)

इस कोटि की श्रेणी मानचित्र 11. 3 में दर्शाया गया है । जिससे ज्ञात होता है कि 10 शस्य तृतीय कोटि की है । जो गेहूँ सरसों, चना, ज्वार, बाजरा, मक्का, मूंगफली एवं तिल है । गेहूँ प्रमुख फसल है उसके पश्चात् सरसों, चना एवं बाजरा का क्रम आता है । जो क्रमश: 6, 4 रण 3 जिलों में तीसरी कोटि की शस्य हैं ।

11.3 शस्य गहनता (Cropping Intensity)

11.3.1 शस्य गहनता की संकल्पना

शस्य गहनता को कुछ भूगोवेत्ता कृषि गहनता भी कहते हैं परन्तु दोनों का तात्पर्य मूलत: एक है। दोनों का अभिप्राय: एक कृषि वर्ष किसी कृषि क्षेत्र में शस्यों के उत्पादित किए जाने की संख्या से है अर्थात् किसी निश्चित कृषि क्षेत्र में एक कृषि वर्ष में कितनी बार फसलें उत्पादित जाती है । फसलों की इसी आवृत्ति को उस कृषि क्षेत्र की शस्य गहनता कहते है । किसी कृषि क्षेत्र के शुद्ध बोये गये क्षेत्र में एक बार. दो बार या दो से अधिक शस्यों का उत्पादन किया जा सकता है । यह भी हो सकता है कि मृदा की उर्वरता के कारण शुद्ध बोये गये क्षेत्रफल का कुछ भाग साल भर परती छोड़ दिया जाय इस दशा में शस्य गहनता बहुत कम होगी । इसका तात्पर्य यह हुआ कि शस्य गहनता में शुद्ध बोये गये क्षेत्रफल एवं सकल बोये गये क्षेत्रफल का आनुपातिक सम्बन्ध है । अत: सकल बोये गये क्षेत्रफल का शुद्ध बोये गये क्षेत्रफल से अधिक होना शस्य गहनता का परिचायक है ।

शस्य गहनता भौतिक, आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक रख सांस्कृतिक दशाओं से प्रभावित होती है। साधारणतया, इन सभी घटकों के अनुकूल होने की अवस्था में शस्य गहनता अधिक होगी और इनकी घटती हुई अनुकूलता से शस्य गहनता कम होती जायेगी ।

11.3.2 शस्य गहनता की मापन विधि

शस्य गहनता के आकलन हेतु उस इकाई की शुद्ध बोये गये एवं सकल बोये गये क्षेत्रों को मालूम किया जाता है । उसके पश्चात् निम्न सूत्र से शस्य गहनता का निर्धारण किया जाता है.

$$\text{शस्य गहनता} \frac{\text{सकल बोया गया क्षेत्रफल}}{\text{शुद्ध बोया गया क्षेत्रफल}} \times 100$$

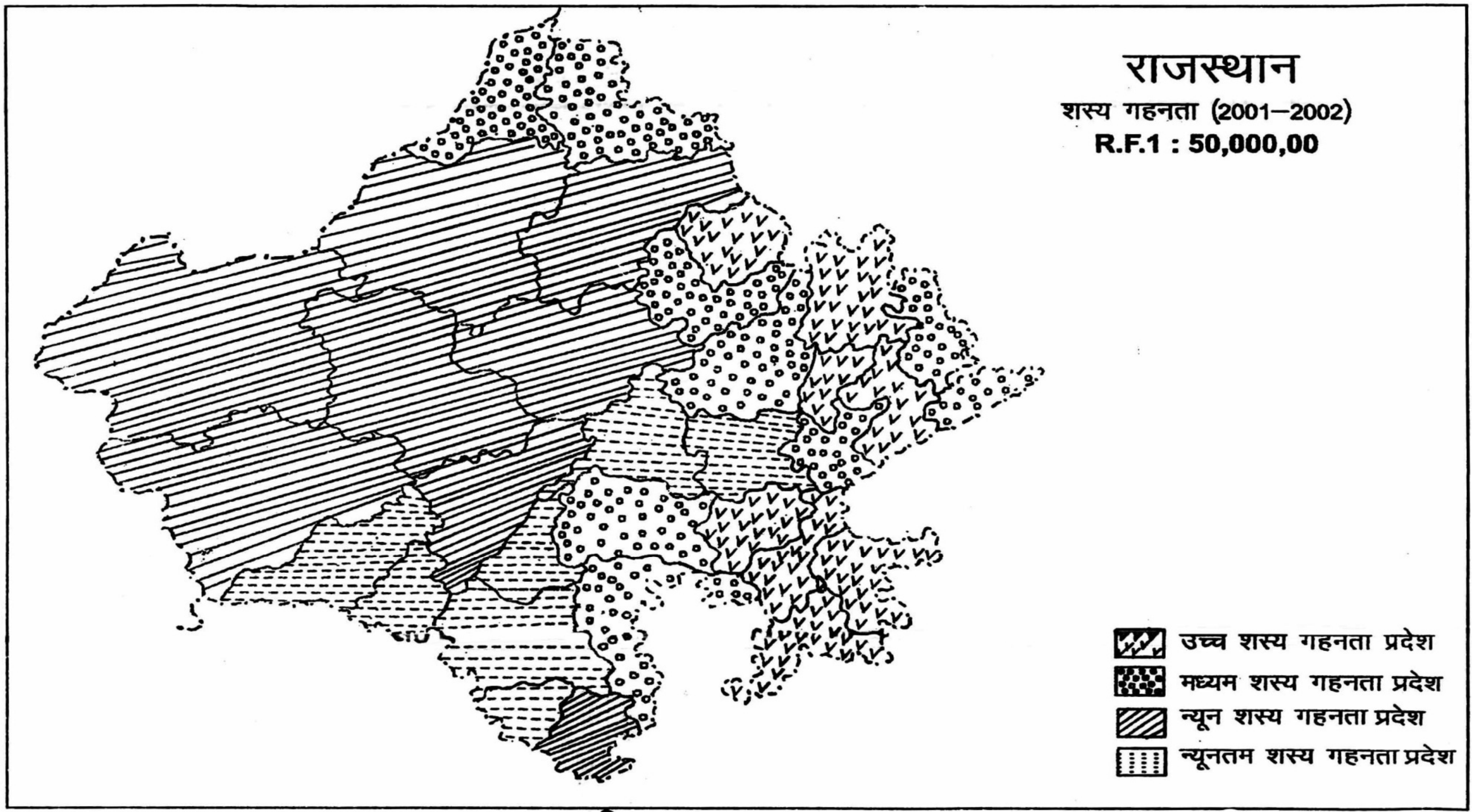

मानचित्र–11.4 : शस्य गहनता

मान लीजिए कि किसी क्षेत्र मे कुल बोया गया क्षेत्रफल 540 हे.

शुद्व बोया गया क्षेत्रफल = 300 हेक्टर

$$\text{शस्य गहनता} = \ = \frac{540}{300} \times 100 = 180\%$$

शस्य गहनता प्रतिशत में प्रदर्शित की जाती है । यह प्रतिशत जितना ही अधिक होगा शस्य गहनता उतनी ही अधिक होगी ।

11.3.3 राजस्थान में शस्य गहनता (Cropping Intensity in Rajasthan)

उपर्युक्त सूत्र के आधार पर राजस्थान के प्रत्येक जिले की शस्य गहनता 2001–02 के आँकडों के आधार पर निकाल कर उन्हें मानचित्र संख्या 11. 4 में दर्शाया गया है । इससे विदित होता है कि राजस्थान को निम्न चार शस्य गहनता वाले प्रदेशों में विभाजित किया गया है ।

तालिका – 11.1 : शस्य गहनता एवं जिलों की संख्या

शस्य गहनता प्रदेश	शस्य गहनता	जिलों की संख्या	योग %
1. उच्च शस्य गहनता प्रदेश	>145	8	25.00
2. मध्यम शस्य गहनता प्रदेश	130–145	9	28.13
3. न्यून शस्य गहनता प्रदेश	130–115	8	25.00
4. न्यूनतम शस्य गहनता प्रदेश	>115	7	21.87
	योग	32	100.00

मानचित्र 11. 4 में राजस्थान की शस्य गहनता की रूपरेखा पूर्णत : निखर कर आ जाती है । इसके विशेष वर्णन की आवश्यकता नहीं हैं ।

बोध प्रश्न– 1

1. राजस्थान में कितनी शस्य प्रथम कोटि में आती है?

....

....

2. राजस्थान में कौन –कौन सी शस्य द्वितीय कोटि में आती है?

....

....

3. राजस्थान में कितनी शस्य तीसरी कोटि में आती है?

....

....

4. शस्य गहनता निकालने का क्या सूत्र है?

....

....

5. राजस्थान में शस्य गहनता किस दिशा से किस दिशा की ओर कम होती जा रही है?

....

....

6. उच्च शस्य गहनता में कितने जिले आते हैं?

....

....

7. न्यूनतम शस्य गहनता राजस्थान के कितने प्रतिशत क्षेत्र में हैं?

....

....

11.4 शस्य विविधता (Diversification of Crops)

11.4.1 शस्य विविधता शस्य संकेन्द्रण के विपरीत है । इसका आशय किसी क्षेत्र में एक समय विशेष में उत्पन्न की जाने वाली फसलों की संख्या हैं । जिन क्षेत्रों में शस्यों की संख्या अधिक होगी वहाँ शस्य वैविध्यता भी अधिक होगी । इसके विपरीत जहाँ शस्यों के मध्य प्रतियोगिता जितनी कम होगी, उस क्षेत्र में उतनी ही शस्य विशेषीकरण होगा ।

शस्य वैविध्यता प्राय: जौवन निर्वाह कृषि वाले क्षेत्रों में अधिक पाई जाती है जहाँ पर कृषक छोटे –छोटे क्षेत्रों में भी अधिक से अधिक शस्यों का उत्पादन करके अपनी आवश्यकताओं को पूरा करना चाहता है क्योंकि मौसम के विचलन को ध्यान में रखकर कृषक विभिन्न शस्यों का चयन करता है जो उसे हर परिस्थिति में लाभप्रद होती है । शस्य विविधता मृदा की उर्वरता को भी संतुलित बनाए रखती है । शस्य विविधता कृषकों को सालभर व्यस्त रखती है अर्थात, रोजगार उत्पन्न करती है ।

11.4.2 शस्य विविधता निर्धारण विधि

शस्य वैविध्यता का मापन किसी विशेष क्षेत्र में उत्पादित की जानें वाले शस्यों की सख्या तथा स्नके अन्तर्गत क्षेत्रफल पर आधारित होती है । यदि किसी क्षेत्र में उत्पादित की जाने वाली फसलों की संख्या 10 हैं एवं प्रत्येक शस्य के अन्तर्गत 10 प्रतिशत क्षेत्र है, तो वहाँ पर शस्य विविधता सबसे अधिक होगी इसके विपरीत यदि केवल एक ही शस्य का स्वईस्तार 100% भूमि पर पाया जाता है तो शस्य विविधता शून्य होगी । फिर भी इसके आकलन के लिए अनेक विद्वानों ने प्रयत्न किये हैं परन्तु सबसे महत्वपूर्ण प्रयास एस. एस. भाटिया (1965) का है जिन्होंने शस्य वैविध्यता निर्धारण हेतु निम्न सूत्र का प्रतिपादन किया. –

$$\text{शस्य विविधता} = \frac{N \text{ शस्यों के अन्तर्गत बोये गये क्षेत्र के प्रतिशत का योग}}{N \text{ शस्यों की संख्या}}$$

यहाँ N शस्य वे है जो सकल शस्य क्षेत्र का 10 या उससे अधिक क्षेत्र पर बोई जाती है । भाटिया के अनुसार शस्य सख्या एवं

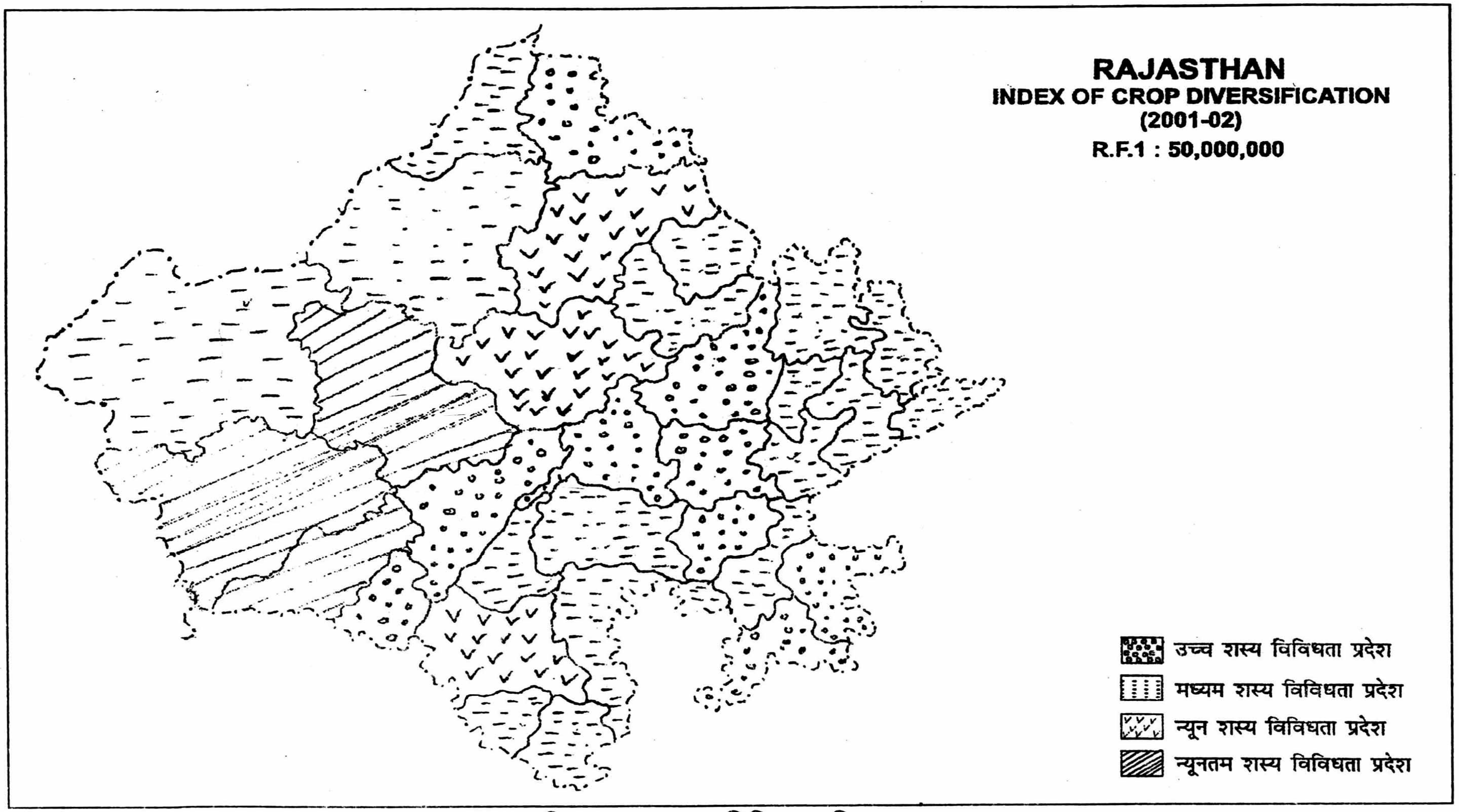

मानचित्र–11.5 : शस्य विविधता प्रतिरूप

सूचकांक मान एक दूसरे से प्रतिलोम रूप से सम्बन्धित होते हैं अर्थात् शस्य विविधता सूचकांक का उच्चमान कम शस्य विविधता को प्रदर्शित करता है जबकि कम सूचकांक मान अधिक शस्य विविधता का सूचक है ।

जसबीर सिंह ने भाटिया के सूत्र का संशोधन किया है । उन्होंने उन सभी शस्यों को सम्मिलित किया है जो कृषि क्षेत्र के 5% या उससे अधिक भाग में बोई जाती हैं ।

जसबीर सिंह के सूत्र के अनुसार राजस्थान के प्रत्येक जिले की शस्य विविधता 2001–02 के आँकडों के अनुसार निकाली गई है और मानचित्र संख्या 11.5 में प्रदर्शित की गई है । इसमें प्रदेश को चार शस्य वैविध्यता वाले प्रदेशों में विभाजित किया है । इस मानचित्र से ज्ञात होता है कि राजस्थान के पूर्वी भाग में शस्य वैविध्यता अधिक है और पश्चिमी भाग में कम हैं ।

बोध प्रश्न – 2

1. भाटिया का शस्य वैविध्यता निकालने का क्या सूत्र है?

   ....

   ....

2. राजस्थान को कितने शस्य विविधता प्रदेशों में विभाजित किया गया है?

   ....

   ....

3. जसबीर सिंह ने शस्य विविधता ज्ञात करने के लिए कितने प्रतिशत वाली शस्य को किया?

   ....

   ....

4. शस्य विविधता सूचकांक व शस्य संख्या में किस प्रकार का सम्बन्ध है? ।

   ....

   ....

11.5 शस्य संयोजन (Crop Combinations)

11.5.1 शस्य संयोजन की संकल्पना

शस्य संयोजन का मूलभूत आधार यह है कि फसलें साधारणतया किसी कृषि क्षेत्र में एक कृषि (वर्ष में अकेले नहीं बोई जाती हैं अपितु अन्य शस्यों के संयोजन में उत्पादित की जाती हैं । इनमें एक विशिष्ट फसल होती है जो सबसे अधिक क्षेत्र में बोई जाती है और इसी के साथ–साथ गौण शस्य भी उत्पन्न की जाती है । विशिष्ट फसलों का चयन क्षेत्र विशेष के भौगोलिक तथा पारिस्थितिकी दशाओं के आधार पर होता है । तत्पश्चात् गौण शस्यों का भी चयन किया जाता है। इस प्रकार से किसी क्षेत्र में बोई जाने वाली प्रमुख शस्यों के समूह को शस्य संयोजन कहते हैं। शस्य संयोजन के आधार पर शस्य संयोजन प्रदेशों का निर्धारण किया जाता है । शस्य संयोजन कृषि प्रादेशीकरण का एक ठोस आधार प्रस्तुत करता है । इससे कृषि की क्षेत्रीय विषमताओं को आसानी से समझा जा सकता है । शस्य संयोजन का निर्धारण उन शस्यों के स्थानिक महत्व के आधार पर किया जाता है । जिनमें क्षेत्रीय सहसम्बन्धता पाई खाती है । शस्य संयोजन प्रदेश के

अध्ययन से कृषि प्रकृति, पद्धति, उसकी विशेषताओं, समस्याओं आदि का ज्ञान प्राप्त होता है । शस्य संयोजन का स्वरूप मुख्यतया उस क्षेत्र विशेष के प्राकृतिक, आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दशाओं का प्रतिरूप होता है अत: शस्य संयोजन भौतिक मानव सम्बन्धों को प्रदर्शित करता है । शस्य संयोजन कृषि नियोजन एवं समस्याओं के निदान में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है ।

11.5.2 शस्य संयोजन प्रदेशों के निर्धारण की विधि

भूगोलवेत्ताओं ने शस्य संयोजन की अनेक विधियों को प्रतिपादित किया है, जिनकों मुख्यतया दो शीर्षकों में बाटा जा सकता है.

(i). स्वैच्छिक चयन विधि

(ii). सांख्यिकी विधि'

11.5.2.1 स्वैच्छिक चयन विधि

शस्य कोटि विधि (Crop Ranking Method) : इस विधि में शस्य संयोजन के निर्धारण में स्वेच्छा से शस्यों का चयन किया जाता है । कुछ विद्वानों ने प्रथम कोटि की शस्यों के आधार पर कृषि प्रादेशीकरण किया है जैसे जसबीर सिंह, रामचन्द्रन, रन्धावा आदि । सिंह ने इसे प्राथमिक शस्य उत्पादन प्रदेश कहा है । परन्तु इस विधि की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि प्रथम कोटि की शस्य ही हर कृषि क्षेत्र में महत्वपूर्ण शस्य नहीं होती है । द्वितीय, तृतीय अथवा अन्य कोटि की शस्येंभी महत्वपूर्ण हो सकती हैं । उदाहरणार्थ यदि किसी क्षेत्र में प्रथम कोटि शस्य के अन्तर्गत 40 प्रतिशत क्षेत्र है और दूसरी शस्य के अन्तर्गत 39 प्रतिशत । अत: दूसरी कोटि की शस्य भी महत्वपूर्ण है । कुछ विद्वानों ने प्रथम कोटि कं शस्यों के आधार पर शस्य संयोजन प्रादेशीकरण किया है परन्तु यही तर्क तीसरी कोटि की शस्य के लिए भी दिया जा सकता है । जहाँ किसी कृषि क्षेत्र में पहली, दूसरी रथ तीसरी कोटि की शस्य के अंदर क्रमश 30, 29 रण 28 प्रतिशत क्षेत्र है । ऐसी दशा में तीन शस्यों के आधार पर तीन शस्य संयोजन प्रदेशों का निर्धारण किया है । इसी प्रकार चौथी, पांचवी आदि शस्यों के बारे में तर्क दिया जा सकता है अत : यह विधि स्वैच्छिक चयन पर आधारित होने के कारण न तो तर्कसंगत है और न ही वस्तुनिष्ठ है । इसलिए शस्य संयोजन में सांख्यिकी विधि अधिक न्यायसंगत है।

11.5.2.2 शस्य संयोजन की सांख्यिकी विधि

इस विधि का विकास विचरकों (Variables) के आधार पर होता है जोकि पूर्ण विभिन्नता के बजाय सापेक्षिक भिन्नता पर आधारित होते है अत : यह अधिक विश्वसनीय, वास्तविक एवं सही है । भूगोलवेत्ताओं ने अनेकों सांख्यिकीय. शस्य संयोजन विधियों का प्रतिपादन किया है या उनमें संशोधन किया है जैसे वीवर, नेल्सन. डोई, रफीउल्लाह, थोमस आदि । प्रत्येक विधि में अपने दोष रख गुण है । यहाँ पर प्रत्येक विधि का विवेचन संभव नहीं है । अत: केवल वीवर र डोई, रफीउल्लाह व कोष्ट्रोविकी की विधियों की व्याख्या की जा रही है ।

11.5.2.2.1 शस्य संयोजन की वीवर की विधि (Weaver's Method of Crop Combination)

जे सी. वीवर ने 1954 में संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य–पश्चिम क्षेत्र में शस्य संयोजन का निर्धारण किया है । वीवर की सांख्यिकीय विधि ने कृषि भूगोल अध्ययन में क्रान्ति लाई इनकी विधि में संशोधन बहु त से विद्‌वानों ने किया है ।

वीवर की विधि का आधार यह है कि शस्यों के वितरण का सेद्धान्तिक वितरण समान होता है अर्थात् एक शस्य क्षेत्र में 100 % दो शस्यों क्षेत्र में प्रत्येक शस्य 50% तीन शस्य क्षेत्र में प्रत्येक शस्य 33.33 % चार शस्य क्षेत्र में प्रत्येक शस्य 25% पांच शस्य क्षेत्र में प्रत्येक शस्य 20%.. आदि । इसका तात्पर्य यह हु आ कि शस्य संयोजन में जितनी शस्य होगी उन्हीं के अनुरूप उनका प्रतिशत भाग समान होगा । परन्तु किसी भी क्षेत्र में शस्यों का वास्तविक वितरण इस सेद्धान्तिक वितरण से भिन्न होता है वीवर ने इसी विभिन्नता को ध्यान में रखकर शस्य संयोजन हेतु मानक विचलन विधि का सूत्र का उपयोग किया है जो इस है:

$$\sigma = \sqrt{\frac{\sum d2}{n}}$$

जहाँ

σ = शस्य संयोजन का प्रसरण मान

d= शस्यों के सेद्धान्तिक एवं वास्तविक शस्य क्षेत्र का अन्तर

n= शस्य संयोजन में शस्यों की संख्या

इस विधि में सबसे पहले प्रत्येक शस्य के क्षेत्र का सकल कृषि क्षेत्र से प्रतिशत ज्ञात किया जाता है । इसके पश्चात् एक प्रतिशत से ऊपर वाली शस्यों को प्रतिशत के अनुसार अवरोही क्रम में व्यवस्थित किया जाता है । तत्पश्चात शस्यों के सेद्धान्तिक एवं वास्तविक प्रतिशत के अन्तर का वर्ग निकाल कर उन्हें जोड़ा जाता है । जोड़ को शस्यों की उतनी ही संख्या से विभाजित कर शस्य संयोजन का मान प्राप्त किया जाता है । अन्ततः सबसे कम मान वाली शस्य संयोजन समूह ही उस इकाई क्षेत्र का शस्य संयोजन होगा । इस विधि का निम्न उदाहरण से स्पष्टीकरण हो जायेगा । मान लीजिए किसी कृषि क्षेत्र 'क ' में सकल बोये गये क्षेत्रफल का गेहूँ 54 % धान 24%, गन्ना 13% कपास 5% एवं मटर 2% क्षेत्र पर बोया जाता है । छठी शास्य का क्षेत्रफल एक प्रतिशत से कम है इसलिए संयोजन में नहीं लिया जा सकता है तो वीवर की विधि द्‌वारा शस्य संयोजन का परिकलन निम्न प्रकार से किया जायेगा :–

एक शस्य संयोजन $= \frac{(100-54)^2}{1} .... \frac{2116}{1} = 2116$

दो शस्य संयोजन $= \frac{(50-54)^2 + (50-24)^2}{2} .... \frac{292}{2} = 346$

तीन शस्य संयोजन $= \frac{(33.34-54)^2 + (33.33-24)^2 + (33.33-13)^2 ... \frac{927}{3} = 309}{3}$

चार शस्य संयोजन $= \dfrac{(25-54)^2+(25-24)^2+(25-15)^2+(25-5)^2 \ldots \frac{1378}{4}=347}{4}$

पाँच शस्य संयोजन $= \dfrac{(20-54)^2+(20-24)^2+(20-13)^2+(20-5)^2+(20-2)^2}{5}$

$\ldots\ldots\ldots \dfrac{1770}{5}=354$

उपरोक्त गणना के अनुसार न्यूनतम मान तीन शस्य संयोजन –का है अत : इस क्षेत्र का शस्य संयोजन गेहूँ र धान एवं गन्ने का है,वीवर की विधि की आलोचना अनेक विद्वानों ने मुख्यतया दो आधारों पर की है । प्रथम इसमें गणना (Calculation) अधि न है 1 दूसरा बहु त जटिल शस्य स्वरूप वाले क्षेत्र में इसका नतीजा वास्तविकता से अलग होता है ।

11.5.2.2.2 डोई की शस्य संयोजन विधि (Doi's Method of Crop Combination)

कीकू काजू डोई (K.k.Doi) एक जापानी महिला है जिन्होंने वीवर की सभी मान्यताओं को स्वीकार किया तथा सभी आँकडों की गणना उसी प्रकार से की हैं । परन्तु उन्होंने वीवर की विधि में दो प्रकार का संशोधन किया है । प्रथम शस्य संयोजन के सूत्र को $\sigma 2=\dfrac{\sum d^2}{n}$ के स्थान पर $\sigma 2=\sum d^2$ कर दिया है अर्थात् उन्होंने शस्यों के सेद्धान्तिक एवं वास्तविक अतर के की के योग को शस्यों की संख्या से विभाजित नहीं किया है बल्कि इसी को शस्य संयोजन का आधार माना है । जिस संयोजन में विचलन का मान सबसे कम है उसे ही उस क्षेत्र विशेष का शस्य संयोजन मान लिया है । इस प्रकार से यदि वीवर के सूत्र को स्पष्ट करने का उदाहरण देखें तो सेद्धान्तिक एवं वास्तविक शस्यों के वर्गो के अतर का सबसे कम योग 692 है जो दो शस्यों के संयोजन का है अर्थात् डोई के अनुसार इस क्षेत्र का शस्य संयोजन गेहूँ एवं चावल है ।

डोई ने न्यूनतम विचलन की गणना को स्व तालिका बनाकर सरल कर दिया है । प्रत्येक संयोजन में लिए सेद्धान्तिक एवं वास्तविक प्रतिशत क्षेत्रफलों के अन्तर का वर्ग निकालना एवं उनका योग प्राप्त करना आवश्यक नहीं रह गया है । तालिका में संयोजन की सभी शस्यों के प्रतिशत के योग के सन्दर्भ में संयोजन की अगली शस्य का क्रान्तिक मान (Critical Value) दिया हूँ । यदि अगली शस्य का प्रतिशत उस क्रान्तिक मान से अधिक है तो उसे संयोजन में शमिल किया जायेगा, अन्यथा नहीं । इस क्रान्तिक मान की तालिका का एक अश तालिका 11. 2 में दिया गया है ।

तालिका – 11.2 : कीकू काजू डोई द्वारा निर्धारित शस्य संयोजन हेतु क्रान्तिक मान

शस्य कोटि	संयोजन में सम्मिलित शस्यों के प्रतिशत का योग			
	50.00	61.00	75.00	83
2	0.00	12.58	–	–
3	0.00	6.05	16.67	–
4	0.00	3.96	10.57	16.34
5	0.00	2.97	7.75	11.63

6	0.00	2.37	6.13	9.07

Source Kalwar S.C. (1977) Agricultural Land Use in Jaipur District. Unpublished ph. D. Thesis. Unuiversity of Rajasthan. Jaipur; PP. 299–302.

इस तालिका की मदद से जयपुर जिले की फुलेरा तहसील की फसलों के क्षेत्र के प्रतिशत के आधार पर शस्य संयोजन की ग़ [सकते हैं । फुलेरा तहसील में विभिन्न शस्यों के अन्तर्गत क्षेत्र इस प्रकार है :

क्र. सं.	शस्य	क्षेत्र प्रतिशत में
1	बाजरा	42.00
2	ग्वार	19.00
3	मोठ	14.00
4	जौ	8.00
5	मूंग	6.00

तालिका में 50 प्रतिशत क्षेत्र के लिए कोई क्रांतिक मान नहीं है, अत : उतनी फसलों के प्रतिशत क्षेत्र का योग करना पड़ता है जिनका योग 50 प्रतिशत से अधिक हो जायें । इस कारण प्रथम दो फसलों का योग करना होगा (42+19) जो 61 होता है । अत : 61 प्रतिशत योग वाले स्तम्भ में तीसरी शस्य कोटि का क्रांतिक मान पड़ेंगे जो 6.05 है । फुलेरा तहसील की तीसरी शस्य का प्रतिशत 14.00 है जो इस क्रांतिक मान से अधिक है अत : इसे शस्य संयोजन में शमिल कर लेंगे । अब पुन : प्रथम तीन शस्यों का योग (42+19+14) 75 होता है । तालिका में 75 प्रतिशत योग के स्तम्भ में चौथी शस्य कोटि का क्रांतिक मान 10.57 है परन्तु फुलेरा तहसील की चौथी शस्य केवल 8 प्रतिशत है जौ क्रांतिक मान से कम है अत : इसे शस्य संयोजन में शामिल नहीं करेंगे अत : फुलेरा तहसील में तीन शस्यों का अर्थात बाजरा – ग्वार – मोठ का शस्य संयोजन है।

उपरोक्त विधि से तालिका 11.3 की मदद से विभिन्न प्रशासनिक इकाईयों का शस्य संयोजन सरलता से ज्ञात कर सकते हैं ।

एस.एस. रफीउल्ला की विधि (S.M.Raffiullah's Method):

रफीउल्ला (1965) ने वीवर की विधि से ऊपरी गंगा – यमुना दोआब के बुलन्दशहर, मेरठ, मुजफ्फर नगर एवं सहारनपुर जिलों के नगरों व कास्बों का कार्यात्मक वर्गीकरण (Functional classification of Towns) किया तो अपेक्षित परिणाम नहीं निकले तो उन्होंने कार्यात्मक वर्गीकरण के लिए नई विधि अपनाई जो इस प्रकार है ।

$$\sigma\sqrt{\frac{\sum D^2 p-\sum D^2 n}{N^2}}$$

Where σ is (15) in the deviation, D_p is the positive difference and D_n is the negative difference from the medial value of the theoretical– curve value of the combination, and N is the number of functions in the combination.

इन्होंने यह बताया कि उपरोक्त सूत्र में भी वर्गमूल निकालने की आवश्यकता नहीं है और: उपरोक्त सूत्र को इस प्रकार लिखा जा सकता है :

$$\sigma^2 = \frac{\sum D^2{}_p - \sum D^2{}_n}{N^2}$$

इसमें σ^2 की अधिकतम धनात्मक मूल्य (Maximum positive Value)वाला संयोजन ही शस्य संयोजन होगा जो निम्न उदाहरण से स्पष्ट है :

माना कि राजस्थान के जयपुर जिले में गेहूँ 68 प्रतिशत, बाजरा 20 प्रतिशत, सरसों 8प्रतिशत व जौ 4 प्रतिशत तो जयपुर जिले के शस्य संयोजन की गणना इस प्रकार करेगे ।

जयपुर जिले के शस्य संयोजन का विचलन विश्लेषण

तालिका–11.3 : फसलों का प्रतिशत एवं उनका क्रान्तिक मान

	2		3		4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14
A	B	A	B	A	B	B	B	B	B	B	B	B	B	B	B
70.5	28.79	78.5	20.64	94		…	…	….	…	…..	….	….	….	…..	6.51
70.0	27.64	78.5	20.64	93	…	…	…..	….	….	….	……	6.97	6.27	5.68	5.20
69.5	26.55	77.5	19.58	92	…	….	……	……	……	….	7.42	6.59	5.92	5.39	4.94
69.0	25.51	77.0	18.81	91	….	….	….	……	……	8.12	7.02	6.25	5.3	5.13	4.68
68.5	24.50	76.5	18.25	90	….	…..	…..	…..	8.84	7.60	6.67	5.94	5.35	4.88	4.49
68.0	23.54	76.0	17.71	89	…	….	….	10.00	8.38	7.22	6.35	5.66	5.11	4.67	4.29
67.5	22.61	75.5	17.30	88	….	….	11.63	9.47	7.97	6.89	6.06	5.41	4.89	4.47	4.10
67.0	21.72	75.0	16.67	87	….	….	11.09	9.00	7.59	6.57	5.78	5.17	4.68	4.28	3.92
66.5	20.85	….	….	86	….	13.68	10.52	8.57	7.24	6.27	5.52	4.94	4.48	4.09	3.76
66.0	20.00	74.5	16.03	85	….	12.93	10.00	8.16	6.92	5.99	5.28	4.73	4.29	391	3.60
65.5	19.18	74.0	15.68	84	…..	12.25	9.52	7.78	6.60	5.73	5.05	4.53	4.10	3.75	3.45
65.0	18.38	73.5	15.21	83	16.34	11.63	9.07	7.43	6.30	5.47	4.83	4.33	3.93	3.60	3.20
…..	….	73.0	14.76	82	15.44	11.06	8.64	7.09	6.02	5.23	4.62	4.41	3.76	3.45	3.16
64.5	17.60	72.5	14.33	81	14.58	10.51	8.24	6.17	5.75	5.00	4.42	3.96	3.60	3.29	3.03
64.0	16.83	72.0	13.90	80	13.83	10.00	7.85	6.45	5.49	4.77	4.22	3.79	3.35	3.13	2.90
63.5	16.09	71.5	13.48	79	13.10	9.51	7.48	6.17	5.24	4.56	4.03	3.62	3.29	3.01	2.77
63.0	15.39	71.0	13.08	78	12.43	9.05	7.12	5.88	5.00	4.35	3.85	3.45	3.14	2.88	2.65
62.5	14.64	70.5	12.66	77	11.78	8.60	6.78	5.60	4.77	4.15	3.68	3.30	3.00	2.75	2.53
62.0	13.94	70.0	12.25	76	11.16	8.17	6.45	5.23	4.45	3.96	350	3.24	2.85	2.62	2.29
61.5	13.26	…	…	75	10.57	7.75	6.13	5.06	4.32	3.76	3.33	2.99	2.71	2.48	2.29
60.0	11.27	68.5	11.10	72	8.93	6.58	5.22	4.32	3.69	3.21	2.85	2.56	2.33	2.14	1.97
….	….	68.0	10.73	71	8.42	6.22	4.93	4.07	3.49	3.03	2.7	2.43	2.21	2.03	1.87
59.5	10.63	67.5	10.36	70	7.93	5.90	4.65	3.86	3.23	2.87	2.55	2.29	2.09	1.92	1.75
59.0	10.00	67.0	10.00	69	7.44	5.51	4.38	3.63	3.10	2.70	2.40	2.16	1.97	1.87	1.66
58.5	9.38	66.5	9.67	68	6.98	5.17	4.11	3.41	2.91	2.54	2.25	2.03	1.85	1.69	1.56
58.0	8.77	66.0	9.30	67	6.51	4.83	3.85	3.19	2.72	2.37	2.11	1.90	1.73	1.58	1.47
57.5	8.17	65.0	8.66	66	6.07	4.51	3.59	2.98	2.54	2.22	1.97	1.77	1.61	1.47	1.37
57.0	5.57	64.0	7.95	65	5.63	4.19	3.34	2.77	2.37	2.07	1.84	1.65	1.50	1.37	1.28
56.5	6.99	63.0	7.31	64	5.21	3.88	3.08	2.56	2.19	1.91	1.71	1.52	1.40	1.28	1.1
56.0	6.41	62.0	6.67	63	4.80	3.57	2.85	2.36	2.02	1.76	1.57	1.41	1.30	1.18	1.09
55.0	5.39	61.0	6.05	62	4.39	3.27	2.61	2.16	1.85	1.61	1.45	1.29	1.20	1.08	1.00
54.0	4.17	60.0	5.46	61	3.96	2.97	2.37	1.97	1.68	1.47	1.30	1.7	1.00	0.99	0.89

53.0	3.10	…	….	60	3.59	2.68	2.14	1.78	1.52	1.32	1.18	1.06	0.99	0.89	0.82
52.0	2.04	59.0	4.87	59	3.21	2.39	1.91	1.59	1.36	1.18	1.06	0.99	0.89	0.80	0.74
51.0	1.01	58.0	4.88	58	2.85	2.11	1.69	1.40	1.20	1.03	0.94	0.4	0.79	0.71	0.66
50.0	0.00	57.30	3.70	57	2.48	1.83	1.47	1.22	1.04	0.91	0.81	0.73	0.69	0.62	0.57
…	….	56.0	3.15	56	2.07	1.56	1.25	1.04	0.89	0.78	0.69	0.63	0.60	0.54	0.48
49.0	….	55.0	2.60	55	1.73	1.09	1.04	0.86	0.74	0.64	0.57	0.53	0.50	0.45	0.39
48.0	….	54.0	2.06	54	1.39	1.05	0.82	0.68	0.54	0.50	0.45	0.42	0.40	0.36	0.31
47.0	….	53.0	1.54	53	1.05	0.76	0.61	0.51	0.44	0.37	0.35	0.32	0.30	0.27	0.32
46.0	…	52.0	1.03	52	0.70	0.51	0.41	0.34	0.29	0.24	0.25	0.21	0.20	0.18	0.17
45.0	…	51.30	0.50	51	0.36	0.25	0.20	0.17	0.15	0.12	0.12	0.11	0.10	0.06	0.09
44.0	…	50.0	0.00	50	…	…	…	…	…	…	….	….	….	….	……

सूत्र $\sigma 2 = \frac{\sum D^2{}_p - \sum D^2{}_n}{N^2}$

Crop Combination	Mono Culture	two Corps Combination		Three crops Combination			Four Crops Combination			
Crop	Wheat	Wheat	Bajra	Wheat	Bajra	Mustard	Wheat	Bajra	Mustard	Barler
Actual%	68	68	20	68	20	8	68	20	8	4
Middle value of % of theoretical base–curve	50	25	25	16.7	16.7	16.7	12.5	12.5	12.5	12.5
Difference (D)	+18	+43	–5	+51.3	+3.3	–8.7	+55.5	+7.5	–4.5	–8.5
D^2	+324	+1849	–25	+2631.69	+10.89	–75.69	+3080.25	+56.25	–20.25	–72.25
Net sum of D^2	+324	+1824	+2566.89				+3044			
Sum divided by N^2	+324	+456	+285.21				+190.25			

उपरोक्त परिकलन में अधिकतम धनात्मक संख्या +456 है जो दो शस्य संयोजन की है अंत: उपरोक्त आकड़ों के परिकलन के अनुसार जयपुर जिला गेहूँ–बाजरा शस्य संयोजन प्रदेश है।

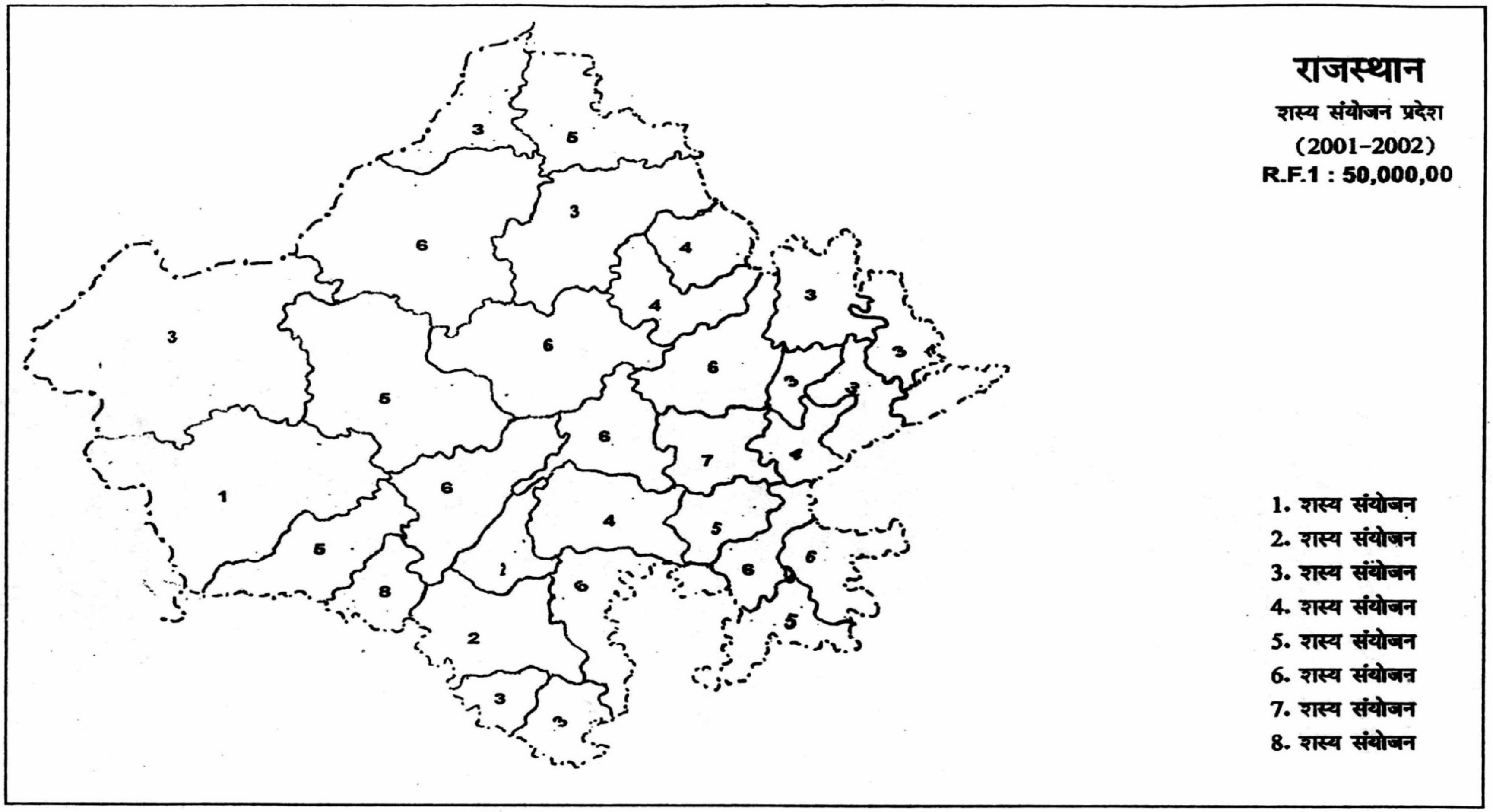

मानचित्र–11.6 : शस्य संयोजन प्रदेश

शस्य संयोजन की कोस्ट्रोविकी विधि (Kostrovicki's Method of Crop Combination)

पोलैण्ड के जे. कोस्ट्रोविकी ने Crop crop orientations ज्ञात करने के लिए शस्यों के गुणात्मक प्र मात्रात्मक पहलुओं का ध्यान रखा है । शस्यों की विशेषताओं के अनुसार उन्होंने समस्त शस्यों को तीन समूहों में विभाजित किया है ।

1. **Extractive Crops :** ऐसी शस्य जो मृदा से पौषक तत्वों का अधिक उपयोग करती है एवं मृदा में उर्वरता बनाये रखने के लिए खाद, रासायनिक उर्वरकों, हरी खाद एवं शस्य चक्र की आवश्यकता पड़ती है । इस शस्य समूह में अन्न रख अन्न वाली शस्यों के अनुरूप विशेषताओं वाली शस्यों को सम्मिलित किया जाता है ।
2. **Intensive Crops :** इस शस्य समूह में ऐसी शस्यें शामिल की जाती है जिन्हें अधिक उर्वरकों, अधिक खाद, अधिक सिंचाई, अधिक श्रम और शस्य उत्पादन में अधिक सावधनी रखनी पड़ती है जैसे सब्जियों का उत्पादन इत्यादि।
3. **Structure Forming Crops** : एसी शस्यें जो मृदा में नाइट्रोजन की मात्रा में वृद्धि करती है, जिनमें अधिक उर्वरका खाद व: श्रम की आवश्यकता नहीं होती है । ऐसी शस्यों की जड़ों में गांठे रहती है जिनसे मृदा में नाइट्रोजन की मात्रा में वृद्धि होती है जैसे चने व अन्य दालें इत्यादि की शस्य।

शस्यों का सछ बनाने के उपरान्त यदि किसी शस्य सच्छ का क्षेत्र 20 या 20 प्रतिशत से कम होता है तो उस समूह को Corp orientation निर्धारित करते समय उस पर विचार नहीं किया जाता है । अन्य शस्य समूहों का Role and Rank इस प्रकार निश्चित किया जाता है

तालिका 11.4 : Percentage Group of Crops, Role and Rank

Percentage Group of Crops	**Role**	**Rank**
Over 80 per cent	Dominat	4
60–80 per cent	Preponderant	3
40–60 per cent	Equal	2
20–40 per cent	Accompanying	1

उपरफ्ते तालिका के अनुसार शस्यों के समूहों के प्रतिशानुसार उनकी श्रेणी (Rank) का Base powers लिखा जाता है । प्रत्येक शस्य समूह के नाम का प्रथम वर्ण (Letter) Capital में लिखा जाता है तथा शस्य समूह के प्रतिशतानुसार उनकी श्रेणी (Rank) का Base power लिखा जाता है। शस्य समूह में सर्वाधिक प्रतिशत वाली शस्य dominat होती है तथा dominant Crop की 60 प्रतिशत वाली शस्य co–dominant होती है ।

यदि इसके बाद अगली शस्य भी co–dominant की प्रतिशत या इससे अधिक होती है तो उसे भी Crop orientation निर्धारित करने में शामिल किया जायेगा। Crop oriention निश्चित करते समय dominant तथा co– dominant शस्यों का प्रथम वर्ण small letter में लिखा जाता है जो जयपुर जिले की फुलेरा एवं आमेर तहसीलों के उदाहरण से स्पष्ट है :

तालिका 11.5: Group of Crops and Percentage of Individual Crop to the Total Cropped Area

Name of group and Crops	Symbol	Phulera Tehsil (%)	Amber Tehsil (%)
Extractive crops	E	57.06	60.41
Bajra	b	41.94	40.25
Barley	bly	8.08	6.83
Wheat	w	3.82	5.94
Gojra (wheat + barley)	gra	1.54	1.89
Jowar	j	0.94	0.02
Maize	m	0.60	1.26
Bejar (Barley + gram)	br	0.4	3.60
Intensive Crops	I	(Less tham 20 per cent to tooal cropped area and, therefore, not considered)	
Structure forming	S	4.048	36.44
Guar	gr	19.14	8.99
Moth	mt	5.87	1.07
Chaunla	ch	3.43	11.98
Gram	gm	0.47	1.34
Sesame	se	1.77	1.01
Groundnut	gnt	0.06	1.49

उपरोक्त तालिका से अवगत होता है कि फुलेरा में तहसील में extractive crops 57.06 प्रतिशत (40 से 60 प्रतिशत वाले समूह में) होने से इसकी श्रेणी (Rank) द्वितीय है। Structre Forming शस्यों का प्रतिशत 40.48 होने से इसकी श्रेणी भी है। Extractive crops में सर्वाधिक प्रतिशत बाजरा की शस्य का है और इसकी सह मुख्य (co–dominant) शस्य कोई नहीं है। फुलेरा तहसील जयपुर जिले के पश्चिम स्थित है जो नागौर जिले के समीपवर्ती है। इस तहसील की मरूस्थलीय दिशाएं होने के कारण बाजरा के अतिरिक्त अन्य अन्न वाली शस्य अमहत्वपूर्ण है। संरचनात्मक शस्यों में मुख्य शस्य ग्वार है था सह मुख्य मोठ है। इस प्रकार इस तहसील का शस्य संयोजन:

$$E_2 \text{ b+ } S_2 \text{ gr mt}$$

इसी प्रकार आमेर तहसील का शस्य संयोजन E_3 b + S_1 ch mt होगा। कोस्ट्रोविकी की शस्य संयोजन विधि बहुत ही सरल है लेकिन कई दफा महत्वपूर्ण शस्य होते हुए भी शस्य संयोजन में शामिल नहीं हो पाती है।

एस.सी. कलवार (1990) ने जयपुर जिले की समस्त 15 तहसीलों का वीवर, डोई, पौनल एवं नेल्सन, रफीउल्ला व कोस्ट्राविकी की विधि से शस्य संयोजनों का निर्धारण किया तो ज्यादा संतोषप्रद परिणाम नहीं निकलें क्योंकि जयपुर जिले की समस्त तहसीलों में शस्य विविधता अत्यधिक है तथा शस्यों के प्रतिशत में कम अन्तर होने पर शस्य संयोजनों में शस्यों की संख्या अधिक आती है जो निम्न तालिका से स्पष्ट है :

तालिका–11.6 : जयपुर जिले की तहसीलों में शस्य संयोजन की विभिन्न विधियों से शस्य संयोजन प्रदेशों का निर्धारण

तहसील	वीवर	डोई	अय्यर	पौनल एवं नेल्सन	रफीउल्ला	कोस्ट्रोविकी
आमेर	8	7	6	5	3	4
बस्सी	8	6	5	6	3	3
बसवा	17	5	5	8	4	4
चाकसू	10	7	5	7	4	5
दीसा	6	6	5	8	4	5
जयपुर	6	4	6	4	3	3
जमवारामगढ़	7	5	4	3	3	
लालसोट	12	5	6	5	4	4
फागी	8	7	6	7	4	4
फुलेरा	8	3	5	5	3	3
साँगानेर	5	5	5	5	3	3
कोटपूतली	8	5	4	4	3	3
सिकराय	11	7	7	5	4	4
दूदू	6	5	5	4	4	4
विराटनगर	14	6	6	5	3	3

Source : Kalwar , S. C. (1990) Delineation of Crop Combination Regions of Jaipur Distraict (Ed) Trinds in Ecological Georaphy, Pointer Publishers, Jaipur pp. 126–138.

उपरोक्त तालिका से अवगत होता है कि जहाँ शस्यों के क्षेत्र में बहुत कम अन्तर होता है तो उन क्षेत्रों में रफीउल्ला व कोस्ट्रोविकी विधि से शस्य संयोजन का निर्धारण किया जा सकता है।

11.6 राजस्थान के शस्य संयोजन प्रदेश

महोदया की विधि का उपयोग करके 2001–02 के आँकड़ों के आधार पर राजस्थान में शस्य संयोवन का निर्धारण किया जो मानचित्र 11.6 में दिया गया है । इस मानचित्र से स्पष्ट है कि यहाँ पर शस्य अधिक है कुल मिलाकर 11 शस्य शस्य में सम्मिलित हुई है । यहाँ पर एक शस्य संयोजन से 8 शस्य तक पाई जाती है । शस्य संयोजन में आई मुख्य शस्य ज्वार, मक्का, गेहूँ, चावल, मूंगफली, तिल, कपास, चना तथा जौ हैं ।

एक शस्य प्रदेश केवल बाड़मेर जिले में पाया जाता है जहाँ बाजरा कुल कृषि क्षेत्र के 54 प्रतिशत भाग में उत्पादित किया है । दो शस्य संयोजन केवल दो जिले उदयपुर (मक्का एवं गेहूँ) एवं राजसमन्द (मक्का एवं गेहूँ) में पाया जाता है । तीन शस्य संयोजन 10 जिलों में पाया जाता है जो संपूर्ण जिलों का 31% भाग है । चार शस्य संयोजन 4 जिलों में है जबकि पाँच शस्य संयोजन 5 जिलों में पाया जाता है। 8 जिलों में छः शस्य संयोजन पाया जाता है। सात शस्य संयोजन केवल टोंक जिले एवं आठ शस्य संयोजन केवल सिरोही जिले में पाया जाता है। चित्र को

देखकर यह विदित होता है कि शस्य संयोजन का कोई विशेष प्रारूप राजस्थान में नहीं पाया जाता है। शस्य संयोजन का वितरण विषय एवं जटिल है।

बोध प्रश्न–3

1. शस्य संयोजन की दो प्रमुख विधियाँ कौन सी है?

…………………………………………………………………………………………

…………………………………………………………………………………………

.2 शस्य संयोजन का वीवर का क्या सूत्र है?

…………………………………………………………………………………………

…………………………………………………………………………………………

3. डोई ने किस प्रकार वीवर के सूत्र में संशोधन किया है?

…………………………………………………………………………………………

…………………………………………………………………………………………

4. यदि 'अ' जिले में चार फसलों का कुल क्षेत्र 83 प्रतिशत है तो क्रांतिक मान (Critical valur) क्या होगा?

…………………………………………………………………………………………

…………………………………………………………………………………………

5. रफीउल्ला ने वीवर की विधि में कौन से वर्ष में संशोधन किया?

…………………………………………………………………………………………

…………………………………………………………………………………………

6. कोस्ट्रोविकी ने समस्त शस्यों को कितने भागों में विभक्त किया?

…………………………………………………………………………………………

…………………………………………………………………………………………

7. राजस्थान में एक शस्य संयोजन का कौन सा जिला है।

…………………………………………………………………………………………

…………………………………………………………………………………………

11.7 सारांश (Summary)

कृषि का सूक्ष्म एवं तुलनात्मक मूल्यांकन आवश्यक है ताकि कृषि विकास की सम्भावनाएँ ज्ञात हो सके। कृषि मूल्यांकन में शस्य श्रेणी, शस्य गहनता, शस्य विविधता, शस्य संयोजन रख कृषि दक्षता/ उत्पादकता आदि शामिल की जाती है।

राजस्थान में बाजरा, मक्का, सरसों, गेहूँ ज्वार रख कपास प्रथम कोटि की शस्य है, जबकि द्वितीय कोटि में गेहूँ महत्वपूर्ण शस्य है । राज्य के पूर्वी भाग में शस्य गहनता उच्च से मध्यम है लेकिन पश्चिमी राजस्थान में शस्य गहनता न्यूनतम है । इसी प्रकार शस्य विविधता भी पूर्वी राजस्थान में अधिक है तथा राज्य के पश्चिमी भाग में कम है । शस्य संयोवन की वीवर, डोई

रफीउल्ला, एवं कोस्ट्रोविकी की विधि का सोदाहरण विवेचन किया गया है । राजस्थान में शस्य संयोजन वितरण विषम एवं जटिल है। शस्य संयोजनों में शस्यों की संख्या एक से लेकर आठ तक है ।

11.8 शब्दावली (Glossary)

- **शस्य श्रेणी :** शस्य क्षेत्र की दृष्टि से उनका स्थान।
- **शस्य गहनता :** द्रूढ बोए गए क्षेत्र में दुफसली क्षेत्र।
- **शस्य विविधता :** शस्यों की अधिक संख्या होना।
- **शस्य संयोजन :** किसी क्षेत्र में बोया जाने वाला प्रमुख शस्यों का समूह।
- **सेद्धान्तिक प्रतिशत :** किसी क्षेत्र में बोई जाने वाली फसलों की संख्या के आधार पर उको प्रतिशत ।
- **संरचनात्मक शस्य समूह :** ऐश्वी शस्य जिनके बोने से मृदा में उर्वरता बढ़ती है।
- **क्रांतिक मान :** कीकू काजू डोई द्वारा गणितीय सूत्र से परकलित मान जिससे शस्य संयोजन निर्धारण किया जाता है।

11.9 संदर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. Noor Mohomed (1190): New Dimensions in Agricultural geography (Vol.I–VIII) Concept Publishing company, New Delhi
2. आर .एन. तिवारी एवं बी. एन. सिंह (1994) : कृषि भूगोल, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद।
3. Hussain Majid (1996) : Agricultural Geography, Rawat Publication Jaipur.
4. Kalwar, S.C. (1984) : Cropping Characteristics - A Case Study of Jaipur District'' Annals, Rajasthan Geographers Association, Bhilwara, Volume IV, PP. 1–11.
5. Kalwar, s. c. (1990) : Delineation of Crop Combination Region of Jaipur District (Ed) Trends in Ecological Geography, Pointer Publication, Jaipur pp. 126–138.
6. Kalwar, S.C. (1977) : Agricultural Land Use in Jaipur District, Unpublished ph.D. Thesis, University of Rajasthan, Jaipur.

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. 6 शस्य
2. गेहूँ सरसों, बाजरा, ज्वार, चना, मक्का, कपास एवं तिल।
3. 10 फसलें
4. शस्य गहनता = $\frac{\text{सकल बोया गया क्षेत्रफल}}{\text{शुद्ध बोया गया क्षेत्रफल}} \times 100$

5. उत्तरी पूर्व से दक्षिणी–पश्चिमी दिशा
6. 8
7. 21.87 प्रतिशत में

बोध प्रश्न– 2

1. शस्य विविधता= $\frac{\text{N शस्यों के अन्तर्गत बोये गये क्षेत्र के प्रतिशत का योग}}{\text{N शस्यों की संख्या}}$
2. 4
3. 5 प्रतिशत वालीशस्य
4. विलोभ

बोध प्रश्न – 3

1. स्वैच्छिक चयन विधि एवं सांख्यिकी चयन विधि
2. $\sigma^2 = \frac{\sum d^2}{X^n}$
3. दो प्रकार से

   (अ) थम सूत्र को संशोधित कर केवल $\sum d^2$ कर दिया।

   (ब) शस्य संयोजन के लिए एक क्रान्तिक मान तालिका बनाई।
4. 11.63
5. 1965 में
6. तीन में
7. बाड़मेर।

11.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. शस्य श्रेणी, शस्य गहनता एवं शस्य विविधता पर एक लेख लिखो।
2. शस्य संयोजन की वीवर की विधि का विस्तार से वर्णन कीजिए ।
3. कीकू काजू डोई एवं रफीउल्ला की शस्य संयोजन विधियों का विवेचन कीजिए।
4. कोस्ट्रोविकी शस्य संयोजन विधि को समझाइये ।

इकाई 12 : कृषि प्रादेशीकरण
(Agricultural Regionalization)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.1.1 प्रदेश की संकल्पना

12.1.2 कृषि प्रदेश की संकल्पना

12.1.3 कृषि प्रदेश की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ

12.1.4 कृषि प्रदेश तथा कृषि प्रकार में अन्तर

12.2 कृषि प्रादेशीकरण के उपागम

12.2.1 परम्परागत उपागम

12.2.2 फग़र्मिग पद्धति उपागम

12.2.3 बहु कारक उपागम

12.2.4 शस्य संयोजन उपागम

12.2.5 प्राविधिककिरण ज्ञान उपागम

12.2.6 कार्यात्मक उपागम

12.3 कृषि प्रदेश के निर्धारण की विधियाँ

12.3.1 अनुभाविक तकनीक

12.3.2 फूल कारक / एक पक्षीय तकनीक

12.3.3 बहु कारक अथवा साख्यिकीय तकनीक

12.3.4 परिमाणात्मक गुण प्रधान तकनीक

12.4 कृषि प्रादेशीकरण

12.4.1 हिटिलसी से पूर्व कृषि प्रादेशीकरण

12.4.2 हिटिलसी द्वारा कृषि प्रादेशीकरण

12.4.3 हिटिलसी के पश्चात् कृषि प्रादेशीकरण

12.5 सारांश

12.6 शब्दावली

12.7 संदर्भ ग्रंथ

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे :

- प्रदेश एवं कृषि प्रदेश की संकल्पना,
- कृषि प्रादेशीकरण के उपागम,

- कृषि प्रादेशीकरण की तकनीक
- हिद्विलसो द्वारा निर्धारित कृषि प्रदेश,
- फास्ट्रोविकी द्वारा निर्धारित कृषि प्रकारिकी।

12.1 प्रस्तावना (Introduction)

12.1.1 प्रदेश की संकल्पना (Concept of Region)

प्रदेश (Region) शब्द लैटिन भाषा के शब्द Regio से बना है, जिसका अर्थ सीधी रेखा है जो प्राचीनकाल से खगोल शास्त्री आकाश में सितारों, गृहों, उपगृहों आदि के क्षेत्रों के निर्धारण हेतु खींचा करते थे । प्रदेश की संकल्पना भूगोलशास्त्र में आधारभूत संक़ल्पनाओं में से है । इसको परिभाषित करने में सभी भूगोलवेत्ता एक मत नहीं है। कोई इसे भौगोलिक इकाई (Geographical entity), कोई राक संपूर्ण प्रदेश (conherent wholr), कोई मानसिक बनावट (Mental construct) या कुछ लोग इसे कृषि के प्रादेशिक विवरण का एक माध्यम मानते है । यदि सभी परिभाषाओं की समीक्षा करें तो इस संकल्पना की सर्वाधिक स्वीकृत यह परिभाषा है ''पृथ्वी का वह भाग जो कुछ विशिष्ट मापदण्डों में समान हो तथा अपने चारों आरे के क्षेत्रों में इन्हीं मापदण्डों के आधार पर भिन्न हो, प्रदेश कहलाता है।'' जिस विशेष मापदण्ड में समानता पाई जाती है उस भू – भाग को उसी मापदण्ड का प्रदेश कहा जाता है, अर्थात् यदि प्राकृतिक दशाओं में समानता है तो उसे प्राकृतिक प्रदेश अथवा यदि सांस्कृतिक समानता है तो उसे सांस्कृतिक प्रदेश कहते हैं। इसी प्रकार यदि जलवायु, मृदा, वनस्पति, उद्योग में समानता है तो क्रमश : जलवायु प्रदेश, मृदा प्रदेश, वनस्पति प्रदेश, औद्योगिक प्रदेश कहते हैं।

12.1.2 कृषि प्रदेश की संकल्पना (Concept of Agricultural Region)

उपर्युक्त स्पष्टीकरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि पृथ्वी के किसी भू–भाग में कृषि के विशिष्ट 'गुणों में समानता पाई' जाती है तथा आसपास पर्याप्त क्षेत्रों में विषमता होती है तो उसे कृषि प्रदेश कहते हैं । कृषि के निर्धारकों अर्थात् भौतिक, आर्थिक, तकनीकी, सामाजिक एवं सांस्कृतिक तत्वों में विविधता के फलस्वरूप कृषि के प्रकार में प्रादेशिक एकता, विविधना रण अन्तरसम्बन्धता पाई जाती है जो कृषि प्रदेश के निर्धारण के आधार है,. क्योंकि कृषि के सभी निर्धारक गतिशील हैं इसलिए कृषि प्रदेश की संकल्पना भी गतिशील है जो स्थान (Space) एवं समय के संदर्भ में बदलती रहती है ।

12.1.3 कृषि प्रदेशों की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ (Definitions of Agricultural Region)

कृषि प्रदेश की परिभाषा अनेक विद्वानों ने दी है जिनमें से कुछ परिभाषाएँ निम्न हैं :

1. ह्विटिलसी (1936) ने कृषि प्रदेश को निम्न शब्दों में परिभाषित किया है :
   ''कृषि प्रदेश ऐसे विस्तृत क्षेत्र हैं जहाँ फसलों की किस्मों तथा उनकी उत्पादन विधि की समरूपता मिलती है । साथ ही कृषि भूमि उपयोग में विशिष्टताजन्य सम्बद्धता मिलती है
2. बुकानन (1959) ने कृषि प्रदेश को इस प्रकार परिभाषित किया है :
   ''कृषि प्रदेश स्व ऐसा क्षेत्र है जहाँ कृषि सम्बन्धी सभी दशाए विशेष रूप से पैदा की जाने वाली फसलें समरूप हो''।

3. रोकेटनिकवि के अनुसार :

कृषि प्रदेश ऐसा विस्तृत क्षेत्र है जहाँ फसलों की किस्में तथा उनकी उत्पादकता विधि में एक रूपता मिलती है साथ ही साथ कृषि भूमि उपयोग में विशिष्टता एवं सम्बद्धता पाई जाती हैं ।

4. नूर मुहम्मद ने कृषि प्रदेश को इस प्रकार परिभाषित किया है

''कृषि प्रदेश पृथ्वी के वे भू–भाग है जहाँ कृषि के प्रारूपों में समानता पाई जाती हैं और यह अपने निकटवर्ती क्षेत्रों से भिन्न होता है । "

12.1.4 कृषि प्रदेश तथा कृषि प्रकार में अंतर

कृषि प्रदेश और कृषि के प्रकार में काफी भ्रान्तियां हैं । यह सत्य है कि ये दोनों संश्लेषण की विधियां हैं परन्तु दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं । कृषि के प्रकार का निर्धारण वर्गीकरण के सिद्धांत पर होता है और यह वर्गीकरण कृषि के अन्तर्भूत सभी गुणों के आधार पर किया जाता है । समान गुण–धर्म वाली कृषि विश्व के विभिन्न भागों और विभिन्न कालों में हो सकती है । एक प्रकार की कृषि का सनिएकट होना आवयशक नहीं है । इस अर्थ में इसे जातिगत (Generic) प्रदेश कहा जाता है, जिसमें एक जाति (प्रकार) के प्रदेश कई होते हैं ।

इसके विपरीत कृषि प्रदेश एक स्थानिक अवधारणा है । इसका निर्धारण आन्तरिक समानता और बाहरी विभिन्नता के आधार पर किया जाता है । प्रदेश एक खास भूभाग होता है । जिसकी निश्चित स्थिति के साथ अपनी विशिष्टताएँ होती हैं जिनके कारण यह अन्य सीमावर्ती प्रदेशों से भिन्न होता है । यह टुकड़ों में नहीं बांटा जा सकता, बल्कि लगातार फैला होता है ।

प्रदेश और प्रकार दोनों को विभिन्न स्तर की इकाईयों में विभाजित किया जा सकता है. परन्तु दोनों के विभाजन में अंतर होता. है जैसे कि निम्न स्तरीय कृषि प्रकारों को समता के आधार पर समूह बनाकर निर्धारित किया जाता है, भले ही ये निम्न स्तरीय प्रकार के क्षेत्र में कहीं भी स्थित हों । इसके विपरीत लघु कृषि प्रदेश वृहद कृषि प्रदेश के भाग और उसकी सीमाओं के अदर ही हो सकते हैं । इस तरह कृषि प्रकारों का पदानुक्रम उर्ध्व प्रकार का होता है । इसमें क्षेत्रों का निकृष्ट से उत्कृष्ट प्रकारों में वर्गीकरण होता है, परंतु कृषि प्रदेशों का विभाजन क्षैतिज प्रकार का होता है तथा बड़े कृषि प्रदेश छोटी इकाईयों में बट जाते है ।

अनेक कृषि भूगोलवेत्ताओं द्वारा विश्व को विभिन्न आधारों पर कृषि प्रदेशों में विभाजित करने का प्रयास किया है । अधिकांश विद्वानों द्वारा किया गया प्रादेशिक विभाजन मूलत : कृषि अर्थव्यवस्था के विभाजन के रूप में प्रस्तुत किया गया है । उदाहरणार्थ ग्रेगर (1963), सेपर (192), हॉन (1892) आदि द्वारा दिया गया विभाजन पूर्ण रूपेण कृषि के आर्थिक स्तर एवं अवस्था का ही द्योतक है । जॉनसन (1925) ने यूरोप तथा बेकर (1926) ने उत्तरी अमेरिका को कृषि प्रदेशों में विभाजित किया था । इनके अध्ययन इस कारण महत्वपूर्ण थे कि इन्होंने महाद्वीपों के कृषि उत्पादों के वितरण को बाजार के महत्व के साथ स्पष्ट करने का प्रयास किया था तथा कृषि को शस्य प्रारूप एवं पशुपालन क्रिया –कलापों के आधार पर वर्गीकृत किया गया था। सर 1925 में अमेरिकी पत्रिका " आर्थिक भूगोल (Economic Geography) में महाद्वीप वार कृषि प्रदेशों का क्रमिक अध्ययन प्रकाशित हुआ था । इन अध्ययनों के माध्यम से विश्व के कृषि प्रदेशों एवं प्रणालियों तथा उनके वितरण क्षेत्रों के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री प्राप्त हुई थी ।

कृषि प्रदेशों के अध्ययन में इनकी परिभाषा तथा परिसीमन ये दोनों महत्वपूर्ण पक्ष हैं । कृषि प्रदेशों का विभाजन सामान्यता सोद्देश्य होता है । किसी क्षेत्र में फार्म में कई विशिष्टताएँ होती हैं, किन्तु शस्य –संयोजन, आय के स्रोत, श्रम, फार्म के आकार रण उनके बीच परस्पर दूरी, प्रबन्ध आदि सम्बन्धित पक्षों 'में एक फार्म से दूसरे फार्म के मध्य भिन्नता देखने को मिलती है किन्तु सभी समान विशेषताओं वाले फार्मो की स्थिति एक ही स्थान पर हों या उनमें क्षेत्रीय सम्बद्धता हो ऐसा प्राय : कम ही देखने को मिलता

12.2 कृषि प्रादेशीकरण के उपागम (Approaches to Agriculture Regionalization)

कृषि प्रादेशीकरण हेतु परिसीमन के लिए अपनाये गये उपागमों को पाँच वर्गो में रखा जा सकता है

1. पारम्परिक उपागम (Traditional Approach)
2. कृषिगत–आर्थिक संगठनात्मक उपागम अथवा फार्मिंग पद्धति उपागम (Agro–economic organizational Approach or Farming Technique Approach)
3. बहुकारक उपागम (Multifactor Analysis Approach)
4. शस्य –संयोजन उपागम (Crop Combination Approach)
5. तकनीकी–ज्ञान उपागम (Technical Know–how Approach)
6. कार्यात्मक उगागम (Functional Approach)

12.2.1 परम्परागत अथवा प्राकृतिक उपागम (Traditional or Natural Approach)

कृषि प्रदेशों के अध्ययन की यह विधि सबसे पुरानी है । इसके अन्तर्गत धरातलीय स्वरूप, जलवायु आदि के आधार पर किसी देश अलवा क्षेत्रीय इकाई को प्रदेशों के रूप में वर्गीकृत किया जाता है । इस प्रकार के अध्ययन में प्राय : केवल एक ही शस्य का क्षेत्रीय वर्णन किया जाता हैं। सर 1940 से पूर्व सर्वप्रथम ब्रिटिश भूगोलवेत्ताओं द्वारा इस प्रकार के उपागम का उपयोग किया गया । उन्होंने धरातलीय स्वरूप को आधार मानकर कृषि प्रदेशों का सीमाकन किया । इसके बाद अमेरिकन कृषि भुगोलवेत्ताओं ने कृषि प्रदेशों का परिसीमन जलवायु को आधार मानते हुए किया । इनमें वर्ष 1926 से 1933 के मध्य बेकर द्वारा प्रस्तुत उत्तरी अमेरिका के कृषि प्रदेशों का अध्ययन महत्वपूर्ण है । कृषि प्रदेश अध्ययन के प्राकृतिक उपागम को अनेक भारतीय विद्वानों ने भी अपनाया है ।

12.2.2 कृषिगत–आर्थिक संगठनात्मक उपागम अथवा फार्मिंग पद्धति उपागम (Agro–economic organitional Approach or Farming Technique Approach)

वास्तविक भूमि उपयोग के स्थान पर इस उपागम में उस भूमि उपयोग से उत्पन्न आर्थिक संगठन को आधार के रूप में माना जाता है । इसके अन्तर्गत कृषि का अध्ययन उद्यम के रूप में किया जाता है तथा फार्मो को औद्योगिक इकाई के रूप में मानते हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका,

पश्चिमी यूरोपीय देशों, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कनाडा आदि देशों में इस प्रकार का कृषि प्रदेशों का अध्ययन किया गया । इस उपागम में कृषि को दुग्धोत्पादन, झादायिनी, फसलोंत्पादन एवं माँस–ऊन पशुपालन फार्मिंग में विभाजित किया जाता है ।

12.2.3 बहु कारक उपागम (Multifactor Analysis Approach)

कृषि को प्रभावित करने वाले सभी कारकों की सूची इस उपागम के अन्तर्गत बनायी जाती है तथा किसी भी क्षेत्र का कृषि प्रदेशों में विभाजन कारक –समस्या एवं सम्बद्धता के आधार पर किया जाता है । कारकों के मध्य सम्बन्धों एवं उनके बीच प्रभावों का भी विश्लेषण किया जाता है । मापदण्डों के आधार पर बहु तात्विक कृषि प्रदेशों को चार समूहों में रखा जा सकता है भूमि क्षमता प्रदेश, खेत तंत्र प्रदेश, कृषि तंत्र प्रदेश तथा प्रकार्यात्मक प्रदेश ।

12.2.4 शस्य–संयोजन उपागम (Crop Combination Approach)

कृषि प्रदेशों के निर्धारण के लिए अनेक विद्वानों द्वारा इस उपागम का उपयोग किया गया है । जौवन निर्वाहक कृषि व्यवस्था वाले देशों में जहाँ कई खाद्यान्न फसलों का उत्पादन निर्वाहन के लिए किया बनाता है, इस प्रकार के उपागम का विशेष प्रचलन है । यहाँ आर्थिक महत्व उत्पादकता कम होने के कारण कम है । फसल की वरीयता के आधार पर कृषि प्रदेशों का परिसीमन किया जाता है । भारत में कृषि में खाद्यान्न फसलों के विशेष महत्व के कारण भारतीय विद्वानों द्वारा इस कृषि में खाद्यान्न फसलों को विशेष रूप से अपनाया गया है । पी. सेनगुप्ता, भाटिया, अध्यर, जसबीर सिंह, सिद्दीकी, नित्यानन्द आदि ने भारत में इस उपागम को काम में लेते हु ए कृषि प्रादेशीकरण शस्य –संयोजन के आधार पर पूर्ण किया है । इनके अतिरिक्त भी अनेक भारतीय विद्वानों ने कृषि प्रदेशों के अध्ययन में शस्य –संयोजन उपागम का उपयोग किया है ।

12.2.5 तकनीकी ज्ञान उपागम (Technical Know–how Approach)

एबलर एवं उनके सहयोगियों का विचार है कि कृषि प्रदेशों के विभाजन की तकनीक में सुधार करने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि इसमें प्रति व्यक्ति उत्पादकता समय–समय पर: परिवर्तित होती उत्पादकता को महत्वपुर्ण स्थान दिया जाना आवश्यक है । विभिन्न भूगेलवेत्ताओं ने कृषि प्रादेशीकरण के लिए तकनीकी ज्ञान उपागम को कृषि के विकास क्रम को दृष्टिगत रखते हु ए महत्वपूर्ण बताया है । प्रतिव्यक्ति उत्पादकता में विकास के फलस्वरूप वृद्धि हु ई है, तथा मुक्ता रूप से दो तथ्य इस उत्पादकता वृद्धि के लिये उत्तरदायी हैं – उच्चस्तरीय तकनीकी ज्ञान तथा प्रति व्यक्ति प्रचुर संसाधनों की सुलभता । विश्व के देशों का स्तर उक्त दोनों तथ्यों के आधार पर भिन्न –भिन्न रूप में देखने को मिलता है । एक ओर सयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा और रूस तकनीकी तथा संसाधनों की उपष्कधता की दृष्टि से विकसित हैं, तो दूसरी ओर जापान, स्विट्जरलैण्ड और स्वीडन तकनीकी ज्ञान की दृष्टि से विकसित हैं जबकि प्राकृतिक संसाधनों की उपलब्धता की दृष्टि से पीछे है । चीन, भारत आदि में प्रति व्यक्ति उत्पादकता –तकनीकी विकास कम होने के कारण बहु त ही कम है । एलवर ने इसी आधार पर विश्व को चार प्रमुख अर्थव्यवस्थाओं – (i) यूरोपीय वर्ग (ii) संयुक्त राज्य अमेरिका (iii) मिश्र वर्ग (iv) ब्राजील वर्ग में विभाजित किया है ।

12.2.6 कार्यात्मक उपागम (Functional Approach)

कृषि प्रदेश अध्ययन में यह एक नया उपागम है जिसमें क्षेत्रीय स्तर पर कृषि के आर्थिक – कार्यात्मक सम्बन्धी अध्ययन को विशेष महत्व दिया जाता है । इस उपागम में क्षेत्रीय स्तर पर कृषि के कार्यात्मक सम्बन्धों को जैसे – कृषि उत्पादन पद्धति, कृषक जनसंख्या का प्रतिशत, कृषि उत्पादों में आयात निर्यात सम्बन्ध, कृषि के विकास में आर्थिक घटकों का प्लांकन आदि के रूप में स्पष्ट किया जाता है । कृषि प्रदेश निर्धारण में इन विचरकों का अध्ययन आवश्यक है परन्तु इनसे सम्बन्धी आँकड़ों के अभाव में कृषि प्रादेशीकरण कठिन हो गया हैं ।

12.3 कृषि प्रदेश निर्धारण की विधियाँ (Methods of Delineatio Agricultural Regions)

कृषि प्रदेश की सकल्पना स्थान रच समय के संदर्भ में गतिशील है अत : इसका निर्धारण करना कठिन है इसके मुख्य (हृदय) क्षेत्र तो सुगमतापूर्वक पहचान जा सकते हैं परन्तु कृषि प्रदेशों के मध्य की सीमा का निर्धारण करना दुष्कर कार्य है फिर भी १तोंलधेनएओं ने कृषि, प्रदेश निर्धारण की विभिन्न विधियों का प्रतिपादन किया है । जिसको निम्न चार मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया है:

12.3.1 अनुभाविक विधि

12.3.2 एक पक्षीय विधि/ एकल घटक विधि

12.3.3 बहुकारक / सांख्यिकीय विधि

12.3.4 परिमाणात्मक गुण प्रधान विधि

12.3.1 अनुभाविक विधि

यह विधि मूलत : कृषकों के अनुभव एवं अवलोकन पर आधारित है । इसमें अनुभाविक आकड़ों के अनुसार कृषि प्रदेशों का निर्धारण किया जाता है । इसका सबसे अधिक उपयोग बेकर ने सयुक्त राज्य अमेरिका की कृषि पेटियों के निर्धारण में किया है । इस तकनीक में किसी फसल विशेष ऊन कृषि उपज में प्रधानता को देखते हुए उस फसल के प्रदेश की संज्ञा दी जाती है । इसी आधार पर बेकर ने कपास, गेहूँ, मक्का आदि पेटियों का निर्धारण किया है । इस विधि में अन्य फसलों को जिनका योगदान कम होता है इस क्रम में नहीं लिया जाता है । इस प्रकार से यह विधि फसल प्रारूप के सामान्य दृश्य को प्रस्तुत करती है । एक्केजेन्दर, जॉनसन, वालकेनवर्ग, टेलर आदि ने इसी विधि का उपयोग करके विश्व के कृषि– प्रदेशों का निर्धारण किया । यह एक माप विधि है । जिसमें वस्तुनिष्ठ एवं वैज्ञानिकता का अभाव है।

12.3.2 एकल कारक विधि

इस विधि में कृषि के किसी एक तत्व को आधार मान कर कृषि प्रादेशीकरण किया जाता है । समान्यतया यह फसलों के क्षेत्रफल के अ पर किया जाता हैं, परन्तु उसकी उत्पादकता आदि को भी आधार माना जा सकता है । किसी भूभाग में जहाँ पर विभिन्न फसलें उत्पादित की जाती है। वहॉ पर प्रथम कोटि की फसल के आधार पर कृषि प्रदेश का निर्धारण किया जाता है । इस

आधार पर भारत को बहुत से भूगोलवेत्ताओं ने कृषि प्रदेशों में विभाजित किया है जैसे रन्धावा, रामचन्द्रन, जसबीर सिंह आदि । जसबीर सिंह ने इसे प्राथमिक उत्पादन क्षेत्र कहा है ।

यद्यपि यह बहुत सरल विधि है परन्तु इसका सबसे खड़ा दोष यह है कि यह प्रदेश की अन्य फसलों को स्थान नहीं देती है । चाहे वह प्रथम कोटि की फसल से कुछ ही कम क्षेत्र पर उत्पादित की जाती है । उदाहरणार्थ याद किसी प्रदेश में गेहूँ के अन्तर्गत' 46 प्रतिशत और धान के अन्तर्गत 44 प्रतिशत क्षेत्रफल है तो इसे गेहूँ क्षेत्र का प्रदेश कहा जायेगा । यद्यपि यहाँ चावल भी उतनी ही महत्वपूर्ण फसल है इसलिए पंजाब को गेहूँ प्रदेश, पश्चिमी बंगाल को धान प्रदेश या संयुक्त राज्य अमेरिका में गेहूँ की पेटी, कपास की पेटी, मक्का की पेटी का निर्धारण बहुत उचित नहीं है क्योंकि यह विधि वहाँ उत्पन्न होने वाली अन्य फसलों को नकारती है अत : इस आधार पर कृषि प्रादेशीकरण अधूरा है फसलों का उत्पादन अलगाव की स्थिति में नहीं बल्कि एक विशेष संयोजन में उत्पादित की जाती है ।

12.3.3 बहुकारक अथवा सांख्यिकीय विधि

यह विधि उपरोक्त दोनों विधियों से अधिक सक्षम एवं सार्थक है तथा विश्व में अत्याधिक प्रयुक्त की जाती है । इसमें अनेक विशेषताओं पर आधारित तथ्यों को सही तरीके से स्पष्ट किया जाता है तथा कृषि अभिलक्षणों से सन्दर्भित पक्षों को तुलनात्मक दृष्टि से विश्लेषित किया जाता है । यह विधि स्वेच्छा पर आधारित नहीं है । इसके आधार पर कृषक महत्वपूर्ण निर्णय लेने मं सक्षम है । इस विधि का उपयोग वीवर र डोई, कोपक, रूफीउल्लाह आदि ने किया है । इस विधि में सभी उत्पादित की जाने वाली फसलों के बारे में विश्वसनीय अछंडों की आवश्यकता है जो कि विकासशील देशों में सामान्यतया उपलब्ध नहीं है । इसलिए इस विधि द्वारा निर्धारित कृषि प्रदेश कृषि जगत की वास्तविकता को संभवतया प्रकट नहीं करते हैं परन्तु यह विधि का दोष नही है बल्कि अपर्याप्त विश्वसनीय आकड़े का अभाव है । विकसित देशों में विश्वसनीय आकड़ों की उपलब्धता के कारण अच्छे परिणाम निकले हैं जो वास्तविक कृषि प्रदेश के समरूप है ।

12.3.4 परिमाणात्मक – गुण प्रधान विधि

उपर्युक्त तीनों विधियों में कृषि को किसी न किसी तत्व के आधार पर कृषि प्रदेशों में विभाजित किया जाता है, परन्तु जब कृषि प्राकृतिक, आर्थिक, तकनीकी एवं सामाजिक, सांस्कृतिक कारक पर आधारित है तो इन तत्वों के आधार पर कृषि प्रादेशीकरण अधिक उचित एवं न्यायसंगत है । इसमें विभिन्न कारकों के अन्तरसम्बन्ध तथा अर्न्तप्रभावों का विश्लेषण एवं संश्लेषण भी किया जाता है । इस विधि को संपूर्ण रूप से संभवतया किसी भूगोलवेत्ता ने प्रादेशीकरण में उपयोग नहीं किया है । इस विधि की प्रमुख बाधा कृषि के विभिन्न तत्वों की विश्वस्तर पर विश्वसनीय आकड़ों की कमी है । इसके उपरान्त भी यह कृषि के वृहद, मध्यम एवं लघु स्तरों के प्रदेशों के निर्धारण में अधिक लोकप्रिय है।

बोध प्रश्न – 1

1. ह्विटिलसी ने किस सन् में विश्व में कृषि प्रादेशीकरण किया था?

………………………………………………………………………………..

……………………………………………………………………………….

2. कृषि प्रदेश निर्धारण की कितना विधियाँ हैं? किन्ही दो विधियों के नाम लिखिये।

………………………………………………………………………………………..

……………………………………………………………………………………….

3. कृषि प्रादेशीकरण के कितने उपागम हैं?

………………………………………………………………………………………..

……………………………………………………………………………………….

4. कृषि प्रादेशीकरण के किन्हीं दो उपागमों के नाम लिखिए।

………………………………………………………………………………………..

……………………………………………………………………………………….

12.4 कृषि प्रादेशीकरण (Agricultural Regionalisation)

12.4.1 ह्विटिलसी से पूर्व कृषि प्रादेशीकरण

कृषि प्रादेशीकरण का इतिहास बहुत पुराना है, परन्तु इसका पारम्परिक इतिहास 17वीं शताब्दी से प्रारंभ हुआ है जब आर्थिक संरचना के आधार पर कृषि अर्थव्यवस्था को गैर कृषि अर्थव्यवस्था से अलग किया गया । इसका स्पष्ट वर्णन 18वीं सदी के अंत में हुआ जब विलियत मार्शल ने इग्लैण्ड के प्राकृतिक जनपद एवं कृषि जनपदों में अंतर स्पष्ट करने के लिए प्राकृतिक उपागमों का उपयोग किया । तत्पश्चात् 1793–1814 के मध्य यूनाइटेड किंगडम के कृषि बोर्ड ने कृषि प्रादेशीकरण कई आधारों पर किया । 19वीं सदी के मध्य में रॉयल एग्रीकल्चरल सोसाइटी यूनाइटेड किंगडम ने कृषि प्रादेशीकरण एवं युनाइटेड किंगडम कृषि प्रदेश पर कई लेख एवं प्रतिवेदन प्रकाशित हुए इनमें अधिकतम लेखों में कृषि प्रदेश एवं प्राकृतिक प्रदेश का समानार्थी माना है । कृषि प्रदेश की यह अवधारणा 1920 तक काफी प्रचलित रही । सन् 1931 में एच.डी ने स्काटलैंड को कृषि प्रदेशों में विभाजित किया जो प्राकृतिक प्रदेशों से भिन्न थे । इनकी आलोचना इस कारण हुई कि ये कृषि प्रदेश प्राकृतिक प्रदेशों से भिन्न थे इसी आधार पर स्टेम्प ने पदानुक्रम के आधार पर इंग्लैंड एवं वेल्स को तीन पदानुक्रम के कृषि प्रदेशों में विभावित किया । उन्होंने तीन वृहद कृषि प्रदेशों और 19 मध्य कृषि प्रदेशों और बहुत से तीसरे कम के कृषि प्रदेशों का निर्धारण किया। 1926–32 के मध्य में ओ.ई. बेकर ने संयुक्त राज्य अमेरिका एवं कनाडा के कृषि प्रदेशों का निर्धारण अपने कई लेखों में किया । इन्होंने ही संयुक्त राज्य अमेरिका के गेहूँ, कपास, मक्का आदि की पेटियों का निर्धारण एवं वर्णन किया । बेकर के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने विश्व के विभिन्न भागों को कृषि प्रदेशों में विभाजित किया है।

12.4.2 ह्विटिलसी द्वारा निर्धारित कृषि प्रदेश

1936 के पूर्व कृषि प्रादेशीकरण के साहित्य की आलोचना से ज्ञात होता है कि सभी विद्वानों ने महाद्वीपीय, राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय स्तर पर कृषि प्रादेशीकरण किया है । किसी ने भी विश्वस्तर

पर कृषि प्रादेशीकरण का प्रयास नहीं क्यिा । 1936 में डेरीवेन ह्विटिलसी ने सर्वप्रथम विश्वस्तर पर कृषि का प्रादेशीकरण किया । सर्वप्रथम इन्होंने जलवायु –एवं मृदा के आबार पर कृषि प्रादेशीकरण किया परन्तु यह प्रादेशिकरण ससार में कृषि प्रारूप से अधिक मेल नहीं खाता था अत: उन्होंने कृषि प्रावेशीकरण के लिए कृषि सम्बन्धित सूचकों की ओर अपना ध्यान आकर्षित किया ।

जैसा कि पूर्व में चर्चा की गयी है कि विश्व के कृषि प्रदेश निर्धारित करने का प्रयत्न कई विद्वानों ने किया है । इनमें ह्विटिलसी द्वारा प्रस्तुत 'पृथ्वी के प्रमुख कृषि प्रदेश ऍ आरम्भिक महत्वपूर्ण प्रयासों में है । ह्विटिलसी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने न केवल विश्व के सभी भागों में पाये जाने वाले कृषि के गुणों को प्रदेश–निर्धारण का आधार बनाया बल्कि समान मापनी (Uniform scale) मानकर कृषि–प्रदेशों को तंत्र (System) के रूप में प्रस्तुत किया । इनके पहले कृषि का प्रादेशीकरण अनुभव के आधार पर किया जाता था जिसकी पुष्टि सांख्यिकीय मापजोख से की जाती थी। बेकर और जॉनसन ने महाद्विपीय कृषि प्रदेशों के निर्धारण की शुरूआत की । बाद में अन्य कई लोगों ने भी इस दिशा में काम किया, परन्तु अनुभव पर आधारित होने के कारण ये कृषि प्रदेश तुलनीय नही थे । अंतत : सन् 1926 में ह्विटिलसी और विलिंगटन के 15 सालों के प्रयासों के परिणामस्वरूप विश्व के कृषि प्रदेशों को दिखाने वाला अपरिष्कृत मानचित्र बना, जिसके साथ में प्रत्येक देश का संक्षिप्त वर्णन भी था । इसको संशोधित करके ह्विटिलसी ने सर 1936 में विश्व के कृषि का अंतिम वर्गीकरण प्रस्तुत किया (ह्विटिलसी, सन् 1936 पृ. सं. 199–240) । उनका कृषि प्रदेश का निर्धारण कृषि के क्रियाशील रूप (Functioning form) पर आधारित था न कि कृषि को प्रभावित करने वाले भौतिक कारकों पर । इसी कारण इस वर्गीकरण को काफी मान्यता मिली।

12.4.2.2 कृषि प्रादेशीकरण के आधार (Basis of Agricultural Regionalization)

ह्विटिलसी ने कृषि की कार्य –पद्धति को अपने वर्गीकरण का आधार माना है । विश्व में विविध प्रकार के कृषि–भूपरिदृश्य पाये जाते हैं जो अलग–अलग ढ़ंग से काम करते हैं । कृषि की यह विविधता दो वर्ग के कारकों क अंतर्क्रिया का परिणाम होती है। पहले वर्ग में भौतिक पर्यावरण के तत्वों के संयोजनों को रखा जा सकता है जो फसलों एवं पशुपालन के लिए आवश्यक दशाओं की उपयुक्तता प्रदान करते हैं । इस वर्ग में जलवायु, मृदा, धरातल और जलप्रवाह आते है । दूसरे वर्ग के तत्व मानवीय परिस्थितियों से सम्बद्ध हैं जिनका उपयोग प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करने में किया जाता है । इस वर्ग में उन्होंने जनसंख्या का घनत्व, तकनीकी का विकास, प्रादेशिक परम्परा आदि को रखा है । इन दोनों वर्गो के तत्व मिक्कर कृषि के लिए वातावरण तो तैयार करते ही है, साथ ही यह भी निस्वित करते हैं कि कृषि कैसे की जाए । ह्विटिलसी ने प्रभावित करने वाले कारकों के स्थान पर कार्य की पद्धति के आधार पर कृषि प्रदेश बनाए हैं ।

कृषि की कार्य शैली निश्चित करने के लिए उन्होंने कृषि के अनतर्निहित गुणों को लिया है । उन्होंने निम्न पांच आधार लिए हैं जो सभी प्रकार की कृषि में पाये जाते हैं :

1. फसलों तथा पशुओं का संयोजन अथवा संरचनात्मक गुण,
2. फसलों के उत्पादन एवं पशुपालन की विधियां,
3. निवेशों के उपयोग की गहनता तथा उत्पादन की मात्रा,

4. उत्पादित वस्तुओं का वितरण, उपयोग तथा व्यापार, और
5. कृषि के लिए तैयार की गई अधिसंरचना अथवा फार्म के भवन आदि

कृषि के ये क्रियाशील लक्षण सार्वभौमिक होने के साथ ऐसे हैं जिनका अवलोकन एवं मूल्यांकन किया जा सकता है और इनकी सीमाएं निश्चित की जा सकती है । इनका उपयोग करके कृषि प्रदेश की सीमाएं अपेक्षतया अधिक शुद्धतापूर्वक निश्चित की जा सकती हैं । व्हिटिलसी ने इन लक्षणों की विभिन्नता के प्रकार एवं मात्रा के आधार पर कृषि तंत्र का निर्धारण निम्नानुसार किया है ।

1. **फसल–पशु संयोजन :** भौगोलिक वातावरण की दशाओं द्वारा यह निर्धारित होता है कि किस प्रदेश में फसलों एवं पशुओं का क्या संयोजन संभव हो सकता है । ऐतिहासिक काल में भी भौगोलिक उपयुक्तता और लाभ के अनुसार फसलें स्व भाग से दूसरे भल में फैली हैं और किसानों ने नई फसलों को अपनाया है । पशुपालन में भी यही प्रवृत्ति रही है । इन भौगोलिक तत्वों में जलवायु प्रमुख है जो पशु–फसलों के संयोजनों का स्वरूप बड़ी सीमा तक निर्धारित करती है । व्हिटिलसी ने पांच वृहद संयोजनों का उल्लेख किया है:

   (अ) पशुपालन–प्रधान क्षेत्र ऐसे अति शीतल और अत्यंत उच्चावच के प्रदेश हैं जहां फसलोत्पादन में कठिनाई होती है। अस्तु पशुपालन ही मुख्य कार्य होता है । पशु पालन की विधि एवं उद्देश्य के अनुसार इसके दो रूप हो सकते हैं –

   (i). जौवन–निर्वाह घुमन्तू पशुचारण, एवं

   (ii). रैचों में व्यापारिक पशुपालन

   (ब) प्रमुखतः फसल उत्पादन के प्रदेश : जहां पशुपालन बहुत कम अथवा नहीं होता है, ऐसे क्षेत्रों में भी ताप और वर्षा की विभिन्नता के कारण फसलों के प्रकार एवं कृषि की गहनता में काफी अतर होता है । आर्द्र भागों में चावल प्रमुख फसल है, परन्तु अन्यत्र विविध प्रकार की फसलें पैदा की जाती हैं । इनके आधार पर फसलोत्पादन दो प्रकार का हो सकता है –

   (i). चावल–प्रधान गहन जौवन–निर्वाह कृषि।

   (ii). चावल–रहित गहन जौवन–निर्वाह कृषि।

   (स) व्यापारिक अन्न : प्रधान कृषि और बागाती कृषि इस वर्ग के क्षेत्र भी प्रमुखतः फसल उत्पादन के प्रदेश हैं किन्तु भौगोलिक परिस्थितियां केवल कुछ फसलों के लिए उपयुक्त हैं । इनमें व्यापारिक अन्न–प्रधान कृषि और बागाती कृषि सम्मिलित की जाती है ।

   (द) मिश्रित कृषि : फसलों और पशुओं के लगभग बराबर महत्व वाली मिश्रित कृषि चौथा संयोजन है ।

   (इ) डेयरी फार्मिंग : मध्य अक्षांशीय आर्द्र प्रदेशों में दूध वाले जानवरों को पालकर डेयरी फ़ार्मिंग की जाती है ।

2. **उत्पादन की विधि :** फसलों एवं पशुओं का संयोजन समान होने पर भी कृषि क्षेत्र कृषि करने के तरीके में एक दूसरे से काफी भिन्न हो सकते हैं । कृषि मानव एवं पशु–शक्ति पर आधारित हो सकती है अथवा मशीन आधारित। मानव–पशु आधारित कृषि पद्धतियों में (1) स्थानान्तरी कृषि और (2) आदिम कृषि आती है । इसी माह आधुनिक वैज्ञानिक विधियों के उपयोग में काफी अधिक क्षेत्रीय विभिन्नता मिलती है । इस दृष्टि से दो प्रकार के क्षेत्रों का उल्लेख किया जा सकता है । एक वे जो सघन बसे हुए है, जहां गहन प्रकार की कृषि की

जाती है और दूसरे जो विरल जनसंख्या के क्षेत्र हैं, जहां की विधियां विस्तृत प्रकार की हैं । विकसित और अविकसित क्षेत्रों की कृषि विधि में स्वाभाविक रूप से अंतर होता है।

3. **निवेशों के उपयोग की गहनता एवं उत्पादन** निवेशों के उपयोग की गहनता का सीधा संबंध कृषि की विधि से है । सामान्यतया मशीनों, उर्वरकों एवं श्रम का उपयोग बढ़ाने से उत्पादन बढ़ता है, परंतु अनुकूलतम दशा के बाद "घटते लाभ का नियम" लागू होने लगता है । निवेशों के उपयोग एवं उनकी गहनता की दृष्टि से क्षेत्र तीन प्रकार के हो सकते हैं:

   (अ) पाश्चात्य देश – जिनमें अधिकतर कृषि–कार्य मशीनों द्वारा किया जाता है, क्योंकि वहां श्रम की कमी होती है । यहां प्रति व्यक्ति उत्पादन तो अधिक होता है, परन्तु प्रति इकाई क्षेत्र अपेक्षतया कम उत्पादन होता है ।

   (ब) प्राच्य देश – जहां पारिवारिक श्रम की मदद से गहन कृषि की जाती है। परिणामत: भूमि की प्रति इकाई पर अधिक उत्पादन होता है परन्तु श्रम की अधिकता के कारण प्रति व्यक्ति उत्पादन कम होता है ।

   (स) अफ्रीका, लैटिन अमेरिका और एशिया के पिछड़े देश – जहां पिछड़े कृषि के तरीकों और अपरिष्कृत उपकरणों के उपयोग के कारण उत्पादन बहुत कम और अनिश्चित होता है ।

4. **कृषि –उत्पादों का वितरण एवं उपयोग –** कृषि के उत्पादन के लक्ष्य दो हो सकते है । एच किसान अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कृषि करता है, अथवा दूसरे, उसका मुख्य उद्देश्य व्यापार हो सकता है । दोनों वर्गो के किसानों में अंतर इस बात पर निर्भर करता है कि वे उत्पादन का कितना प्रतिशत बेचते हैं । यदि किसान अपने उपयोग से बचे उत्पादन अथवा आपातकाल में उत्पादन का कुछ भाग बेचता है तो भी वह जौवन–निर्वाह किसान ही कहलाता है । इसके विपरीत यदि कृषि का मुख्य लक्ष्य फसलों अथवा पशु उत्पादों का व्यापार करना होता है तो उसे व्यापारिक (Commercial) कृषि कहते हैं । इन दोनों के बीच कृषि के कई रूप हो सकते हैं ।

5. **संरचना अथवा फार्म के भवन की रूपरेखा (Layout) –** कृषि कार्यों में उपयोग होने वाले पशुओं के रखने और अनाज संरक्षण में उपयोग होने वाले भवनों में भी कृषि क्षेत्रों में काफी अंतर होता है। डेयरी क्षेत्र के भवनों और मिश्रित कृषि वाले क्षेत्रों की इमारतों में सुस्पष्ट अंतर दिखता है। इसी तरह कपास क्षेत्र और गन्ना क्षेत्रों अथवा पाश्चात्य और प्राच्य देशों में कृषकों के भवनों की संरचना में काफी अंतर होता है । इस आधार पर भी कृषि क्षेत्रों को वर्गीकृत किया जा सकता है ।

12.4.2.3 ह्विटिलसी के वर्गीकरण की विशेषताएं

ह्विटिलसी ने विश्व की कृषि को 'तंत्र' में रखने का अग्रणी प्रयास किया और सर 1936 में प्रस्तुत यह वर्गीकरण आज भी मान्य है । बाद के लोगों ने उन्हीं के वर्गीकरण को संशोधित करने का प्रयास किया है । उनके इस वर्गीकरण की निम्न मुख्य विशेषताएं हैं:

1. इस वर्गीकरण में कृषि की स्वयं की विशेषताओं को आधार माना गया है । ये लक्षण दिखाई देने वाले हैं । अस्तु वर्गीकरण का आधार मजबूत है । इसके पहले कृषि के बाहर के तत्वों के आधार पर वर्गीकरण किया जाता रहा है ।

2. यह विश्व की कृषि को "प्रमुख पद्धति" में रखने का पहला वैज्ञानिक प्रयास है। इन प्रदेशों की कृषि की विशेषताओं का विवरण भी दिया गया है । इस तरह इसका विस्तार क्षेत्र काफी अधिक है ।
3. सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस वर्गीकरण के आधार के रूप में कृषि के कार्य पद्धति के उन पांच लक्षणों को चुना गया है जो विश्व की सभी प्रकार की कृषि में पाये जाते हैं । इन्हें अंकों में व्यक्त किया जा सकता है तथा प्रत्येक प्रकार की कृषि की सीमा निर्धारित करने के लिए क्रान्तिक मान निश्चित किए जा सकते हैं ।
4. वृहद कृषि – प्रदेशों को एक ही मानचित्र पर दिखाया जा सकता है । अस्तु विश्व के कृषि प्रदेशों का तुलनात्मक अध्ययन संभव हुआ।
5. चुने गये लक्षणों के आंकड़े या तो उपलब्ध होते हैं अथवा आसानी से एकत्रित किये जा सकते हैं।

यह आवश्यक है कि यह वर्गीकरण अपरिवर्तनीय है, जबकि कृषि के स्वरूप निर्धारित करने वाले सांस्कृतिक, राजनैतिक, आर्थिक और संस्थागत कारक परिवर्तनशील है । अस्तु कृषि के लक्षणों में भी समय के साथ परिवर्तन होता रहता है ।

12.4.2.4 ह्विटिलसी द्वारा कृषि प्रदेशों का विभाजन

ह्विटिलसी का वर्गीकरण आज भी "फ्रेम वर्क" प्रदान करता है । उपरोक्त पांच मापदण्डों को आधार बनाते हुए ह्विटिलसी ने विश्व को निम्न 13 कृषि प्रदेशों में विभाजित किया हैं –

1. चलवासी पशुचारण
2. 2 स्थानान्तरण शील कृषि (Nomadic Herding);
3. प्रारम्भिक स्थायी कृषि (Shifting Cultivation);
4. चावल प्रधान गहन निर्वाहन कृषि (Rudimentary Sedentary Tillage)
5. चावल विहीन गहन निर्वाहन कृषि (Intensive Subsistence Tillage with Rice Dominant);
6. निर्वाहन फसल एवं पशुपालन कृषि (Subsistence Crop & Livestock Farming);
7. भूमध्यसागरीय कृषि (Livestock Ranching);
8. व्यापारिक पशुपालन (Livestock Ranching);
9. व्यापारिक अन्न उत्पादन कृषि (Commercial Grain Farming);
10. व्यापारिक फसल एवं पशु उत्पादक कृषि (Commercial Livestock);
11. व्यापारिक दुग्ध पशुपालन कृषि (Commercial Dairy Farming);
12. विशिष्ट बागानी कृषि (Specialized Horticulture);
13. व्यापारिक बागाती कृषि (Commercial Plantation Tillage);

1. चलवासी पशुचारण (Nomadic Herding)

इस अर्थव्यवस्था को खानाबदोश अथवा घुमक्कड़ भी कहा जाता है। जिन क्षेत्रों मे भौगोलिक दशाएं कृषि फसलों के लिए उपयुक्त नहीं है, उन क्षेत्रों में मुख्य रूप से इस कृषि की इस प्रकार की अर्थव्यवस्था देखने को मिलती है। यहां पर प्राकृतिक घास पशुओं के चारे के लिए उपलब्ध हो

जाती है। चलवासी पशुचारण व्यवस्था प्राचीन काल से ही प्रचलित है तथा इनके खेमों में मौसमी स्थानान्तरण होता है। साथ ही इस व्यवस्था में अनेक प्रकार के पशुओं को पाला जाता है। और यहाँ केवल जौवन–निर्वाह के दृष्टिकोण से ही उपयुक्त हैं। इसका मुख्य उद्देश्य भोजन, वस्त्र एवं शरण की प्राप्ति स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही करना है। शुष्क प्रदेशों में ही मुख्य रूप से इस प्रकार के क्षेत्र देखने को मिलते हैं, जैसे – सहारा से अरब तक के भाग के शुष्क क्षेत्र, तिब्बत, मंगोलिया, मध्य–एशियाई देश एवं टुण्ड्रा के भाग (चित्र - 12.1)।

पशुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर चराना तथा उनसे प्राप्त पदार्थो जैसे – दुध, मांस, सूर ऊन, चमड़ा आदि द्वारा अपना जौवन निर्वाह करना इस अर्थव्यवस्था की मुख्य विशेषता है । पशुओं में मुख्य रूप से भेड़, बकरा–बकरी, ऊँट, ढोर, रण्डियर आदि को पाला जाता है। इन क्षेत्रों मे भौगोलिक परिस्थितियां भेड़ों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त पायी जाती हैं। जिनसे दुध, ऊन, मांस, चमड़ा आदि की प्राप्ति होती है। प्राकृतिक चारे एवं जल की उपलब्धता इनके एक स्थल पर ठहरने की अवधि को निर्धारित करते हैं। यहां की मुख्य खानाबदोश जातियाँ – कजाक, कबीले, खिरगीज, कालमैम्स, खेप, मंगोल आदि हैं, जिनका निवास स्थान गुफा, तम्बू अथवा हिम झोपड़ी के रूप में होता है, जिसे बड़ी आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया अथवा हटाया जा सकता है।

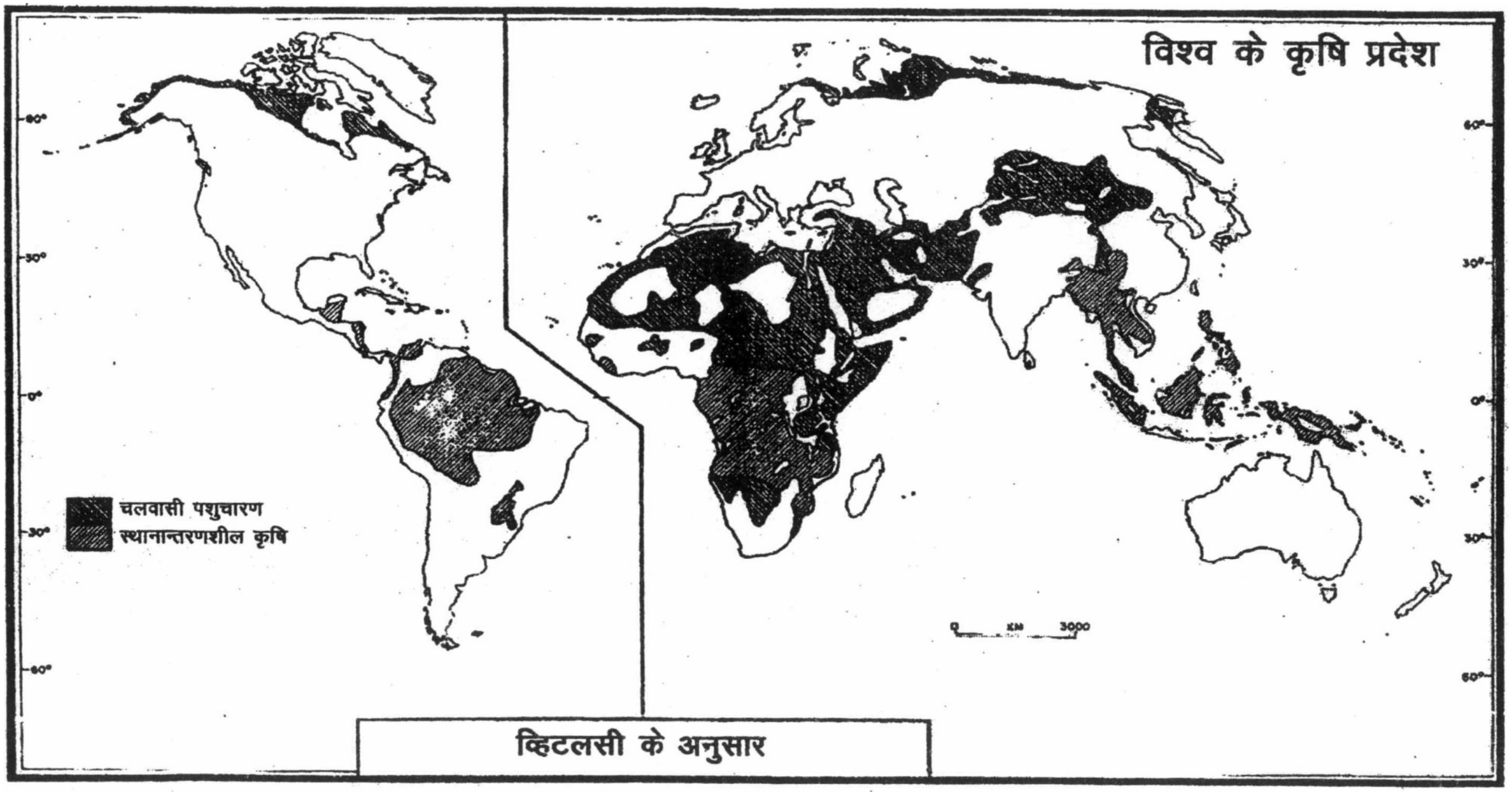

चित्र–12.1 : चलवासी पशुचारण एवं स्थानान्तरशील कृषि

उत्तरोत्तर इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में हास देखने को मिल रहा है, जिसके निम्न मुख्य कारण –

(i). चलवासी कृषि क्षेत्र एवं यहाँ की जनसंख्या में धीरे–धीरे कमी हो रही है ।

(ii). जलवासी पशुचारण वाले ऐसे क्षेत्र जो वर्तमान में समशीतोष्ण घास वाले भाग हैं उनकी अर्थव्यवस्था अब धीरे–धीरे व्यापारिक पशुचारण अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो रही हैं, जिसमें अमेरिका, दक्षिणी अफ्रीका एवं आस्ट्रेलिया के भाग मुख्य हैं ।

(iii). उत्तरी अमेरिकी तटीय भाग, दक्षिण–पूर्वी यूरोपीय मैदानी भाग, मंचूरिया–मंगोलिया के सीमान्त प्रदेश आदि जहाँ चलवासी पशुचारण व्यवस्था थी, वहाँ के कुछ भागों में वर्तमान में कृषकों द्वारा कृषि कार्य प्रारम्भ कर दिया है, जिसके कारण उन क्षेत्रों के स्थानीय जन–जौवन को स्थायित्व मिला है ।

(iv). कुछ देशों में तकनीकी ज्ञान रख बाहरी जगत के सम्पर्क बढ़ जाने के कारण उन क्षेत्रों की घुमक्कड़ अथवा खानाबदोश अर्थव्यवस्था अब प्रारम्भिक स्थायी कृषि के प्रकार में परिवर्तित हो गयी हैं, जिनमें सऊदी अरब, ईरान, संयुक्त अरब गणराज्य, पश्चिमी साइबेरिया, उत्तरी अफ्रीका, टुण्ड्रा क्षेत्र आदि प्रमुख हैं।

2. स्थानान्तरण शील कृषि (Shifting Cultivation)

इस प्रकार की अर्थव्यवस्था में कृषि छोटे रण बिखरे ऊष्ण वर्षा वाले वन क्षेत्रों तथा सवाना एवं झाड़ी प्रदेशों के सीमान्त भागों में देखने को मिलती है । अफ्रीका के काँगों बेसिन, दक्षिणी अमेरिका के अमेजन बेसिन, दक्षिणी–पूर्वी एशिया एवं, पूर्वी द्वीप समूह के विषम उच्च भू–भागों में इस प्रकार की कृषि विशेष रूप से देखने को मिलती है (चित्र 12.1)। इस प्रकार की कृषि व्यवस्था को अलग–अलग भागों में भिन्न –भिन्न नामों से जाना जाता है, जैसे – अमेरिका एवं अफ्रीका मे मिलपा (Milpa), मलाया एवं हिन्देशिया में लदांग (Ladang), फिलीपीन्स में कैनजौन (Caingin), श्रीलंका में चेना (Chena), सूडान में ङासू (Ngasu), म्यांमार में टुंग्य (Tungya), थाइलैण्ड में तमराई (Tamrai) आदि ।

उष्णार्द्र कटिबन्धीय प्रदेशों के ऐसे क्षेत्र जहाँ वर्ष पर्यन्त ऊँचे तापमान एवं बहुत अधिक वर्षा के कारण सघन वन पाये जाते हैं वहां पर इस प्रकार की कृषि व्यवस्था देखने को मिलती है । सबसे पहले ऐसे भागों में सीमान्तीय क्षेत्र में वनों में आग लगाकर खेत तैयार किया जाता है, जिनका क्षेत्रफल औसतन दो हेक्टेयर तक होता है । कृषि कार्य में मानव श्रम का उपयोग किया जाता है । लगभग दो वर्षो तक ऐसे खेत में कृषि कार्य किया जाता है, तत्पश्चात् कृषि कार्य के लिए दूसरा खेत तैयार किया जाता है, क्योंकि वर्षा की अधिकता के कारण मृदा अपरदन की दर अधिक होती है तथा मिट्टी की ऊर्वरा शक्ति का ह्रास हो जाता है । यहां मानव श्रम का उपयोग अधिक, उत्पादन कम तथा केवल स्थानीय उपयोग कं उपभोग तक ही सीमित रहता है और केवल खाद्यान्न फसलों का ही उत्पादन होता है, जिसमें मुख्य फसलें मक्का, ज्वार –बाजरा, धार आदि हैं तथा गौण फसलें – मौनियाख गन्ना, आम, मुंगफली, टमाटर, सेम तथा केला आदि हैं। कृषि कार्य के अतिरिक्त यहां मछली तथा अन्य जानवरों का शिकार वनीय खाद्यों का

संग्रहण जौवन –यापन के मुख्य उद्यम हैं । विषम जलवायु होने के कारण पशुओं 'अभाव देखने को मिलता है। साथ ही जनसंख्या घनत्व भी बहु त कम है ।

3. **प्रारम्भिक स्थायी कृषि (Rudimentary Sedentary Tillage)**

प्रारम्भिक स्थायी कृषि एक प्रकार से स्थानान्तरण शील कृषि पद्धति का ही विकसित रूप है । जिन क्षेत्रों में प्राकृतिक एवं मानवीय तत्व कुछ मात्रा में अधिक अनुकूल हैं, उन क्षेत्रों में स्थानान्तरण शील कृषि व्यवस्था इस व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो गयी है। इस कृषि व्यवस्था में स्थानान्तरण शील कृषि व्यवस्था की तुलना में बहु त अधिक विकसित कृषि का उपयोग नहीं होता है। अनुकूल स्थलों पर चलवासी अथवा स्थानान्तरण शील समुदायों के बस जाने से इस प्रकार की कृषि का प्रारम्भ हु आ । भूमि में उर्वरता की कमी के कारण उसे टुकड़ों में कुछ समय के लिए खाली पड़ती भूमि के रूप में छोड़ना पड़ता है ।

इन क्षेत्रों में कृषि को स्थायित्व प्रदान करने में घनी जनसंख्या तथा उपजाऊ भूमि विशेष रूप से सहायक सिद्ध हु ई है । इन क्षेत्रों में जहां रबर, मिर्च –मसाले, जल में उपजने वाली फसलों आदि का उत्पादन होता है, वहां इस प्रकार की कृषि को अधिक स्थायित्व मिलता है । यहां पशुओं के रूप में घोड़ा, खच्चर, भेड़, बकरी, गाय आदि को भी पाला जाता है । मध्य अमेरिका के पठारी एवं पहाड़ी भागों, एण्डीज श्रेणी के उष्ण कटिबन्धीय भागों, पश्चिमी द्वीप समूहो के कुछ द्वीपों, नाइजौरिया, घाना, कीनिया, पूर्वी अफ्रीका के पठारों, हिन्दचीन एवं पूर्वी द्वीप समूह के बिखरे हु ए द्वीपीय भागों में जनजातियां स्थायी रूप से बस गयी हैं, जहां इस प्रकार की अर्थव्यवस्था विकसित हो गयी है । इस प्रकार की कृषि मुख्य रूप से उष्ण कटिबन्धीय आर्द्र, ऊँचे पठार तथा पहाड़ी भागों, उष्ण कटिबन्धीय मौसमी जलवायु वाले मैदानी भागों, जहां जनसंख्या का घनत्व अपेक्षाकृत अधिक है, विकसित हो गयी है । प्रारम्भिक स्थायी कृषि जहां वर्षा कम तथा शुष्कता अधिक होती है, उन भागों में मुख्य रूप से होती है । (चित्र – 12. 2) ।

4. चावल प्रधान गहन निर्वाहन कृषि (Intensive Subsistence Tillage with Rice Dominant)

दक्षिण–पूर्वी एशिया के मानसून प्रदेशों का एक विशिष्ट भौगोलिक वातावरण उष्ण तथा उपोष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों की तुलना में भिन्न है । इन प्रदेशों की कृषि अन्य कृषि प्रणालियों की अपेक्षा कृषि पद्धति,फसल उत्पादन, भूमि उपयोग, पशुपालन आदि की दृष्टि से भिन्नता रखती है । उक्त सभी विशेषताओं में भौगोलिक वातावरण का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखायी देता है । ये प्रदेश बहु त प्राचीन काल से ही आबाद हैं तथा कृषकों द्वारा शताब्दियों से अपने प्रयोगों और अनुभव के आधार पर वहां के भौगोलिक वातावरण के अनुसार कृषि पद्धतियों तथा भूमि उपयोग को विकसित किया है । इस प्रकार के प्रदेश मुख्य रूप नदी घाटियों में स्थित हैं, जहां सघन जनसंख्या होने के कारण कृषकों द्वारा गहन कृषि करने का प्रयास किया है । कृषि का मुख्य आधार मानवीय श्रम है, जो पर्याप्त एवं सस्ता है । कृषक अपनी आवश्यकतानुसार फसलों का उत्पादन करते हैं, अत: कृषि का प्रकार जौवन निर्वाहक प्रकार का है । इस प्रकार की कृषि की मुख्य विशेषताएं निम्नानुसार हैं :

(i). खाद्यान्न फसलों तथा विशेष रूप से चावल की प्रधानता है ।

(ii). फसलोत्पादन का प्रमुख तथा पशुपालन का इस कृषि अर्थव्यवस्था में गौण स्थान है ।

(iii). मानवीय श्रम का सभी प्रकार के कृषि कार्यों में पर्याप्त जनसंख्या होने के कारण अधिक उपयोग होता है ।

(iv). खेतों का आकार छोटा और बिखरे रूप में है तथा कृषकों का निवास स्थल गाँव है ।

(v). कृषि उपकरणों का उपयोग इस व्यवस्था में कम होता है, तथा रासायनिक उर्वरकों और दवाइयों का उपयोग भी कम किया जाता है ।

(vi). प्रतिव्यक्ति उत्पादन दर कम होने से कृषकों की आर्थिक स्थिति दयनीय होती है तथा वह केवल अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही फसलों का उत्पादन कर पाता है ।

(vii). जनसंख्या की अधिकता के कारण स्थानीय स्तर पर ही फसलों की खपत हो जाती है बाजार के लिए अतिरिक्त उत्पादन नहीं हो पाता है ।

इन क्षेत्रों में वर्ष पर्यन्त ऊँचे तापमान रहते हैं तथा वार्षिक वर्षा का औसत 200 से.मी. से भी अधिक रहता है । भौगोलिक दशाओं की अनुकूलता के कारण इन क्षेत्रों में वर्ष में तीन बार तक चावल की फसल प्राप्त हो जाती है । चावल प्रधान इस कृषि व्यवस्था को 'सावाह' (Sawah) कृषि के नाम से पुकारते हैं । विश्व का लगभग 90 प्रतिशत चावल का उत्पादन मानसून एशियाई देशों द्वारा ही किया जाता है । इन चावल उत्पादक देशों में चीन, भारत, इण्डोनेशिया, बांग्लादेश, थाइलैण्ड, वियतनाम, म्यांमार एवं जापान मुख्य हैं (चित्र–12.2) । उक्त सभी देशों में चावल की कृषि मुख्य रूप से डेल्टाई भागों, बाढ़ के मैदानों, सीढ़ीदार तथा निमवर्ती भागों में की जाती है । गंगा, ब्रह्मपुत्र, गोदावरी, मीनांग, सीक्यांग, यांग्टीसीक्यांग आदि के निचले मैदानी एवं डेल्टाई भागों में मुख्य रूप से चावल की कृषि की जाती है।

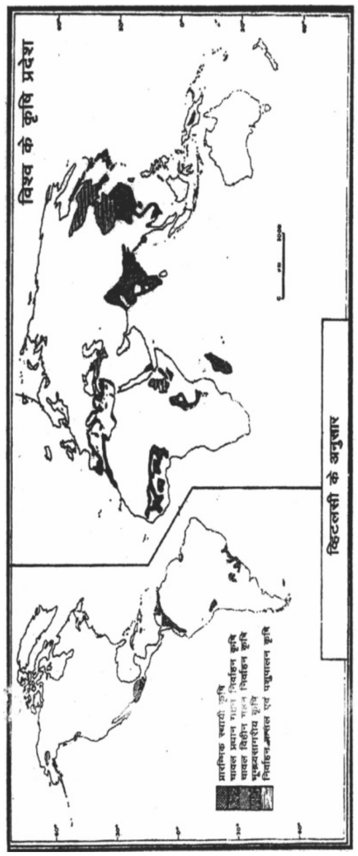

चित्र–12.2 : प्रारम्भिक स्थायी कृषि, चावल प्रधान एवं चावल विहीन गहन निर्वाहन कृषि, भूमध्यसागरीय कृषि, निर्वाहन फसल एवं पशुपालन कृषि

5. चावल विहीन गहन निर्वाहन कृषि (Intensive Subsistence Tillage without Paddy Price)

सघन जनसंख्या वाले ऐसे कई क्षेत्र जहां चावल की फसल के लिए उपयुक्त दशाओं का अभाव पाया जाता है, वहां अन्य फसलों का उत्पादन किया जाता है । इन क्षेत्रों में शुष्क अनाजों पर अधिक जोर दिया जाता हे । मानसून एशिया के ऐसे क्षेत्र जहां तापमान कम रहते हैं तथा वर्षा का वार्षिक औसत 100 से.मी. से कम होता हैं, वहां चावल के अतिरिक्त अन्य फसलें जैसे – ज्वार, बाजरा, मक्का, अरहर आदि मुख्य रूप से उत्पन्न की जाती है । जिन क्षेत्रों में सिंचाई की सुविधा उपलब्ध है, वहां गेहूं एवं कपास की फसलें भी उत्पादित की जाती है (चित्र – 12. 2) ।

जनसंख्या घनत्व इस कृषि व्यवस्था वाले भाग में अधिक है । इन क्षेत्रों में कृषकों द्वारा वर्ष में दो या तीन फसलें प्राप्त की जाती है । इस व्यवस्था के अन्तर्गत पशुपालन, दुग्ध, मांस आदि की प्राप्ति कम की जाती है । कृषकों द्वारा जनसंख्या अधिक होने के कारण खाद्यान्न फसलों का उत्पादन ही अधिक किया जाता है तथा चरागाहों के अन्तर्गत क्षेत्र बहुत कम है । पशुपालन के अन्तर्गत मुख्य रूप से भेड़, 'बकरी सूअर, मुर्गी, बैल, भैंस आदि पाले जाते हैं । इस प्रकार की कृषि अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से मानसून एशिया विशेषकर उत्तरी जापान, कोरिया, मुख्य चीन, मध्य–पश्चिमी भारत, पाकिस्तान आदि में मुख्य रूप से देखने को मिलती है । (चित्र – 12. 2) ।

6. निर्वाहन फसल एवं पशुपालन कृषि (subsistence Crop & Livestock Farming)

इस प्रकार की कृषि अर्थव्यवस्था में कृषक स्वयं के निर्वाहन के लिए ही मुख्य रूप से फसलों का उत्पादन तथा पशुपालन का कार्य करता है । इनके द्वारा किया जाने वाला उत्पादन बाजार में बहुत कम मात्रा में बेचा जाता है । कृषकों की क्रय शक्ति आधुनिक खर्चीली मशीनरी और अच्छी नस्ल के पशुओं को खरीदने की नहीं होती है । फसलों के उत्पादन की मात्रा कम होने के कारण इनकी आवश्यकता पूर्ति के पश्चात् उपज की बचत नहीं हो पाती हैं कुछ अपवादों को छोड़कर यहां पर कृषि के परम्परागत साधन काम में लिये जाते हैं । इस प्रकार की कृषि व्यवस्था का जन्म उत्तरी यूरोप में हुआ था । विश्व में वर्तमान में इस प्रकार की कृषि व्यवस्था तीव्र विकास के इस युग में व्यापारिक फसल एवं पशु उत्पादन की कृषि व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो गयी है । पश्चिमी एशियाई क्षेत्रों मुख्य रूप से तुर्की, उत्तरी ईरान, मध्यवर्ती एशिया तथा उत्तरी साइबेरिया आदि में जहां भौगोलिक दशायें विशेष अनुकूल नहीं हैं, इस प्रकार की कृषि व्यवस्था विकसित हुई है । (चित्र – 12. 2) ।

7. भूमध्यसागरीय कृषि (Mediterranean Agriculture)

यह कृषि व्यवस्था भूमध्यसागरीय जलवायु वाले क्षेत्रों में प्रचलित हैं जहाँ निर्वाहन एवं व्यापारिक दोनों प्रकार की कृषि एक ही क्षेत्र के विभिन्न भागों में की जाती है । इसी कारण इस कृषि का नामकरण कृषि विशेषता पर नहीं वरन् भौगोलिक प्रदेश के आधार पर किया गया है । यह कृषि सघन, उच्चविशेषीकृत तथा अधिक फसल विविधता वाली है जिसमें कुछ विशिष्ट फसलों का उत्पादन होता है । यहाँ कृषि के साथ–साथ पशुपालन भी किया जाता है ।

भूमध्यसागरीय कृषि क्षेत्र (Area of Mediterraneon Agriculture)

भूमध्यसागरीय कृषि प्रदेश का विस्तार 30^0 से 40^0 उत्तरी व दक्षिणी अक्षाशों के मध्य दोनों गोलार्द्धों में महाद्वीपों के पश्चिमी तटों पर मिलता है । इसके पाँच मुख्य क्षेत्र हैं –

(i). भूमध्यसागर के समीपवर्ती देश : स्पेन, पुर्तगाल, दक्षिणी फ्रांस, इटली, युगोस्लाविया, सिरिया, इजराइल एवं उत्तरी अफ्रीका के तटीय क्षेत्र ।

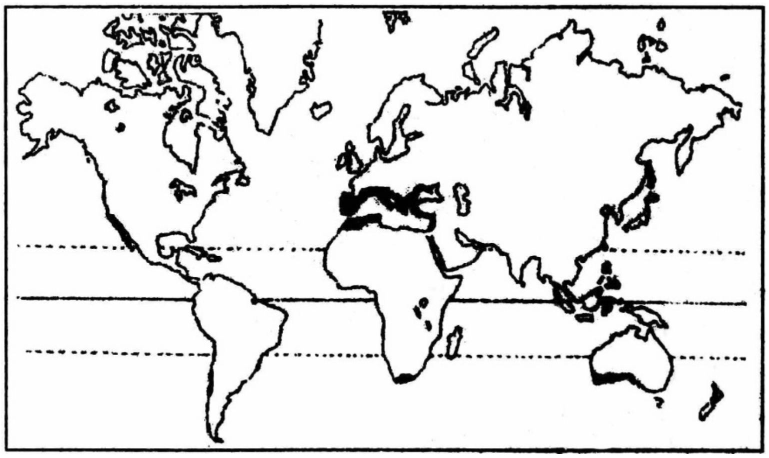

मानचित्र – 12.3 : भूमध्यसागरीय कृषि प्रदेश

(ii). संयुक्त राज्य अमेरिका में केलिफोर्निया घाटी ।

(iii). दक्षिणी अमेरिका में मध्य चिली ।

(iv).अफ्रीका का केप प्रान्त ।

(v). दक्षिणी पश्चिमी आस्ट्रेलिया एवं उत्तरी न्यूज़ीलैण्ड ।

यूरोप व एशिया के आन्तरिक भागों में निर्वाहन कृषि की जाती है जबकि दक्षिणी फ्राश, खली स्पेन के तटवर्ती भागों, केलिफोर्निया घाटी रख चिली में रसदार फलों व सख्तियों की व्यापारिक खेती की जाती है । ।

भौगोलिक दशाएं (Geographical Conditions)

भूमध्य सागरीय कृषि प्रदेश की विलक्षण विशेषता यहाँ की भौगोलिक दशाओं का परिणाम है। यहाँ विशिष्ट प्रकट की जलवायु मलती है जिसमें शीतकाल में वर्षा एवं ग्रीष्मकाल शुष्क रहता है । वर्षा व तापमान में ऋत्विक भिन्नता मिलती है । ऊँची पर्वत चोटियां, समुद्रतटीय मैदान, सँकरी घाटियाँ आदि धरातलीय विभिन्नताओं ने इस कृषि प्रणाली को विशिष्ट पहचान दी है । ??ई ऋतु में पर्वतीय भागों की बर्फ पिघलने से घाटियों में सिंचाई के जल की उपलब्धता हो जाने से शुल्क मौसम में भी सब्जियां व फल उत्पादन व्यापारिक महत्व का हो गया है । जनसंख्या घनत्व, परिवहन सुलभता, मगरों की सईकटता, शीतलन की सुविधा आदि तत्वों से भूमध्यसागरीय कृषि को प्रोत्साहन मिला है ।,

भूमध्यसागरीय कृषि की विशेषतायें (Characteristics of Mediterranean Agriculture)

(i). इस प्रदेश में शीतकाल में वर्षा होती है एवं ग्रीष्म काल शुष्क रहता है । वर्षा का औसत 25 से 75 से मी. तक मिलता है । फलस्वरूप फसलोत्पादन एवं पशुपालन में क्षेत्रीय भिन्नता मिलती है ।

(ii). भूमध्यसागरीय कृषि व्यवस्था में विभिन्न प्रकार की फसलों एवं पशुओं का अद्भुत सहचर्य मिलता है।फसलों में खाद्यान्न व च्यलों का संयोजन पाया जाता है ।

(iii). पर्वतीय एवं पठारी भागों में पशुपालन किया जाता है । पशुपालन दुग्ध, मांस और ऊन के लिए किया जाता हैं ।

(iv). भूमध्यसागरीय कृषि व्यवस्था में कृषि का स्वरूप निर्वाहन एवं व्यापारिक दोनों स्तर का मिलता है ।गेंहु,जौ,मक्का,सम्बियों आदि कीं कृषि स्थानीय निर्वहन के लिए तथा रसदार फल, दुग्ध उत्पाद व मांस व्यापार के लिए उत्पन्न किये जाते है।

(v). भूमध्यसागरीय कृषि वर्षा की कुल प्राप्ति, शुष्कता की अवधि, सिंचाई, स्थानीय मृदा की दशायें, कृषक की आर्थिक क्षमता एवं विश्व बाजार में कीमतों के उतार–चढ़ाव पर निर्भर है ।

प्रमुख फसलें (Major Crops)

भूमध्यसागरीय कृषि में तीन प्रकार की फ्यलें पैदा की जाती है –

(i). **शीतकालीन फसलें :** शीतकाल में वर्षा आरम्भ होते ही गेहूँ, जौ एवं मक्का की फसलें बो दी जाती है जो बसन्त ऋतु तक पककर तैयार हो जाती है । खाद्यान्नों के अलावा आलू टमाटर, सेम, गाजर, मटर, प्याज, चुकन्दर आदि सब्जियाँ उत्पन्न की जाती है जो स्थानीय मांग के अलावा निर्यात भी की जाती है । ।

(ii). **ग्रीष्मकालीन फसलें :** इन प्रदेशों में ग्रीष्म ऋतु शुष्क होने के कारण सिंचाई के द्वारा चारे की फसलें जैसे – क्लोवर घास, अल्फाफा घास, बरसीम, टुपाइन आदि पैदा की जाती है । सिंचित फलोत्पादन में अगर उत्पादन का प्रमुख स्थान है । इसके अलावा नाशपती, सेब, अलूचा आदि फलों का उत्पादन किया जाता है । इसी कारण भूमध्यसागरीय भूमि को विश्व की फलोद्यान भूमि (अतक्षत 1–' 0? फ़0 भ00।त) कहा जाता है ।

(iii). **असिंत्त्वइर्त च्छतें :** बिना खिंचाई के जैतून, ल्लानी, मंजौg, खजूर आदि फलों की कृषि की जाती है । विश्व का 9070 जैतून इच्छागरीय प्रदेश में पैदा होता है । यहाँ 35 से.मी से अधिक –वर्षा होती है, वहाँ मह्र बिना सिंचाई के पैदा किया जाता है । इनके अलावा खट्टे रसदार फल सन्तरा, नीबू नारंगी, चकोतरा आदि फल बहुतायत से पैंदा होता है ।

पशुपालन : भूमध्यसागरीय प्रदेश में पशुपालन दो प्रकार का होता है । प्रथम– सिंचाई द्वारा चारे की फसलें पैदा कर मांस व डेयरी पशुओं को पाला जाता है । नगरों के समीपवर्ती क्षेत्रों में गाय व सूअर पाले जाते हैं । द्वितीय– प्रकार का पशुपालन प्राकृतिक वनस्पति पर आधारित भेड़–बकरी पालन का है जो ऊँचे पहाड़ी भागों में चराये जाते है, जहाँ अपेक्षाकृत अधिक वर्षा व कम वाष्पीकरण के कारण शुष्क ग्रीष्म ऋतु में भी वातावरण समशीतोषग रहता है । भेq –बकरी पालन मास व ऊन के लिए किया जाता है ।

बोध प्रश्न – 2

1. भूमध्यसागरीय कृषि में कैसा प्रतिरूप मिलता है?

   ....

   ....

2. भूमध्यसागरीय कृषि कहाँ–कहाँ होती है?

   ....

....

3. विश्व की फलोद्यान भूमि किसे कहा जाता है?

....

....

4. भूमध्यसागरीय प्रदेश में कौन–कौन से फल पैदा होते हैं?

....

....

5. भूमध्यसागरीय कृषि में पशुपालन कितने प्रकार का होता है?

....

....

8. व्यापारिक पशुपालन (Livestock Ranching)

इस प्रकार के प्रदेश को दो भागो में विभक्त किया जा सकता है (i) समशीतोष्ण कटिबन्धीय घास के क्षेत्र, और (ii) उष्ण कटिबन्धीय सवाना के विस्तृत क्षेत्र। संसारके ऐसे अर्द्ध शुष्क क्षेत्रों में जहां कृषि उत्पादों कीं अपेक्षा प्राकृतिक घास पशुओं के लिए विशेष उपयुक्त हैं, वहां व्यापारिक दृष्टि से पशुपालन कार्य प्रारम्भ किया गया। इस प्रकार की कृषि व्यवस्था का श्रेय मुख्य रूप से यूरोपीय अप्रवासियों को जाता है। यूरोपीय अप्रवासी भूस्वामित्व प्राप्त करके स्थायी रूप से नयी दुनिया के प्राकृतिक घास प्रदेशों में बस गये थे। चारों और से घिरे इस प्रकार के निजौ चारागाहों को रैंच' कहा जाता है।

अर्जेन्टाइना, यूरुग्वे, ब्राजील, संयुक्त राज्य अमेरिका का पश्चिमी भाग, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका आदि में इस प्रकार का पशुपालन कृषि का महत्वपूर्ण अंग है। (चित्र – 125) । उतरी अमेरिका का मध्य उत्तरी मैदान एवं पठार, दक्षिणी अमेरिका का दक्षिणी पूवी भाग दक्षिणी मध्य आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड का दक्षिणी पूर्वी भाग एवं अफ्रीका के पठारी भाग आदि को समशीतोष्ण कटिबन्धीय घास के क्षेत्र के अन्तर्गत सम्मिलित किया जाता है जबकि दक्षिणी गोलार्द्ध में अफ्रीका के 100 से 200 अक्षांशो के मध्य का पास क्षेत्र उष्ण कटिबन्धीय सवाना के क्षेत्र में विस्तृत है।

9. **व्यापारिक अन्न उत्पादक कृषि (Commercial Grain Farming)**

मध्य अक्षांशीय कम वर्षा एवं अर्द्ध शुष्क वातावरण वाले शीतोष्ण घास के मैदानों में व्यापारिक उद्देश्य से खाद्यान्नों की कृषि प्रचलित है। इस प्रकार की कृषि का विकास वर्तमान सभ्य समाज की देन है । जनसंख्या वृद्धि के साथ–साथ शीतोष्ण घास के मैदानों को साफ करके खाद्यान्न हुतु विस्तृत फार्मो पर अनाज की वैज्ञानिक कृषि की जाने लगी। इन मैदानों में जौवांश युक्त हिम युग की अत्यधिक उपजाऊ मिट्टी के कारण गेहूँ की व्यापारिक कृषि को प्रोत्साहित किया है। बड़े पैमाने पर खाद्यान्न उत्पादन भौगोलिक एवं सामाजिक परिस्थितियों का परिणाम है।

व्यापारिक खाद्यान्न कृषि के क्षेत्र (Areas of Commercial Grain Farming)

व्यापारिक खाद्यान कृषि विश्व के सभी महाद्वीपों में विस्तृत है। इसका विस्तार उत्तरी अमेरिका के प्रयेरी, यूक्रेन व रूप के स्टेपी, अर्जन्टाइना के पम्पा, द. अफ्रीका के वेल्ड तथा

आस्ट्रेलिया के डाउन्स में मिलता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मैनीटोबा, डकोटा, कन्सास वाशिंगटन व आसान राज्यों में. कनाडा के एलबर्टा व सस्केचवान राज्यों में घास क्षेत्रों में इस कृषि का विस्तार पाया जाता है । यूरेशिया में यूक्रेन से व रूस के साइबेरिया के मध्य फैला हुआ चरनोजम मिट्टी वाला स्टेप्स घास क्षेत्र, अर्जेन्टाइना में बाहियाब्लंका से सान्ताफे तक हृदय स्थल, पम्पा पास क्षेत्र, दक्षिणी अफ्रीका में वेल्ड घास क्षेत्र एवं आस्ट्रेलिया में मरे व डार्लिंग नदिया की घाटियों में डाउन्स घास क्षेत्रों में व्यापारिक खाद्यान्न कृषि की जाती है ।

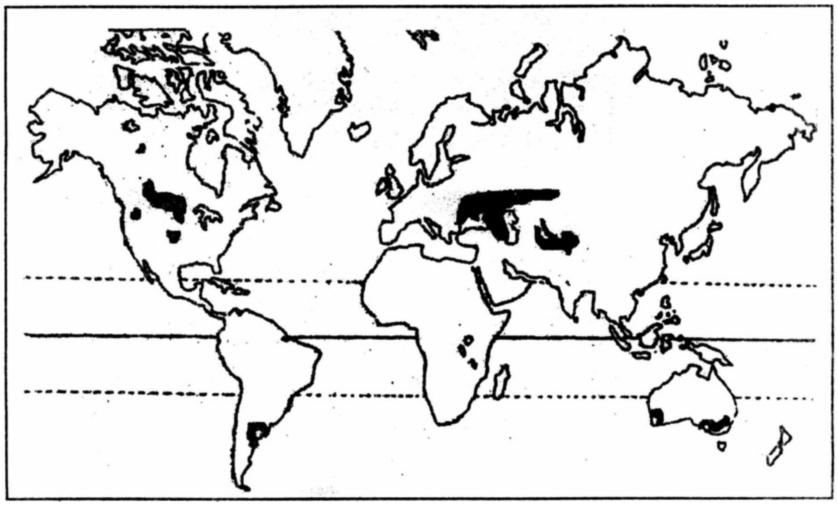

मानचित्र – 12.4 : विश्व में व्यापारिक अन्न कृषि क्षेत्र

भौगोलिक परिस्थितियाँ (Geographical Conditious)

(i). **जलवायु** : व्यापारिक खाद्यान्न उत्पादन कृषि क्षेत्र मध्य अंक्षाशों में विस्तृत हैं जहाँ उष्ण – शीतोष्ण जलवायु पायी जाती है।

(अ) तपमान : शीत ऋतु लम्बी होती है और तापमान हिमाक सें नीचे चले जाते हैं । ग्रीष्मकाल में तापमान 15^0 से 21^0 C तक रहते है । कम तापमान के कारण कम वर्षा में भी कृषि उत्पादन संभव हो जाता है, क्योंकि वाष्पीकरण अपेक्षाकृत कम होता है । वार्षिक तापान्तर अधिक रहते हैं।

(ब) वर्षा : समुद्र से दूर होने के कारण यहाँ पहुँचते –पहुँचते हवाओं की आर्द्रता कम हो जाती है तथा कुछ भाग पर्वतीय दृष्टि छाया में पड़ते हैं । अत: वर्षा का औसत 25 से 50 से मी. रहता है। पछुआ हवाओं से इन प्रदेशों में वर्ष अधिक नहीं हो पाती । शीतकाल में तापमान हिमाक से नीचे होने के कारण हिमपात होता है ।

(ii). **मृदाऐं :** प्रारम्भ में ये क्षेत्र पशुपालन के क्षेत्र रहे हैं जहाँ विस्तृत चरागाहों में प्रतिवर्ष घास सूखती थी और मिट्टी में मिलती रहती थी । इसलिए मिट्टी में नाइट्रोजन की मात्रा अत्यधिक होती है । कम वर्षा के कारण घुलनशील रसायन भी मिट्टी में ही बने रहते है । अत: यहाँ संसार की उर्वर मिट्टियों का पाया जाना व्यापारिक कृषि के लिए वरदान साबित हुआ हैं ।

5.3.3 मामाजिक तथा आर्थिक दशाएं (Social and Economic Conditions)

व्यापारिक अन्न उत्पादक कृषि क्षेत्र नये बसे हुये क्षेत्र हैं, जहाँ पहले केवल पशुचारण करने वाले लोग निवास करते थे । व्यापारिक कृषि के विकास के बाद हो यहाँ अधिवासों का विकास हुआ। अत: इन प्रदेशों में निम्न दशाओं के कारण भी व्यापारिक कृषि का विकास हुआ –

(i). **अल्प जनसंख्या** : यहाँ जनसख्या बहुत कम है । अधिकांश भागों में 25 से 50 व्यक्ति प्रति वर्ग किमी हैं । कुछ भागों में विशिष्ट प्रदेशों में 100 से 150 व्यक्ति तक रहते हैं । अत: अल्प जनसंख्या के कारण जहाँ एक ओर कृषि में अधिकांश कार्य मशीनों से किया जाता है, वहीं दूसरी ओर प्रति व्यक्ति उत्पादन अधिक होता है । इसलिए अत्यधिक मात्रा में खाद्यान्न व्यापार के लिए बच जाता है, जिससे व्यापारिक खेती को बल मिला है ।

(ii). **विकसित यातायात के साधन :** इस कृषि में विशाल आकार के फामों में एक स्थान से खरे स्थानं पर जाने–आने, मशीनों को लाने –ले जाने, अन्न को बन्दरगाह तक या निर्यात केन्द्रों तक पहुँचाने के लिए यातायात के साधनों का विकास तीव्र गति से हुआ है । फलस्वरूप उत्पादन क्षेत्रों से उत्पाद को सुगमता से पहुँचाया जाता है।

(iii). **विस्तृत बाजार** : व्यापारिक अन्न उत्पादक क्षेत्रों के निकट ही औद्योगिक सघन बसे क्षेत्रों में खाद्यान्नों की मांग है । जैसे – स्टेपी प्रदेशों के समीप यूरोपीय देश तथा प्रेरीज क्षेत्रों के निकट संयुक्त राज्य अमेरिका का झील क्षेत्र व अटलांटिक तटीय क्षेत्र में खाद्यान्नों की माग रहती है । अत: इन प्रदेशों का खाद्यान्न सघन बसे क्षेत्रों के विस्तृत बाजार की मांग की पूर्ति करता है।

(iv). **प्रति हेक्टर उपज कम :** अर्द्धशुष्क जलवायु के कारण इन प्रदेशों में प्रति एकड़ उत्पादन कम होता है । यदि मानवीय भ्रम एवं पशु शक्ति से कृषि की जाये तो अधिक लाभ नहीं होगा । यही कारण है कि यहाँ अधिकांश कार्य मशीनों से ही किया जाता है । विशाल कृषि फार्मों पर मानव श्रम से कृषि सभव नहीं है ।

इस प्रकार कर्य भौगोलिक, सामाजिक एवं आर्थिक कारकों के परिणामस्वरूप विस्तृत व्यापारिक कृषि का स्वरूप देखने को मिलता है ।

विशेषताएँ (Characteristics)

(i). **एक फसल प्रधान कृषि** : इस कृषि में एक ही फसल के उत्पादन पर बल दिया गया है । जिसमें गेहूँ प्रमुख फसल है जो व्यापार करने के उद्देश्य से उत्पन्न की जाती है । संयुक्त राज्य अमेरिका में अधिकांशत: गेहूँ की कृषि की जाती है, परन्तु एक पेटी में मक्का का उत्पादन होता है । अन्य क्षेत्रों में जौ, जई, राई आदि फसलें भी आवश्यकतानुसार उत्पन्न की जाती है।

(ii). **पशुपालन का गौण स्वरूप :** इस प्रदेश में पशुपालन नगण्य है । कुछ प्रदेशों में दुग्ध व मास हेतु चौपाये, सुअर एवं मुर्गीपालन किया जाता है । अर्जेन्टाइना में पशुओं के लिए फसल उत्पादन भी किया जाता है । स्टेपी प्रदेशों में घोड़े भी पाले जाते हैं ।

(iii). **यंत्रीकृत कृषि** : कृषि में सर्वाधिक यंत्रीकरण हुआ है । खेत जोतने के लिए ट्रेक्टर, डिस्क भूमि तैयार करने के लिए हैरो – मशीन, निराई करने के बीडिंग मशीन, सिंचाई के लिए स्प्रिंकलर, कीटनाशक छिड़कने के लिए छोटे वायुयान, फसल की कटाई के लिए हारवेस्टर, तैयार करने

के लिए कम्बाइन, थ्रेसर आदि तथा परिवहन के लिए ट्रक व मालगाडियों का प्रयोग किया जाता है । अत: अत्यधिक मशीनीकरण से मानव श्रम की आवश्यकता बहुत कम है ।

(iv). **विस्तृत आकार के फर्म** : इन प्रदेशों मे कृषि फार्मों का आकार बहुत बड़ा है जिससे भूमि का अपव्यय नहीं होता और मशीनों का प्रयोग सरल रहता है । उत्तरी अमेरिका में फार्म 500 से 1000 एकड़ तक तथा कहीं 2000 एकड़ तक भी मिलते हैं ।

(v). **वर्षा आधारित कृषि प्रणाली** : यहां फसल उत्पादन प्राकृतिक दशाओं पर अधिक निर्भर है । सिंचाई बहुत कम होती है । तथा कुछ क्षेत्रों में शुष्क कृषि की जाती है । भूमि की प्राकृतिक उर्वरता पर फसल उत्पादन किया जाता है । एक ही फसल पैदा करने के कारण फसलों का हेर–फेर भी नहीं होता है । अत: प्रति एकड़ उपज कम है ।

(vi). **व्यापारिक स्वरूप** : इन प्रदेशों में कृषि का व्यापारिक स्वरूप मिलता है । धान्य उत्पादन वर्तमान औद्योगिक काल की देन है । औद्योगिक क्षेत्रों में भोजन की मांग वरने से इन घास स्थलों मे खाद्यान्न कृषि का व्यापारिक स्वरूप विकसित हुआ है । घरेलू मांग पूर्ति के अलावा अधिकांश खाद्यान्नों का निर्यात किया जाता है । गेहूँ का व्यापार सम्पूर्ण विश्व में किया जाता है।

(vii). **विशिष्ट कृषि भूदृश्य** : विस्तृत फार्म के मध्य कृषक का आवास, मशीनों को रखने के गोदाम, फार्मो के मध्य रेलमार्ग न एलीवेटर, माल गोदाम आदि की व्यवस्था रहती है, जो एक विशिष्ट कृषि भूदृश्य का परिचायक हैं ।,

प्रमुख फसलें (Main Crops)

व्यापारिक अन्न उत्पादक कृषि' व्यवस्था में गेहूँ का विशेषीकरण देखने को मिलता है । इसके अलावा मक्का, जौ, जई, राई एवं चुक्कन्दर भी पैदा किया जाता है ।

1. **गेहूँ** :गेहूँ इस प्रदेश की प्रधान 'एवं महत्वपूर्ण व्यापारिक फसल है जो कनाड़ा, संयुक्त राज्य अमेरिका, रूस, अर्जेन्टाइना, आस्ट्रेलिया, यूरोपीय देशों में प्रमुखता से पैदा होता है । बड़े–बड़े फार्मो में गेहूँ की वैज्ञानिक यंत्रीकृत कृषि की जाती है । उत्तरी अमेरिका में रेड नदी की घाटी से लेकर उत्तर में कनाडा के अलबर्टा राज्य तक गेहूँ की पेटी विस्तृत है, जिसे विश्व की रोटी की टोकरी (Bread basket of the world) कहा जाता है । मिनियापोलिस, डूलुथ, विनिपेग व आर्थर प्रमुख गेहूँ की मण्डियाँ है । पूर्व सोवियत संघ के वोल्गा बेसिन, यूराल प्रदेश एवं कज्जाक प्रदेश का स्टेपी प्रदेश विश्व का दुसरा महत्वपूर्ण गेहूँ उत्पादक क्षेत्र है । देश के उत्पादन का 65% गेहूँ बसन्त कालीन गेहूँ पैदा होता है, जहाँ मास्को, गोर्की व ओरेनबर्ग प्रमुख मण्डियाँ हैं ।

   अर्जेन्टाइना में पम्पाप्रदेश में बाहियाब्लांका नगर से सान्ताफे नगर तक गेहूँ की विस्तृत कृषि की जाती है । यहाँ से कुल गेहूँ उत्पादन का 60% निर्यात किया जाता है । आस्ट्रेलिया की मरे डार्लिंग नदियों की घाटियों में डाउन्स घास के मैदानों मै बड़े –बड़े फार्मो पर गेहूँ पैदा किया जाता है । यहाँ न्यूसाउथवैल्स तथा प्रिटोरिया राज्य देश का 60% गेहूँ उत्पन्न करते हैं। आस्ट्रेलिया भी गेहूँ का प्रमुख निर्यातक देश हैं । इसके अलावा द. अफ्रीका के वेल्ड प्रदेश में भी कुछ मात्रा में गेहूँ पैदा किया जाता हैं ।

2. **मक्का** : व्यापारिक खाद्यान्न कृषि प्रदेश की छूरी खाद्यान फसल मक्का है जिसका मुख्य उत्पादक क्षेत्र संयुक्त सस्था अमेरिका का प्रेयरी प्रदेश का दक्षिणी भाग है । यहाँ डकोटा व

कन्सास राज्यों में मक्का की गहन कृषि की जाती हे । वनस्पति अंश युक्त मिट्टी एवं फुहार के रूप में वर्षा ने मक्का की खेती को प्रोत्साहित किया है । अर्जेन्टाइना के पम्पा प्रदेश के उत्तरी–पूर्वी भाग में भी मक्का पैदा की जाती है । यहाँ से मक्का का निर्यात यूरोपीय देशों को किया जाता है । इसके अलावा रूस के यूराल प्रदेश, द. अफ्रीका में वेल्ड प्रदेश के ट्रांसवाल एवं औरैन्ज फ्री स्टेट में भी मक्का उत्पन्न की जाती है।

3. **जौ :** इस प्रदेश में जौ एक सहायक फसल के रूप में पैदा की जाती है । संयुक्त राज्य अमेरिका व कनाडा के प्रेयरी प्रदेश में कम नमी में भी जौ का उत्पादन किया जाता है । इसके अलावा रूस, अंर्जेन्टाइना एवं आस्ट्रेलिया में भी जौ पैदा किया जाता है । गत दशक से रूस एवं प्लेन में जौ के क्षेत्र में वृद्धि हुई है । रूस के मास्कों के उत्तरी भाग में जौ का सर्वाधिक उत्पादन होता है ।
4. **अन्य फसलें** :उपरोक्त फसलों के अलावा व्यापारिक अन्न उत्पादक कृषि क्षेत्रों में जई, चुकन्दर, राई आलू एवं सब्जियों का उत्पादन भी किया जाता है ।

बोध प्रश्न – 3

1. व्यापारिक खाद्यान्न कृषि किन भागों में प्रचलित है ।
 ....
 ....
2. व्यापारिक खाद्यान्न कृषि में किस खाद्यान्न की कृषि की जाती है?
 ....
 ....
3. व्यापारिक खाद्यान्न कृषि को यंत्रीकृत कृषि क्यों कहा जाता है?
 ....
 ....
4. व्यापारिक खाद्यान्न कृषि में फार्मो का आकार कैसा होता है?
 ....
 ....
5. फसल विशेषीकरण से क्या अभिप्राय है?
 ....
 ....
6 संसार की 'रोटी की टोकरी' कौन सा प्रदेश कहलाता हैं?
 ....
 ....
7. पम्पा प्रदेश में गेहूँ उत्पाटक क्षेत्र का विस्तार बताइये?
 ....
 ....

10. व्यापारिक फसल एवं पशु उत्पादक कृषि (commercial livestock & Crop Farming)

फसलों का उत्पादन एवं पशुपालन कार्य इस कृषि व्यवस्था में व्यापारिक दृष्टिकोण से किया जाता है । इसी कारण इसे मिश्रित कृषि व्यवस्था के नाम से भी जाना जाता है । यह व्यवस्था संयुक्त राज्य अमेरिका एवं यूरेशिया में मुख्य रूप से प्रचलित है । संयुक्त राज्य अमेरिका के पूर्वी भाग के विस्तृत क्षेत्रों में जिनमें ओहियों, इण्डियाना, नेब्रास्का, आयोवा, वर्जीनिया, इलिनयास, जार्जिया, टैनिसी, ओक्लोहामा आदि सम्मिलित है, में इस प्रकार की कृषि व्यवस्था प्रचलित है । इन क्षेत्रों में मक्का की फसल का पशुपालन के कार्य के लिए मुख्य रूप से उत्पादन किया जाता हैं इसके अतिरिक्त इस प्रकार की मिश्रित कृषि व्यवस्था उत्तरी– पश्चिमी यूरोपीय देशों जिनमें बेल्वियम, आस्ट्रिया, डेनमार्क, फ्रांस, फिनलैण्ड, लक्जमबर्ग, आयरलैण्ड, स्वीडन, नार्वे, स्विट्जरलैण्ड, यू.के. और पश्चिमी जर्मनी जबकि पूर्वी यूरोपीय देशो के अन्तर्गत चेकोस्लोवाकिया, बल्गारिया, हंगरी, पूर्वी जर्मनी, रोमानिया, पौलेण्ड आदि में मुख्य रूप से अपनायी जाती है (चित्र – 12.5) । यह पेटी यूएशिया में आन्ध्र महासागर तट से साइबेरिया तक फैली है तथापि पूर्व में यह सकड़ी होती जाती है ।

11. व्यापारिक दुग्ध पशुपालन कृषि (Commercial Dairy Farming)

दुध एवं दूध से बनें पदार्थो के व्यापारिक उत्पादन के लिए खेती करना दुग्ध पशुपालन कृषि का प्रमुख उद्देश्य है । इस कृषि व्यवस्था में फसल उत्पादन की अपेक्षा अधिक श्रम, पूंजी, कृषि मशीनें एवं समय पर सक्रियता एवं सजगता की नितान्त आवश्यकता होती है इस प्रकार के व्यवसाय को उन्हीं भागों में सफलता प्राप्त होती है जहां शहरी बाजारों की निकटता हो एवं दूध, क्रीम, मक्खन, पनीर, मांस आदि बेचने की सुविधाऐं सुलभ रूप से उपलब्ध हों ।

समशीतोष्ण जलवायु प्रदेशों में बड़े पैमाने पर इस प्रकार की कृषि का प्रसार देखने का मिलता है । विश्व में इस प्रकार की व्यवस्था विशेष रूप से तीन प्रदेशों में विकसित हुई है :

(i). पश्चिमी यूरोप के उत्तरी भाग में आन्ध्र महासागर तट से मास्को तक;

(ii). उत्तरी अमेरिका में महान झीलों के पश्चिमी प्रेयरी क्षेत्र में आन्ध्र महासागर तट तक;

(iii). आस्ट्रेलिया का दक्षिणी पूर्वी भाग, तस्मानिया एवं न्यूजीलैण्ड में (चित्र – 12.5)।

इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों जैसे अर्जेन्टाइना, मध्य चिली, दक्षिणी अफ्रीका, पूर्वी जापान, पश्चिमी संयुक्त राज्य अमेरिका आदि में भी इस प्रकार की कृषि व्यवस्था स्थित है ।

दुग्ध उत्पादन के लिए आवश्यक भौगोलिक दशाएं (Geographical Condition for Dairy Farming)

दुग्ध उत्पादन के लिए निम्न भौगोलिक दशाएं आवश्यक हैं –

(i). **जलवायु** : दुग्ध उद्योग समशीतोष्ण जलवायु के शीतल आर्द्र प्रदेशों में सबसे उपयुक्त है क्योंकि डेयरी पशु शीतल आर्द्र जलवायु में हष्ट–पुष्ट होते हैं और दूध की मात्रा भी अधिक होती है। दुग्ध पशुओं के लिए औसत तापमान 10^0 से 17^0 होने चाहिए । शीतकाल में हिमांक से नीचे तथा ग्रीष्मकाल में 27^0 से ऊपर नहीं जाने चाहिए । सामुद्रिक जलवायु दुग्ध उद्योग

के लिए सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है । इसी कारण पश्चिमी यूरोप,पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका, अर्जेन्टाइना, न्यूजीलैण्ड आदि देशों में दुग्ध उद्योग उन्नति कर गया है ।

(ii). **विस्तृत चरागाह एवं पौष्टिक चारा :** दुधारू पशुओं के लिए वर्ष भर पौष्टिक चारा खिलाना आवश्यक है । अत: सस्ते व पौष्टिक चारा (घास) के लिए विस्तृत चरागाह होना चाहिए । वर्तमान समय में जई, क्लोवर, बरसीम आदि घासें तथा गाजर, शलजम, ज्वार, मक्का आदि फसलें उत्पन्न कर दुधारू पशुओं को खिलाई जाती है ।

(iii). **स्वच्छ जल की उपलब्धता :** दुधारू पशुओं को पीने एवं नहलाने के लिए बड़ी मात्रा में स्वच्छ जल की आवश्यकता होती है । एक गाय को औसत रूप में प्रतिदिन 200 लीटर जल की आवश्यकता होती है । अत: स्वच्छ जल की पर्याप्तता होनी चाहिए ।

(iv). **तीव्रगामी परिवहन के साधन** दुग्ध एवं दुग्ध पदार्थो को ताजा दशा में उपभोक्ताओं तक पहुँचाने के लिए तीव्रगामी साधनों की सुलभता होनी चाहिए । प्रशीतक युक्त स्थानीय व प्रादेशिक परिवहन व्यवस्था से दुग्ध उद्योग का विकास निर्भर करता है ।

(v). **पूँजी** : दुग्ध उद्योग में दुग्ध संकलन, अवशीतलन यंत्रों, पशुओं, भूमि, प्रशीतक युक्त परिवहन व्यवस्था आदि में अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता होती है ।

(vi). **बाजार की समीपता :** दुग्ध उद्योग मुख्यत: सघन जनसंख्या के क्षेत्रों एवं नगरों के समीप स्थापित होते हैं जहाँ रहन–सहन व आर्थिक स्तर ऊँचा होने से दुग्ध पदार्थो की खपत अधिक रहती है ।

(vii). **छाछ पर सुअर पालन :** दूध से मक्खन व क्रीम निकालने के बाद बची हुई छाछ से सुअर पालन करने से अतिरिक्त आमदनी प्राप्त होती है । यू.एस.ए, डेनमार्क, नीदरलैण्ड, न्यूजीलैण्ड आदि देशों में दुग्ध व्यवसाय से सुअर पालन भी होता है।

(viii). **शोध एवं आविष्कार** दुग्ध पशुओं की नस्लों, उनके स्वास्थ्य पौष्टिक चारे, जल, रहन–सहन, दुग्ध क्षमता में वृद्धि, मक्खन की मात्रा आदि के विषय में निरन्तर शोध एवं वैज्ञानिक आविष्कार होते रहना चाहिए ।

(ix). **कुशल श्रमिक** पशुओं की देखभाल, दुग्ध निकालने, पशुओं के रख –रखाव, दुग्ध पदार्थों को बाजारों तक पहुँचाने आदि में अत्यधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है । अत: घने बसे क्षेत्रों में गहन कृषि के साथ दुग्ध व्यवसाय विकसित हुआ है ।

विश्व में दुग्ध उत्पादक क्षेत्र (Dairy Farming Areas in the World)

वर्तमान समय में पशु आधारित उद्योगों में दुग्ध व्यवसाय सबसे महत्वपूर्ण उद्योग है । शीत भण्डारों के विस्तार, प्रशीतक युक्त परिवहन साधनों का विकास, दुग्ध व दुग्ध उत्पादों की बढ़ती मांग से इस उद्योग का तीव्र विस्तार किया है । एक मोटे अनुमान के अनुसार विश्व के कुल दूध के उत्पादन का 37.5% यूरोप में, 20.5% उत्तरी अमेरिका से, 7% रूस से,7% भारत से एवं 5% ब्राजील से पैदा होता है । विश्व के प्रमुख दुग्ध उत्पादक प्रदेश इस प्रकार हैं : –

(i). **रूस एवं अन्य गणराज्य :**रूस एवं अन्य गणराज्य मिलकर विश्व का 20% दुग्ध का उत्पादन करके प्रथम स्थान पर हैं । स्पेन, काकेशिया, लटविया, लिथुआनिया, अजरबेजान, कजाकिस्तान आदि गणराज्यों वें दुग्ध उद्योग का विकास हुआ है । रूस में मास्को क्षेत्र तथा साइबेरिया क्षेत्र में दुग्ध व्यवसाय उन्नति पर हैं । यहाँ डेयरी फार्मो का वैज्ञानिक ढंग से विकास किया गया है जिसमें पौष्टिक चारे का उत्पादन, पशुओं की उन्नत नस्ल, पशु

स्वास्थ्य व चिकित्सा सुविधाऐं, अवशीतलन मशीनें, प्रशीतक भण्डारण, उत्तम व तीव्रगामी परिवहन आदि सुविधाऐं मिलती हैं । इन गणराज्यों में 10 करोड़ मैट्रिक टन दूध का वार्षिक उत्पादन होता है । सम्पूर्ण उत्पादन देश की स्थानीय मांग को पूरा करता है ।

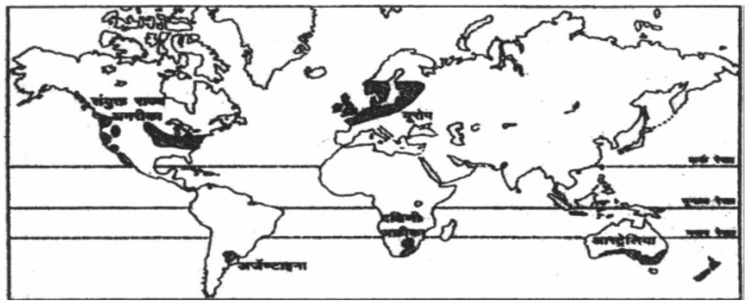

मानचित्र– 12.5 : विश्व के प्रमुख डेयरी क्षेत्र

(ii). **संयुक्त राज्य अमेरिका :**यह विश्व का दूसरा बड़ा दुग्ध उत्पादक देश है, जहाँ विश्व का 12.5% दुग्ध का उत्पादन होता है । यहाँ दुग्ध व्यवसाय एक पेटी के रूप में विस्तृत है जो पूर्व में अटलांटिक तट से लेकर पश्चिम में मिसौरी नदी तट तथा उत्तर में कनाडा से दक्षिण में पोटोमैक व ओहियो नदियों तक फैली हुई हैं । विस्कोंसिन, मिशीग1, मिनेसोटा, इलिनोइस, इन्दियाना, ओहियो, आयोवा, पेसिंलवानिया, नेब्रास्का, न्यूयार्क, न्यूजसीं, मैरीलैण्ड तथा डेलावेयर प्रमुख दुग्ध उत्पादक राज्य हैं । औद्योगिक व सघन जनसंख्या वाला क्षेत्र होने के कारण दुग्ध की मांग अधिक रहती है । इसलिए इस क्षेत्र में डेयरी उद्योग का विकास हुआ है । यहाँ कुल रु उत्पादन का 45% ताजा के रूप में, 35% मक्खन के रूप में, 6% पनीर के रूप में, 6% आईसक्रीम के रूप में, 5% दुग्ध चूर्ण एवं 3% अन्य उपयोग में लिया जाता है ।

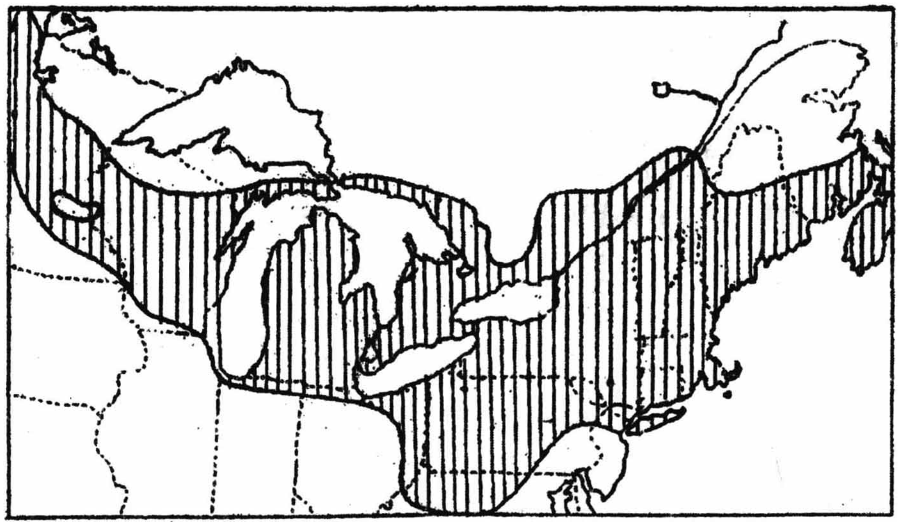

मानचित्र – 12.6 : उत्तरी अमरीका के दुग्ध उत्पादक क्षेत्र

(iii). **भारत :** विश्व का तीसरा बड़ा दुग्ध उन्तदक देश है जो गत पाच वर्षों में दुग्ध उत्पादन में अग्रणी बन गया है। सन् 2003-04 में यहाँ 10 करोड़ मीट्रिक टन दूध का उत्पादन हुआ । यहाँ संसार का सर्वाधिक पशुधन है । कुल उत्पादित दूध का 58% भैसों से, 41% गायों से तथा शेष अन्य पशुओं से प्राप्त होता है । उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, बिहार, राजस्थान, आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, मध्य प्रदेश आदि प्रमुख दुग्ध उत्पादक राज्य हैं । गत दशक में

पशुनस्ल में सुधार, श्वेत क्रान्ति में डेयरी उद्योग के विकास पर ध्यान देने, पौष्टिक चारा उत्पादन, दुग्ध उत्पादक सहकारी संघों का विस्तार आदि कारणों से दुग्ध उत्पादन में तीव्र प्रगति हुई है । भारत में कुल उत्पादित दूध का 68% ताजा दूध के रूप में, 14% घी, 10% दही, 6% खोया तथा शेष 2% अन्य उपयोग में लिया जाता है । विश्व में मक्खन उत्पादन में भारत का प्रथम स्थान है ।

(iv). **फ्रांस :** फ़्रांस यूरोप का प्रथम तथा विश्व का चौथा बड़ा दुग्ध उत्पादक देश है जो विश्व का 5% दूध का उत्पादन करता है । यहाँ नॉर्मेण्डी, फ्तेण्डर्स, पेरिस बेसिन, ब्रिटानी, रोन डेल्टा आदि प्रमुख दुग्ध उत्पादक्र क्षेत्र है । अधिकांश दूध का पनीर व मक्खन बनाया जाता है जो निर्यात भी किया जाता है । फ्रांस में प्रतिव्यक्ति दुग्ध का उपभोग अधिक है जो 99% गायों से ही प्राप्त हाता है ।

(v). **जर्मनी :** यह विश्व का पाँचवा दुग्ध उत्पादक देश है जहाँ 283 लाख मीट्रिक टन दूध का वार्षिक उत्पादन होता है । जर्मनी में बवेरिया अग्रभूमि तथा मध्यवर्ती उच भूमि प्रमुख डेयरी उद्योग क्षेत्र हैं । यहाँ उत्पादित दूध व दुग्ध पदार्थो की स्थानीय मांग में खपत हो जाती हैं ।

(vi). **नीदरलैण्ड :** यह प्राचीन समय से दुधारू पशुओं के पालन के लिए प्रसिद्ध रहा है । यहाँ आर्द्र मैदानी भाग में उत्तम चारा व घास उत्पन्न होती है जहाँ डच गायों को पाला जाता है । यहाँ का एडाम पनीर विश्व विख्यात है । दुग्ध का वार्षिक उत्पादन 110 लाख मीट्रिक टन है ।

(vii). **डेनमार्क :** डेनमार्क का दुग्ध व्यवसाय विश्व विख्यात है । यहाँ भूमि अनुपजाऊ होने से अनाज व चारे का आयात करके दुग्ध हेतु पशुपालन किया जाता है । यहाँ उत्पादित दूध का 80% का मक्खन, 10% का पनीर और 10% दूध के रूप में प्रयुक्त किया जाता है । यहाँ दुग्ध उत्पादन सहकारी समितियों द्वारा होता है ।

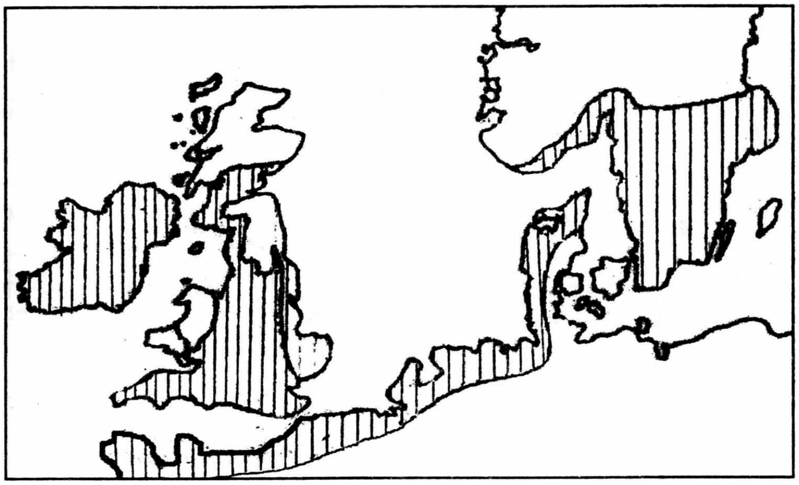

मानचित्र – 12.7 : यूरोप में दुग्ध व्यवसाय क्षेत्र

(viii). **पौलेण्ड :** पौलेण्ड विश्व का 3% दूध का उत्पादन कर विश्व में छठे स्थान पर है । शीतोष्ण जलवायु एवं विशाल स्टेपी घास क्षेत्र की सुविधा के कारण यहाँ डेयरी व्यवसाय उन्नति कर गया है । वार्षिक उत्पादन 160 मीट्रिक टन दूध का है ।

(ix). **ग्रेट ब्रिटेन :** ब्रिटेन 160 लाख मीट्रिक टन दुग्ध का उत्पादन कर विश्व के कुल उत्पादन में 3% योगदान रखता है । यद्यपि यहाँ व्यापक क्षेत्र में पशुपालन किया जाता है, परन्तु यहाँ

के दुग्ध उत्पादन से स्थानीय मांग पूरी नहीं होती, अत: ब्रिटेन दुग्ध व दुग्ध पदार्थों का आयात करता है ।

(x). **न्यूज़ीलैण्ड :** न्यूजीलैण्ड की अर्थव्यवस्था पशुपालन पर निर्भर है । यहाँ तारानाकी निम्न भूमि, आकलैण्ड प्रायद्वीप एवं तटवर्ती भागों में डेयरी व्यवसाय हेतु पशुपालन होता हैं । वेलिंगटन, नेपियर, वेगानुई, न्यूप्लाईमाउथ, क्राइस्टचर्च आदि प्रमुख डेयरी केन्द्र है । दुग्ध का वार्षिक उत्पादन 130 लाख मीट्रिक टन है । दूध निर्यात में विश्व में प्रथम स्थान पर है । आर्द्र शीतोष्ण जलवायु, विस्तृत चरागाह, उन्नत नस्ल की गायें, मशीनीकृत स्वचालित डेयरी फार्म आदि सुविधाओं के कारण न्यूज़ीलैण्ड में दुग्ध व्यवसाय उन्नति कर गया है ।

(xi). **आस्ट्रेलिया :** यहाँ आधुनिक ढ़ंग का दुग्ध व्यवसाय प्रचलित है । उत्तरी ब्रिस्बेन से लेकर, साउथवेल्स, विक्टोरिया तक फैले हुये तटवर्ती प्रदेश में अंग्रेज पूँजीपतियों द्वारा बड़े–बड़े डेयरी फार्म बनाये गये हैं, जहाँ पातालतोड़ कुओं से जल प्राप्त कर पौष्टिक चारे का उत्पादन किया जाता है । यहाँ उन्नत नस्ल की गायें दुग्ध हेतु पाली जाती है । दुग्ध का वार्षिक उत्पादन 105 लाख टन है । मक्खन व पनीर बनाने के कारखानें सम्पूर्ण फार्मो पर फैले हुये हैं । कुल दूध उत्पादन का 68% मक्खन में, 6% पनीर में, 5% पावडर में और 21% दूध के रूप में काम आता है । यहाँ से मक्खन, पनीर दूध का निर्यात किया जाता हैं।

(xii). **अन्य देश :** उपरोक्त देशों के अलावा ब्राजील, मैक्सिको, जापान, कनाड़ा, चीन, इण्डोनेशिया, पाकिस्तान, टर्की, अर्जेन्टाइना, युगान्डा, तंजानिया, कीनिया आदि देशों में दुग्ध व्यवसाय उन्नति पर है ।

दुग्ध एवं दुग्ध पदार्थो का विश्व व्यापार (World Trade of Milk and their Products)

विश्व में दुग्ध पदार्थों का व्यापार महत्वपूर्ण स्थान रखता है । संसार के कुछ देश तो ऐसे हैं जहाँ सम्पूर्ण अंतराष्ट्रिय व्यापार पशु उत्पादों का ही होता है जैसे न्यूजीलैण्ड, डेनमार्क, बेल्वियम आदि देश पशुपालन पर ही निर्भर हैं ।

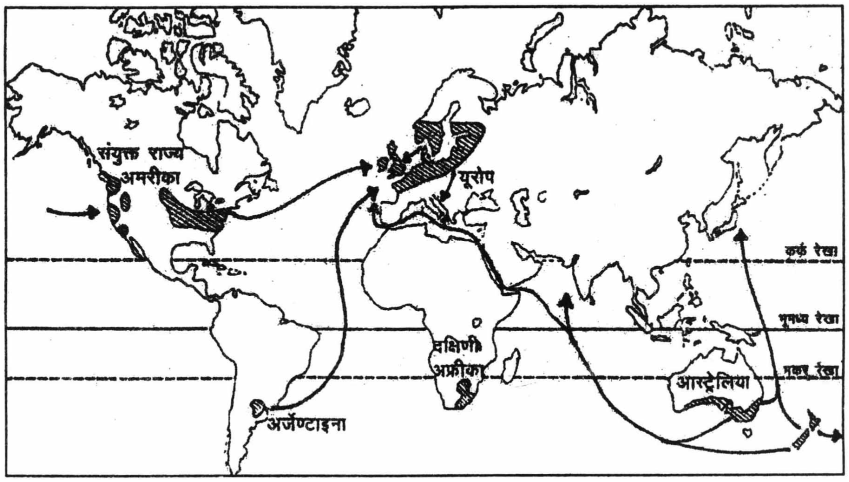

मानचित्र – 12.8 : विश्व में दुग्ध एवं दुग्ध पदार्थो का व्यापार

1. **प्रमुख निर्यातक देश** : विश्व में दुग्ध का निर्यात करने वाले देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका, न्यूज़ीलैण्ड, डेनमार्क,आस्ट्रेलिया, कनाडा, अर्जेन्टाइना व हालैण्ड प्रमुख है, जबकि मक्खन का निर्यात डेनमार्क, हालैण्ड, आस्ट्रेलिया, पौलेण्ड, न्यूज़ीलैण्ड देशों द्वारा किया जाता है ।

नीदरलैण्ड, पौलेण्ड, न्यूजीलैण्ड, कनाडा, हालैण्ड, स्विटजरलैण्ड, इटली, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों से पनीर का निर्यात भी किया जाता है ।

2. **प्रमुख आयातक देश :** दुग्ध एवं दूध पदार्थो का आयात मुख्यत : ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी, बेल्वियम, यू एस ए., भारत, जापान एवं अन्य यूरोपीय देश हैं ।

बोध प्रश्न – 4

.1 विश्व में सर्वाधिक दुग्ध उत्पादन कौन से महाद्वीप में होता हैं –

(अ) एशिया (ब) आस्ट्रेलिया

(स) ओप (द) उत्तरी अमेरिका

.2 विश्व में मक्खन उत्पादन में अग्रणी राष्ट्र है –

(अ) डेनमार्क (ब) स रा. अमेरिका

(स) रूस (द) भारत

.3 ब्लीलैण्ड में दुग्ध उद्योग की उन्नति के क्या कारण हैं?

....

....

.4 स. रा. अमेरिका की दुग्ध पेटी का विस्तार बताइये ।

....

....

.5 दुग्ध व्यवसाय हेतु कौन सी जलवायु उपयुक्त रहती है?

....

....

.6 विश्व में दुग्ध निर्यातक देश कौन–कौनसे है?

....

....

12. विशिष्ट बागानी कृषि (Specialized Horticulture)

विशिष्टीकृत उद्यान कृषि का विकास मुख्य रूप से नगरीय केन्द्रों में भोज्य पदार्थो की विशाल मांग के कारण हुआ है। सब्जी, फल, फूल आदि का उत्पादन इस कृषि व्यवस्था का मुख्य भाग है जो कि विश्व के सभी देशों में औद्योगिक एवं नगरीय विकास के प्रतिफल के रूप में सामने आया। साग–सब्जी, फल–फूलों आदि का सामान्यत: नगरीय लोगों द्वारा अपने मकानों के पीछे तथा ग्रामीण क्षेत्रों में गांवों के समीप चारों ओर उत्पादन किया जाना वर्तमान में सामान्य बात है। इस प्रकार की कृषि बड़े–बड़े नगरों के सीमान्तीय क्षेत्रों पर सघन रूप से व्यापारिक दृष्टिकोण से की जाती है।

संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्लियन, जर्मनी, फ्रांस, उत्तरी–पश्चिमी यूरोप आदि देशों की घनी बस्ती वाले भागों में इस प्रकार की कृषि विशेष रूप से होती है । इस प्रकार की कृषि में खेतों का आकार अपेक्षाकृत छोटा होता है तथा पूँजी और श्रम का विनियोग

अधिक किया जाता है। अत: अपेक्षाकृत उत्पादन की मात्रा भी अधिक होती है। कृषि गहनता सर्वाधिक इस प्रकार की कृषि पद्धति के अन्तर्गत ही देखने को मिलती है । संयुक्त राज्य अमेरिका में इस कृषि पद्धति को 'ट्रक फार्मिग' के नाम से जाना जाता है । वर्तमान में तीव्र गति के वाहनों एवं बढ़े–बड़े प्रशीतकों के विकास के फ्लस्वरूप इस व्यवस्था का प्रसार व्यापक रूप से हुआ है । इसी के परिणामस्वरूप ताजा साग–सब्जी, फल–फूल आदि को जलयानों, रेल के डिब्बों, ट्रकों आदि में भरकर दूर–दूर तक भेजना संभव हो सका है ।

13. व्यापारिक बागाती कृषि (Plantation Agriculture)

कुछ विशेष उपजें बागान लगाकर व्यापारिक दृष्टि से उत्पन्न करने वाली पद्धति, बागाती कृषि कहलाती है । इस व्यवस्था में चाय, कहवा, नारियल, केला, मसाले, रबर, गन्ना आदि फसलों को एक बार बागानों में रोपण करके कई वर्षो तक उत्पादन लिया जाता है, अत: इसे व्यापारिक पादप रोपण कृषि भी कहा जाता है । इस कृषि का विकास व प्रोत्साहन शीतोष्ण कटिबन्धीय देशों को निर्यात करने के उद्देश्य से अनेक उष्ण कटिबन्धीय देशों में उपनिवेशवाद के दौरान किया गया था। बागानों के विकास में यूरोपियन की प्रमुख भूमिका रही है । कई प्रकार के फल और फूल इस प्रकार की कृषि की प्रधानता है ।

बागाती कृषि क्षेत्र (Area of Plantation Agriculture)

बागाती कृषि के तीन प्रमुख क्षेत्र हैं (चित्र– 12.9) –

(i). **लैटिन अमेरिका :** इसमें मैक्सिकों, क्यूबा, जमैका, व्यूर्टोरिको, ग्वाटेमाला, कोस्टारिका, ब्राजील, कोलम्बिया तथा हाण्झास प्रमुख हैं ।

(ii). **एशिया :** यहाँ दक्षिणी एवं दक्षिणी हीं भागों में बागाती कृषि की जाती है । दक्षिणी भारत, श्रीलंका, म्यांमार, थाइलैण्ड, मलेशिया, इण्डोनेशिया आदि प्रमुख देशों में बागाती कृषि की जाती है।

(iii). **अफ्रीका :** अफ्रीका में आइवरी कोस्ट, जेरे, कीनिया, तंजानिया, इथोपिया, मालागासी, यूगाण्डा आदि बागाती कृषि क्षेत्र हैं।

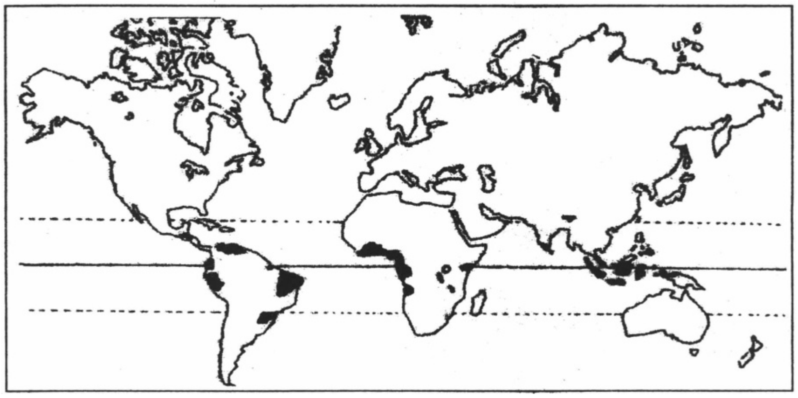

मानचित्र – 12.9 : विश्व में बागाती कृषि क्षेत्र

भौगोलिक दशाएं (Geographical Condition)

बागाती कृषि व्यवस्था वाले क्षेत्रों में वर्ष भर उच्च तापमान, अत्यधिक वर्षा, उर्वर मृदाऐं, समतल विस्तृत भूमि आदि भौगोलिक कारकों की फसल उत्पादन में महत्वपूर्ण भूमिका है । उच्च ताप

एवं अत्यधिक नमी के कारण कभी–कभी विविध प्रकार के रोग भी पौधों को लग जाते हैं जिससे सम्पूर्ण बागान की फसल नष्ट हो जाती है और बागान का स्थान भी बदलना पड़ता है । हवा की दिशा व गति, भूमि का ढाल, मिट्टी की प्रकृति एवं तटीय स्थिति भी बागानों की स्थिति को प्रभावित होते हैं । श्रम की प्रधानता के कारण यह कृषि अधिक जनघनत्व वाले उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्रों में अधिक उन्नति कर गयी है । परिवहन के साधनों की उपलब्धता के कारण समुद्र तटवर्ती प्रदेशों में बागाती कृषि का केन्द्रीयकरण मिलता है या फिर छोटे– छोटे क्षेत्रों में इस प्रकार की कृषि होती है।

बागाती कृषि की विशेषतायें (Characteristics of Plantation Agriculture)

इस कृषि पद्धति में निम्नलिखित विशेषताऐं पायी जाती हैं –

(i). **बड़े पैमाने पर कृषि :** बगाती कृषि बड़े –बड़े फार्मो पर की जाती हैं प्राय: बागान 20 से 40 हेक्टेयर तक होते हैं । फार्मो पर ही बागान, कार्यालय, फसल प्रशोधन के कारखाने, गोदाम, श्रमिकों के आवास आदि व्यवस्था रहती है ।

(ii). **फसलों का विशिष्टीकरण :** बागाती कृषि प्रणाली में फसलों का विशिष्टीकरण मिलता है । एक क्षेत्र में एक या दो फसलों का प्रमुखता से उत्पादन किया जाता है । जैसे – ब्राजील में कहवा, मलेशिया में रबर, भारत के असम में चाय व दक्षिणी भारत में नारियल प्रमुख रूप से पैदा किया जाता है ।

(iii). **अत्यधिक श्रम :** बगाती कृषि में श्रमिकों की आवश्यकता अधिक रहती है । खेतों को तैयार करने, पौध तैयार करने व रोपण करने, उर्वरकों का प्रयोग, फसलों की बुनाई, प्रशोधन, पेकिंग आदि कार्यो में श्रमको की महती आवश्यकता रहती है । अत: बगाती कृषि अधिक जनसंख्या वाले क्षेत्रों में उन्नति कर गयी है ।

(iv). **पूँजी व प्रबन्ध :** बगाती कृषि व्यवस्था विदेशी पूँजी व प्रबन्ध से प्रारम्भ हुई तथा आज भी अधिकांश बागानों में विदेशी पूँजी लगी हुई है, क्योंकि इस कृषि में अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है ।

(v). **व्यापारिक स्वरूप :** इस कृषि का प्रमुख उद्देश्य कृषि उत्पादों का निर्यात करना है जिससे इस कृषि ने व्यापारिक स्वरूप ले लिया है । अधिकांश क्षेत्रों में विदेशी मांग के अनुरूप ही फसल के बागान लगाये जाते हैं ।

(vi). **उत्तम परिवहन :** बागानों की स्थिति निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखा जाता है कि उन क्षेत्रों को विश्व का अन्य क्षेत्रों से यातायात उपयुक्त, सुगम व सस्ता हो। विशाल बागानों के आन्तरिक भागों में भी उत्पाद को संग्रहित करने के लिए सड़क या रेलमार्ग की व्यवस्था होती है ।

(vii). **बागानों में प्रशोधन प्रक्रिया :** बगाती फसलों जैसे –रबर, गन्ना, चाय, कहवा आदि को प्राप्त कर सीधा ही बाजारों में न भेजकर बागानों में प्रशोधन करना पड़ता है । अत: फसलों को तैयार करने के संयत्र बागानो में ही स्थापित होते हैं ।

प्रमुख फसलें (Major crops)

बगाती कृषि में उन फसलों का उत्पादन किया जाता है जिनकी मांग नगरीय संस्कृति के विकास के साथ बढ़ती गयी । बगाती कृषि में निम्न फसलें पैदा की जाती हैं –

(i). **चाय.** चाय के बागान भारत, चीन, श्रीलंका, बांग्लादेश, इण्डोनेशिया, मलेशिया, ईरान, कीनिया, अर्जेन्टाइना आदि में विस्तृत हैं।

(ii). **रबर** : रबर भूमध्यरेखीय प्रदेश की प्रमुख उपज है जो मानसून एशिया में मलेशिया, इण्डोनेशिया, थाईलैण्ड.भारत, सिंगापुर, फिलीपाइन, अफ्रीका के गिनी तटीय देश घाना व नाईजौरिया तथा दक्षिणी अमेरिका में ब्राजील में पैदा किया जाता है ।

(iii). **कहवा :** ब्राजील विश्व का सबसे बड़ा कहवा उत्पादक देश है । जहाँ कहवा के बागानों का 'फजेन्डा' कहा जाता है । इसके अलावा कोलम्बिया, वेनेजुएला, इक्वेडोर, पीरू, आइवरी कोस्ट, घाना, अंगोला, युगाण्डा, इथोपिया, भारत एवं इण्डोनेशिया में कहवा की कृषि की जाती है ।

(iv). **नारियल :** मानसूनी एशिया में नारियल बहुतायत से पैदा किया जाता है । भारत, श्रीलंका, इण्डोनेशिया, फिलीपाइन, मलेशिया, थाईलैण्ड, भूमध्यरेखीय अफ्रीका एवं तटीय दक्षिणी अमेरिका में नारियल की कृषि की जाती है ।

(v). **केला :** भारत, फिलीपाइन, इण्डोनेशिया, मलेशिया, सिंगापुर, अफ्रीका व दक्षिणी अमेरिका के भूमध्यरेखीय प्रदेश में केले का बड़े पैमाने पर उत्पादन किया जाता है ।

(vi). **अन्य फसलें :** उपरोक्त फसलों के अलावा गन्ना, गरम मसाले जैसी फसलें भी पैदा की जाती हैं ।

बोध प्रश्न – 5

1. बगाती कृषि किसे कहते हैं ?

   ....

   ....

2. बगाती कृषि किन क्षेत्रों में प्रचलित है?

   ....

   ....

3. फसलों के विशिष्टीकरण से क्या तात्पर्य है?

   ....

   ....

4. बगाती कृषि में परिवहन के साधनों की क्या भूमिका है?

   ....

   ....

5. 'फेजेण्डा' किसे कहते हैं?

   ....

   ....

बोध प्रश्न – 6

1. महाद्वीप वार कृषि प्रदेशों का क्रमिक अध्ययन कौन सी पत्रिका में प्रकाशित हुए?

   ....

   ....

2. कृषि प्रदेश की अध्ययन की सबसे पुरानी विधि कौन सी है?

....

....

3. पृथ्वी के प्रमुख कृषि प्रदेश किसका आरंभिक प्रयास है?

....

....

4. हिटिलसी ने संसार को कितने कृषि प्रदेशों में विभाजित किया है?

....

....

ह्विटलसी के पश्चात् कृषि प्रादेशीकरण

ह्विटलसी के इस अध्ययन से विश्व स्तर पर कृषि प्रादेशिकरण में क्रान्ति आ गई और इनके पश्चात् कई भूगोलवेत्ताओं ने विश्व को कृषि प्रदेशों में विभाजित किया । विश्व को 1944 में टिम्न ने 14,1956 में रोयान ने 1 रु, 1957 में क्वाची ने 19,1962 में थोमन ने 10 कृषि प्रदेशों में विभाजित किया । इन विद्वानों ने विभिन्न उद्देश्यों, सूचकों एवं' विधियों के आधार पर कृषि प्रदेशों का निर्धारण किया है । जिसे इनकी कुल संख्या, नामकरण, विशेषताओं एवं विस्तार में अत्यधिक विषमता है । इससे भूगोलवेत्ताओं एवं साधारण भूगोल के विद्यार्थियों के लिए बहुत समस्याएँ खड़ी हो गई । इसलिए 1964 में अन्तर्राष्ट्रीय भौगोलिक संगठन में कृषि प्रकारिकी आयोग (Commission or Agricultural Typology) का गठन किया जिसके अध्यक्ष जे. कास्ट्राविकी थे । इस आयोंग का मुरव्य कार्य कृषि प्रकारिकी के लिए उचित विचरको, सूचकों एवं विधियो का निर्धारण करना था ।

12.6 सारांश (Summary)

कृषि भूगोल की परिभाषा एवं संकल्पना की विद्वानों ने अनेक प्रकार से व्याख्या की है परन्तु सब का सारतत्व यह है कि कृषि प्रदेश वह क्षेत्र है जो कृषि के गुणों के समान हो ओर अपने आस पड़ोस से भिन्न हों । कृषि के 5 उपागम एवं निर्धारण की 4 विधियाँ हैं । हर एक के अपने गुण एवं विशेषताएँ है । कृषि प्रादेशीकरण का इतिहास हैं परन्तु हिटिलसी से पूर्व लोग राष्ट्र, द्वीप या क्षेत्रीय स्तर पर कृषि का प्रादेशीकरण करते थे । परन्तु 1936 में हिटिलसी ने संसार को 13 कृषि प्रदेशों में विभाजित किया जिससे प्रेरित होकर बहुत से भूगोलवेत्ताओं ने अनेकों आधार पर संसार को कृषि प्रदेशों में विभाजित किया । 1976 में कास्ट्रोविकी ने 27 सूचकों के आधार पर संसार को तीन कोटि के कृषि प्रदेशों में विभाजित ।

12.7 संदर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. Symon,L. : Agricultural Geography,Bell & Sons,London,1967.
2. Kostrowicki,J : World Types of Agriculture,Polish Academy,Warsaw,Poland.
3. Noor Mohd. : New Dimensions in Agriculture,Concept,New Delhi,1991.
4. Singh &Dhillon : Agricultural Geography,TATA McGraw Hill,New Delhi.

5. Whittlesey,D. : Major Agricultural Regions of the Earth,A.A.A.G.Vol 26.
6. प्रमिला कुमार एवं श्रीकमल शर्मा : कृषि भूगोल, मध्य प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 2008
7. ब्रज भूषण सिंह : कृषि भूगोल, ज्ञानोदय प्रकाशन, गोरखपुर ।

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न– 1

1. 1936
2. 4 विधियाँ हैं (1) अनुभाविक विधि (2) एकल घटक विधि
3. 6 उपागम
4. (1) कार्यात्मक उपागम (2) परम्परागत उपागम

बोध प्रश्न– 2

1. भूमध्य सागरीय कृषि में निर्वाह एवं व्यापारिक दोनों कृषि प्रतिरूप पाये जाते हैं ।
2. भूमध्य सागरीय कृषि भूमध्यसागर के समीपवर्ती भागों, यूएस ए. की केलिफोर्निया घाटी, मध्य चिली, द. अफ्रीका के केप प्रान्त, द प आस्ट्रेलिया एवं उत्तरी न्यूजीलैण्ड में होती है ।
3. भूमध्यसागरीय कृषि प्रदेश को विश्व की फलोद्यान भूमि कहा जाता है ।
4. भूमध्यसागरीय प्रदेश में अंजौर, जैतून, अंगूर खूबानी, सेब, नाशपती, सन्तरा, नारंगी, खजूर आदि फल पैदा होते हैं ।
5. भूमध्य सागरीय कृषि में चारे की फसलों पर डेयरी पशुपालन एवं प्राकृतिक वनस्पति पर भेड़–बकरी पालन किया जाता है ।

बोध प्रश्न – 3

1. व्यापारिक खाद्यान्न कृषि मध्य अक्षांशीय कम वर्षा व अर्द्ध शुष्क वातावरण वाले शीतोष्ण घास के मैदानों में की जाती है ।
2. व्यापारिक खाद्यान्न कृषि में गेहूँ की कृषि प्रमुखता से की जाती है तथा मक्का गौंण रूप में उत्पन्न की जाती है ।
3. व्यापारिक खाद्यान्न कृषि में समस्त कार्य मशीनों एवं यंत्रों से किये जाते है ।
4. इस प्रणाली में फार्मों का औसत आकार 500 से 1000 एकड़ होता है तथा कही–कहीं 2000 एकड़ तक भी होता है ।
5. फसल विशेषीकरण से तात्पर्य विस्तृत भूमि में एक ही फसल के उत्पादन से है ।
6. संयुक्त राज्य अमेरिका व कनाड़ा में फैले हुआ प्रेयरी प्रदेश संसार की रोटी की टोकरी कहलाता है ।
7. अर्जेन्टाइना में पम्पा प्रदेश बाहियाब्लांका नगर से सान्ताफे नगर तक (गेहूँ उत्पादक क्षेत्र) विस्तृत हैं ।

बोध प्रश्न – 4

1. (स) यूरोप

2. (द) भारत
3. आर्द्र शीतोष्ण जलवायु, विस्तृत चरागाह, उन्नत नस्ल की गायें, मशीन कृत स्वचालित डेयरी फार्म आदि सुविधाओं से न्यूज़ीलैण्ड में दुग्ध व्यवसाय उन्नत कर गया है ।
4. उत्तर में कनाड़ा की सीमा से लेकर दक्षिण में पोटोमैक तथा ओहियों नदियों की घाटियों तक दुग्ध पेटी का विस्तार मिलता है
5. दुग्ध व्यवसाय हेतु समशीतोष्ण आर्द्र जलवायु सबसे उपयुक्त रहती है ।
6. संयुक्त राज्य अमेरिका, न्यूज़ीलैण्ड, डेनशर्क, आस्ट्रेलिया, कनाडा, अर्जेन्टाइमा व हालैण्ड प्रमुख दुग्ध निर्यातक देश हैं ।

बोध प्रश्न – 5

1. कुछ विशेष उपजों के बागान लगाकर व्यापारिक दृष्टि से उत्पन्न करने वाली पतीत, बागाती कृषि कहलाती है ।
2. बागाती कृषि लैटिन अमेरिकी देशों, उष्ण कटिबन्धीय एशिया व अफ्रीकी देशों में प्रचलित हैं।
3. फसलों का विशिष्टीकरण से तात्पर्य है – एक क्षेत्र में एक या दो फसलों का प्रमुखता से उत्पादन करना ।
4. विशाल बागानों के आन्तरिक भागों में उत्पाद को संग्रहित करने एवं तैयार फसलों को निर्यात करने में सस्ते व उत्तम यातायात के साधनों की महत्ती भूमिका है ।
5. ब्राज़ील में कहवा के विस्तृत बगानों को 'फजेण्डा' कहा जाता है ।

बोध प्रश्न– 6

1. आर्थिक भूगोल
2. परम्परागत अथवा प्राकृतिक उपागम
3. हिटिलसी।
4. 13।

12.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कृषि प्रदेशों की संकल्पना की व्याख्या कीजिए तथा उसके उपागमों का वर्णन कीजिए ।
2. कृषि प्रदेश निर्धारण की कितनी विधियाँ है? किसी एक विधि की व्याख्या कीजिए ।
3. हिटिलसी ने किन सूचांकों के आधार पर संसार को कृषि प्रदेशों में वर्गीकृत किया । उनके द्वारा निर्धारित कौन–कौन से कृषि प्रदेश है ?
4. भूमध्यसागरीय या बागाती कृषि का विस्तार से वर्णन कीजिए ।
5. व्यापारिक दुग्ध पशुपालन कृषि का विशद वर्णन कीजिए ।
6. हिटिलसी के पश्चात् किन–किन विद्वानों ने विश्व को कृषि प्रदेशों में विभाजित किया ?

इकाई 13 : कृषि प्रकारिकी (Agricultural Typology)

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 कृषि प्रकारिकी

13.2.1 कृषि प्रकारिकी की संकल्पना

13.2.2 कृषि प्रकारिकी के आधार

13.2.3 विचरकों के वर्ग

13.2.4 कृषि प्रकारिकी में पदानुक्रम वरीयता

13.2.5 कृषि प्रकारिकी निर्धारण विधि

13.3 राजस्थान में कृषि प्रकारिकी

13.4 कृषि प्रकारिकी व कृषि नियोजन

13.5 कृषि प्रकारिकी का समीक्षात्मक परीक्षण

13.6 सारांश

13.7 शब्दावली

13.8 संदर्भ ग्रन्थ

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

13.11 परिशिष्ट

13.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझ सकेंगे:

- कृषि प्रकारिकी की संकल्पना,
- कृषि प्रकारिकी के आधार,
- विचरकों के वर्ग,
- कृषि प्रकारिकी के आधार पर राजस्थान में कृषि प्रकारिकी,
- कृषि प्रकारिकी संकल्पना के गुण व दोष क्या है ?

13.1 प्रस्तावना (Introduction)

कृषि मानव का प्राचीन व प्राथमिक व्यवसाय रहा है । विश्व की 50 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है । कृषि का कार्य प्राकृतिक, सामाजिक, आर्थिक, तकनीकी व राजनीतिक तत्वों की समग्र प्रतिक्रियाओं का योग है । कृषि के प्रकारों का अध्ययन कृषि भूगोल के अनेक भूगोवेत्ताओं द्वारा समय–समय पर किये गये हैं । हिटलंसी (1936) ने पाँच आधारों को लेकर विश्व के

कृषि प्रकारों के निर्धारण का कार्य किया । इनके द्वारा अध्ययन कर बतलाये गये कृषि के प्रकार भी महत्वपूर्ण माने गये हैं । इनके अलावा जॉन्स डार्कनवाल्ड (1965), थापन (1968), हेलवर्न (1957) आदि ने भी कृषि प्रकारों पर कार्य किया है । कृषि कार्य जटिल प्रक्रिया द्वारा सम्पन्न होता है । इसके कई पक्ष है जो एक दूसरे पर निर्भर व अन्योन्याश्रित होते है । कृषि को उसके लक्षणों के आधार पर समझने की आवश्यकता है । कृषि के स्थानिक व कालिक पक्ष को समझने की आवश्यकता होती है । कृषि में सामाजिक, आर्थिक, संगठनात्मक, तकनीकी व उत्पादन के साथ संरचनात्मक गुणों के आधार मान कर कृषि प्रारूप को देखना आवश्यक है । गुणों पर आधारित होने के कारण कृषि के प्रकारों का उपयोग कृषि नियोजन में किया जा सकता है ।

13.2 कृषि प्रकारिकी (Agricultural Typology)

अन्तर्राष्ट्रीय भौगोलिक संघ (IGU) ने 1964 में कृषि प्रकारिकी आयोग की स्थापना की एवं आयोग का अध्यक्ष जे. कोस्ट्रोविकी (पॉलैण्ड) को बनाया गया । इन्होंने 12 वर्षो में 7 मिटिंगस कर विश्व स्तर पर कृषि प्रकारिकी के निर्धारण हेतु तकनीक को विकसित किया । इस प्रकारिकी में कृषि को एक व्यवस्था (System) कहा गया । कृषि को गतिशील माना है । स्थान व समय के अनुसार कृषि का विकास होता है । कृषि प्रकारिकी कृषि के प्रकारों को निश्चित करने की तकनीक (Technquies) है । जिसके द्वारा किसी भी क्षेत्र, प्रदेश व देश में कृषि के प्रकारों की निश्चित पहचान की जा सकती है । इस प्रकार का अध्ययन कषि के नियोजन में सहायक हो कर सार्थक पीरणाम दे सकता है ।

13.2.1 कृषि प्रकारिकी की संकल्पना (Concept of Agricultural Typology)

कोस्ट्रोविकी ने इस संकल्पना में जो आधार प्रस्तुत किये वे इस प्रकार है :

1. कृषि प्रकारिकी की संकल्पना वर्गीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है ।
2. विश्व में की जा रही समस्त प्रकार की कृषि में पाये जाने वाले गुणों के आधार पर है ।
3. फसल उत्पादन या पशुपालन व्यवस्थित प्रारूप से जुड़ा कृषि का प्रकार है ।
4. कृषि को प्रभावित करने वाले सभी तत्व व प्रक्रियाओं में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है ।
5. कृषि का विकास एवं संगठन सुनिश्चित ऐतिहासिक प्रक्रियाओं से जुड़ा है ।
6. यह कृषि प्रकारिकी पदानुक्रम (Hierarchical order) सिद्धान्त पर आधारित है । कृषि प्रकार अनेक स्तर के हो सकते है।
7. कृषि के गुणों में बदलाव होने पर कृषि के प्रकार में भी बदलाव हो जाते हैं । कृषि प्रकारिकी में कृषि गतिशीलता के माना गया है ।
8. कृषि प्रकारिकी निर्धारण सभी विचरकों का मॉडल कॉड से वेरियन्स के आधार पर होता है ।

कृषि प्रकारिकी संकल्पना का विकास अन्तर्राष्ट्रीय भूगोल संघ (IGU) के तत्वाधान में कृषि प्रकारिकी आयोग की 1964 में स्थापना की गयी । इस आयोग ने 12 वर्ष के अथक परिश्रम के बाद व विश्व के भूगोलवेत्ताओं के सहयोग से कृषि प्रकार के निर्धारण की एक नई तकनीक का विकास किया । इस तकनीक में वैज्ञानिक के साथ व्यवहारिक पक्ष भी सम्मिलित हैं । कृषि

प्रकारिकी की इस तकनीक की रूपरेखा हेतु बैठक लन्दन (1964), मेक्सिकों (1966), वरोना (इटली) (1972), ओन्टेरियों, फ्रांस (1975) व ओडेसा (1976) में सम्पन्न हुई । इसमें इस सूत्र का एक कोड तैयार किया गया:

$$T = S\frac{0}{P}C$$

T = कृषि का प्रकार

D = सामाजिक लक्षण

O = संगठनात्मक लक्षण

P = उत्पादन सम्बन्धी लक्षण

C = संरचनात्मक लक्षण

कृषि प्रकारिकी में कुल 27 विचरकों को आधार मान कर कृषि से जुड़े सामाजिक एवं स्वामित्व, संगठनात्मक व तकनीकी, उत्पादन, कृषि संरचना सम्बन्धी सभी लक्षणों के विचरकों को आधार मानकर सांख्यिकीय विधि के उपयोग से कृषि प्रकारिकी का अध्ययन प्रस्तुत किया गया ।

13.2.2 कृषि प्रकारिकी के आधार (Basis of Agricultural Typology)

कृषि प्रकारिकी का निर्धारण कृषि की आन्तरिक, बाहय व अन्तर्निहित लक्षणों के आधार पर किया जाता है । कोस्ट्रोविकी ने कृषि प्रकारिकी में कृषि सम्बन्धी महत्वपूर्ण कारकों को लक्षणों के आधार पर चार भागों में विभाजित किया है जैसे उन्होंने लक्षणों का नाम दिया है । सामाजिक लक्षणों में 7 विचरक, संगठनात्मक लक्षण से 7 विचरक, उत्पादन लक्षण में 7 विचरक व संरचनात्मक लक्षणों में 6 विचरक बतलाये है जो इस प्रकार है:

(i). सामाजिक लक्षण (Social Attributes)

1. वह भूमि जो सामूहिक, सम्प्रदाय, फर्म, मन्दिर या आदिम जाति समुदाय की है (Land held by religious, community, tribal groups) कुल भूमि का प्रतिशत
2. काश्तकारी प्रथा (Land tenural system) कुल कृषि जोत भूमि का प्रतिशत ।
3. भूमि स्वामित्व (Land ownership system) कुल कृषि भूमि का प्रतिशत ।
4. वह भूमि जो राज्य व सहकारी संस्था की हो (Land owned by co-operative or State) कुल कृषि भूमि का प्रतिशत ।
5. जोत का आकार–प्रति व्यक्ति जोत का आकार (Size of holding in terms of actively employed people in agricultre) प्रति कृषक परिवार पर कृषि परिवार पर कृषि में लगे लोगों की संख्या
6. जोत भूमि का आकार–प्रति कृषक जोत का आकार (Size of holding in terms of agricultural Land) प्रति कृषक परिवार जोत भूमि–हेक्टेयर में ।
7. जोत का आकार–कुल उत्पादन (कन्वेशनल यूनिटों में) (Size of holding per gross out-put) प्रति कृषक परिवार उत्पादन (कन्वेशनल यूनिटों में)

(ii). संगठात्मक लक्षण (Operational attributes)

1. मानव श्रम (Input of human labour) प्रति 100 हेक्टेयर कृषि भूमि पर लगे लोगों की संख्या ।
2. पशुश्रम (Input or animal power) प्रति 100 हेक्टेयर कृषि भूमि पर पशु इकाई ।
3. मशीनी शक्ति (Input of Mechanisation) प्रति 100 हेक्टेयर कृषि भूमि पर मशीनी शक्ति (H.P.)।
4. रासायनिक उर्वरक (Input of fertilizers NPK) प्रति हेक्टेयर में रासायनिक उर्वरक (NPK) कि.ग्रा. ।
5. सिंचित भूमि कुल जोत भूमि का प्रतिशत (Irrigated land) सिंचित भूमि कुल जोत भूमि (TCA) का प्रतिशत में ।
6. फसली भूमि की गहनता (Intensity of cropland use) फसल कटाई क्षेत्र कुल कृषि भूमि का प्रतिशत
7. पशुपालन की गहनता (Intensity of livestock breeding units) प्रति 100 हेक्टेयर में पशुओं की संख्या वृहत्त इकाई ।

(iii). उत्पादन के लक्षण (Production attributes)

1. भूमि उत्पादकता (Land productivity) प्रति हेक्टेयर कृषि भूमि पर उत्पादन यूनिट में ।
2. जोत भूमि की उत्पादकता (Cultivated Land Productivity) प्रति हेक्टेयर जोत भूमि पर फसल उत्पादन–यूनिट में ।
3. श्रम उत्पादकता (Labour productivity) प्रति व्यक्ति (कृषि में संलग्न) उत्पादन यूनिटों में ।
4. वाणिज्य श्रम उत्पादकर्ता (Commercial labour producitivity) प्रति व्यक्ति (कृषि में संलग्न) वाणिज्य उत्पादन यूनिट में ।
5. वाणिज्यि करण की मात्रा (Degree of commercialization) वाणिज्य उत्पादन कुल उत्पादन का प्रतिशत
6. फसल उत्पादकता (Cash Crops to agricultural land) मुद्रादायनी प्रेति हेक्टेयर वाणिज्य उत्पादन यूनिटों में
7. भूमि क्षमता (Land Efficiency) विशिष्ट फसल–कुल उत्पादन गुणांक में ।

(iv). संरचनात्मक लक्षण (Structural Attributes)

1. नियमित–सदाबहार फसले (Perennial crops, tree fruits to agricultural land) सदाबहार (वर्ष भर) फसल क्षेत्र कुल फसल का प्रतिशत मे ।
2. स्थायी चरागाह (Permanent pastures) चरागाह भूमि कुल भूमि का प्रतिशत में ।
3. प्रमुख खाद्य फसलें (Primarily food production) खाद्य फसल क्षेत्र–फसल क्षेत्र का प्रतिशत में ।
4. सामान्य कुल उत्पादन (Gross production) पशु उत्पादन कुल उत्पादन का प्रतिशत ।

5. सामान्य वाणिज्य उत्पादन (Gross commercial production) पशु उत्पादन कुल उत्पादन का प्रतिशत ।
6. औद्योगिक उत्पादन (Industrial crops) औद्योगिक कृषि उत्पादन कुल उत्पादन का प्रतिशत।

विचरकों के वर्ग (Variable Class Interval)

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रत्येक विचरक हेतु वर्ग का निर्धारण किया गया । आयोग ने प्राय: विश्व के सभी देशों से कृषि सम्बन्धित सूचनाएँ एकत्रित कर 27 विचरकों के लिए वर्गो का निर्धारण किया है जो इस प्रकार है –

Class No. of the variable	Lower निम्नतर 1	Low निम्न 2	Medium मध्यम 3	High उच्च 4	Very high उच्चतम 5
1.	<20	20-40	40-60	60-80	80-
2.	<20	20-40	40-60	60-80	80-
3.	<20	20-40	40-60	60-80	80-
4.	<20	20-40	40-60	60-80	80-
5.	<2	2-8	8-50	50-200	200-
6.	<5	5-20	20-100	100-1000	1000-
7.	<100	100-1000	100-1000	10000-100000	100000
8.	<3	3-15	15-40	40-150	150-
9.	<2	2-8	8-15	15-30	30-
10.	<6	6-1542	15-35	35-90	90-
11.	<10	10-30	30-80	80-120	120-
12.	<10	10-25	25-50	50-80	80-
13.	<10	10-30	30-70	70-130	130-
14.	<10	10-30	30-80	80-160	160-
15.	<5	5-20	20-45	45-100	100-
16.	<5	5-20	20-45	45-100	100-
17.	<40	40-100	100-250	250-800	800-
18.	<20	20-60	60-180	180-600	600-
19.	<20	20-40	40-60	60-80	80-
20.	<3	3-12	12-30	30-80	80-
21.	<0.1	0.1-0.2	0.2-0.4	0.4-0.8	.08-
22.	<10	10-20	20-40	46-60	60-
23.	<20	20-40	40-60	60-80	80-

24.	<20	20-40	40-60	60-80	80-
25.	<20	20-40	40-60	60-80	80-
26.	<20	20-40	40-60	60-80	80-
27.	<20	20-40	40-60	60-80	80-

इन प्रत्येक विचरकों को पाँच वर्गों में रखा गया जिन्हें कोड़ नं. 1, 2, 3, 4 व 5 दिया गया । उदाहरण के रूप में डूंगरपुर जिलें के 27 विचरक के चारों सामाजिक, संगठनात्मक, उत्पादन व संरचनात्मक लक्षणों के कोड नं. इस प्रकार रखे जा सकते हैं ।

1112344   2445421 संगठनात्मक विचरक (0)   221452

(T) = सामाजिक विचरक (S)   (P) उत्पादन के विचरक (3321123)   संरचनात्मक विचरक (C)

13.2.4 कृषि प्रकारिकी में पदानुक्रम वरीयता (Hierarchical orders in agricultural typology)

विश्वस्तरीय कृषि प्रकारिकी के निर्धारण में प्रथम वरीयता के आधार पर पाँच प्रकार बतलाये गये हैं जो इस प्रकार है :

1. परम्परागत विस्तृत कृषि –E (Traditional Extensive Agriculture)
2. परम्परागत गहन कृषि –T (Traditional Intensive Agriculture)
3. बाजार उमुख कृषि –M (Market Oriented Agriculture)
4. समाजिकरण कृत कृषि –S (Socialized Agriculture)
5. उच्च विशेषीकरण पशुपालन कृषि –A (Highly Specialised Livestock Breeeding Agriculture -A)

यह पाँच प्रकार की कृषि प्रथम वरईत्यता कृषि मानी गयी है ।

E – परम्परागत विस्तृत कृषि (Traditional Extensive Agriculture)

इस प्रकार की प्रथम वरीयता कृषि की प्रमुख विशेषताएँ – लम्बे समय से उस क्षेत्र मे कृषि की जाती है । प्राचीन परम्परागत गुण इस प्रकार की कृषि में पाये जाते हैं । जीवन निर्वाह के लिए ही कृषि कार्य किया जा रहा है । इसमें कम लागत व श्रम प्रधान कृषि कार्य माना गया है । भूमि विस्तृत भाग में फैली होती है । खाद्यान्नों का ही उत्पादन होता है ।

T – परम्परागत गहन कृषि (Traditional Intensive Agriculture)

प्राचीन समय से किये जाने के साथ ही वर्ष में दो या तीन फसल की जाती है । श्रम मध्यम व उच्च स्तर का पाया जाता है । कम लागत, रासायनिक उर्वरक व मशीनों का उपयोग कम होता है। कृषि व पशुपालन साथ–साथ किया जाता हैं । इसके उपवर्ग किये गये है जिनमें छोटे पैमाने पर गहन कृषि, छोटे पैमाने पर अर्द्ध वाणिज्य कृषि, वृहत पैमाने पर परम्परागत गहन कृषि व मिश्रित कृषि में विभाजित किया गया है ।

M – बाजार उन्मुख कृषि (Market Oriented Agriculture)

कृषि कार्य भूमि का मालिक कम करता है, कृषि मजदूर कार्य करते हैं । लागत अधिक, सिंचाई व खाद पर्याप्त मात्रा में दी जाती है । मशीनों का उपयोग किया जाता है । यह कृषि छोटे पैमाने पर फसलों पर आधारित उद्योग के लिए की जाती है । छोटे पैमाने पर ही अत्यधिक गहन कृषि, मिश्रित कृषि, विस्तृत पैमाने पर बाजार–उन्मुख कृषि की जाती है ।

S – सामाजीकरणकृत कृषि (Socialized Agriculture)

सामाजीकरण कृषि विश्व के उन क्षेत्रों में की जाती है जो साम्यवादी देश है । इसमें रूस व पूर्वी यूरोप के क्षेत्र सम्मिलित होते हैं । इस प्रकार की कृषि सामूहिक या राज्य नियंत्रण वाली होती है । यह खेती बड़े पैमाने पर की जाती है । आवश्यकतानुसार व्यापारिक फसलें भी उत्पादित की जाती है । इस प्रकार की कृषि के उप–भाग उनकी विशेषताओं के कारण इस प्रकार किये गये हैं:

(i) सामाजिक बागाती कृषि

(ii) सामाजिक विशेष उद्योग आधारित फसलों की कृषि

(iii) सामाजिक विशेषीकरण खाद्यान्न कृषि

(iv) सामाजिक श्रम प्रधान गहन कृषि

(v) सामाजिक मिश्रित कृषि

A – उच्च विशेषीकरण पशुपालन कृषि (Highly Specialised Livestock Breeeding Agriculture) :

पशुओं से प्राप्त उत्पादन के आधार पर यह कृषि की जाती है । इसमें पशुपालन व्यवसाय का विशिष्टीकरण हुआ है । दूध, माँस, अन्न, चमड़ा तथा हड्डियाँ आदि पदार्थ इसके आधार माने गये हैं । नगरीयकरण व वृहत नगरों की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर पशुपालन से जुड़ें उत्पादन की खपत बढ़ रही है । इसलिए नगरों के समीप पशुपालन उद्योग विकसित हुआ है । इसकी विशेषताओं के आधार पर इसे विस्तृत व्यापारिक पशुचारण (Extensive Commercial Herding) व उच्च औद्योगिक पशुपालन कृषि (Highly Industrial Livestock Breeding) में विभाजित किया गया है । इस प्रकार की कृषि न्यूज़ीलैण्ड, डेनमार्क, हॉलेण्ड, इत्यादि देशों में की जाती है ।

विश्व स्तर पर यह प्रथम पाँच पदानुक्रम की कृषि की जाती है । कृषि प्रकारिकी आयोग ने इनकी विशेषताएँ व क्षेत्रीय विशेषताओं को भी देखा है । विश्व के किसी भी इकाई का अध्ययन इकाई में चार लक्षणों के 27 विचरकों के वर्ग निर्धारित कर प्रथम वरीयता में कृषि के पाँच प्रकारों के मॉडल कॉड आयोग ने निर्धारित किये हैं । उसी के अनुसार वह इकाई प्रथम वरीयता में मानी जायेगी ।

13.2.5 कृषि प्रकारिकी निर्धारण विधि (Determinants of Agriculture Typology) :

कृषि प्रकारिकी आयोग ने प्रथम वरीयता में 5 कृषि प्रकार व द्वितीय वरीयता के 20 प्रकार व तृतीय के 55 प्रकार बतलाये हैं जिन्हें इस प्रकार के चिन्ह दिये हैं:

प्रथम वरीयता	द्वितीय वरीयता	तृतीय वरीयता

E	En	Enc, Enm
	Et	Etc, Eth, Etm
	Ef	Eft, Eft
T	Ti	Tir, Tio, Tin, Tii, Tij, Tiu
	Ts	Tse, Tsd, Tss
	Tl	Tlp, Tlc, Rll
	Tm	Tmh, Tmc, Tmm
M	Mi	Mii, Mif, Miv, Mig
	Mm	Mmb, Mm1, Mmt, Mme, Mmm, Mmc
	Ml	Mlc, Mlh, Mlm, Mlh
	Me	Mem, Mec
S	S	Se Sec, Sem
	Sm	Smm, Smi, Smc, Sme
	Si	Sin, Sic
	Sh	Shf, Shv
	Ss	Ssg
	Sc	Scc
A	Ar	Arr, Aro
	Ad	Add, Ado
कुल 5	**20**	**55**

आयोग ने विश्वस्तर पर पाँच प्रथम वरीयता कृषि प्रकारों को निर्धारित किया जिसें E, T, M, S, A चिन्ह दिये । द्वितीय वरीयता में E के 3(En Et Ef) T के चार, M के 5 व S के 6, A के 2 प्रकार बतलाये गये । तृतीय वरीयता में E के 7, T–15, M–17, S–12 व A–4 प्रकार तय किये गये अर्थात् विश्व में 55 प्रकार की कृषि तृतीय वरीयता वाली कृषि प्रकार को बतलाया गया । वरीयता प्रधान कृषि प्रकारों के निर्धारण से इस विधि को मान्यता प्राप्त होने लगी है । आयोग ने द्वितीय वरीयता व तृतीय वरीयता की सभी कृषि प्रकारिकी की मुख्य विशेषताएँ निर्धारित की है । इसके साथ ही आयोग ने कृषि प्रकार निर्धारण में मॉडल कोड सुझाये हैं । ये मॉडल कोड प्रथम, द्वितीय व तृतीय वरीयता के सभी प्रकारों के लिए दिये गये है । टेक्सोनोमिक वेरियन्स के आधार पर प्रथम, द्वितीय व तृतीय वरीयता की कृषि प्रकारिकी का निर्धारण किया जाता है । उदाहरण के रूप में प्रथम वरीयता के पाँचो प्रकार मॉडल के कूट सरंक्षा कोड इस प्रकार है –

E	—	5321211	1111121	1221111	133331
T	—	1241222	4412242	4422221	114221
M	—	1151233	2154343	4455544	122231

S	—	1115555	3243242	3333433	124221
A	—	1133445	3100003	3045535	151551

प्रथम वरीयता कृषि प्रकार की निर्धारण में अध्ययन इकाई में 27 विचरक के आधार पर वर्ग में जाने के बाद कोड इस प्रकार आता है ।

अध्ययन इकाई	—	0150111	4511145	2211120	125341
मॉडल कोड	—	1241222	4412242	4422221	114221

मॉडल कोड से वेरियन्स 26

E	—	32
T	—	26
M	—	61
S	—	53
A	—	61

प्रथम वरीयता में पाँचों कोड में सबसे कम वेरियन्स T प्रकार की कृषि में रहा है इसलिए अध्ययन इकाई के प्राप्त कोड के आधार पर इसमें (Tradition Intensive Agriculture) परम्परागत गहन कृषि के अन्तर्गत माना जाएगा । इसके निर्धारण हेतु 30 प्रतिशत से कम वेरियन्स को माना गया है अर्थात 33 या जो 30 प्रतिशत से कम हो को माना है । T प्रथम वरीयता निर्धारण के बाद T के द्वितीय वरीयता की 4 प्रकारिकी Ti, Ts, Ti व Tm बतलाई गयी है व इनके मॉडल कोड दे रखे है उसे अध्ययन इकाई के वेरियन्स ज्ञात किया जाता है । वेरियन्स इस प्रकार आया–

Ti	31
Ts	40
Tl	37
Tm	19

सबसे न्यून वेरियन्स 19 Tm में आया है व 20 प्रतिशत वेरियन्स इस हेतु माना गया है अर्थात 22 का वेरिन्स व इससे कम होगा वहाँ द्वितीय वरीयता निर्धारित की जायेगी । इस स्थिति में अध्ययन क्षेत्र Tm में रहेगा । तृतीय वरीयता निर्धारण में Tm की तृतीय वरीयता में तीन Tmh, Tmc व Tmm बतलायी गयी है व उसके मॉडल कोड दिये गये है । इसके आधार पर अध्ययन इकाई का वेरिन्स निम्न प्रकार रहा है ।

Tmh	12
Tmc	29
Tmm	26

अध्ययन इकाई Tmh में मानी जायेगी क्योंकि इन तीनों में सबसे कम वेरियन्स 12 रहा है । सिद्धान्त रूप में 10 प्रतिशत का वेरियन्स माना गया है अर्थात 11 तय किया गया है परन्तु

सबसे कम वेरियन्स मानकर यहाँ Tmh को तृतीय वरीयता क्रम माना गया है । इस प्रकार प्रथम, द्वितीय व तृतीय वरीयता क्रम में मॉडल कोड के आधार मानकर अनुरूप वेरियन्स के आधार पर प्रथम, द्वितीय व तृतीय वरीयता की कृषि प्रकारिकी का निर्धारण हेतु 30 प्रतिशत, 20 प्रतिशत व 10 प्रतिशत रखा गया है, जो 33 22 व 11 रहता है । इसका निर्धारण 27 × 4 = 108 के आधार पर किया गया है ।

13.3 राजस्थान में कृषि प्रकारिकी (Agricultural Typology of Rajasthan)

कृषि प्रकारिकी का अध्ययन विश्व के अनेक भागों में किया गया । भारत में यह कार्य गुप्ता एन. एल., शर्मा, बी. एल. खत्री, एल. सी. सिंह, वी. आर., जसबीर सिंह, पाण्डे बी. जी. ने किया। बी. एल. शर्मा ने राजस्थान में जिलानुसार कृषि प्रकार का अध्ययन 1971 के आँकड़ों को लेकर किया व खत्री एल. सी. ने राजस्थान में दक्षिणी पूर्वी आदिवासी प्लान क्षेत्र में कृषि प्रकारिकी का अध्ययन किया । खत्री ने आयोग द्वारा निर्धारित कृषि प्रकारिकी विधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन सुझाये जो कृषि प्रकारिकी अध्ययन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । खत्री के अध्ययन द्वारा विश्वस्तर के साथ ही छोटे क्षेत्रों (Microscopic) के लिए भी कृषि प्रकारिकी का अध्ययन सार्थकता के साथ किया जा सकता है ।

राजस्थान में कृषि प्रकारिकी का अध्ययन वर्ष 1971 में बी. एल. शर्मा ने प्रथम वरीयता T, E व M प्रकार की कृषि प्रकारिकी बतलायी, T प्रकार की कृषि के अन्तर्गत पाली, अजमेर, डूंगरपुर, सिरोही, सवाईमाधोपुर, टोंक, कोटा, भीलवाड़ा, बांसवाड़ा, चित्तौड़गढ़, बूंदी, झालावाड़, उदयपुर, अलवर, भरतपुर व जयपुर (16 जिले) जिले बतलाये । E प्रकार की वरीयता कृषि प्रकारिकी में जैसलमेर, बीकानेर, बाड़मेर, जोधपुर, जालौर, नागौर, सीकर व झुंझुनू (9 जिले) बतलाये गये । गंगानगर जिला M प्रथम वरीयता क्रम में रहा है । राजस्थान में सर्वाधिक क्षेत्र परम्परागत गहन कृषि (Traditional Intensive Agriculture-T) का रहा है । राज्य के अरावली पर्वत माला के पूर्वी भाग का क्षेत्र इसके अन्तर्गत आता है । बाजार उन्मुख कृषि (Market Oriented Agriculture-M) राज्य के एक मात्र जिले गंगानगर में पायी गयी है । अरावली पर्वतमाला के पश्चिमी भाग के 9 जिलों में परम्परागत विस्तृत कृषि (Traditional Extensive Agriculture-E) पायी गयी ।

द्वितीय वरीयता में परम्परागत गहन कृषि T में दो प्रकार की कृषि प्रकारिकी पायी गयी जो Ti व Tm रही । Ti जो श्रम प्रधान छोटे स्तर पर फसल उत्पन्न करने वाली कृषि बतलायी गयी। Tm परम्परागत मिश्रित कृषि बतलायी गयी जो राजस्थान के उत्तरी–पूर्वी जिले भरतपुर, अलवर व जयपुर जिलों में पायी जाती है । इसकी मुख्य विशेषताएँ परम्परागत छोटे स्तर पर, मानव व पशु श्रम आधारित, मध्य व निम्न पूंजी स्तर, मध्य व उच्च भूमि उत्पादकता, श्रम उत्पादकता व वाणिज्य स्तर निम्न व निम्न स्तर का पाया जाता है । मिश्रित फसल व पशुपालन व्यवसाय से जुड़ी कृषि है ।

Ti प्रकार की कृषि में 15 जिले बतलाये गये जो परम्परागत, बहुत छोटे स्तर पर की जाने वाली कृषि उच्च व उच्चतर श्रम प्रधान, पशुश्रम आधारित, न्यूनतम मशीनीकरण, रासायनिक उर्वरकों का उपयोग भी कम परन्तु छोटे स्तर पर सिर्फ सिंचाई उपलब्ध होने पर भूमि उत्पादन उच्च से उच्चतर पायी जाती है ।

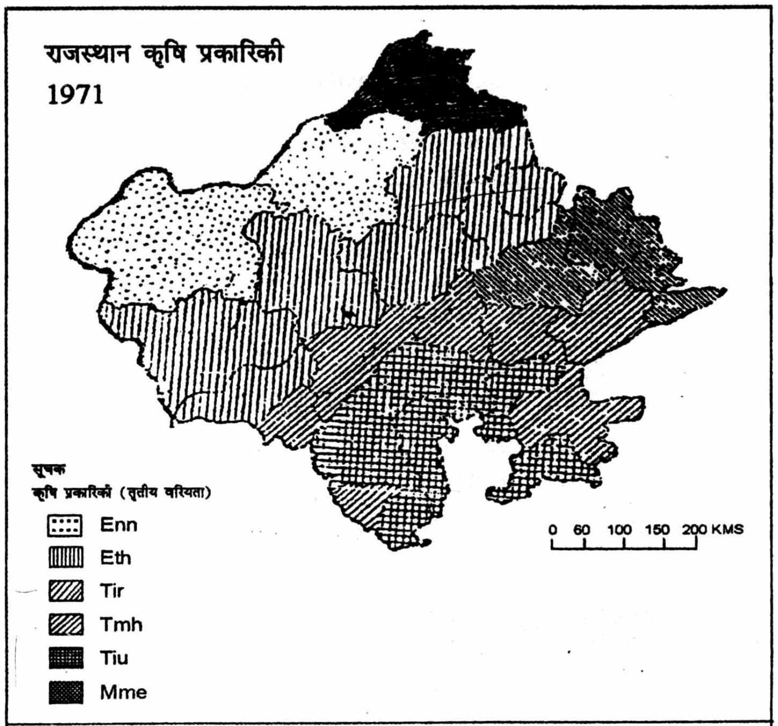

स्त्रोत - शर्मा बी.एल. "राजस्थान कृषि प्रकारिकी"

परम्परागत विस्तृत कृषि (Traditional Extensive Agriculture-E) में द्वितीय वरीयता क्रम को Et व En में विभाजित किया गया है । राज्य में Et में चुरू, बाड़मेर, जोधपुर,जालौर, नागौर, सीकर व झुंझुनू सात जिले बतलाये गये है । वहाँ चालू पड़त भूमि, आत्मनिर्भर, कृषि में भूमि की मात्रा ज्यादा, मानव व पशु श्रम मध्यम व न्यूनतम, निम्न पूँजी निवेश, निम्न उत्पादकता फसलों के साथ पशुपालन कार्य किया जाता है । द्वितीय वरीयता क्रम में ही En राजस्थान के जैसलमेर व बीकानेर जिले में पायी जाती है जहाँ स्थानान्तरित न्यूनतम पशुपालन (Nomadic herding) किया जाता है । न्यून श्रम, पूंजी व विस्तृत भूमि का उपयोग, न्यून व न्यूनतम भूमि उत्पादकता, पशुउत्पादन की प्रधानता पाई जाती है ।

बाजार–उन्मुख कृषि (Market Priented Agricultural-M) में द्वितीय वरीयता में Mm प्रकार की कृषि पाई गयी जिसकी मुख्य विशेषताओं में मिश्रित कृषि, मध्यम स्तर का मानव श्रम, उच्च व उच्चस्तर का पूंजी निवेश, मध्यम उच्च भूमि उत्पादकता, उच्च वाणिज्यक स्तर, मिश्रित फसलों के साथ पशुपालन कार्य महत्वपूर्ण रूप से किया जाता है ।

द्वितीय वरीयता Ti प्रकार की कृषि में तृतीय वरीयता कम में Tir व Tiu प्रकार की कृषि पायी गयी । Tir प्रकार की कृषि राज्य के 7 जिलों में फैली हुई है । इसमें पाली, अजमेर, डूंगरपुर,

सिरोही, सवाईमाधोपुर, टोंक व कोटा को सम्मिलित किया गया है । इस प्रकार की कृषि अर्द्ध सिंचित, निम्न उत्पादकता, अर्द्ध आत्मनिर्भर, निम्न व निम्नतर उत्पादकता, निम्नतर वाणिज्य उत्पादकता पाई जाती है । Tin प्रकार की कृषि उदयपुर, चित्तौड़गढ़, भीलवाड़ा, बांसवाडा, झालावाड़ जिलों में पाई जाती है । इसकी मुख्य विशेषताओं में सिंचित, मध्यम उत्पादकता, श्रम प्रधान, मध्यम श्रम उत्पादकता, मुख्य खाद्यान्न उत्पादन व साथ पुशपालन कार्य किया जाता है।

द्वितीय वरीयता En व Et में तृतीय वरीयता के अन्तर्गत Eth व Enn कृषि प्रकार देखे गये है । Eth में बाड़मेर, जोधपुर, जालौर, नागौर, सीकर व झुंझुनू सहित 7 जिलों में यह कृषि प्रकारिकी पायी जाती है । इसकी मुख्य विशेषता पड़त भूमि, स्थानान्तरित पशुपालन, मध्यम से उच्च मानव श्रम, निम्नतर पूंजी विशेष, मध्यमस्तर का पशुपालन निम व निम्नतर भूमि उत्पादकता, निम्न स्तर का वाणिज्य स्तर पाया जाता है । Enn के अन्तर्गत जैसलमेर व बीकानेर जिले बतलाये गये है । इस प्रकार की कृषि की मुख्य विशेषताओं में पशुपालन हेतु विस्तृत भू–भाग पर उच्च व उच्चस्तर का मानव श्रम, पूंजी निवेश न्यूनतम, भूमि मानव श्रम उत्पादकता न्यून, खाद्यान्न फसले, पशुओं से उत्पादन प्राप्त किया जाता है । यह क्षेत्र पशुउत्पादन से जुड़े हुये हैं ।

राजस्थान में जिला आधार (1971) कृषि प्रकारिकी के कोड इस प्रकार रहे ।

District's	**Types**	**Principal Groups of Attributes**			
		S	**O**	**P**	**C**
Jaisalmer	Enn	0120141	1511011	1111110	151451
Bikaner	Enn	0120231	2411122	1111110	142451
Churu	Eth	0150221	2411043	1111110	2213351
Barmer	Eth	0150231	2411132	1111110	22**51
Jodhpur	Eth	0150121	2411133	1111110	II3251
Jalore	Eth	0150221	3411143	1111110	313131
Nagaur	Eth	0150221	3411143	1111110	213241
Sikar	Eth	0150121	3511144	1211110	214351
Jhunjhunu	Eth	0150121	3411145	2211110	2153J1
Pali	Tir	0140121	3411233	2211220	312232
Ajmer	Tir	0140211	2211220	2211320	223223
Dungarpur	Tir	0140111	4512244	2311320	124113
Sirohi	Tir	0140221	4512145	2211220	224123
Sawaimadhopur	Tir	0140111	3521234	2211320	224123
Tonk	Tir	0150121	4511244	2211320	224123
Kota	Tir	0140121	3511244	2211210	123122

Bhilwara	Tiu	0140111	3512244	2311420	232114
Banswara	Tiu	0140111	3512134	3322430	214114
Chittorgarh	Tiu	0140111	4511144	2322440	233114
Bundi	Tiu	0140122	4512334	3322430	II4II4
Jhalawar	Tiu	0150111	3512344	2322430	224114
Udaipur	Tiu	0140111	3511244	3422430	133114
Alwar	Tmh	0150111	3511335	2211110	315241
Bharatpur	Tmh	0150111	4521245	2311220	315222
Jaipur	Tmh	0150111	4521344	2211110	214241
Sri Gaganagar	Mmc	0140122	3512433	3333550	323115

स्त्रोत बी. एल. शर्मा "राजस्थान कृषि प्रकारिकी"

13.4 कृषि प्रकारिकी व कृषि नियोजन (Agricultural, Typology and Agricultural Planning)

कृषि प्रकारिकी का अध्ययन कृषि नियोजन के लिए महत्वपूर्ण आधार हो सकता है । कृषि प्रकारिकी अध्ययन वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है । किसी क्षेत्र में किस प्रकार की कृषि की जा रही है, उसका प्रारूप इससे प्राप्त किया जा सकता है । इसमें तुलनात्मक अध्ययन के साथ ही कृषि में आ रहे परिवर्तनों से भी सुक्ष्मता से समझा जा सकता है । कौन से क्षेत्र में कृषि परिवर्तन तीव्र हो रहे है व कौन से क्षेत्र में परिवर्तन माध्यम व धीमी गति से हो रहे है । इसको मात्रात्मक विधि से प्राप्त किया गया है । कृषि में सामाजिक – आर्थिक, संगठनात्मक, उत्पादन, संरचनात्मक लक्षणों को सम्मिलित कर कृषि के प्रकारों का निर्धारण किया गया है । कृषि का गत्यात्मक पक्ष (Dynamic aspect) भी इससे सम्मिलित है । इसलिए कृषि नियोजन में इसका उपयोग किया जा सकता है । कृषि प्रकारिकी निर्धारण में जो 27 विचरक काम में लिये जाते हैं उनके निम्न व निम्नतर पक्षों के आधार मान कर कृषि की भावी योजना बनायी जा सकती है । किन क्षेत्रों में कृषि के सामाजिक, संगठनात्मक, संरचनात्मक व उत्पादन सम्बन्धी बाधा है । उनको पहचान कर उनको दूर करने के उपाय समयबद्ध रूप से किये जा सकते है । कृषि प्रकारिकी का यह वैज्ञानिक आधार पर किया गया अध्ययन कृषि में सही प्रबन्धन का आधार हो सकता है ।

बोध प्रश्न – 1

1. कोस्ट्रोविकी किस देश के भूगोलवेत्ता रहे ?

   ....

   ....

2. अन्तर्राष्ट्रीय भूगोल संगठन ने किस वर्ष कृषि प्रकारिकी पर आयोग की स्थापना की ।

....

....

3. कृषि प्रकारिकी में प्रथम वरीयता की कृषि प्रकारिकी बतलाई गयी है ?

(अ) 10 (ब) 15

(स) 12 (द) 05

4. हिटलसी ने किस वर्ष कृषि के प्रकार को बतलाई ।

(अ) 1936 (ब) 1836

(स) 1970 (द) 1963

5. कृषि प्रकारिकी आयोग ने कितनी बैठक की ?

(अ) 17 (ब) 7

(स) 27 (द) 12

6. कृषि प्रकारिकी में 'S' लक्षण का क्या आशय है ?

....

....

7. कृषि उत्पादन कन्वेनशनल यूनिट का क्या आशय है ?

....

....

8. विचरक के लिए क्लास वर्ग 5 व 2 का क्या आशय है ?

(अ) Very High or Low उच्चतर व निम्न (ब) Very Low or Low निम्नतर व निम्न

(स) High & medium उच्च व मध्यम (द) Medium & low मध्यम व निम्न

9. कृषि प्रकारिकी आयोग ने कुल कितने विचरक बतालाये है ?

(अ) 27 (ब) 37

(स) 17 (द) 07

13.5 कृषि प्रकारिकी का समीक्षात्मक परीक्षण (Critically Examine the Agricultural Typology)

कृषि प्रकारिकी का अध्ययन तकनीकी को विश्व स्तर पर तैयार किया गया । छोटे–छोटे क्षेत्रों के अध्ययन के लिए यह अधिक उपयुक्त व व्यवहारिक नहीं है । यह तकनीक वृहत इकाईयाँ (Meso & Macro Units) के लिए तो सही है परन्तु सूक्ष्म व छोटे–छोटे इकाई, गांव परिवार मण्डल स्तर पर (Microscopic) यह ज्यादा सही परिणाम नहीं देती हैं क्योंकि विचरक के वर्ग (VL, L, M, H, VH) के निर्धारण में जो विश्वस्तर के आधार पर बनाये गये वर्ग छोटे-छोटे इकाई के अध्ययन में एक रूपता वाली ही कृषि प्रकारिकी को बतलायी है । छोटे क्षेत्रों के अध्ययन में कृषि प्रकारिकी के विभेद पाये जाते है व इस तकनीक से प्राप्त नहीं होते हैं । खत्री ने

दक्षिणी राजस्थान के जनजाति क्षेत्र में तहसील स्तर पर यह कार्य सम्पन्न किया व इन्होंने इस विधि में कुछ परिवर्तन कर चतुर्थ व पंचम श्रेणी की कृषि प्रकारिकी की पहचान कर इस कमी को दूर करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है । विचरक के वर्ग (VL, L, M, H, VH) का प्रादेशिक स्तर पर तय कर इसका उपयोग खत्री द्वारा किया गया जो कृषि की भावी योजना बनाते समय पंचायत समिति स्तर पर उपयोगी हो सकती है । इस तकनीक में सामाजिक, संगठनात्मक, संरचनात्मक व उत्पादन संबंधी नये व क्षेत्र विशेष से संबंधित महत्वपूर्ण विचरक को जोड़ा जा सकता है । कृषि प्रकारिकी आयोग ने 27 विचरक बतलाये गये है अगर क्षेत्र विशेष में महत्व नहीं रखते हैं तो उन्हें हटाकर क्षेत्र की विशिष्टता अनुसार नये विचरकों का भी इस कृषि प्रकारिकी तकनीक में उपयोग कर अधिक यथार्थ व व्यवहारिक अध्ययन किया जा सकता है । इस कृषि प्रकारिकी निर्धारण की तकनीक कमी में बतलाया जाता है कि कृषि को प्रभावित करने वाले प्राकृतिक लक्षणों को सम्मिलित नहीं किया गया है । इस संदर्भ में वस्तुत: जो सामाजिक, व्यवस्था, संगठनात्मक, संरचनात्मक, व उत्पादन के लक्षण के विचरक लिये गये है, उनमें प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से क्षेत्र के प्राकृतिक लक्षण सम्मिलित हो चुके है । इसलिए अलग से उन्हें नहीं लिया गया है । कृषि प्रकारिकी का अध्ययन कृषि नियोजन हेतु वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करता है।

बोध प्रश्न– 2

1. T प्रकार की प्रथम वरीयता कृषि प्रकारिकी में द्वितीय व तृतीय वरीयता कृषि प्रकारिकी की संख्या कितनी है ?

   (अ) 2 व 10 (व) 4 व 15

   (स) 3 व 16 (द) 6 व 20

2. कृषि प्रकारिकी निर्धारण में टेक्सोनोमिक वेरियन्स के आधार पर कृषि प्रकारिकी का निर्धारण किया जाता है उपयुक्त कथन सही है या गलत ।

   ……………………………………………………………………………………………….

   ……………………………………………………………………………………………….

3. राजस्थान में वर्ष 1971 के अनुसार प्रथम वरीयता क्रम की कौनसी कृषि प्रकारिकी पाई गयी ?

   (अ) E, T व E (व) T, M व S

   (स) E, T व A (द) T, M व A

4. कृषि प्रकारिकी में प्रथम द्वितीय व तृतीय वरीयता निर्धारण में मॉडल कोड से वेरियन्स रहता है ।

   (अ) 30%, 20% व 10% (ब) 10%, 20% व 30%

   (स) 5%, 10% व 15% (द) 20%, 30% व 40%

5. राजस्थान में गंगानगर जिले में कौन सी कृषि प्रकारिकी पाई जाती है ?

   ……………………………………………………………………………………………….

   ……………………………………………………………………………………………….

   प्रथम वरीयता……………………………………………

द्वितीय वरीयता…………………………………………….

तृतीय वरीयता……………………………………………….

6. राजस्थान के जोधपुर व जैसलमेर जिले में कौन सी कृषि प्रकारिकी पायी जाती है ?

(अ) Enn (ब) Eth

(स) Tin (द) Tmh

7. कृषि प्रकारिकी Tir का क्या आशय है ?

……….

……….

13.6 सारांश (Summary)

कृषि भूगोल में कृषि के प्रकारों के अध्ययन में हिटलसी के बाद अन्तर्राष्ट्रीय भूगोल संगठन ने कृषि प्रकारिकी पर आयोग स्थापित कर विश्व स्तर पर कृषि के प्रकार के निर्धारण की महत्वपूर्ण संकल्पना प्रस्तुत की है । यह कृषि गतिशीलता (Dyanamic Aspect) पक्ष के साथ ही कृषि कार्य के सामाजिक, संगठनात्मक, संरचनात्मक व उत्पादन के लक्षणों के आधार मानकर 27 विचरक को लेकर अध्ययन करता है । कृषि प्रकारों के अध्ययन की यह एक वैज्ञानिक अध्ययन विधि है । इसमें पदानुक्रम वरीयता अनुसार (Heirarchicla order) प्रथम वरीयता, द्वितीय व तृतीय वरीयता की कृषि प्रकारिकी को दर्शाया गया है । कृषि प्रकारिकी निर्धारण में टेक्सोनोमिक वेरियन्स का आधार मानकर मॉडल कोड अनुसार इसका निर्धारण किया जाता है । प्रथम वरीयता प्राप्त कृषि को पाँच प्रकार का बताया गया है जो परम्परागत विस्तृत कृषि –E (Traditional Extensive Agriculture), परम्परागत गहन कृषि T (Traditional Intensive Agriculture), बाजार उन्मुख कृषि M(Market Oriented Agriculture), सामाजीकरणकृत कृषि S(Socialized Agriculture) एवं उच्च विशेषीकरण पशुपालन कुषि A (Highly Specialised Livestock Breeding Agriculture) है । द्वितीय वरीयता में कुल 20 प्रकार व तृतीय वरीयता में कुल 55 प्रकार की कृषि बतलायी गयी है । इन सभी प्रकार की कृषि की मुख्य विशेषताएँ आयोग द्वारा निर्धारित कर की गयी । राजस्थान में प्रथम वरीयता प्राप्त E, T, M प्रकार देखी गयी व द्वितीय वरीयता En, Et, Ti, Tm, Mm स्स व तृतीय वरीयता में Enn, Eth, Tir, Tiun, Tmh, Mmc प्रकार की कृषि देखी गयी है । सूक्ष्म क्षेत्र (Microscopic) की कृषि प्रकारिकी निर्धारण के लिए इस तकनीक में कुछ परिवर्तन कृषि भूगोलवेत्ताओं ने सुझाये है जिससे इस अध्ययन का उपयोग कृषि नियोजन में किया जा सकता है ।

13.7 शब्दावली (Vocabulary)

- **विचरक (Variable) :** कृषि को प्रभावित करने वाले कारक ।

- **कृषि प्रकारिकी :** कृषि का प्रकार जो सामाजिक, संगठनात्मक, उत्पादन व संरचनात्मक पक्ष को आधार मान कर सभी के योग में जो कृषि की जा रही है उसके प्रकार को निर्धारित करना कृषि प्रकारिकी है ।
- **सामाजिक लक्षण (Socialc Attributes) :** कृषि को प्रभावित करने वाले सामाजिक कारक
- **संगठनात्मक लक्षण (Operational Attributes) :** कृषि कार्य हेतु, जो व्यवस्थाएँ की जाती है उसके कारक ।
- **उत्पादन के लक्षण (Productional Attributes) :** कृषि में उत्पादन से जुड़े कारक
- **संरचनात्मक लक्षण (Structural Attributes) :** कृषि कार्य की संरचना से जुड़े कारक
- **कुल उत्पादन (Gross Production) :** कृषि में फसलों व पशुओं से प्राप्त उत्पादन को कुल उत्पादन माना गया ।
- **घुमक्कड पशुचारण (Nomadic Herding) :** पशुपालक हेतु पशुओं को लेकर स्थान–स्थान पर घूमते रहना ।
- **स्थानान्तरित कृषि (Shifting Cultivation) :** एक स्थान पर तीन से पाँच वाले तक फसल लेने के बाद में अन्य क्षेत्र को कृषि के लिए तैयार कर उसमें तीन से पाँच वर्ष तक फसल लेना । यह क्रम नियमित रूप से चलता रहे ।
- **पड़त भूमि (Follow Land) :** वह जोत जो दो या तीन वर्ष तक खाली छोड़ दी जाती है ।
- **परम्परागत कृषि (Traditional Agriculture) :** जहाँ कृषि प्राचीन समय से पुरानी पद्धति से ही, खेती करना ।
- **गहन कृषि (Intensive Agriculture) :** जोत भूमि में वर्ष में दो या तीन बार फसल लेना ।

13.8 संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. Kostrowicki, S. J. (1975) : **The Typology of World Agriculture, Principles, Methods and Model Type;** IGU Commission Agricultural Typology, WARSAW.
2. Kostrowicki, J. (1976) : **'Agricultural Typology as a tool in Planning Spatial Organisation of Agriculture'** IGU Commission on a Agricultural Typology, Geofroum.
3. Khatri, L.C. (1990) : **"Agricultural Typology Tribal Region of Southern Rajasthan"** Himanshu Publications, Udaipur.
4. Lal, m. (1986) : **"Agro-types in Central India"** Star distribution, Varanasi.
5. Sharma (1983) : **"Agricultural Typology of Rajasthan"** Pankaj Prakashan, Udaipur.
6. Singh V.R. & N.K. Singh (1986) : **"Perspectives in Agricultural Typology"** Start Distributors, Varanasi (Ed.)
7. शर्मा बी. एल. (2003) : **"कृषि भूगोल",** हिमांशु प्रकाशन, उदयपुर ।
8. पाण्डेय जे. एन. (2007) : **"कृषि भूगोल",** वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर ।
9. कुमार प्रमीला (2000) : **"कृषि भूगोल"** मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल ।

10. सिंह बी. बी. (1979) : **"कृषि भूगोल"** तारा प्रकाशन, वाराणसी
11. तिवारी आर. सी. (1994) : **"कृषि भूगोल"** प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद ।
12. Panda, B. B. (1979) : "**Agricultural Type of Madhya Pardesh"** Geography Polonica, Warsa, Poland, No. 40 pp. 137-150.
13. Sharma, B.L. (1983) : **"A Typological Analysis of Agriculture in the Rajasthan State",** G.P. Warsa No. 46
14. Singh j. (1979) : "**A Typology of agriculture;** The Indian Experience G.P.; Warsa Poland, No. 46, pp 49-79.
15. Singh V.R. (1979) : **"Agricultural Typology of India'** G.P Warsa Poland No. 40, pp 113-132.

13.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. पॉलैण्ड
2. 1964
3. (द) 05
4. (अ) 1936
5. (ब) 7
6. सामाजिक लक्षण (Social Attributes) इसके सात प्रकार के विचरक बतलाये गये है ।
7. विभिन्न प्रकार के कृषि उत्पादन का समान भार देने के लिए कन्वेशनल यूनिट बतलाये गये है । 120 कि. ग्रा. मक्का का मूल्य एक यूनिट माना गया व 100 किलोग्राम गेहूँ का मूल्य 1 यूनिट माना गया ।
8. (अ) Very High or Low उच्चतम व निम्न
9. (अ) 27

बोध प्रश्न - 2

1. (ब) 4 व 15
2. कथन सही है ।
3. (अ) E, T & M
4. (अ) 30%, 20% व 10%
5. प्रथम वरीयता M, द्वितीय वरीयता Mm, तृतीय वरीयता Emc
6. (अ) Enn
7. प्रथम वरीयता परम्परागत गहन कृषि के अर्न्तगत व द्वितीय वरीयता Ti व तृतीय वरीयता Tir है ।

13.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. कृषि प्रकारिकी संकल्पना को विस्तार से बताइये ।
2. राजस्थान में कृषि प्रकारिकी को स्पष्ट कीजिए ।

3. "कृषि प्रकारिकी अध्ययन वैज्ञानिक आधार पर किया जाता है ।" कथन की व्याख्या कीजिए।
4. कृषि प्रकारिकी अध्ययन कुषि नियोजन में किस प्रकार सहायक हो सकता है, स्पष्ट कीजिए।
5. कृषि प्रकारिकी अध्ययन का समीक्षात्मक मूल्यांकन कीजिए ।
6. कृषि का महत्वपूर्ण पक्ष गतिशीलता (Dynamic Aspecy) है । कृषि प्रकारिकी इस संदर्भ में किस प्रकार का अध्ययन करती है ।

13.11 परिशिष्ट

परिशिष्ट-1

1. कृषि उत्पादन – यूनिट में परिवर्तन

Conventional units to measure agricultural production

List of world weights for agricultural products

		World wheat equivalent FAO Units of 100 Kg. of a given crop is valued in relation to 100 kg. or wheat	Grain units 100kg. of a given crop is equivalent to 100 kg. of cereal grain	Proposed (Simplified weight units)
A.	**CROPS**			
1	Cereals			
	Wheat	100	100	100
	Rye	85	100	90
	Barley	75	100	90
	Oats	70	80-100	80
	Maize	75	100	80
	Millets	70	80-100	80
	Rice Paddy rough	80	-	80
	Clean Rice	113	110	110
	Other Cereals	65	-	70
	Mixed grain	65	80-100	70
2	Pulses	115	120	120
3	Starchy roots, Potatoes	40	23-30	
4	Vegetables	65	15-30	
5	Fruits, fresh citrus fruit	65	-	70
	Bananas	30	-	40
6	Sugar crops, Sugarcane	-	20-25	20

7	Beverage crops coffee	550	-	550
8	green hcans, tea	900	-	900
9	Spices Condiments Hops	-	530	500
10	Cummin	-	200	200
11	Tobacco Farm sales weight	960	200	1000-200 (green)
	Oil Crops Ground nuts, in shell	120	-	150
	Seel led	-	200	200
	Rapseed	145	180-200	180
	Mustard Seed	181	150	180
	Linseed	170	100-200	100
	Fibres			
	Cotton lint	850	-	800
	raw	-	120	120/100
	Rubber	510	-	500
B.	**LIVESTOCK PRODUCTS**			
1	Meat (live weight 100 kg.)			
	Cattle, calves,			
	Buffaloes	400	600	600
	Pigs	550	500-550	600
	Sheep, lambs	400	500-600	600
	Horses	600	700	500
	Other animals	660	-	600
	Poultry	730	700	700
2	Milk	100	100	100
3	Eggs	790	500	600
4	Fibres	-	4000 (raw)	1800
	Wool (greasy)	1870	10000 (pure)	4000/10000

परिशिष्ट-2

1. कृषि में पशुश्रम में माने गये यूनिट

Conventional draught (horse power) units

Camel	2
Horse	1
Buffalo	0.9
Ox	0.5
Cow	0.2
Mule	0.8
Ass	0.3

5 HP in tractor power equals 1 horse power unit. 1 horse power unit equal 5 man.

परिशिष्ट-3

1. कृषि में पशुओं के माने गये यूनिट

Conventional (large) animal units

(Simplified for typology of world agriculture)

Camel	2.0
Cows, Buffaloes, Horses	1.0
Other Cattle	0.8
Cattle without specification	0.6
Liamas, reindeers, asses	0.3
Mules	0.6
Pig	0.25
Sheep and goats	0.1
Poulty non-specified	0.01

The units are based essentially on animal weight and 500kg. of live weight is taken as one units.

परिशिष्ट –4

1. पदानुक्रम के अनुसार प्रथम, द्वितीय व तृतीय वरीयता की कृषि प्रकारिकी के मॉडल कोड

(HIERARCHICAL ORDERS OF AGRICULTURAL TYPES)

क्रम **Order**	**सम्बद्धता** **Symbol**	**कोड** **Code**			
I	E	5321211	1111121	1221111	133331
	T	1241222	4412242	4422221	114221

	M	1151233	2154343	4455544	122231
	S	1115555	3243242	3333433	124221
	A	1133445	3100003	3045535	151551
II	En	4211201	1100121	1221112	141451
	Ef	5221221	1111111	1221111	115111
	Et	2441211	2211132	2321211	133221
	Ti	1241212	5311452	5511221	114111
	Ts	2241222	3212231	2222325	313113
	Tl	1351454	3311132	2333323	123222
	Tm	1151222	4423143	3421321	133231
	Mii	1151211	4234551	5534443	114111
	Mif	1151222	4134241	4444545	415111
	Miv	1151222	4145352	5534555	115111
	Mig	1151313	5155551	5555555	115111
	Mmt	1151232	2223143	3433333	131341
	Mme	1151222	4244242	4434441	213222
	Mmn	1151222	3155342	4445544	112213
	Mmm	1151222	3255144	4444442	123231
	Ma	1151233	3154144	4444444	131341
	Mml	1151344	2154143	4455443	123231
	Mmb	1151243	2143143	3455434	131451
	Mic	1151244	5154441	4455542	113112
	Mlh	1151345	2154341	4455545	315111
	Mln	1151255	2154242	4455545	311114
	Mlp	1151455	3133341	4434545	411115
	Mem	1151254	1152132	3355534	133331
	Mec	1151254	1152131	2255525	115111
	Sec	1115443	3232231	2322422	124121
	Sem	1115443	3233132	2333321	133331
	Smm	1115555	2144143	3434432	132341
	Sme	1115555	3233242	3433432	223221
	Smi	1115555	2154443	4455543	122222
	Sme	1115555	1142132	2244423	142441
	Sin	1115555	4322143	4422222	224221

Sii	1115555	5422454	5522232	114111
Shf	1115555	3133241	4444545	415111
Shv	1115545	4154342	4434555	115111
Sng	1115545	5155551	5555555	115111
Scc	1155555	1143131	2234525	115111
Arr	1151354	1100001	1044515	151551
Aro	1115555	1100001	1034515	151551
Add	1151323	5150005	5055555	151551
Ado	1115555	5150005	5055555	151551

पदानुक्रम अनुसार प्रथम, द्वितीय व तृतीय वरीयता कृषि प्रकारिकी की मुख्य विशेषताएँ

E.Traditional extensive agriculture (परम्परागत विस्तृत कृषि)

Land held in common or under servile or share tenancy. Small scale agriculture with low inputs of labour, very low/if any/capital inouts, extensive use of land, very low to low land and labour productivity, very low commercialization and specialization, oriented chiefly toward food production whether vegetable or animal.

En. Nomadic herding (घुमक्कड पशु चारण)

Land held in common. Small to medium scale migratory herding, with or without supplementary crop growing. Very low labour and/if and/capital inputs. Extensive use of land, very low to low profctivity and commercialization live stock products dominant.

Enn Nomadic herding
North Africa. Middle East

Enc Nomadic herding with subsidiary crop growing North Africa Middle East

Ef. **Shifting cultivation (पलायनकृत कृषि)**

Land held in common, very small to small scale agriculture with very low inputs of labour and/of any capital inputs, very low to low productivity, very low commcircialization, mixed food crop production dominant.

Eff Shifting, **Forest fallow, agriculture**

Central Africa, South-East Asia, Amazon

Efb/Tsb/ Rotational, bush fallow, agriculture

West Africa South East Asia, Latin America

Et. Current fallow, subsistence to semi-subsistence agriculture.

(transitional between E and T)

Land held in common or under servile or share tenancy, very small to small scale agricultural with low labour inputs, very low / if any / capital in-puts, very low to low productivity, very low commercialization, mixed food crop-animal production orientation.

Etc/Tec/	Current fallow crop agriculture (transitional between Ef and Et) Parts of Africa, Latin America
Elh/Toc/	Current fallow agriculture with migratory herding Mediterranean countries, Middle East
Etm/Tem	Current fallow Mixed agriculture I? some parts of Eurpe, Middle East

T. Traditional intensive agriculture (परम्परागत गहन कृषि)

Land held by owner or operators, less often under customary rights of tenure. Small scale/peasant/or large scale latifundia agriculture with high or medium inputs of labour, low capital inputs, medium to high lard productivity, low labour productivity, low to medium commercialization, criented mainly towards food production wether crop or animal.

Ti. Traditional, small-scale, labour intensive crop agriculture.

Land operated by its owners, rarely under customary rights of tenure. Very small to small-scale agriculture with high to very high inputs of labour and considerable inputs of animal power, very low mechanization and chemical fertilization, after with important irrigation, very high land productivity, very low labour productivity, low commercialization, mixed crop production dominant.

Tir	Semi-irrigated, low productive, semi-subsistence agriculture. (Transitional between Ti and Tm, closer to E) India.
Tic	Irrigated, medium productive, semi-subsistence crop agriculture. Arid lands of North Africa and the Middle East oases Inundated river valleys.

Tin	Non-irrigated, highly productive, subsistence to semi-subsistence cropagriculture. South and East Asia. Til Highly intensive, irrigated, highly productive, subsistence to semi-subsistence crop agriculture. South and East Asia.
Tij	Highly intensive, irrigated, highly productive, semi-commercial agriculture.
Tiu	Irrigated, medium productive, semi-subsistence to semi-commercial crop agriculture. (Transitional between Ti and Tin) Northern India.

Ts. Traditional small-scale, semi-commercial specialized crop agriculture.

Land operated by its owners, less often under various customary rights of tenure. Small scale agriculture with low to medium inputs of labour, low medium capital inputs, low land and labour productivity, medium commercialization, mixed food-cash crop orientation, very high specialization mostly in perennial industrial crops.

Tse/Tse/	Extensive, semi-commercial, specilalized crop agrivculture. Semi-arid countries of Latin America and Africa.
Tss/Tsv/	Semi-commercial, specialized crop agriculture West and East Africa, south-East Asia, Oceania, Latin America.
Tsd/Tsc/	Semi-commercial, semi-irrigated, specialized crop agriculture. Semi-arid and arid lands of North West India, Pakistan, Sudan.
TI	Traditional, large-scale agriculture (latifundia)

Land privately ownd, often operated under servile tenancy. Large scale agriculture with medium inputs of labour and animal power, very low

capital inputs, capital inputs, extensive use of land, with low to medium land productivity, medium labour productivity and commercialization, medium specialization in various crop or animal products.

Tlp/Lpp/	Traditional plantations. Latin America, some other tropical countries.
Tlc/Lcc/	Traditional latifundia with crop growing prevalent. Southern Europe, Latin America.
Tll/Lll/	Traditional latifundia with livestock breeding prevalent. Southern Europe, Latin America
Tmc/Tmc/	Semi-subsistence to semi-commercial mixed agriculture, with crop growing prevalent. Parts of Europe. Latin America.

M. Market oriented agriculture

Private ownership of land, low inputs of labour, high capital inputs, high land and labour productivity, high degree of commercialization.

Ms. Small-scale, specialized, industrial crop agriculture.

Very small scale agriculture with medium inputs of labour, very low mechanization, low to medium chemical fertilization, often with irrigation high productivity of land and medium labour productivity, high commercilisation and specialization, mainly in perennial or industrial crops. For a time being no subdivision is made because of insufficient on formation Japan, Taiwan, Malaysia, parts of Africa and Latin America.

Mi. Small-scale highly intensive, crop agriculture.

Very small to small scale agriculture with very high inputs of labour, high capital inputs, very high land productivity, high to very high labour productivity, very high specialization in the production of various food crops.

Mii/Mii/	Labour intensive, irrigated, highly productive food crop agriculture, (transitional between Mi and Ms) Japan, Taiwan.
Mif/Mhf/	Specialized fruit tree growing (transitional between Ma and Ms)

	Europe, Latin America.
Miv/Mhg/	Specialized vegetable growing/market gardening/ Europe.
	Highly industrialized horticulture/green houses important/Europe, North America.
	Mm. Mixed Agriculture.

Small to medium scale agriculture with medium and high to very capital inputs, high land and labour productivity, high commercialization with mixed crop and animal orientation.

Mmt/Tml/	Medium-scale mixed agriculture with crop growing Prevalent Southen Europe, Latin America.
	Small-scale mixed agriculture with industrial crops prevalent.
	(transitional between Mm, Ms and MI)
	Parts of Europe.latin America.
Mmn/Mmm/	Small-scale mixed agriculture with industrial with industrial crops prevalent.
	(transitional between Mm,Ms and Mi)
	Parts of Eurpe.
Mmm/Mmm/	Small-scale,mixed,commercial agriculture with livestock breeding prevalent.
	West Europe.
Mml/Mxm/	Large-scale mixed agriculture commercial landed estates/West Europe.
Mmb/Mxl/	Large-scale mixed agriculture with livestock breeding prevalent.
	North America/Dairy and Corn Belts/Australia,New Zeland

MI. Large-scals intensive crop agriculture

Large scale agriculture with low input of labour and high capital inputs, high land and very high labour productivity. Very high commercialization and very hingh production specialization.

MIc/Mvm/ Lare scale, irriagatedl. Mixed crop agriculture USA, South Africa.

MIh/ Mvh/ Large-scale horticulture/ Fruit and vegetables/USA.Latin America,South Africa,Australia.

Mln/Mvn/ Large-scale industrial crop agriculture USA/Austrialia,South Africa.

Mlp/Mpp/ Modern Plantations(transitional between MI and Ms)Latin America,parts of Africa,South Asia, Oceania.

Sin/Sin/ Labour intensive non-irrigated agriculture Northern China

Sii/Sii/ Labour intensive irrigater agriculture China,North Vietnam.

Sh.Socialized horticulture.

Large to very large-scale agriculture with high inputs of labour,very high capital inputs,high land and labour productivity,very high commercialization,high specialization in various food crops.

Shf/Shf/ Specialized fruit tree agriculture (transitional between sh and Ss) USSR and East-Central Europe.

Shv/Shv/ Specialized vegetable agriculture USSR and East Central Europe.

Shg/Ag/ Highly industrialzed horticulture/green houses important/Various socialist countries.

Ss.Socialized,speciallzed industrial crop agriculture.

Very large scale agriculture with low to medium inputs low labour,medium to high capital inputs,medium land productivity,high productivity of labour,high to very high commercialization and very high specialization in perennial,industrial crop growing.No subdivision made,for a time being,because of insufficient information.

USSR/cotton.Tea/Cuba/Sugar cane etc,/

Se.Socialized,extensive,specialized grain crop agriculture.

Very large scale scale agriculture with very low inputs of labour,high mechanization,low chemical fertilization,extensive use of land ,very low to low land productivity,medium to high labour productivity,high commercialization and very high specialization in grain crops.

Sec/Sec/ Extensive specialized grain crop growing Southern parts of the

USSER.

A.Highly specialized livestock breeding

Types of agriculture in which common technological characteristics combined with a large scale of operation and a high degree of specialization in livestock breeding prevail over other agricultural attributes.

Ar.Extensive commercial herding

Market oriented or socialized large to very large agriculture,with very low inputs of labour and capital ,very low land productivity, medium to high labour productivity, high commercialization and very high spcialization in animal products.

Arr. Market oriented livestock grazing/ ranchin/
western USA, Australia, South Africa,

Aro. Socialized livestock grazing/ otgon/
Southern parts of the USSR. Mongolia

Ad. Highly industrialized/ feed-lot/ livestock breeding

Market oriented or socialized large scale agriculture with very high inputs of labour and capital, very high land and labour productivity, Very high commercialization and specialization in various animal products.

Add. Market oriented. Highly industrialized Livestock breeding Marious West European Countries, North America.

Ado. Socialized highly inductrialized livestock breeding Various socialist countries.

इकाई 14 : हरित क्रान्ति (Green Revolution)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 हरित क्रान्ति–एक परिचय

14.3 हीरत क्रान्ति एवं इसका प्रभाव

14.4 हरित क्रान्ति एवं कृषि व्यूह रचना

- 14.4.1 रासायनिक उर्वरकों के उपयोग में तीव्र वृद्धि
- 14.4.2 अधिक उपज देने वाले उन्नत किस्म के बीजों का अधिक उपयोग
- 14.4.3 सिंचाई व्यवस्था का विकास
- 14.4.4 पौध संरक्षण
- 14.4.5 आधुनिक कृषि तकनीक एवं उपकरण
- 14.4.6 बहुफसली कार्यक्रम
- 14.4.7 कृषि हेतु ऋण की व्यवस्था
- 14.4.8 भूमि का परीक्षण एवं मृदा का संरक्षण
- 14.4.9 यातायात व्यवस्था, बाजार एवं भण्डारण की व्यवस्था
- 14.4.10 ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युतीकरण
- 14.4.11 कृषि उत्पादों का उचित मूल्य
- 14.4.12 नवीन कृषि तकनीकों की जानकारी एवं प्रशिक्षण व्यवस्था

14.5 हरित क्रान्ति की उपलब्धियाँ

- 14.5.1 कृषि उत्पाद एवं उत्पादकता की मात्रा में वृद्धि
- 14.5.2 कृषिगत क्षेत्र में वृद्धि
- 14.5.3 खाद्यानों के आयात में कमी
- 14.5.4 कृषि में आधुनिक प्रोद्यौगिकी का उपयोग
- 14.5.5 रोजगार के अवसरों में वृद्धि
- 14.5.6 परम्परागत कृषि ढाँचे में परिवर्तन
- 14.5.7 औद्योगिक विकास को गति
- 14.5.8 कृषकों की एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि

14.6 हरित क्रान्ति एवं असमानताऐं

14.7 नयी प्रोद्योगिकी की समस्याऐं एवं समाधान

14.8 हरित क्रान्ति एवं पर्यावरणीय समस्याऐं

- 14.8.1 विभिन्न प्रकार की फसल किस्मों का समाप्त होना
- 14.8.2 पर्यावरण पर सिंचाई के विभिन्न साधनों का प्रभाव
- 14.8.3 पर्यावरण पर उर्वरकों का प्रभाव
- 14.8.4 पर्यावरण पर कीटनाशी दवाओं का प्रभाव

14.9 श्वेत क्रान्ति
14.10 सारांश
14.11 शब्दावली
14.12 सन्दर्भ ग्रन्थ
14.13 बोध प्रश्नों के उत्तर
14.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप समझ सकेंगे -

- हरित क्रान्ति व हरित क्रान्ति का प्रभाव,
- हरित क्रान्ति का विकास एवं हरित क्रान्ति सम्बन्धी प्रमुख तत्व,
- हरित क्रान्ति सम्बन्धी व्यूहरचना एवं उपलब्धियाँ;
- हरित क्रान्ति से उत्पन्न समस्याऐं एवं असमानताऐं;
- नवीन तकनीकी सम्बन्धी समस्याऐं एवं उनके समाधान;
- हरित क्रान्ति एवं पर्यावरणीय समस्याऐं;
- श्वेत क्रान्ति ।

14.1 प्रस्तावना (Introduction)

नवीन एवं उन्नत तकनीक का देश के कुछ क्षेत्रों एवं फसलों के संदर्भ में छठे दशक के मध्य से उपयोग किया जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता में अत्यधिक वृद्धि हुई है इस परिवर्तन को 'हरित क्रान्ति ' की संज्ञा दी गयी है इस नवीन तकनीक का मूल तत्व अधिक उपज देने वाले बीजों का अनुसंधान द्वारा अन्य कृषिगत निविष्टियों के नये रूपों एवं नये संयोगों के साथ उपयोग करना है । कृषि क्षेत्र में यह नयी तकनीक एकाएक आई, इसका विस्तार एवं विकास तीव्र गति से हुआ तथा कम समय में इसके द्वारा आश्चर्यजनक परिणाम प्राप्त हुए, इसी कारण इसे 'हरित क्रान्ति ' की संज्ञा दी जाती है ।

अधिक उपज प्रदान करने वाले बीजों एवं रासायनिक उर्वरक के संयोजन को सफल बनाने के लिये इससे सम्बन्धित अन्य आवश्यक चीजों को भी जुटाया जाना आवश्यक होता है इन चीजों का एक साथ उपयोग उत्पादन बढ़ाने के लिये किया जाता है, जिसके अन्तर्गत परस्पर एक–दूसरे से जुड़े हुए कारकों को कुशलतापूर्वक संयोजित करके उत्पादन में वृद्धि हेतु उपयोग किया जाता है । इस कार्यक्रम को ऐसे स्थानों पर प्रारम्भ किया गया जहाँ या तो वर्षा पर्याप्त मात्रा में होती है अथवा वहाँ सिंचाई की पर्याप्त सुविधाऐं उपलब्ध है । संक्षेप में कहा जा सकता है कि समग्र रूप में यह क्रान्ति उच्च कोटि के बीज तथा रासायनिक उर्वरकों एवं अन्य कृषिगत साधनों, उन्नत तकनीक और फार्म प्रबन्धन का योग है ।

14.2 हरित क्रान्ति–एक परिचय (Green Revolution– An Introduction)

कृषि का भारतीय अर्थव्यवस्था में प्रारम्भ से ही महत्व रहा है इसी कारण भारत को एक कृषि प्रधान देश के रूप में जाना जाता है । वर्तमान में यदपि देश में औद्योगीकरण की गति तेजौ के साथ बढ़ रही है, किन्तु राष्ट्रीय आय की दृष्टि से कृषि का योगदान आज भी उद्योगों से अधिक है । देश की कार्यरत जनसंख्या का लगभग 64 प्रतिशत भाग वर्तमान में भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर निर्भर है । कृषि क्षेत्रों के माध्यम से न केवल उद्योगों को कच्चे माल की प्राप्ति हो रही है, बल्कि तेजौ से बढ़ रही जनसंख्या को भी भरण–पोषण के लिए खाद्यानों की प्राप्ति हो रही है । देश की तीव्र गति से बढ़ रही जनसंख्या के साथ–साथ खाद्यानों की उपलब्धता का संकट भी बढ़ता जा रहा है । देश में खाद्यान्न सम्बन्धी समस्या के समाधान रख खाद्यानों में आत्म निर्भरता की प्राप्ति हेतु पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत नवीन कृषि पद्धतियों का उपयोग प्रारम्भ किया गया । देश में कृषि सुधार सम्बंधी उपायों के अन्तर्गत पंचवर्षीय योजनाओं के फलस्वरूप 1966–67 की तुलना में 1967–68 में एक वर्ष की अवधि में लगभग 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई जो कि एक क्रान्ति के समान थी । इसी कारण विद्वानों ने अनाज के उत्पादन में हुई इस वृद्धि को 'हरित क्रान्ति' (Green Revolution) की संज्ञा दी ।

'हरित क्रान्ति' से आशय कृषि उत्पादन में उस तीव्र खाघानों की वृद्धि से है, जिनकी प्राप्ति कम समय में अधिक उपज देने वाले बीजों (High Varieties, HYV) के उपयोग से हुंई है । इन अधिक उपज देने वाले बीजों के उपयोग के साथ ही अधिक उत्पादन की प्राप्ति के लिये अन्य आवश्यक तत्वों जैसे उर्वरक, सिंचाई, कटिनाशी दवाऐं, नवीन कृषि प्रोद्योगिकी आदि का उचित एवं कुशलतापूर्वक उपयोग किया जाता है । संयुक्त राज्य अमेरिका के विलियन ग्रैड ने सर्वप्रथम 'हरित क्रान्ति' शब्द का उपयोग किया था । सर्वप्रथम 1950 के दशक में हरित क्रान्ति का प्रारम्भ राक फेलर फोर्ड फाउन्डेशन (मैक्सिको) के अन्तर्गत हुआ जिसमें इस कार्यक्रम के निदेशक नारमन बोरलाग को 1970 में उनके इस क्षेत्र में उल्लेखनीय अनुसंधान कार्य के विश्व शान्ति का नोबल पुरस्कार प्रदान किया गया था । नोरमन बोरलाग को ही 'हरित क्रान्ति' का जनक माना जाता है।

20वीं शताब्दी के छठे दशक में (1965–66) भारत में हरित क्रान्ति का शुभारम्भ हुआ । इसका श्रेय मुख्य रूप से नोरमन बोरलाग एवं भारत के विख्यात कृषि वैज्ञानिक एम. एस. स्वामीनाथन को जाता है । स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् देश में खाघान्न समस्या को दृष्टिगत रखते हुए सरकार द्वारा 1959 में फोर्ड फाउण्डेशन के कृषि विशेषज्ञों के एक दल को आमंत्रित किया गया । विशेषज्ञों के दल द्वारा भारतीय कृषि दशाओं का अध्ययन करने के पश्चात् देश की खाघान्न समस्या तथा सुझावों सम्बन्धी एक प्रतिवेदन सरकार के समक्ष प्रस्तुत किया। 1966–67 में सरकार द्वारा एक नई कृषि नीति का प्रारूप तैयार किया गया, जिसका मुख्य उद्देश्य कम समय में कृषि उत्पादन में अधिकाधिक वृद्धि करना था । इस कृषि नीति के

अन्तर्गत अधिक उपज देने वाली किस्मों का व्यापक रूप से उपयोग करना सम्मिलित था । 1966–67 में व्यापक क्षेत्र में इन अधिक उपज देने वाली प्रजातियों का प्रचार–प्रसार किया गया, इसी कारण इस वर्ष को हरित क्रान्ति का प्रारम्भ वर्ष भी माना जाता है । देश के कृषि वैज्ञानिकों ने भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप कई उन्नत किस्म की प्रजातियों का विकास किया, जिनका उपयोग उर्वरक, सिंचाई, पौध संरक्षक उपायों के साथ एक संयुक्त कार्यक्रम के रूप में किया गया । इसी का परिणाम था कि कृषि उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई और इसे ही हरित क्रान्ति का नाम दिया गया । विख्यात कृषि वैज्ञानिक एम. एस. स्वामीनाथन के इस कार्यक्रम के सफल क्रियान्वयन में महत्वपूण योगदान के लिए उन्हें भारत में हरित क्रान्ति का जनक कहा जाता है ।

14.3 हरित क्रान्ति एवं इसका प्रभाव (Green Revolution and its Impact)

देश में इस दिशा में प्रथम संगठित प्रयास 1960–61 में गहन कृषि जिला कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme–IADP) के लिये चयनित सात जिलों में पायलेट प्रोजेक्ट के रूप में किया । उक्त सात जिले अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश), लुधियाना (पंजाब), तजांवुर (तमिलनाडु), पश्चिमी गोदावरी (आन्ध्रप्रदेश), रायपुर (छत्तीसगढ़), शाहबाद (बिहार) तथा पाली (राजस्थान) थे । इस कार्यक्रम के परिणामों से उत्साहित होकर सरकार ने अक्टूबर, 1965 में इस कार्यक्रम के संशोधित रूप को गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (Intensive Agricultural Area Programme– IAAP) के नाम से देश के चुने हुए 114 जिलों में चलाया गया । वास्तविक रूप में बौने किस्म की गेहूँ के बीजों के आविष्कार नारमन बोरलाग को विश्व में हरित क्रान्ति का अग्रणी कहा जाता है, जो मैक्सिकों में पाँचवे दशक में गेहूँ विकास कार्यक्रम के प्रभारी थे । 1951 में मैक्सिकों में इनके द्वारा बौने किस्म की गेहूँ की कृषि का प्रारम्भ किया गया तथा 1956 में खाद्यान की दृष्टि से मैक्सिको को आत्म निर्भर बना दिया और साथ ही गेहूँ का प्रति हेक्टेयर उत्पादन ढ़ाई गुना तक भी बढ़ गया ।

भारत में भी भारतीय कृषि अनुसंधान केन्द्रों में कृषि वैज्ञानिकों द्वारा ज्वार, मक्का, बाजरा की संकर किस्मों को खोजा गया तथा इसके कारण इन फसलों की प्रति हेक्टेयर उपज में वृद्धि सम्भव हुई । तत्पश्चात् सरकार द्वारा कृषि विकास की सम्भावनाओं को दृष्टिगत रखते हुए नई कृषि नीति को 1966 में एक मुश्त कार्यक्रम के रूप में चलाया गया जिसके लिये सिंचाई की नियंत्रित व्यवस्था के साथ रासायनिक उर्वरक, उत्तम एवं संकर किस्म के बीज, कीटनाशी दवाऐं एवं आधुनिक कृषि सम्बंधी मशीनें एवं उपकरण उपलब्ध कराये गये । यह कार्यक्रम चतुर्थ योजना में शुरू में 18.90 लाख हेक्टेयर कृषि भूमि पर लागू किया गया था । यह कार्यक्रम 1997–98 तक लगभग 660 लाख हेक्टेयर कृषि भूमि जो कि खाद्यानों के अधीन क्षेत्र का लगभग 61.3 प्रतिशत था, में अपनाया जा चुका था । हमारे देश में हरित क्रान्ति सम्बंधी योजना एकदम नहीं आयी है, और न ही पूरे देश में यह एक समान रूप में फैली है । वर्तमान में भी देश में कुछ ही राज्य ऐसे है, जो हरित क्रान्ति से प्रभावित हैं, जबकि अनेक राज्यों में

हरित क्रान्ति अब भी प्रवेश द्वार पर है । हरित क्रान्ति अपने स्वयं में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है जिसके माध्यम से भविष्य की सम्भावनाओं को देश में अत्यधिक बल मिला है । उन्नत किस्म के बीजों का आधुनिक वैज्ञानिक कृषि तकनीक के साथ विस्तार करने से हरित क्रान्ति ने सम्पूर्ण कृषि, क्षेत्र में महत्वपूर्ण क्रान्ति ला दी है । इसी के माध्यम से हमारे यहा व्याप्त गरीबी, भूखमरी, कुपोषण आदि समस्याओं को समाप्त करने में सहायता मिल रही है ।

देश में हरित क्रान्ति के कारण सबसे बड़ा यह फायदा हुआ कि भारतीय कृषकों द्वारा परम्परागत कृषि विधियों के स्थान पर आधुनिक कृषि तकनीकों को अपनाने हेतु प्रोत्साहन मिला । हालाँकि देश मे सभी कृषक हरित क्रान्ति की प्रगति तथा परिवर्तनों से समान रूप से लाभान्वित नहीं हुए, किन्तु फिर भी जो कृषक इससे लाभान्वित नहीं हुए वे इसकी आलोचना नहीं करते तथा अवसर प्राप्त होने पर इसे अपनाने के लिए तत्पर रहते है । छोटे कृषक अपनी वित्तीय स्थिति कमजोर होने के कारण नवीन कृषि तकनीकों को बड़े स्तर पर नहीं अपना सके हैं । नवीन तकनीक के अन्तर्गत स्थित अधिक जोखिम, संसाधनों पर सीमित नियंत्रण, संस्थागत सुविधाओं का अभाव कृषि की आधुनिक तकनीक के विकास में मुख्य समस्याएँ हैं ।

उक्त सभी बाधाओं के बावजूद हरित क्रान्ति की प्रगति के लिए तीन महत्वपूर्ण विषयों का निर्धारण किया गया है –

(i). कृषि भूमि का लगातार विस्तार;

(ii). कृषि भूमि में दोहरी फसल;

(iii). जेनेटिक रूप से उन्नत बीजों का उपयोग ।

इस कार्यक्रम का कृषि अर्थव्यवस्था पर क्या और कितना प्रभाव पड़ा है? इसका अनुमान अनेक बातों को दृष्टिगत रखते हुए लगाया जा सकता है । सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष उत्पादन से सम्बंधी तथ्य से है जो कि नीचे तालिका द्वारा स्पष्ट है । इस तालिका में नई कृषि नीति के पहले तथा बाद के आँकड़े दर्शाये गये है । जिसके माध्यम से उत्पादन वृद्धि पर इस कार्यक्रम के प्रभाव की सामान्य जानकारी प्राप्त की जा सकती है तालिका से स्पष्ट है कि अनेक फसलों का उत्पादन बढ़ा है, सर्वाधिक वृद्धि गेहूँ के उत्पादन में हुई है । इसी कारण प्राय: ऐसा कहा जाता है कि हरित क्रान्ति मुख्य रूप से 'गेहूँ की क्रान्ति' है –

तालिका - 14.1 : विभिन्न फसलों का उत्पादन (लाख टन में)

वर्ष	खाद्यान	चावल	गेहूँ	ज्वार	बाजरा	दालें
1995–96	693.4	286.5	88.7	67.4	34.5	117.1
1960–61	823.3	346.9	110.0	98.0	32.9	127.3
1965–66	723.5	305.9	103.0	75.8	37.5	99.4
1970–71	1084.2	422.3	238.5	81.1	80.3	118.2
1975–76	1210.3	487.4	228.5	95.0	57.4	130.4
1980–81	1295.9	536.3	363.1	104.3	53.4	106.3
1985–86	1504.4	638.2	470.5	102.0	36.3	133.6
1990–91	1764.0	743.0	551.0	117.0	69.0	143.0
1995–96	1804.0	770.0	621.0	93.0	93.0	123.0

2001–02 2002–03	2120.2 1742.0	933.0 727.0	728.0 651.0	75.0 71.0	83.0 46.0	134.0 111.0

Source - Economic survey, 1984–85; 2003–04

उपरोक्त तालिका से दो तथ्य स्पष्ट होते है । प्रथम तो यह कि यद्यपि अनेक फसलों का उत्पादन बढ़ा है, किन्तु जो वृद्धि प्रारम्भ में हुई भी वह आगे नहीं बनी रही । दूसरे विभिन्न फसलों का कभी–कभी उत्पादन घटता भी रहा हो गेहूँ की फसल के सम्बन्ध में यह बात लागू होती है ।

उन्नत किस्म के बीज, उर्वरक, उच्च कृषि तकनीक आदि के उपयोग से उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई है, किन्तु इसमें कमी और बढ़ोतरी होती रही है, जो कि निम्न तालिका से स्पष्ट है -

तालिका–14.2 : प्रति हेक्टेयर उपज (किलोग्राम)

फसल	1960–61	1970–71	1980–81	1990–91	2001–02
खाद्यान	710	872	1023	1380	1739
गेहूँ	851	1307	1603	2046	2770
चावल	1013	1123	1336	1740	2086

Source - Economic Survey, 2002–03.

कृषि के विकास की इस नवीन नीति अथवा हरित क्रान्ति के कारण उन्नत किस्म के बीजो, सिंचाई एवं उसके नवीन साधनों, अच्छे रासायनिक उर्वरकों की खपत, तथा नवीन कृषि प्रोद्योगिकी जिसमें कृषि उपकरणों एवं मशीनों का उपयोग आदि तेजौ से बढ़ रहा है अत: यह कहा जा सकता है कि नई नीति या हरित क्रान्ति के विभिन्न प्रभावों को देखने से स्पष्ट होता है कि भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था के कुछ क्षेत्रों में नि:संदेह बड़े भारी परिवर्तन होते दिखायी देते हैं ।

बोध प्रश्न–1

1. 'हरित क्रान्ति' किस तकनीक पर आधारित है ?

   ……………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………..

2. 1966–67 की तुलना में 1967–68 में कृषि उत्पादन में कितने प्रतिशत की वृद्धि हुई ?

   ……………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………

3. 'हरित क्रान्ति' के द्वारा खाद्यानों के तीव्र उत्पादन के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण उत्तरदायी तत्व क्या था?

   ……………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………

4. 'हरित क्रान्ति' शब्द का सर्वप्रथम उपयोग किसने किया था ?

   ……………………………………………………………………………………………

   ……………………………………………………………………………………………

14.4 हरित क्रान्ति एवं कृषि व्यूहरचना (Green Revolution and Agricultural Strategy)

भारतीय कृषि के इतिहास में तृतीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से बाद के वर्ष बहुत अधिक महत्वपूर्ण माने जाते है । एक ओर इस अवधि में कृषिगत क्षेत्र में असफलता भी देखने को मिली, तो दूसरी ओर अत्यधिक सफलता भी । भविष्य की उज्जवल आशाओं एवं सम्भावनाओं को भी इसी अवधि ने हमारे समक्ष प्रस्तुत किया । अधिक उपज देने वाले बीजो, उचित मूल्यों, उर्वरकों आदि के प्रति भारतीय कृषक आकर्षित हुआ तथा उसके द्वारा कृषि के क्षेत्र नवीन एवं सुधरी हुई विधियों को अपनाया । भूजल–संसाधनों का 1965–66 से 1967–68 की अवधि में तेजौ से विकास और उपयोग किया गया । कृषि के रूप में भी परिवर्तन दृष्टिगोचर हुआ कृषिगत ढाँचा परम्परागत जौवन–निर्वाहक कृषि से आधुनिक व्यावसायिक कृषि की ओर तेजौ से उन्मुख हुआ । अधिक अनुकूल क्षेत्रों में अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने के लिये एक सुनिश्चित नीति का प्रादुर्भाव हुआ । जिसे कृषि विकास की नयी व्यूह रचना की संज्ञा दी गई ।

खाघानों के उत्पादन में तेजौ से वृद्धि करना हरित क्रान्ति का मुख्य लक्ष्य था । इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु निम्नांकित कार्यक्रमों को कृषि व्यूह रचना के दृष्टिकोण से तेजौ से लागू किया गया –

14.4.1 रासायनिक उर्वरकों के उपयोग में तीव्र वृद्धि

रासायनिक उर्वरकों का उपयोग अधिक उपज देने वाले बीजों (HYV) पर आधारित कृषि से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए आवश्यक है । इसके उपयोग के अभाव में अधिक कृषि उत्पादन प्राप्त करना असम्भव है । भूमि पर लगातार कृषि कार्य करने से मृदा की उर्वरा शक्ति कम हो जाती है । मृदा की उर्वरा शक्ति को पुन: प्राप्त करने के लिये भूमि को पड़त के रूप में छोड़ना, कम्पोस्ट या हरी खाद तथा रासायनिक उर्वरकों की अवश्यकता होती है ।

रासायनिक उर्वरकों का उपयोग विशेष रूप से सिंचित क्षेत्रों में बहुत ही लाभकारी होता है । यहाँ पर यह तथ्य उल्लेखनीय है कि वर्तमान में भारत विश्व का तीसरा उर्वरक उत्पादक देश हो गया है । हमारे देश में उर्वरकों का उत्पादन तीन क्षेत्रों – सार्वजनिक, निजौ तथा सहकारी क्षेत्रों में होता है । रासायनिक उर्वरकों के उपयोग की मात्रा में नई कृषि नीति के फलस्वरूप अत्यधिक वृद्धि हुई है । देश में 1950–51 में रासायनिक उर्वरकों का उपयोग लगभग शून्य था, जो 1960–61 में 1. 9 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर, 1987–88 में बढ़कर 50 किलोग्राम तथा 1999 में यह और बढ़कर लगभग 74.2 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर हो गया । यदि विभिन्न राज्यों पर इस क्षेत्र में दृष्टिपात किया जाये तो विशेष रूप से पंजाब में 168 किलोग्राम, हरियाणा में 106 किलोग्राम, उत्तर प्रदेश में 89 किलोग्राम, आन्ध्र प्रदेश में 120 किलोग्राम तथा तमिलनाडु में 130 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर रासायनिक उर्वरकों का उपयोग किया जा रहा है, यहाँ पर यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि देश के कुल रासायनिक उर्वरकों के उपयोग का लगभग 51.5 प्रतिशत भाग उपरोक्त पाँच राज्यों में किया जा रहा है । दूसरी ओर सिंचित एवं असिंचित क्षेत्रों में भी उर्वरकों के उपयोग में भारी अन्तर देखने को मिलता है । सिंचित कृषि क्षेत्रों में यह मात्रा

90 से 127 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर है तो दूसरी ओर वर्षा आधारित कृषि में केवल मात्र 1.5 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर रासायनिक उर्वरकों का उपयोग किया जा रहा है । देश में 1950–51 में लगभग 69,000 टन रासायनिक उर्वरकों की खपत थी, जो 1986–87 में 92 लाख टन, 1991–92 में 120.5 लाख टन एवं 2000– 01 में बढ़कर 167 लाख टन हो गई । केन्द्र सरकार द्वारा उर्वरकों के संतुलित उपयोग के लिए एक योजना चलायी जा रही हैं, जिसका उद्देश्य संतुलित मात्रा में उर्वरकों के उपयोग को मृदा का परीक्षण करा कर बढ़ावा देना तथा शहरी कचरे के द्वारा कम्पोस्ट उर्वरक के उत्पादन को बढ़ावा देना है ।

14.4.2 अधिक उपज देने वाले उन्नत किस्म के बीजों का अधिक उपयोग (HYV)

भारत में हरित क्रान्ति का मूल आधार अधिक उपज देने वाले उन्नत किस्म के बीजों का अधिक उपयोग है । इस प्रकार के बीज अनेक गुणों से युक्त होते हैं, जिनकी फसलों का जौवन चक्र छोटा होता है, जिसके कारण बहुफसली कृषि करने का अवसर प्राप्त हो जाता है । फसलों के कम समय में उपज देने के कारण परम्परागत फसलों की तुलना में सिंचाई के लिये जल की कम आवश्यकता होती है, किन्तु प्रति इकाई क्षेत्र में अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए अधिक श्रम की आवश्यकता होती है । हमारे देश में अनेक कृषि शोध संस्थानों तथा विश्वविद्यालयों में नये–नये किस्म के उन्नत बीजों की खोज की जा रही है । अनेक फसलों पर यद्यपि अनुसंधान कार्य किये जा रहे है, किन्तु गेहूँ की फसल में सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई है । इस प्रकार की बीजों की किस्मों के साथ पर्याप्त मात्रा में सिंचाई, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशी दवाओं, नवीन कृषि उपकरणों आदि का उपयोग करने से उत्पादन में भारी वृद्धि होती है ।

अधिक उपज देने वाले उन्नत किस्म के बीजों का कार्यक्रम 1966–67 में केवल पाँच फसलों– गेहूँ मक्का, ज्वार, धान और बाजरा के लिए अपनाया गया था, उस समय इनके अधीन 18–90 लाख हेक्टेयर क्षेत्र था, वो 1970–71 में 154 लाख हेक्टेयर तथा 1998–99 में बढ़कर 760 लाख हेक्टेयर हो गया । कुल क्षेत्र का यह खाद्यानों के अधीन 40 प्रतिशत क्षेत्र था । सर्वाधिक सफलता इन सभी फसलों में गेहूँ को प्राप्त हुयी । 1970–71 में गेहूँ का उत्पादन 23.8 मिलियन टन था, जो 1980–81 में बढ़कर 36.3 मिलियन टन तथा 1990–91 में 55.1 मिलियन टन और 1999– 2000 में उत्पादन 75.6 मिलियन टन हो गया । स्पष्ट है कि भारत में अधिक उपज देने वाले बीजों की गुणवत्ता को सुनिश्चित करने तथा उनके प्रसार के लिए उचित प्रबन्ध किये गये हे ।

14.4.3 सिंचाई व्यवस्था का विकास

सिंचाई को भी वर्तमान में हरित क्रान्ति के आधार तत्वों में सम्मिलित किया जाता है, क्योंकि इसी पर अन्य सभी तत्व निर्भर करते है । देश में सिंचाई के लिए वृहत, मध्यम एवं लघु सिंचाई परियोजनाओं का विकास महत्वपूर्ण रूप से किया जा रहा है । विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत हजारों सिंचाई परियोजनाऐं विकसित की जा रही है । 10वी पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ में 159 वृहत् तथा 242 मध्यम सिंचाई परियोजनाओं पर कार्य प्रारम्भ किया

गया । क्षेत्रों में सिंचाई का लाभ प्रदान करने के लिये हरित क्रान्ति के अन्तर्गत अन्य उपायों में उचित जल प्रबंध प्रणालियां, कम अथवा सूखा प्रभावित क्षेत्रों में फव्वारा एवं ड्रिप सिंचाई प्रणालियों का विकास, भूमिगत जल का बेहतर उपयोग एवं जल प्रबन्धन में कृषकों की सहभागिता आदि प्रमुख योजनाऐं विकसित करना शामिल है ।

14.4.4 पौध–संरक्षण

कृषि फसलों पर विभिन्न रोगों एवं कीटों का प्रकोप धीरे–धीरे बढ़ रहा है, जिसके कारण फसल उत्पादन में हानि होती है । कृषि फसलों की कीड़ों से रक्षा तथा फसलों पर कीटनाशी दवाओं का हरित क्रान्ति योजना के अन्तर्गत प्रारम्भ किया गया । ऐसा अनुमान है कि हमारे देश में लगभग 10 प्रतिशत फसल संरक्षण के अभाव में नष्ट हो जाती है । परम्परागत कृषि कार्य करने के कारण 1950–51 में भारत में मात्र 100 टन कीटनाशी दवाओं का उपयोग किया गया था, जबकि अधिक उपज देने वाले उन्नत किस्म के बीजों का उपयोग बढ़ने के कारण 1995–96 में 76350 टन कीटनाशी दवाओं का उपयोग किया गया । कृषि कार्यो में हमारे देश में उपयोग में ली जाने वाली इन कीटनाशी दवाओं का आधे से अधिक भाग पंजाब, हरियाणा, आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु आदि राज्यों में किया जाता हे ।

14.4.5 आधुनिक कृषि तकनीक एवं उपकरण

हरित क्रान्ति के लिए आधुनिक कृषि तकनीक एवं नवीन कृषि उपकरणों का उपयोग बहुत आवश्यक है । इनके अन्तर्गत ट्रेक्टर, थ्रेशर, हारवेस्टर, स्प्रेयर, नलकूप, पम्पिंग सेट, क्रेशर, ग्राइन्डर, चारा कटाई मशीनें, ब्रीज व खाद डालने वाली ड्रिल, पौध संरक्षण उपकरण, ट्राली आदि मुख्य है । इनके माध्यम से कृषि कार्य में श्रम, ऊर्जा, समय आदि की बचत होती है तथा कृषि सम्बंधी समस्त कार्य समय पर सम्पन्न होते हैं । सरकार द्वारा इनके अधिकाधिक उपयोग हेतु कृषकों को प्रशिक्षण, जानकारी तथा वित्तीय सहायता आदि उपलब्ध करायी जा रही है । इनके उपयोग के कारण कृषि के क्षेत्र में उत्पादन के दृष्टिकोण से गुणात्मक एवं मात्रात्मक सुधार हुए हैं । कृषि सम्बन्धी कार्यो में आधुनिक कृषि यंत्रों के उपयोग के कारण दक्षता बढ़ी है ।

14.4.6 बहुफसली कार्यक्रम

एक निश्चित इकाई क्षेत्र में इस कार्यक्रम के अन्तर्गत एक वर्ष में एक से अधिक फसलों को उत्पन्न किया जाता है । इस कार्यक्रम के कारण भी कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है । इस कार्यक्रम के अन्तर्गत कम समय की फसलें उसी खेत से एक ही वर्ष में दो या तीन प्राप्त कर ली जाती है । फसलों के उत्पादन में वर्ष में भूमि का उपयोग जितनी अधिक बार होता है, कृषि गहनता की मात्रा उतनी ही अधिक हो जाती है, तथा उतना ही अधिक कुल वार्षिक उत्पादन भी प्राप्त होता है।

14.4.7 कृषि हेतु ऋण की व्यवस्था

हरित क्रान्ति की पूर्ण सफलता के लिए भारत जैसे गरीब देश में कृषकों के लिए आधुनिक कृषि उपकरणों, सिंचाई उपकरणों, अच्छे बीज एवं उर्वरकों को क्रय करने के लिए सरकार ने विभिन्न बैंकों एवं एजेन्सियों के माध्यम से ऋण उपलब्ध करवाने की व्यवस्था की गई है । इस प्रकार का ऋण सस्ती दरों एवं आसान शर्तो पर उपलब्ध कराया गया है ।

14.4.8 भूमि का परीक्षण एवं मृदा का संरक्षण

कृषि विकास की नयी रणनीति के अन्तर्गत हमारे देश में भूमि परीक्षण कार्यक्रम भी चलाया गया । मृदा के नमूने लेकर उसकी उर्वरा शक्ति के परीक्षण के लिए सरकारी प्रयोगशालाओं में भेजा जाता है तथा इसी के आधार पर कृषकों को उन्नत बीजों तथा रासायनिक उर्वरकों के उपयोग की सलाह दी जाती है साथ ही मृदा संरक्षण के लिए दो बातों पर विशेष ध्यान दिया गया । प्रथम कार्यक्रम के रूप में देश की उबड़—खाबड़ भूमि को समतल करके उसे कृषि योग्य बनाना तथा द्वितीय पर्वतीय क्षेत्रों, नदियों के किनारों, मैदानों, पठारों, रेगिस्तानों, समुद्रतटीय क्षेत्रों आदि में मृदा के अपरदन को रोककर उसका संरक्षण करना ।

14.4.9 यातायात व्यवस्था, बाजार एवं भण्डारण की व्यवस्था

इस प्रकार की कृषि सम्बंधी कार्यक्रम की सफलता के लिए यातायात, बाजार एवं भण्डारण की उचित व्यवस्था बहुत महत्वपूर्ण होती है । जिन क्षेत्रों में यातायात के साधनों की उचित व्यवस्था होती है, कृषि उत्पादों को कम समय में विपणन अथवा भण्डारण केन्द्र तक ले जाने की सुविधा होती है । वहाँ पर शीघ्र नष्ट होने वाली उपजें जैसे – शाक—सब्जी, फल, दुग्ध पदार्थ आदि को उत्पन्न करने में कठिनाई नहीं होती है, साथ ही कृषि उत्पादों, उपकरणों आदि को परिवहन की सुविधा होने पर लाने ले जाने में भी सुविधा रहती है । कृषि मंडियों तथा भण्डारण की उचित व्यवस्था होने पर कृषकों को उचित लाभ प्राप्त होता है ।

14.4.10 ग्रामीण क्षेत्रों में विघुतीकरण

ग्रामीण क्षेत्रों में विद्युतीकरण की विभिन्न योजनाऐं वहाँ कृषि विकास को और अधिक गति देने के लिए प्रारम्भ की गयी हैं । 1969 में ग्रामीण विद्युतीकरण निगम की स्थापना इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए की गयी । हमारे देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के समय केवल 1300 गाँव ही विद्युतीकृत थे, जबकि 1987 में यह संख्या बढ़कर 4,02,647, 1996 में 5,00,931 तथा वर्ष 2002 तक 5,08,863 गाँवों में विद्युतीकरण किया जा चुका था ।

14.4.11 कृषि उत्पादों का उचित मूल्य

नई कृषि नीति का एक महत्वपूर्ण अंग कृषकों को कृषि उत्पादों के उचित मूल्य की गारंटी देना है । सरकार द्वारा समय—समय पर कृषि उत्पादों के खरीद मूल्य में वृद्धि करती रहती है, जिससे न केवल कृषकों को उत्पादन बढ़ाने की प्रेरणा मिलती है, बल्कि सरकार की ओर से कृषक को मूल्य में अनुचित गिरावट की दशा में सुरक्षा प्रदान की जाती है ।

14.4.12 नवीन कृषि तकनीकों की जानकारी एवं प्रशिक्षण व्यवस्था

इस कार्यक्रम के सफल संचालन के लिए आवश्यक है कि कृषकों को समय–समय पर कृषि सम्बन्धी नवीन तकनीकों की जानकारी एवं मार्गदर्शन प्राप्त होता रहें । नवीन किस्म के बीजों, नये कृषि यंत्रों, नयी कृषि तकनीकों आदि की जानकारी प्रदान की जाती है । कृषि कार्य में सुधार लाने से कृषकों को अधिक लाभ की प्राप्ति होती है ।

14.5 हरित क्रान्ति एवं उपलब्धियों (Green Revolution and Achievements)

हमारे देश में हरित क्रान्ति का प्रारम्भ 1966–67 में हुआ था । इसके द्वारा कृषि उत्पादन के क्षेत्र में अत्यधिक लाभ की प्राप्ति हुई । इस योजना के माध्यम से न केवल देश ने खाद्यानों की उत्पादकता की दृष्टि से आत्मनिर्भरता प्राप्त की बल्कि भूखमरी, कुपोषण जैसी समस्याओं को कम करने में भी सहायता मिली । इसी के कारण कृषकों की आय मे वृद्धि हुई तथा उनके जौवन स्तर में भी सुधार हुआ । हरित क्रान्ति की उपलब्धियाँ निमानुसार हैं –

14.5.1 कृषि उत्पाद एवं उपज की मात्रा में वृद्धि

हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप कृषि फसलों के उत्पादन एवं उपज में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई । यद्यपि इसके कारण सभी फसलों के उत्पादन में वृद्धि दृष्टिगत हुई, किन्तु विशेषरूप से गेहूँ के उत्पादन में सर्वाधिक वृद्धि देखी गई । 1960–61 में खाद्यान्नों का प्रति हेक्टेयर उपज 710 किलोग्राम था जो बढ़कर 2001–02 में 1739 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर हो गया ।

तालिका–14.3 : विभिन्न फसलों के अन्तर्गत उपज (किग्रा/हेक्टेयर)

फसल	1960–61	1980–81	2001–02
खाद्यान	710	1023	1739
गेहूँ	851	1630	2770
चावल	1013	1336	2086
मक्का	926	1159	2018
बाजरा	286	458	875
दालें	539	473	609

खाद्यानों के अन्तर्गत गेहूँ के साथ ही चावल तथा मक्का की उपज में भी महत्वपूर्ण वृद्धि दर्ज की गयी किन्तु दालों की उपज में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई । यद्यपि हरित क्रान्ति के आरम्भिक काल में वाणिज्यिक फसले जैसे तिलहन, कपास, गन्ना आदि की उपज लगभग अप्रभावित रही किन्तु 1990 के पश्चात् इनके उत्पादन में भी उल्लेखनीय प्रगति देखने को मिली । इसी प्रकार बागाती फसलों विशेषरूप से चाय, काफी, रबड़ आदि की उपज में भी विशेष वृद्धि हुई । वर्ष 1965–66 में हरित क्रान्ति से पूर्व देश का कुल खाद्यान उत्पादन 724 लाख टन था, जो 1999– 2000 में बढ़कर 2098 लाख टन हो गया ।

14.5.2 कृषिगत क्षेत्र में वृद्धि

हरित क्रान्ति की सफलता का अनुमान कृषि क्षेत्र में हुई वृद्धि से भी लगाया जा सकता है । अधिक उपज देने वाली फसलों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है । इस प्रकार की फसलों के अन्तर्गत 1966–67 मे जहाँ केवल मात्र 19 लाख हेक्टेयर भूमि थी, जो 1995–96 में बढ़कर 750 लाख हेक्टेयर हो गई ।

14.5.3 खाद्यानों के आयात में कमी

हरित क्रान्ति के कारण अनाजों के उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हुई जिसके कारण विदेशों से अनाजों के आयात में बहुत कमी आई है । वर्तमान में उत्पादन की अधिकता के कारण अनाजों का आयात नहीं करके अन्य देशों को इनका निर्यात कर रहे हैं । अनाजों का आयात बन्द होने से प्रतिवर्ष देश की विदेशी मुद्रा की बचत हुई । केन्द्रीय पूल से 2001–02 में 38.22 लाख टन गेहूँ तथा 19.87 लाख टन चावल विदशों को निर्यात किया गया ।

14.5.4 कृषि में आधुनिक प्रोद्योगिकी का उपयोग

इस प्रकार के कार्यक्रम में सफलता तभी प्राप्त होती है, जबकि कृषि के क्षेत्र में आधुनिक प्रोद्योगिकी जैसे सिंचाई के नवीन साधनों, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशी दवाओं, आधुनिक कृषि उपकरणों का उपयोग किया जाये । देश में हरित क्रान्ति के कारण इन सभी आधुनिक तकनीकों का कृषि क्रिया–कलापों में उपयोग किया जा रहा है, जिसके कारण खाद्यानों के उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है ।

14.5.5 रोजगार के अवसरों में वृद्धि

उन्नत बीजों पर आधारित कृषि में एकमुश्त कई कार्यक्रमों का निवेश होता है जिसके अन्तर्गत जुताई, गुडाई, निराई, सिंचाई, उर्वरकों एवं कीटनाशी दवाओं का छिड़काव, कटाई आदि विभिन्न कार्य किये जाते हैं । गहन कृषि के अन्तर्गत इस प्रकार के कार्य वर्ष भर चालू रहते हैं अत: इन कार्यो के विकास के कारण रोजगार के अवसरों में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है ।

14.5.6 परम्परागत कृषि ढाँचे में परिवर्तन

हरित क्रान्ति द्वारा देश के कृषि व्यवसाय में पूर्व में जो अंधविश्वास व्याप्त था, उसे दूर करने में आशातीत सफलता प्राप्त हुई है । कृषक पूर्व में अशिक्षा, पिछड़ेपन, अंधविश्वास आदि कारणों से खेती में परम्परागत विधियों का उपयोग करते थें, किन्तु हरित क्रान्ति के कारण उनकी सोच में बदलाव आया है, जिसके कारण वे आधुनिक विधियों का उपयोग कर रहे हैं, तथा उसका आत्म विश्वास भी बढ़ा है ।

14.5.7 औद्योगिक विकास को गति

हरित क्रान्ति के कारण कृषि सम्बंधी क्रिया–कलापों में कृषि यंत्रों तथा मशीनों का अधिक उपयोग होने के कारण इनकी माँग में वृद्धि हुई, जिसके कारण ट्रेक्टर, हारवेस्टर, थ्रेसर, डीजल

इजंन, कम्बाइन, पम्पिंग सेट, विद्युत मोटर तथा अन्य उपकरणों का निर्माण करने वाली औद्योगिक इकाईयों का विस्तार हुआ है जिससे इनका उत्पादन बढ़ने के साथ ही लोगों को रोजगार के अवसर भी प्राप्त हुए। साथ ही कृषि आधारित उद्योगों का भी हरित क्रान्ति के कारण विस्तार हुआ है।

14.5.8 कृषकों की एवं राष्ट्रीय आय में वृद्धि

कृषकों की आय में हरित क्रान्ति के फलस्वरूप वृद्धि हुई, किन्तु यह आय का वितरण एक समान नहीं था। जिन कृषकों द्वारा नवाचारों अथवा नवीन तकनीकों को निःसंकोच अपनाया गया उनकी आय में तीव्र वृद्धि हुई, किन्तु जिन कृषकों द्वारा पुरातनपंथी, अप्रगतिशील विचारों का त्याग नहीं किया गया वे अब भी आर्थिक दृष्टि से पिछड़े है।

देश की राष्ट्रीय आय का कृषि एक प्रमुख स्त्रोत है। कृषि अर्थव्यवस्था में नई नीति अथवा हरित क्रान्ति के कारण निःसंदेह अत्यधिक परिवर्तन हुआ है। कृषि फसलों के उत्पादन एवं उपज में वृद्धि हे परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि है।

बोध प्रश्न–2

.1 हरित क्रान्ति का मुख्य लक्ष्य क्या था ?

....

....

2. रासायनिक उर्वरकों का प्रति हेक्टेयर किस राज्य में सर्वाधिक उपयोग होता है ?

....

....

3. देश में कितने प्रतिशत फसल संरक्षण के अभाव में नष्ट हो जाती है ?

....

....

4. एक वर्ष में एक से अधिक फसलों को उत्पन्न करने के कार्यक्रम को क्या कहते हैं ?

....

....

5. स्वतंत्रता प्राप्ति के समय देश में कितने गाँव विद्युतीकृत थे ?

....

....

6. देश में हरित क्रान्ति कब प्रारम्भ हुई ?

....

....

14.6 हरित क्रान्ति एवं असमानताऐं (Green Revolution and Inequalities)

हरित क्रान्ति के कारण देश ने हालांकि अनेक आर्थिक उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं, किन्तु यह विवाद का मे विषय बना हुआ है । इसके द्वारा प्राप्त उपलब्धियाँ अनेक कमियों से युक्त हैं, जिनके कारण अनेक कठिनाइयाँ तथा असमानतऐ उत्पन्न हुई हैं । गेहूँ, मक्का, ज्वार, धान आदि कुछ ही फसलों तक हरित क्रान्ति का प्रभाव सीमित रहा है । इस क्रान्ति के कारण से अनेक फसलें अछूती ही रह गई हैं । कुछ निश्चित स्थानों, कुछ फसलों एवं कुछ सम्पन्न कृषकों तक ही हरित क्रान्ति का प्रभाव सीमित रहा है । गेहूँ की फसल के अतिरिक्त अन्य फसलों में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं रही है । देश में सिंचाई एवं रासायनिक उर्वरकों की अपर्याप्त व्यवस्था ही हरित क्रान्ति के कुछ स्थानों तक सीमित रहने के लिए प्रमुख उत्तरदायी कारक हैं ।

देश में प्रादेशिक असमानता को हरित क्रान्ति ने बहुत अधिक बढ़ाया है । इसके द्वारा देश के बहुत कम क्षेत्र लाभान्वित हुए हैं । इसका मुख्य कारण यह है कि हरित क्रान्ति अधिक उपज देने वाले बीजों पर आधारित है, जबकि इसकी सफलता के लिए आवश्यक है कि सिंचाई के लिए पर्याप्त जल की आपूर्ति की उपलब्धता सुनिश्चित हो किन्तु हमारे देश में सिंचाई की सुविधा बहुत कम क्षेत्रों में उपलब्ध है । इस प्रकार के क्षेत्र मुख्य रूप से सिंधु, गंगा, कावेरी, गोदावरी, आदि नदियों के बेसिन में है जो कि पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश, महाराष्ट्र व गुजरात राज्यों के कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित है । यही कारण है कि इन राज्यों को ही हरित क्रान्ति का लाभ अधिक प्राप्त हुआ है । कृषि आय में भी इन राज्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई है, जबकि अन्य राज्यों में ऐसा नहीं हुआ है । देश का लगभग दो–तिहाई भाग वर्तमान में भी सिंचाई सम्बंधी सुविधाओं से वंचित है । यही कारण है कि उन क्षेत्रों में हरित क्रान्ति का प्रभाव असंतोषजनक रहा है ।

कृषकों की सामाजिक–आर्थिक व्यवस्था पर भी हरित क्रान्ति ने बड़ा प्रतिकूल प्रभाव डाला है । इसके कारण छोटे–बडे.कृषकों के मध्य असमानता में वृद्धि हुई है । देश में हरित क्रान्ति से पूर्व भूमि सुधार कार्यक्रम चलाया जा रहा था, किन्तु बड़े कृषक हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप राजनीतिक दृष्टि से सबल हो गये तथा उनके द्वारा भूमि सुधार कार्यक्रमों में बाधा डाली जाने लगी ।, इसका परिणाम यह हुआ कि बडे कृषकों का हरित क्रान्ति से मिलने वाली सुविधाओं का लाभ अधिक प्राप्त हुआ। उनके द्वारा अच्छे बीजों, रासायनिक उर्वरकों, पम्प सेटों, ट्रेक्टर आदि सुविधाओं का लाभ उठाया गया । छोटे कृषकों के पास न तो इन सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए वित्तीय प्रबन्ध था और न ही उनके पास आवश्यक जानकारी थी । यही कारण है कि छोटे कृषकों को हरित क्रान्ति का लाभ बहुत कम मात्रा में प्राप्त हुआ। इसके कारण छोटे और बड़े कृषकों के मध्य अन्र्तवर्गीय असमानताओं को बढ़ावा मिला । अधिक विकसित एवं अधिक सम्पन्न क्षेत्रों पर इस नीति में अधिक ध्यान दिया गया जबकि आवश्यकता इस बात की थी कि पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान आदि सूखे से प्रभावित व अकालग्रस्त क्षेत्रों पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता थी।

कोई संदेह नहीं है कि हरित क्रान्ति ने देश में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक आदि तनावों को जन्म दिया है । ग्रामीण क्षेत्रों में एक नया धनाढ्य वर्ग उत्पन्न हो गया है, जिसकी स्थिति खेतिहर मजदूरों, छोटे कृषकों व अन्य काश्तकारों से काफी अच्छी है । कृषिगत संसार दो भागों में विभक्त हो गया है—एक परम्परागत पद्धति का पोषक है तो द्वितीय आधुनिक अथवा नवीन पद्धति का । जिसके कारण नए वर्ग भेद ने जन्म लिया है । सामाजिक असंतोष एवं आर्थिक असमानता का वातावरण उत्पन्न हो गया है, जिसके कारण भविष्य में विकास के लिए अनेक प्रकार की समस्याऐं उत्पन्न हो गई है । विश्व बैंक के निर्देशन में तैयार की गई रिपोर्ट में इस बात को स्वीकार किया गया है कि भारत में अधिक उपज देने वाली फसलों की किस्मों के कार्यक्रम से प्रादेशिक असमानताऐं काफी बड़ी है और इस का लाभ खेतिहर मजदूर वर्ग को बहुत कम मात्रा में मिल पाया है ।

14.7 नवीन प्रोद्योगिकी की समस्याऐ एवं समाधान (Problems and Solutions of New Technology)

नवीन प्रोद्योगिकी का अधिक फसलों तक विस्तार न हो सकने मे अनेक कारकों का योगदान रहा है । प्रथम तो कार्यक्रम के प्रारम्भिक वर्षो में विशेषत : छठे दशक के पूर्वार्द्ध में देश में अनाज की बहुत कमी थी । 1961 में अनाज के आयात की मात्रा 35 लाख टन थी, जो 1966 में बढ़कर 103 लाख टन हो गयी थी । हरित क्रान्ति अनाज के सम्बन्ध में भी गेहूँ की फसल के साथ ही प्रमुख रूप से जुड़ी है । नयी तकनीक इस प्रकार की है कि इसके लिए पर्याप्त एवं स्थायी जल स्त्रोत भी आवश्यक है । जिससे कि उर्वरकों की अधिक मात्रा उपयोग में लायी जा सके । देश के अधिकांश भाग इस दृष्टि से उपयुक्त नहीं हैं । इन क्षेत्रों में पर्याप्त मात्रा में एवं स्थायी रूप से जल सुविधा उपलब्ध नहीं है, इसी कारण नयी तकनीक इन क्षेत्रों में नहीं अपनायी जा सकी है । सिंचाई और रासायनिक उर्वरकों के प्रति सरकार की नीति पर्याप्त एवं अधिक स्पष्ट नहीं है सरकारी नीतियों का झुकाव अधिकांशत: बड़ी सिंचाई परियोजनाओ की ओर रहा है जिसके कारण कुछ सीमित क्षेत्रों को ही लाभ मिला है । किन्तु अधिकांश कृषि क्षेत्रों को जिन्हें छोटी सिंचाई परियोजनाओं जैसे तालाब, कुऐं, नल्कूप आदि से सहायता प्राप्त हो सकती थी, उन्हें पर्याप्त मात्रा में सुविधाऐं उपलब्ध नहीं कराई जा सकीं । नई तकनीक के रूप में इसी प्रकार रासायनिक उर्वरकों के सम्बन्ध में सरकारी नीति उत्पादन में अधिक वृद्धि लाने की नहीं रही है, विशेष रूप से प्रारम्भिक वर्षो में । पीरणामस्वरूप नई तकनीक से सिंचित क्षेत्र भी पूरा लाभ नहीं उठा सकें ।

नई तकनीक से छोटे कृषकों की तुलना में बड़े कृषकों ने ही अधिक लाभ उठाया है । इसके पीछे भी अनेक कारण है । नई आधुनिक खेती की तकनीक न केवल महंगी है, बल्कि जोखिम पूर्ण भी है । आधुनिक कृषि सम्बंधी साधनों से परिणाम तो बहुत अच्छे प्राप्त होते है, किन्तु ऐसा तब ही संभव है जबकि अधिकतम मात्रा में और सही समय पर इनका उपयोग किया जाये । केवल बड़े कृषक ही ऐसा कर सकते हैं । इनके द्वारा भारी लागत का बोझ भी उठाया जा सकता है और ये आवश्यक वैज्ञानिक जानकारी भी प्राप्त कर सकते है । साधनहीन छोटे कृषकों

के लिए ऐसा कर पाना कठिन कार्य है क्योंकि न तो उनके पास अपने स्वयं के साधन है और न ही इन्हें संस्थागत वित्त की सुविधाऐं उपलब्ध है ।

नवीन तकनीक महंगी ही नही अपितु जोखिम से भरी हुई भी है । नये समुन्नत प्रकार के बीज इस प्रकार के हैं कि जल की अधिकता अथवा कमी होने की दशा में ये खराब हो जाते है । देश में सूखा अथवा बाढ़ के कारण ऐसी स्थिति साधारणत : पैदा होती रहती है । इसके अतिरिक्त कीटों और अनेक बीमारियों के कारण भी फसलों को हानि पहुँच सकती है, जिन पर अभी नियंत्रण नही किया जा सका है । छोटे कृषक इस प्रकार का जोखिम उठाने में असमर्थ है । इसी कारण वे परम्परागत खेती करना ही पसंद करते है, क्योंकि उसमें जोखिम कम होता है ।

नई तकनीक के विस्तार के लिये आवश्यक है कि इस कार्यक्रम का चावल एवं अन्य फसलों की कृषि में शीघ्र से शीघ्र विस्तार किया जायें । यदि गेहूँ की फसल के समान चावल की खेती में भी हरित क्रान्ति आई होती तो देश खाद्यानों के संदर्भ में अब तक स्थायी रूप से आत्म निर्भरता की स्थिति में पहुँच चुका होता । ध्यान देने योग्य तथ्य है कि देश में पूर्वी, दक्षिण तथा दक्षिण– पश्चिमी भागों में निवास करने वाले लोगों का चावल ही मुख्य खाद्यान है चावल के अतिरिक्त दालें. कपास, तिलहन, गन्ना, पटसन आदि महत्वपूर्ण फसलों के सम्बन्ध में भी उत्पादन वृद्धि पर्याप्त नहीं रही है अत : इन फसलों को भी अधिकाधिक रूप में हरित क्रान्ति के प्रभाव क्षेत्र में सम्मिलित किया जाना आवश्यक है । देश के अधिक भागों में कृषिगत साधनों विशेष रूप से सिंचाई सम्बंधी सुविधाओं का विस्तार किया जाना आवश्यक है ताकि अधिक उपज प्रदान करने वाली किस्मों से अधिकाधिक लाभ की प्राप्ति संभव हो सकें । इसके अतिरिक्त परिवहन, विद्युत आदि आधारभूत सुविधाओं का भी समुचित प्रबंध सुनिश्चित किया जाना आवश्यक है । इसी प्रकार जल की कम उपलब्धता को दृष्टिगत रखते हुए सूखे क्षेत्रों में हरित क्रान्ति लाने के लिए ऐसी कृषि तकनीक का प्रतिपादन करना होगा जिसके उपयोग के लिये जल की अधिक मात्रा अपेक्षित न हों । हरित क्रान्ति को केवल जैविक क्रान्ति तक सीमित नहीं रखकर इसके लाभों को सभी के मध्य बाँटा जाये, विशेषकर छोटे कृषकों के मध्य जो कृषिगत क्षेत्र के अधिक भाग पर कार्य करते है । इस हेतु प्रथमत : भूमि सुधार कार्यक्रम को शीघ्र तथा पूरी तरह लागू किया जायें, द्वितीय छोटे कृषकों को अच्छे बीज, उर्वरक आदि कृषि सम्बंधी आवश्क वस्तुऐं क्रय करने के लिए उदार शती पर ऋण सुविधा उपलब्ध करवायी जाये, तृतीय साधारण कृषि यंत्रों की खरीद के लिए उचित व्यवस्था तथा बड़े कृषि यंत्र सरकार द्वारा किराये पर दिये जाने की व्यवस्था की जायें, चतुर्थ बहुत छोटी आकार की जोतो के किसानों को सहकारी खेती का सहारा लेने के लिये प्रोत्साहित किया जाये ।

हरित क्रान्ति के लाभ जब तक समस्त कृषकों तक पहुँचाने के लिए यथोचित प्रबंध नहीं किया जाता तब तक चाहे इससे खाद्यान संकट को दूर करने में कुछ मदद मिले किन्तु इस क्रान्ति से कृषि क्षेत्र में असमानताऐं और बढ़ेगी तथा छोटे कृषकों की दशा और खराब होगी । निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि सीमित क्षेत्र में हरित क्रान्ति को जो सफलता प्राप्त हुई है । उससे इसकी क्षमता का स्पष्ट परिचय मिलता है । आवश्यक है कि हरित क्रान्ति का क्षेत्र कुछ

सीमित भाग तक ही सिमटा नहीं रहे बल्कि अधिकांश भाग में फैलकर यह देश के लोगों एवं यहाँ की भूमि का हरा भरा कर सकें ।

14.8 हरित क्रान्ति एवं पर्यावरणीय समस्याऐं (Green Revolution Environmental Problems)

जहाँ एक ओर खाद्यानों के उत्पादन में हरित क्रान्ति के कारण तीव्र वृद्धि हुई वहीं दूसरी ओर इसके आधार रहे अधिक उपज देने वाले बीजों, सिंचाई, रासायनिक उर्वरक, कीटनाशी दवाऐं आदि के उपयोग के कारण अनेक पर्यावरणीय समस्याऐं भी उत्पन्न हुई है, जो निम्नानुसार हैं–

14.8.1 विभिन्न प्रकार की फसल किस्मों का समाप्त होना

अधिक उपज प्रदान करने वाले समुन्नत बीजों पर हरित क्रान्ति मुख्य रूप से आधारित है । इनके उपयोग के कारण उत्पादन में अधिक वृद्धि होती है । इस प्रकार के बीज की किस्मों को कृषक लालच में आकर अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिये अपनाता हैं जबकि परम्परागत अन्य फसलें जिनकी उपज क्षमता कम होती है । कृषकों द्वारा नहीं अपनाये जाने के कारण उनकी किस्म शीघ्रता से लुप्त होती जा रही है । संकर किस्मों की कृषि सिंचित क्षेत्रों में अधिक होने के कारण अन्य किस्मों के लुप्त होने की गति अत्यन्त तीव्र है । हमारे देश में पूर्व में विभिन्न फसलों की हजारों किस्में बोयी जाती थी, किन्तु धीरे–धीरे वे विलुप्त होती जा रही हैं । प्राचीन फसल किस्में सामान्यत: रोग रोधी होती हैं जबकि संकर अथवा समुन्नत बीजों में रोग–रोधी क्षमता की कमी के कारण वे पीढ़ी दर पीढ़ी टिक पाने में असमर्थ है अत : फसलों की विविधता एवं उनका संरक्षण इस प्रकार की दशा में अपरिहार्य है ।

14.8.2 पर्यावरण पर सिंचाई के विभिन्न साधनों का प्रभाव

नवीन कृषि कार्यक्रम की सफलता के लिए सिंचाई के साधनों का विकास होना आवश्यक है । देश में सिंचाई, जल विद्युत उत्पादन तथा अन्य कई उद्देश्यों को दृष्टिगत रखते हुए अनेक बहुउद्देशीय योजनाओं का क्रियान्वयन किया गया । नदियों पर बाँध एवं जलाशयों का निर्माण नहरों के निर्माण के लिये किया गया । इन सबके कारण अनेक पर्यावरणीय समस्याओं का जन्म हुआ है । वृहत् क्षेत्रों में जलाशयों के निर्माण के कारण वन्य जौवों का विनाश हुआ तथा वहाँ रहने वाले लोगों का विस्थापन हुआ । कृषि भूमि का बड़ा भाग इनके कारण जलमग्र हो गया तथा भूकम्प आने की संभावनाऐं बढ़ गई। इसी प्रकार जल जनित रोगों में वृद्धि, प्राकृतिक जल प्रवाह में नहरों के जाल से अवरोध, लवणता में वृद्धि, ऊसर भूमि में बढ़ोतरी, दलदल भूमि के कारण कृषि भूमि में कमी अनेक पर्यावरणीय समस्याओं ने जन्म लिया है ।

14.8.3 पर्यावरण पर रासायनिक उर्वरकों का प्रभाव

फसल की नई किस्मों के साथ फसल उत्पादन के लिए रासायनिक उर्वरकों का उपयोग करना अत्यावश्यक है । इसी कारण उर्वरकों के उपयोग में तीव्र गति से वृद्धि हुई तथा कृषि उत्पादन भी बढ़ा है । उर्वरकों का अधिक उपयोग करने के कारण अनेक सूक्ष्म पोषक तत्व जो मृदा में पाये जाते हैं, जैसे – मैगनीज, तांबा, मेग्रीशियम, मोलिब्डेनम, बोरान आदि की मात्रा कम होती

जाती है जिसके कारण भूमि के ऊसर या जहरीला होने का खतरा बढ़ जाता है । इन तत्वों की कमी होने से फसलों में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं जिससे फसलों की वृद्धि तथा उपज कम हो जाती है ।

14.8.4 पर्यावरण पर कीटनाशी दवाओं का प्रभाव

संकर अथवा समुन्नत बीजों पर आधारित फसलों में रोग प्रतिरोधक क्षमता कम पायी जाती है । इसी कारण उनकी सुरक्षा के दृष्टिकोण से कीटनाशी दवाओं का उपयोग किया जाता है, तथा इनका उपयोग लगातार बढ़ता ही जा रहा है । हमारे देश में लगभग 40 प्रकार की कीटनाशी दवाओं का उपयोग किया जाता है, तथा ये जल्दी नष्ट नहीं होती है । कीट नियंत्रण के उपयोग में इनकी मात्रा का केवल एक प्रतिशत भाग ही आता है जबकि शेष भाग पर्यावरण में मिल जाता है जो विभिन्न खाद्यानों, सब्जियों, दूध, मछली, अण्डा, फलों आदि के माध्यम से शरीर में प्रविष्ट होते रहते हैं । जिनके कारण शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते है । इनका व्यापक दुष्प्रभाव सभी प्रकार के जौवधारियों पर पड़ रहा है । ये कीटनाशी दवायें केवल फसलों को हानि पहुँचाने वाले कीटों को ही नहीं मारती है बल्कि इनसे ऐसे कीट भी मर जाते हैं, जो फसलों के लिये उपयोगी होते हैं ।

14.9 श्वेत क्रान्ति (White Revolution)

भारत में कृषि क्रिया–कलाप एवं पशुपालन एक दूसरे के अभिन्न अंग है, और रहे भी है । यदि कृषि का विकास होगा तो पशुपालन का भी विकास होगा । दुग्ध उत्पादन में देश में क्रान्तिकारी वृद्धि लाने के प्रयास को ही 'श्वेत क्रान्ति' (White Revolution) नाम दिया गया है । श्वेत क्रान्ति का दुग्ध उत्पादन के संदर्भ में उसी प्रकार का महत्व हैं, जो कि कृषि उत्पादन के संदर्भ में 'हरित क्रान्ति' का है । पशुओं के प्रजनन तथा संसाधनों की आधुनिकतम तकनीकी पर श्वेत–क्रान्ति आधारित है । ग्राम सहकारिता संगठन को इस कार्यक्रम कीं सफलता का श्रेय जाता है । देश में 1964–65 में 'सघन पशु विकास कार्यक्रम ' (Intensive Cattle Development Programme) चलाया गया । जिसके अन्तर्गत 'श्वेत क्रान्ति' के लिये पशु पालकों को पशुपालन सम्बंधी सुधरे उपायों का पैकेज दिया गया । 'श्वेत क्रान्ति' की गति और तेज करने के लिए बाद में 'आपरेशन फ्लड' (Operation Flood) आरम्भ किया गया ।

डॉ. वर्गीज कुरियन 'आपरेशन फ्लड' के मुख्य सूत्रधार है । जिन्हें इस योजना के क्रियान्वयन एवं सफलता का पूरा श्रेय दिया जाता है । विश्व का सबसे बड़ा समन्वित डेयरी विकास कार्यक्रम ' आपरेशन फ्लड' कार्यक्रम है । जिसे राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड ने 1970 में प्रारम्भ किया था । तीन चरण 'आपरेशन फ्लड' के अब तक पूर्ण हो चुके है । जिनके माध्यम से कृषकों एवं दुग्ध उत्पादकों को बहुत अधिक लाभ की प्राप्ति हुई है । लगभग 90 लाख कृषक परिवार वर्तमान में इस योजनान्तर्गत कार्यरत है जो 70 हजार से अधिक डेयरी सहकारी संस्थाओं से सम्बद्ध होकर डेयरी विकास कार्यक्रम द्वारा लाभ प्राप्त कर रहे हैं । देश में दूध की प्रतिव्यक्ति दैनिक खपत आपरेशन फ्लड के परिणामस्वरूप हो 2004–05 में 232 ग्राम हो गई,

जबकि यह अमेरिका में 900 ग्राम है देश में यदि राज्यों के अनुसार दूध की प्रतिव्यक्ति दैनिक खपत देखे तो पंजाब में 800 ग्राम, हरियाणा में 640 ग्राम है, तो दूसरी ओर पूर्वोत्तर राज्यों में मात्र 20 ग्राम है । पशुधन एवं इससे प्राप्त उत्पादों से निर्यात आमदनी 1993–94 में 1241 करोड़ रुपये थी जो 1998–99 में बढ़कर 273 करोड़ रुपये हो गई ।

तालिका–14.4 : दूध का उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति उपलब्धता

वर्ष	**दूध उत्पादन (मिलियन टन)**	**प्रतिव्यक्ति उपलब्धता (ग्राम/प्रतिदिन)**
1950–51	17.0	124
1960–61	20.0	124
1970–71	22.0	112
1980–81	31.6	128
1990–91	53.9	176
2000–01	81.4	223
2001–02	84.6	226
2002–03	86.7	230
2003–04	88.1	231

देश भर में जनवरी, 1992 तक 64,200 प्राथमिक दुग्ध सहकारी समितियाँ बनायी जा चुकी थी । इसके अलावा 22 राज्य सहकारी दुग्ध संघ तथा राष्ट्रीय दुग्ध सहकारी संघ भी सक्रिय है । पूरे देश में 61 केन्द्र एक लाख लीटर से कम दुध की क्षमता वाले, 27 केन्द्र एक लाख लीटर की क्षमता वाले तथा 40 केन्द्र एक लाख लीटर से अधिक क्षमता वाले सक्रिय हैं । साथ ही देश के दस महानगरों में मेट्रों डेयरियाँ कार्यरत हैं । राष्ट्रीय डेयरी विकास बोर्ड, आनन्द; मानसिंह इन्स्टीट्यूट ऑफ ट्रेनिंग, मेहसाना, तथा जौ. देसाई ट्रेनिंग इन्सटीट्यूट, पालनपुर (बनासकांठा) में ऑपरेशन फ्लड कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये प्रशिक्षण केन्द्र खोले गये हैं । प्रादेशिक केन्द्र सिलीगुड़ी, जालन्धर और इरोड में स्थापित किये गये हैं । सरकार द्वारा डेयरी विकास के लिये टेक्नोलॉजौ मिशन की स्थापना की गई है । इसी प्रकार आनन्द मॉडल की देश के 60 प्रतिशत क्षेत्र पर सहकारी समितियाँ स्थापित की जा रही हैं । ऐसा विश्वास है कि भविष्य में भारतीय डेयरी उद्योग देश की बढ़ती हुई जनसंख्या की दूध की मांग को पूरा करेगा ।

यदि पशुओं को नियमित रूप से संतुलित आहार दिया जाये और उसकी उचित रूप से देखभाल की जाये तो उसके दूध में उत्पादन की क्षमता में पचास प्रतिशत तक की वृद्धि की जा सकती है । दूध के अधिक उत्पादन एवं दुग्ध पदार्थ व्यवसाय से कुटीर उद्योग, स्वरोजगार, आर्थिक लाभ की प्राप्ति होगी जिसके परिणामस्वरूप दुग्ध उत्पादकों कौं आय एवं जौवन स्तर में वृद्धि होने के साथ ही देश खुशहाली की ओर अग्रसर होगा ।

बोध प्रश्न–3

1. देश में प्रादेशिक असमानता को किस क्रान्ति ने बढ़ाया है?

   ....

....

2. 1961 में अनाज के आयात की मात्रा कितनी थी?

....

....

3. समुन्नत बीजों की कृषि के लिए कितनी सिंचाई की आवश्यकता होती है?

....

....

4. उर्वरकों के अधिक उपयोग से भूमि में किसकी कमी बढ़ जाती है?

....

....

5. समुन्नत बीजों पर आधारित फसलों में रोग प्रतिरोधक क्षमता पायी जाती है ।

....

....

6. दुग्ध उत्पादन में देश में क्रान्तिकारी वृद्धि लाने के प्रयास को कहते है ।

....

....

14.10 सारांश (Summary)

सारांशत : वर्तमान समय में प्राकृतिक ' अथवा अक्षय कृषि के रूप में ऐसी कृषि सम्बंधी विधा की आवश्यकता महसूस की जा रही है जिससे खाद्यानों सम्बंधी समस्या की आपूर्ति में सहायता मिले, पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण से उपयोगी हो, अन्र्तवर्गीय एवं प्रादेशिक असमानताओं का निवारण कर सकें तथा कम लागत के साथ अधिक उत्पादन की प्राप्ति हो सके । हरित क्रान्ति को पूर्ण रूपेण सफल बनाने के लिये इसका विस्तार सभी फसलों तथा सभी क्षेत्रों में किया जाना चाहिये । वैज्ञानिक नवीन तकनीकों तथा वित्तीय सुविधाओं का विस्तार किया जाये । कृषि उत्पादों का बाजार तथा कीमत सम्बन्धी ढाँचा इस प्रकार का हो जिससे कृषकों को कृषि उत्पादन में वृद्धि करने की प्रेरणा प्राप्त होती रहें तथा एकीकृत कार्यक्रम को कृषि विकास के सम्बन्ध में अपनाया जाना चाहिये । हरित क्रान्ति के अन्तर्गत एक सीमा तक पहुँचकर अधिक उत्पादकता का प्रभाव स्थिर प्राय : हो गया, जिससे खाद्यानों के उत्पादन में 1990 के दशक में एक स्थिरता आ गई । कृषि वैज्ञानिकों का मानना है कि यह हरित क्रान्ति के प्रथम चरण का समापन था अर्थात् प्रथम हरित क्रान्ति समाप्त हो गई । अत : देश की तीव्र गति से बढ़ती जनसंख्या के पोषण हेतु अधिकाधिक खाद्यानों की माँग को दृष्टिगत रखते हुए देश में हरित क्रान्ति के पुर्नजन्म की आवश्यकता महसूस करते हुए 2004 में प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह द्वारा 'द्वेतीय हरित क्रान्ति ' का आहान किया गया ।

14.11 शब्दावली (Glossary)

- **खाद्यान्न फसलें** : अनाज व दालों की फसलें ।
- **श्वेत क्रान्ति** : दुग्ध उत्पादन क्रान्ति ।
- **हरित क्रान्ति** : खाद्यानों के उत्पादन में तीव्र वृद्धि की क्रान्ति ।
- **परम्परागत कृषि** : प्राचीन समय से पुरानी पद्धति से खेती करना ।
- **गहन कृषि** : जोत भूमि में वर्ष में दो या तीन बार फसल लेना ।
- **फसल** : शस्य ।
- **कृषि** : खेती ।
- **पोषण :** आहार ।

14.12 सन्दर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

- ए. एन. अग्रवाल : **भारतीय अर्थव्यवस्था–विकास एवं आयोजन**, विश्व प्रकाशम, 2003
- लक्ष्मीनारायण नाथूरामका : भारतीय अर्थव्यवस्था, कालेज बुक हाउस, 2004
- Stanley Johnson : **The Green Revolution,** 1972
- B. Venkteswalu : **Dynamics of Green Revolution in India**, 1985
- Karanjot kaur Brar : **Green Revolution–Ecological Implications**, 1998
- Majid Husain : **Systematic Agricultural Geography**, Rawat Publications, Jaipur, 2004
- Francine R. Frankd : **India's Green Revolution**, 1971
- B.S. Hansra, Adity N. Shukla : **Social Economics and Politicals Implications of Green Revolution in India**, 1991

14.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न - 1

1. नवीन तकनीक पर
2. लगभग 25 प्रतिशत
3. अधिक उपज देने वाले बीज (High Yielding Varieties)
4. संयुक्त राज्य अमेरिका के विलियन ग्रैंड ने ।

बोध प्रश्न – 2

1. खाद्यानों के उत्पादन में तीव्र वृद्धि
2. पंजाब में
3. लगभग 10 प्रतिशत
4. बहुफसली कार्यक्रम
5. लगभग 1300
6. 1966 – 67 में

बोध प्रश्न – 3

1. हरित क्रान्ति ने

2. 35 लाख टन
3. अधिक
4. सूक्ष्म पोषक तत्व
5. कम
6. श्वेत क्रान्ति

14.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में खाद्‌यान सम्बंधी समस्या के निराकरण में हरित क्रान्ति की भूमिका का वर्णन कीजिए।
2. हरित क्रान्ति भारतीय कृषि में एक पारिस्थितिकीय संकट है, इसकी व्याख्या कीजिये ।
3. हरित क्रान्ति क्या है? हरित क्रान्ति की उपलब्धियों का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिये । भारत में हरित क्रान्ति की प्रगति की समीक्षा कीजिये ।
4. हरित क्रान्ति द्‌वारा प्रादेशिक असमानताऐ किस प्रकार उत्पन्न हुई।
5. श्वेत क्रान्ति पर एक संक्षिप्त लेख लिखिये ।

इकाई 15 : भारत में कृषि परिदृश्य (Agricultureal Scenario in India)

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 भारतीय कृषि का स्वरूप

15.2.1 भूमि उपयोग

15.2.2 भूमि उपयोग का प्रादेशिक स्वरूप

15.2.3 सिंचाई

15.3 शस्य प्रतिरूप

15.3.1 मुख्य फसलें

15.3.2 शस्य प्रतिरूप का बदलता स्वरूप

15.4 कृषि की उत्पादकता

15.4.1 फसलों के उत्पादन में वृद्धि

15.4.2 उत्पादकता का क्षेत्रीय प्रतिरूप

15.5 हरित क्रान्ति

15.5.1 हरित क्रान्ति के साधन

15.5.2 कृषि नीति

15.5.3 हरित क्रान्ति की उपलब्धियाँ

15.5.3.1 उत्पादन में तीव्र वृद्धि

15.5.3.2 बढ़ता निवेश

15.5.4 हरित क्रान्ति एवं असमानताएँ

15.5.4.1 फसलों पर असमान प्रभाव

15.5.4.2 क्षेत्रीय विषमता

15.5.4.3 छोटे किसानों को अल्प लाभ

15.5.5 पंजाब में ही हरित क्रान्ति क्यों?

15.6 कृषि की समस्याएं

15.6.1 पर्यावरणीय समस्याएं

15.6.2 आर्थिक समस्याएं

15.6.3 संस्थागत समस्याएं

15.6.4 तकनीकी समस्याएं

15.7 कृषि का प्रबन्धन एवं नियोजन

15.7.1 कृषि का प्रबन्धन

15.7.2 कृषि का नियोजित विकास

15.8 सारांश

15.9 शब्दावली
15.10 संदर्भ ग्रन्थ
15.11 बोध प्रश्नों के उत्तर
15.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन से आप स्वतंत्रता के बाद भारतकी कृषि के बदलते स्वरूप को समझ सकेंगे ।

- भारत में कृषि भूमि उपयोग का कालिका तथा क्षेत्रीय स्वरूप,
- सिंचाई में विकास,
- बदलता हुआ फसल प्रतिरूप
- कृषि की उत्पादकता का प्रादेशिक स्वरूप,
- हरित क्रान्ति की उपलब्धियां एवं चेतावनी, तथा
- कृषि की समस्याओं के निवारण के लिए किए प्रयत्नों का ब्यौरा ।

15.1 प्रस्तावना(Introduction)

मानव जौवन की दशा बडी सीमा तक उसकी आर्थिक गतिविधियों पर निर्भर होती है । प्रकृति से अपने जरूरत की वस्तुएँ प्राप्त करने वाली आर्थिक क्रियाओं में कृषि बहुत महत्वपूर्ण है । यह इसलिए कि यह खाद्य वस्तुओं का लगभग एक मात्र स्रोत है । भारत की 72.2 प्रतिशत जनसंख्या गाँवों में रहती है जिसका जौवनाधार कृषि है । साथ ही कुल क्रियाशील जनसंख्या का आधे से अधिक (58.4 प्रतिशत) सीधे खेती में संग्रह है । देश की सकल घरेलू उत्पाद के मूल्य में एक–तिहाई (सन् 2000–01 में 21 प्रतिशत) हिस्सा कृषि, वानकी और मछली पकड़ने का है । भूमि के उपयोगों में कृषि के लिए इसका उपयोग सबसे प्रमुख है । देश की आधे से अधिक (53. 3 प्रतिशत) भूमि कृषि भूमि है । खाद्य वस्तुओं के स्रोत के अलावा अनेक उद्योगों को कच्चा माल भी कृषि से मिलता है और अनेकों उद्योग कृषि में उपयोग की जाने वाली वस्तुएं बनाने में लगे हैं । इस प्रकार भारत जैसे विकासशील देश में कृषि अर्थव्यवस्था पर सम्पूर्ण ग्रामीण विकास निर्भर है ।

स्वतंत्रता के बाद भारत की कृषि में कई मूलभूत परिवर्तन हुए हैं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण है जिसे समग्ररूप से हरित क्रान्ति कहते हैं वह विज्ञान तथा तकनीकी का कृषि में उपयोग है, जिसका प्रतिफल फसलों की उत्पादकता में असाधारण वृद्धि है । इसका परिणाम यह हुआ कि इन छ : दशकों में देश भोजन के लिये लगभग आत्मनिर्भर हो गया है और, व्यापारिक फसलों के उत्पादन में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई है ।

15.2 भारतीय कृषि का स्वरूप

कृषि पर अत्यधिक निर्भरता की छाप देश की कृषि पर स्पष्ट है । फलत: भौतिक रूप से कृषियोग्य सभी भूमि पर खेती की जा रही है । साथ ही भूमि की कमी को उसके गहन उपयोग द्वारा पूरा किया जा रहा है और उत्पादन बढ़ाने के लिए सिंचाई जैसे आवश्यक निवेशों की मदद ली जा रही है । ये तथ्य निम्न विवरण से स्पष्ट हैं ।

15.2.1 भूमि उपयोग

भारत में गाँव के स्तर से देश के स्तर तक भूमि को उपयोग के वर्गो तथा उपवर्गो में बांटा जाता है । ये ऑकड़े स्वतंत्रता के बाद से उपलब्ध है। भारत का भौगोलिक क्षेत्रफल व्यापक 32.87 करोड़ हैक्टेयर है । इसमें से 98.8 प्रतिशत भूमि के उपयोग संबंधी आंकडे उपलब्ध हैं । (तालिका 15.1) । भारत के भूमि उपयोंग में कृषि उपयोग प्रधान है । वर्तमान समय में लगभग 15.08 करोड. हैक्टैयर (46.0 प्रतिशत) निरा कृषि भूमि है । यह अनुपात सर 1950–51 में लगमग 38. 8 प्रतिशत ही था । इसके साथ ही लंगपनग 2.6 करोड़ हैक्टेयर (8.5 प्रतिशत) भूमि पड़ती है जिस पर पिछले पांच सालों में कभी न कभी खेती की गई थी । इस प्रकार देश के कुल प्रतिवेदित क्षेत्र में से 54.5 प्रतिशत कृषि भूमि है । कृषित भूमि की दृष्टि से भारत संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद विश्व का दूसरा बड़ा देश है । भारत में सर्वाधिक पशु–संख्या होते हुए भी केवल 3.4 प्रतिशत भूमि ही चारागाहों के अन्तर्गत है । लगभग 13.8 प्रतिशत भूमि भौतिक कारणों से कृषि हेतु उपलब्ध नहीं है । देश में केवल 4.3 प्रतिशत भूमि ऐसी है जिस पर भविष्य में कृषि का विस्तार किया जा सकता है ।

इस वर्गीकरण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भूमि उपयोगों में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है । कुछ परिवर्तन तो त्रुटिपूर्ण गणना के कारण हो सकता है, किन्तु अन्य परिवर्तन भूमि उपयोग बदलने के कारण है ।

इससे निम्न तथ्य उभर कर आते हैं :–

1. देश के वास्तविक क्षेत्र से रिपोर्ट किया गया क्षेत्र कम है। संभव हो कि इसमें अगण्य क्षेत्र, जैसे रेगिस्तान, ऊँचे पर्वत, झाड़ू तथा कटीली झाड़ियों के प्रदेश दलदली तथा ज्वारीय प्रदेश हैं। इस गणना में निरंतर सुधार हुआ है और 2003–04 तक बहुत छोटा प्रदेश बचा है जिसकों इस वर्गीकरण में सम्मिलित नहीं किया गया है ।
2. वर्ष 1950–51 में वन प्रदेश केवल 13.2 प्रतिशत था जो वर्ष 2003–04 तक 22.8 प्रतिशत हो गया है ।
3. गैर–कृषिय भूमि वर्ष 1950–51 में केवल 93.6 लाख हेक्टेयर (3.3 प्रतिशत) थी जो वर्ष 2000–01 में बढ़कर 230 लाख हेक्टेयर (7.5 प्रतिशत) हो गई । सड़कों, अधिवास, बन्दरगाह, विमानतल आदि के विकास के साथ अधिक भूमि इस वर्ग में आती है ।
4. बीहड़ तथा गैर–कृषित भूमि वर्ष 1950–51 में 381.6 लाख हेक्टेयर (13.4 प्रतिशत) से घट कर वर्ष 2000–01 में केवल 190 लाख हैक्टेयर (6.2 प्रतिशत) रह गई । स्वाभाविक है कि इस भूमि का उपयोग उपरोक्त आवश्यकताओं के अतिरिक्त वन तथा चरागाहों आदि में भी होने लगा ।
5. यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि वनों तथा स्थायी चरागाह के वर्ग में क्षेत्रफल बढ़ा है।

तालिका–15.1:भारत में भूमि उपयोग का बदलता प्रतिरूप (क्षेत्र लाख हैक्टेयर में)

क्र.सं.	भूमि उपयोग के वर्ग	1950-51		2003-04		परिवर्तन (प्रतिशत में)
		क्षेत्र	प्रतिशत	क्षेत्र	प्रतिशत	1950-2004
अ	भौगोलिक क्षेत्र	3287.3		3287.26		

ब	प्रतिवेदित क्षेत्र	2843.2	92.9	3058.43	99.9	7.6
1	वन	404.8	13.2	697	22.8	72.2
2	ऊसर एवं गैरमुमकिन भूमि	475.2	15.5	422.18	13.8	-11.2
(i)	गैरकृषिय उपयोगों की भूमि	93.6	3.1			
(ii)	ऊसर तथा कृषि के अयोग्य भूमि	381.6	12.5			
3	कृषि के लिए अनुपलब्ध भूमि	494.5	16.2	270.0	8.8	-45.4
(i)	स्थायी चारागाह	66.8	2.2	104.55	3.47	56.5
(ii)	विविध वृक्षों के अन्तर्गत भूमि	198.3	6.5	33.69	1.1	-83.0
(iii)	कृषियोग्य बेकार भूमि	229.4	7.5	131.76	7.3	-42.6
4	पड़ती भूमि	281.2	9.2	260.43	8.5	-7.4
(i)	पुरानी पड़ती भूमि	174.4	5.7	11238	3.7	-35.6
(ii)	वर्तमान पड़ती भूमि	106.8	3.5	148.05	4.8	38.6
5	निरा बोया गया क्षेत्र	1187.5	38.8	1408.83	46.0	18.6
6	कुल बोया गया क्षेत्र	1318.9		1906.44		44.5
7	दुफसली क्षेत्र	131.4		497.61		278.7
8	शस्य गहनता		111.1		135.3	
	निरा सिंचित क्षेत्र	208.5	17.6	768.2	54.53	268.4
	कुल सिंचित क्षेत्र।	225.6	17.1	985.3	51.68	336.7

सभी वर्षों में प्रतिशत की गणना प्रतिवेदित क्षेत्र 3060 लाख हेक्टेयर मानकर किया गया है।

स्रोत–डाइरेक्टरेट ऑफ इकोनोमिकस एण्ड स्टेटिस्टिक्स–एग्रिक्ल्चरल स्टेटिस्टिक्स ऐट ऐ ग्लांस 2007

6. विविध वृक्षों के अन्तर्गत वर्ष 1950–51 में 198.3 लाख हेक्टेयर भूमि थी जो घटकर वर्ष 2003–04 में केवल 33.7 लाख हेक्टेयर बची । स्पष्ट है कि इस भूमि का उपयोग भी उपरोक्त कामों के साथ अन्य गैर कृषिय कामों के लिये होने लगा ।
7. यही प्रवृत्ति कषियोग्य बेकार भूमि में भी दिखाई देती है । कृषियोग्य बेकार भूमि, जो पहिले जोती नहीं जाती थी, कृषि उत्पादों की बढ़ती मांग के कारण जोत ली गई तथा कृषित भूमि के वर्ग में चली गई ।
8. इसी के साथ पड़ती भूमि में कमी हुई है । यह वर्ष 1950–51 में 281.2 लाख हेक्टेयर से घटकर 260.4 लाख हेक्टेयर रह गई है । कृषि उत्पादों की नाग तथा उर्वरकों की उपलब्धि के कारण किसान अब भूमि को लम्बे समय तक पड़ती पर नहीं छोड़ते हे ।
9. निरा कृषित भूमि के ऑकडे भी उपरोक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं । देश में वर्ष 1950–51 केवल 1187.5 लाख हेक्टेयर (38.8 प्रतिशत) निरा कृषित भूमि थी जो वर्ष 2003–04 में बढ़कर 15.8.8 लाख (46 प्रतिशत) हो गई है । यह वृद्धि कृषियोग्य भूमि, पड़ती भूमि तथा विविध वृक्षों की भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाने के कारण हुई है ।
10. कृषि के विकास एवं उत्पादन की वृद्धि का एक बड़ा कारण सिंचाई के साधनों का विकास है। इससे रासायनिक उर्वरकों का समुचित उपयोग संभव हुआ, उत्पादन बढ़ा तथा अधिक विश्वसनीय हुआ । उन क्षेत्रों में जहाँ वर्षा के बाद दूसरी फसल संभव नहीं थी, सिंचाई की

सहायता से संभव हो सकी । सिंचित क्षेत्र के ओंकड़े इस तथ्य की पुष्टि करते हैं । निरा सिंचित क्षेत्र वर्ष 1950–51 में केवल 208.5 लाख हेक्टेयर था जो वर्ष 2003– 04 में 768.2 लाख हेक्टेयर हो गया । इस तरह निरा सिंचित क्षेत्र पचास वर्षो में साढ़े तीन गुना से अधिक हो गया । भारत में कृषि उत्पादन की वृद्धि में यह महत्वपूर्ण कारक है ।

15.2.2 भूमि उपयोग का प्रादेशिक प्रतिरूप

देश के भूमि उपयोग में काफी असमानता है । भूमि उपयोग का सीधा संबंध भौतिक बनावट तथा जलवायु की प्रकृति से है । प्राचीन काल से कृषि के विकास के कारण देश में अधिकतर वह भूमि जो कृषि के योग्य है, कृषि के अन्तर्गत लाई जा चुकी है । जहाँ या जिन राज्यो में समतल उपजाऊ भूमि है वहाँ कृषि का केन्द्रीकरण हुआ है । इसके विपरीत उन राज्यों में जहाँ पठारी तथा पहाड़ी भूमि अधिक है, कृषित भूमि कम एवं वनों, चारागाह, बीहड़, ऊसर वाली भूमि अधिक है । तुलना के लिये कुछ राज्यों के भूमि उपयोग के आँकडूएं नीचे तालिका 15.2 में दिये गये हैं ।

तालिका 15.2 : भारत के कुछ राज्यों में भूमि उपयोग, 2003–04 (हजार हेक्टेयर में)

राज्य	भौगोलिक क्षेत्र	प्रतिवेदित क्षेत्र	वन	कृषि को अप्राप्य भूमि	स्थायी चरागाह	कृषियोग बेकार भूमि	अकृषित भूमि	कुल पड़ती भूमि	निरा कृषित क्षेत्र
अरुणाचल प्रदेश	8374	5498	5154	26	4	37	77	77	164
कुल क्षेत्र का %			93.7	0.5	0.1	0.7	1.4	1.4	3.0
जम्मू -कश्मीर	22224	3781	2023	582	125	142	339	90	747
कुल क्षेत्र का %			53.5	15.4	3.3	3.7	9.0	2.4	19.8
केरल	3886	3885	1082	425	0	67	78	110	2190
कुल क्षेत्र का %			27.8	10.9	0.0	1.7	2.0	2.8	56.4
पंजाब	30825	30756	8683	3350	1360	1177	2557	1220	14945
कुल क्षेत्र का %			28.2	10.9	4.4	3.8	8.3	4.0	48.6
राजस्थान	5036	5033	308	451	4	9	17	14	4243
कुल क्षेत्र का %			6.1	9.0	0.1	0.2	0.3	0.3	84.3
उत्तरप्रदेश	34224	34266	2661	4259	1708	4547	6269	3683	17394
कुल क्षेत्र का %			7.8	12.4	5.0	13.3	18.3	10.7	50.8
जम्मू -कश्मीर	24093	24417	1689	3129	69	500	911	1877	16812
कुल क्षेत्र का %			6.9	12.8	2.0	2.0	3.7	7.7	68.9

उपरोक्त राज्य भिन्न भौगोलिक पीरस्थितियों का प्रतिनिधित्व करते हैं । उत्तरप्रदेश तथा मध्यप्रदेश में बिना बोया गया क्षेत्र समुचित है, लेकिन मध्यप्रदेश में वनों के अन्तर्गत भूमि तथा चरागाह अधिक है जबकि उत्तरप्रदेश में बहुत कम है लेकिन बिना बोया गया क्षेत्र अधिक है । राजस्थान में अकृषि भूमि तथा पड़ती भूमि बहुत अधिक है जो यहाँ की सूखी जलवायु की ओर इंगित करते हैं । अरुणाचल प्रदेश क्योंकि पहाड़ी और आर्द्र जलवायु का प्रदेश है, अत : अधिकतर भूमि वनों के अन्तर्गत है, बिना बोया गया क्षेत्र बहुत ही कम है । समतल उपजाऊ पंजाब में कृषि के अलावा अन्य उपयोग महत्वहीन हैं ।

अत : भूमि उपयोग का सर्वेक्षण उस प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियों की ओर इंगित करता है और इनका भूमि उपयोग नियोजन भी वहाँ की प्राकृतिक परिस्थितियों के अनुरूप किया जाना चाहिये ।

15.2.2.1 वन (Forests)

भारत के लगभग 22.8 प्रतिशत (697 हजार वर्ग किमी) भूमि पर वनों का विस्तार है, जबकि पारिस्थितिकी तंत्र को संतुलित रखने के लिए यह अनुपात लगभग एक–तिहाई होना चाहिये । इस दृष्टि से यह प्रतिशत काफी कम है । देश में वनों का विस्तार बड़ा असमान है । पर्वतीय क्षेत्र – हिमालय, विंध्यांचल, सतपुड़ा, से तथा पश्चिमी घाट तथा आंतरिक ऊँचे पठारी क्षेत्र एवं तराई क्षेत्रों में वनों का विस्तार अधिक है । परन्तु मैदानी क्षेत्र लगभग वन–विहीन है । उदाहरण के लिए ही राज्य अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, मिजोरम, त्रिपुरा, नागालैंड तथा मेघालय, उत्तरी राज्य उत्तराखण्ड एवं जम्मू–कश्मीर तथा प्रायद्वीपीय भाग में छत्तीसगढ़ राज्य में 40 प्रतिशत से अधिक भूभाग पर वन हैं । इसी तरह अंडमान और निकोबार द्वीप सकू (96.1 प्रतिशत) तथा दादरा–नगर हवेली (40.8 प्रतिशत) में काफी विस्तृत क्षेत्र पर वन फैले हैं । इसके विपरीत हरियाणा (1.0 प्रतिशत), चण्डीगढ़ (4.1 प्रतिशत), पंजाब (6.1 प्रतिशत), बिहार (6.6 प्रतिशत), उत्तरप्रदेश (6.9 प्रतिशत), राजस्थान (7.8 प्रतिशत) तथा गुजरात (98 प्रतिशत) ऐसे राज्य हैं जहाँ वनों का विस्तार 10 प्रतिशत से कम भूमि पर है ।

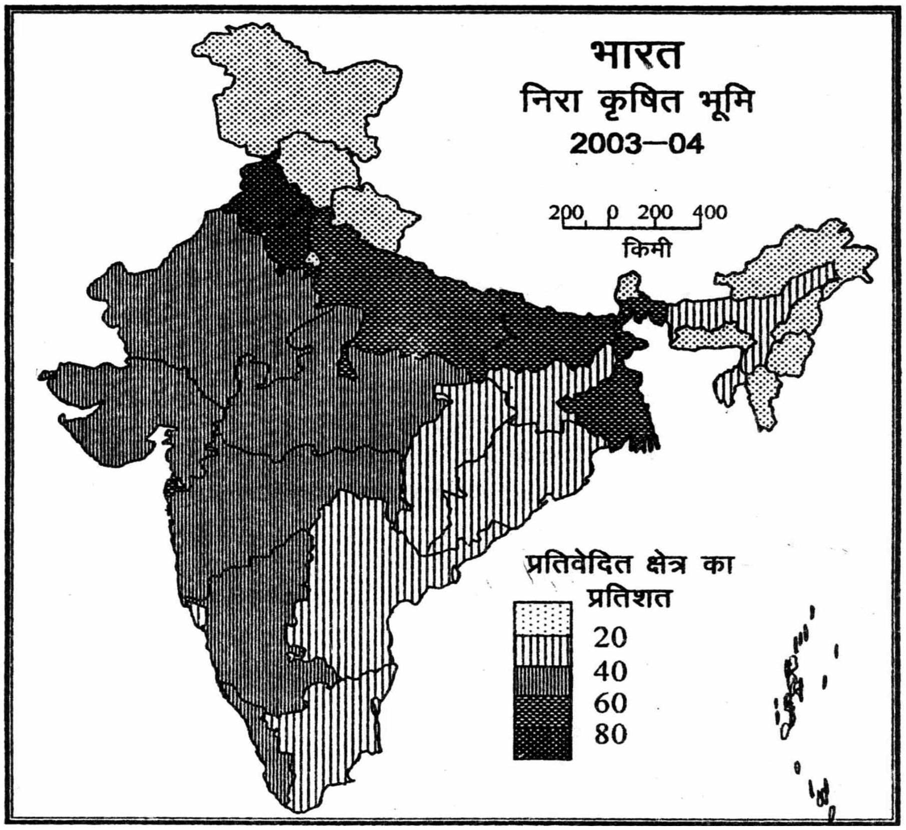

मानचित्र -15.1 : निरा कृषित भूमि

15.2.2.2 कृषित भूमि (Cultivated Land)

देश के कुल भौगोलिक क्षेत्रफल का स्थाभग 46.1 प्रतिशत भाग शुद्ध बोया गया क्षेत्र है । इस शुद्ध बोये गये क्षेत्रफल के 35.3 प्रतिशत भाग पर एक से अधिक बार कृषि की जाती है । स्वतंत्रता के बाद कृषि क्षेत्र में तेजौ से रद्धि हुई है । सन् 1951–51 में शुद्ध बोया गया क्षेत्र 11.87 करोड़ हेक्टेयर था जो कुल भौगोक्कि क्षेत्र का 38.8 प्रतिशत ही था।

देश के विभिन्न राज्यों में कृषित क्षेत्र में काफी अंतर है । कुल भौगोलिक क्षेत्र में शुद्ध बोये गये क्षेत्र का अनुपात अरुणाचल प्रदेश में 3.0 प्रतिशत से लेकर हरियाणा में 80.8 प्रतिशत तथा पंजाब में 84.3 प्रतिशत से अधिक है । (मानचित्र – 15.1) । देश के नौ राज्यों–अरुणाचल प्रदेश (3.2 प्रतिश), मिजोरम, मेघालय, मणिपुर, हिमाचल प्रदेश, उत्तरखण्ड, सिक्किम, नागालैंड एवं जम्मू–कश्मीर (10.8 प्रतिशत) में कुल क्षेत्र के एक–पचमाश से कम भूमि पर कृषि की जाती है । अन्य आठ राज्यों–झारखण्ड (22.2 प्रतिशत), त्रिपुरा, छत्तीसगढ़, असम, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा और गोवा में 20 से 40 प्रतिशत भूमि कृषि के अन्तर्गत है । इसके विपरीत छः राज्यों– मध्यप्रदेश, गुजरात, राजस्थान, कर्नाटक, केरल और महाराष्ट्र में 40 से 60 प्रतिशत तथा बिहार, पश्चिम बगाल, उत्तरप्रदेश, हरियाणा तथा पंजाब में 60 प्रतिशत से अधिक भूमि पर खेती की जाती है । प्रादेशिक स्तर पर सतलज–गंगा के मैदान, गुजरात के मैदान, काठियावाड़ का पठार, महाराष्ट्र पठार तथा बंगाल बेसिन में अधिकांश भूमि पर कृषि की जाती है । यहाँ अधिक कृषित क्षेत्र होने के मुख्य कारणों में समतल भूमि तथा उर्वर मिट्टी, अनुकूल जलवायु, पर्याप्त सिंचाई की सुविधायें तथा जनसंख्या का अत्यधिक दबाव प्रमुख हैं । इसके विपरीत पर्वतीय तथा पहाड़ी, शुल्क, कम उपजाऊ मिट्टी वाले क्षेत्रों में कृषित क्षेत्र का अनुपात कम और बहुत कम है, क्योंकि ये दशायें कृषि के अनुकूल नहीं हैं । ऊबड़–खाबड़ भूमि पर न केवल खेत बनाना कठिन होता है बल्कि उसे बचाकर रखना भी मुश्किल होता है । तेज ढाल के कारग मृदा अपरदन तेज होता है और नमी की कमी होती है । आवागमन के मार्ग बनाना और सिंचाई के साधन विकसित करना दुष्कर एवं महगा होता है । फलत : विषम धरातल वाले क्षेत्रों में कृषि की उत्पादकता बहुत कम होती है । यही कारण है कि जम्मू–कश्मीर से लेकर मिजोरम तक के सभी पर्वतीय राज्यों में निरा कृषित भूमि बहुत कम है । तथापि कुछ व्यापारिक फसलें. जैसे चाय, कहवा, सेब जैसे फल ढालू में ही पैदा किए जाते हैं, क्योंकि इनकी जड़ों के नीचे पानी नहीं रुकना चाहिए । सूखे क्षेत्रों में सिंचाई की व्यवस्था आवश्यक होती है ।

15.2.2.3 शस्य गहनता

कृषित भूमि बढ़ाने के दो तरीके हो सकते है–एक नवीन भूमि पर खेती का विस्तार करके और दूसरे वर्तमान खेती वाली भूमि पर एक से अधिक बार खेती करके। इस दूसरी विधि का शस्य गहनता कहा जाता है । अब तक कृषि के लिए उपयुक्त सभी भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाया जा चुका है । इस कारण नवीन क्षेत्र पर कृषि के विस्तार की संभावनाएं बहुत कम हैं । अस्तु कृषित भूमि बढ़ाने का एकमात्र तरीका कृषित भूमि की गहनता बढ़ाना ही है । शस्य गहनता का

अर्थ किसी एक कृषि वर्ष में एक से अधिक फसलें पैदा करना है । कुल कृषित भूमि को शुद्ध बोए गए क्षेत्र के प्रतिशत को शस्य गहनता का सूचक माना जाता है जैसे कि सन् 1950–51 में भारत में कुल कृषित भूमि 13.19 करोड़ हेक्टेयर तथा शुद्ध बोया गया क्षेत्र 11.88 करोड़ हेक्टेयर था । अस्तु शस्य गहनता (13.19/11.88)100 = 111.0 होती है ।

जनसख्या के बढ़ते दबाव तथा कृषिगत वस्तुओं की बढती माँग को पूरा करने के लिए जहाँ कृषि का नए क्षेत्र पर विस्तार किया गया वहीं कृषित भूमि पर एक से अधिक बार खेती की जाने लगी । सिंचाई की सुविधा के विस्तार तथा उत्पादकतावर्धक अन्य निवेशों के बढ़ते उपयोग के द्वारा ऐसा सभव हुआ । परिणामत : एक से अधिक बार बोई जाने वाली भूमि सन् 1950–51 में 131.5 लाख हेक्टेयर से बढ़ कर सन् 2003–04 में 497.6 लाख हेक्टेयर हो गई है । इम तरह दुफसली क्षेत्र में इस अवधि में लगभग चार गुनी से थोडी कम (278.4 प्रतिशत) बुद्धि हुई ।

वर्ष 2003–04 में शस्य गहनता सूचकांक मणिपुर तथा मिजोरम में 100 तथा सिक्किम में 109 लेकर पजाब में 186.9 के मध्य है । पंजाब के बाद हरियाणा (180.8), हिमाचल प्रदेश (0174.6), पश्चिम बंगाल (175.8), उत्तराखण्ड (168.3), अरुणाचल प्रदेश (160.3) और उत्तर प्रदेश (153.4) का स्थान है । असम, बिहार, जम्मू–कश्मीर तथा उड़ीसा में भी यह देश के औसत से (135.3) अधिक है । (मानचित्र– 15.2) ।

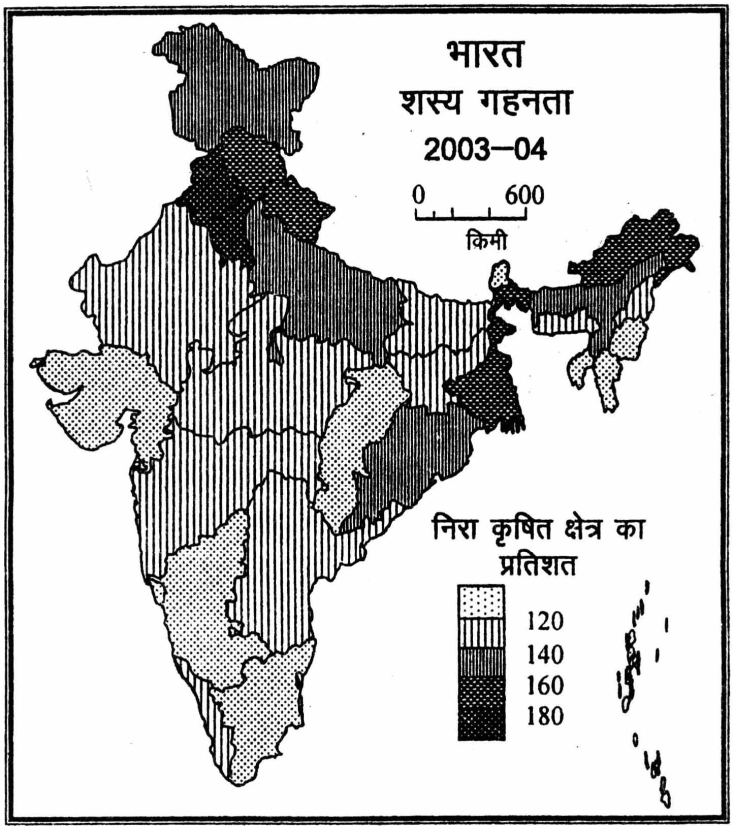

मानचित्र -15.2 : शस्य गहनता

सामान्यतया जहाँ वर्षा पर्याप्त होती है अथवा सिंचाई की सुविधा है, भूमि समतल है और मृदा उपजाऊ है । साथ ही जनसंख्या का दबाव अधिक है वहाँ ही शस्य गहनता अधिक है । इन्हीं कारणों से उत्तरी विशाल मैदान, तटीय मैदान तथा डेल्टा प्रदेशों में ही शस्य गहनता अधिक ओर बहुत अधिक है । दूसरी ओर शुष्क, अर्द्ध शुष्क तथा अल्पार्द्र क्षेत्रों के असिंचित भागों, पहाड़ी तथा विषम धरातलीय क्षेत्रों तथा नमी सुरक्षित न रख पाने वाली मृदाओं के क्षेत्रों में शस्य गहनता कम और बहुत कम है । इन्हीं कारणों से प्रायद्वीप राज्यों में कृषि गहनता कम और उत्तरपूर्वी आधे राज्यों में बहुत कम है । यह तमिलनाडु में 113, कर्नाटक में 116, आन्ध्रप्रदेश में 122, महाराष्ट्र में 127, गुजरात में 118 तथा मध्यप्रदेश में 132 ही है । शस्य गहनता का प्रमुख निर्धारक तत्व सिंचाई है जैसे कि पजाब में 966 प्रतिशत कृषित भूमि सिंचित है । इसलिए कृषि गहनता भी अधिक है । हिमाचल प्रदेश इसका अपवाद है जहाँ ग्रीष्म और शीत दोनों ऋतुओं में वर्षा होती है । फलत : बिना सिंचाई के कृषि गहनता अधिक है । मृदा की अधिक जल धारण करने की क्षमता और उर्वरता भी कृषि गहनता बढ़ाने में सहायक है । जनसंख्या का अधिक दबाव भी कृषि गहनता को प्रभावित करता है तथा आधुनिक अधिक उपज देने वाली फसलों ने भी कृषि गहनता को बढ़ाने में सहायता की है ।

15.2.3 सिंचाई (Irrigation)

भारत का अधिकांश भाग उष्ण कटिबंध में स्थित होने के कारण वाष्पीकरण की दर अधिक है । फलस्वरूप कृषि–उत्पादन की वृद्धि के लिए तथा भूमि की क्षमता बढ़ाने के लिए समय पर जल की पूर्ति आवश्यक है जो सिंचाई द्वारा ही संभव है । भारत में सिंचाई बहुत पहिले से हो रही है । उदाहरण के लिए कावेरी नदी पर ग्राण्ड एनीकट बाँध का निर्माण पहली सदी में ही हो गया था । आधुनिक सिंचाई प्रणाली का विकास सन् 1882 में उत्तर प्रदेश में पूर्वी यमुना नहर के निर्माण के साथ प्रारम्भ हुआ था परन्तु सिंचाई में तेजौ से वृद्धि स्वतंत्रता के बाद विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में हुई है । सर 1950–51 में लगभग 225.6 लाख हेक्टेयर भूमि पर सिंचाई की गई थी जो सर 2003–04 में 768.2 लाख हेक्टेयर हो गयी है (तालिक 15.3) । इस प्रकार इन 54 वर्षो में सिंचित क्षेत्र में लगभग साढ़े तीन गुनी वृद्धि हुई है । इसके साथ ही सिंचित क्षेत्र का अनुपात भी बढ़ा है । सन् 1950–51 में सिंचित क्षेत्र कुल कृषित भूमि का 17.1 प्रतिशत था जो बढ़कर सर 2003–04 में 40.3 प्रतिशत हो गया है फिर भी देश की लगभग दो–तिहाई कृषि अभी भी वर्षा पर निर्भर है ।

तालिका– 15. 3 : कृषित एवं सिंचित भूमि की प्रवृत्ति, 1950 – 2004 (क्षेत्र करोड़ हेक्टर में)

वर्ष	कृषित भूमि		सिंचित भूमि		सिंचित भूमि का प्रतिशत	
	निरा	कुल	निरा	कुल	निरा	कुल
1950–51	11.9	13.2	2.1	2.3	17.56	17.11
1955–56	12.9	14.7	2.3	2.6	17.62	17.41
1960–61	13.3	15.3	2.5	2.8	18.51	18.32
1965–66	13.6	15.5	2.6	3.1	19.34	19.90
1970–71	14.0	16.6	3.1	1.8	22.17	23.04

1975–76	14.2	17.1	3.5	4.3	24.42	25.31
1980–81	14.0	17.3	3.9	5.0	27.66	28.84
1985–86	14.1	17.8	4.2	5.4	29.72	30.42
1990–91	14.3	18.6	4.8	6.3	33.58	34.03
1995–96	14.2	18.7	5.3	7.1	37.55	38.06
2000-01	14.1	17.6	5.5	7.6	38.85	40.85
2003-04	14.1	19.1	5.5	7.7	39.11	40.30

प्रोवीजनल

15.2.3.1 सिंचित क्षेत्र का वितरण

राज्यों में सिंचित क्षेत्र का वितरण काफी असमान है । कुल सिंचित क्षेत्र को कुल कृषित भूमि के अनुपात के रूप में देखने से स्पष्ट चित्र दिखाई देता है (मानचित्र 15.3) । असम राज्य में कुल कृषित भूमि का केवल 5.4 प्रतिशत भाग ही सिंचित है जबकि पंजाब में 96.6 प्रतिशत कुल कृषित भूमि पर सिंचाई की जाती है । आठ राज्यों में कुल सिंचित क्षेत्र का अनुपात 40 प्रतिशत से अधिक है । पंजाब राज्य का इसमें प्रथम स्थान और इसका पड़ोसी राज्य हरियाणा दूसरे स्थान पर है । साथ ही उत्तर प्रदेश (69.5 प्रतिशत), बिहार (57.9 प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (51.0 प्रतिशत) ओर उत्तरी राज्य उत्तराखण्ड (40.5 प्रतिशत) में भी कुल सिंचित क्षेत्र 40 प्रतिशत से अधिक है । इस पेटी से बाहर धुर दक्षिणी राज्य तमिलनाडु (46.6 प्रतिशत) इस वर्ग में आता है। केन्द्र शासित प्रदेशों में भी आधे से अधिक कृषित भूमि पर सिंचाई की सुविधायें उपलब्ध हैं । उत्तर के विशाल मैदानी क्षेत्र में सिंचाई की सुविधाओं का विस्तार समतल मैदान, उपजाऊ गहरी मृदा,सदावाहिनी नदियों में प्रचुर जल की सुविधा तथा अधोभौमिक जल के विशाल भडार के कारण अधिक हुआ है । विकास के कारणों में कम वर्षा, इसकी अनिश्चितता और फसलों की अधिक जलीय आवश्यकता मुख्य हैं ।

सिंचित क्षेत्र के मध्यम अनुपात (20 से 40 प्रतिशत) वाले राज्य एक लगातार पट्टी में फैले हैं । यह पट्टी पश्चिम में गुजरात और राजस्थान से प्रारंभ होकर पूर्व में उड़ीसा तक फैली है । इसमें मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ, उड़ीसा, आन्ध्र प्रदेश एवं कर्नाटक सम्मिलित हैं । इन राज्यों में विशेषकर पश्चिमी राज्यों में कम वर्षा और उसकी अधिक अनिश्चितता के कारण वर्षा आधारित कृषि की जाती है । फलत: न केवल कृषि की उत्पादकता बहुत कम और अनिश्चित होती है बल्कि कृषित भूमि का अधिकतम उपयोग नहीं किया जा सकता । इसके लिए सिंचाई की आवश्यकता अधिक है किन्तु सिंचाई क्षमता का विकास कम हुआ है ।

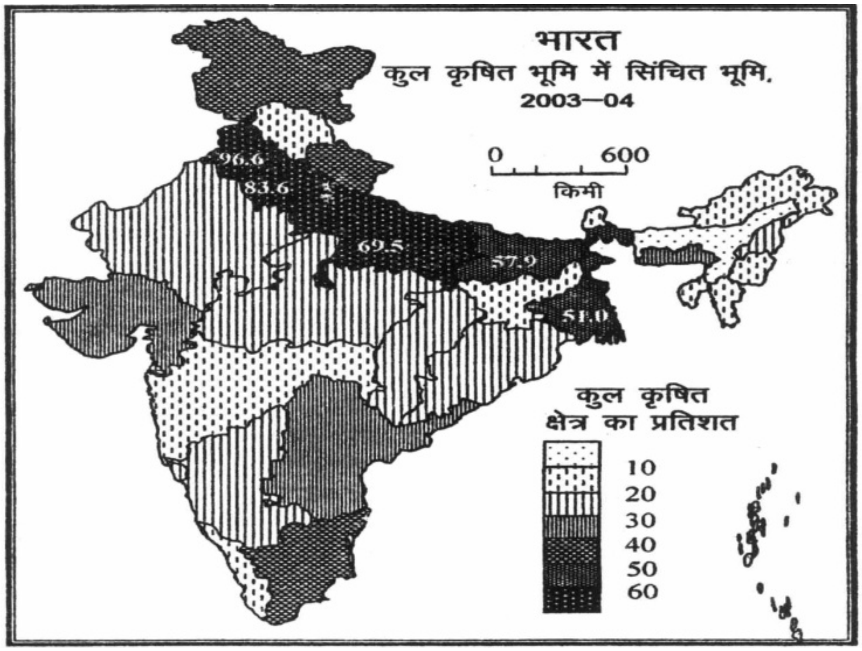

मानचित्र -2.3 : कुल कृषित भूमि में सिंचित भूमि

कम (20 प्रतिशत से कम) सिंचित क्षेत्र उत्तर–पूर्वी राज्यों में फैला है, जहां कुल सिंचित क्षेत्र आसाम में 54 प्रतिशत से लेकर मणीपुर तथा मिजोरम में 18.4 प्रतिशत तक है । यहाँ सिंचाई कम होने का मुख्य कारण पर्वतीय धरातल तथा अधिक वर्षा का होना है । झारखण्ड में भी कुल सिंचित भूमि केवल 10.3 प्रतिशत ही है । दूसरा कम सिंचित क्षेत्र महाराष्ट्र में है । यह दकन पठार का पश्चिमी घाट की वृष्टि छाया वाला क्षेत्र हैं, जहा वर्षा कम और परिवर्तनशीलता अधिक है । यहाँ कम वर्षा के कारण कम सतही जल, ऊबड़–खाबड़ धरातल, छिछली मिट्टी तथा अधोभौमिक जल कस सीमित भंडार और अधिक गहराई के कारण उपलब्ध जल संसाधनों का उपयोग कम ही हो पाया है । केरल में भी सिंचित क्षेत्र का अनुपात (15.4 प्रतिशत) कम है । राज्यों के अंदर भी सिंचित क्षेत्रों के अनुपात में बहुत अधिक विभिन्नता मिलती है जैसे कि आन्ध्रप्रदेश मे अधिकांश सिंचित क्षेत्र कृष्णा–गोदावरी डेल्टा तथा तटीय भागों में ही सीमित है । इसी तरह उड़ीसा में सिंचित क्षेत्र महानदी डेल्टा में केन्द्रित है । अधिक गहन सिंचित क्षेत्र दो विस्तृत पेटी में फैले हैं । प्रथम पेटी पंजाब से लेकर पश्चिमी बिहार तक फैली है । यह पुराना सिंचित क्षेत्र है और स्वतंत्रता के बाद यहाँ की सिंचाई की सुविधाओं में काफी विस्तार किया गया है । जैसी की चर्चा की जा चुकी है कि इस पेटी में अधिक सिंचाई का मुख्य कारण अधिक मांग और अनुकूल भौतिक सुविधायें हैं । इन राज्यों ने अपने सतही तथा अद्योभौमिक जल संसाधनों का बड़े पैमाने पर दोहन कर लिया है तथा ये सिंचाई के लिए नहरों तथा नलकूपों (ट्रूबेवेलल) पर निर्भर रहते हैं । छूरी सघन सिंचित पेटी का विस्तार उड़ीसा में महानदी डेल्टा से लेकर तमिलनाडु में कावेरी डेल्टा तक पूर्वी घाट के सहारे है । जलोढ़ तटीय मैदान तथा सिंचाई के लिए उपलब्ध पर्याप्त सतही जल के कारण यहाँ सिंचाई का विकास काफी पहले कर लिया गया था । अन्य राज्यों में सघन सिंचाई वाले क्षेत्र एकाकी हैं, जैसे कश्मीर घाटी, ब्रह्मपुत्र घाटी,

पश्चिम बंगाल में वीरभूमि जिला, दक्षिणी छत्तीसगढ़ बेसिन, मध्यप्रदेश में चम्बल बेसिन और बुन्देलखण्ड क्षेत्र आदि ।

इसी तरह अल्प सिंचित क्षेत्र जम्मू–कश्मीर, हिमाचल प्रदेश, उत्तराखण्ड, सिक्किम तथा पूर्वोतर राज्य अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा और मिजोरम के पहाड़ी तथा हिम से ढके भाग हैं । इन क्षेत्रों में सिंचाई के विकास में विषम धरातल, कृषि के लिए अनुपयुक्त भूमि तथा उच्च भागों में हिमावरण बाधक है । इसी तरह पूर्वी मध्यप्रदेश, दक्षिणी महाराष्ट्र, दक्षिणी छत्तीसगढ़ तथा पश्चिमी उड़ीसा में भी सिंचाई का विकास बहुत कम हुआ है । सामान्यतया उन भागों में सिंचाई का कम और बहुत कम विकास हो पाया है जहाँ सीमित सतही जल प्रवाह, बहुत कम भंडार अथवा स्वणीय अद्योभौमिक जल, पहाड़ी तथा ऊबड़–खाबड़ धरातल और अनुपजाऊ मृदाएँ पाई जाती हैं । देश का विस्तृत भाग इसी वर्ग में आता है । जहाँ कृषि–भूमि की दक्षता तो कम है ही कृषि की उत्पादकता भी कम और अनिश्चित होती है ।

बोध प्रश्न– 1

1. कृषित भूमि की दृष्टि से भारत का विश्व में कौन सा स्थान है?
   ……………………………………………………………………
   ……………………………………………………………………
2. देश का कितना भाग निरा कृषित है?
   ……………………………………………………………………
   ……………………………………………………………………
3. भूमि उपयोग का सम्बन्ध किन भौतिक कारकों से है?
   ……………………………………………………………………
   ……………………………………………………………………
4. सतलज–गंगा के मैदान के अधिकांश भाग पर कृषि क्यों की जाती है?
   ……………………………………………………………………
   ……………………………………………………………………
5. शस्य गहनता का सूचक क्या हे?
   ……………………………………………………………………
   ……………………………………………………………………

15.3 शस्य–प्रतिरूप

मोटे तौर पर फसलों को दो वृहद् समूहो में रखा जाता है –खाद्य फसलें और अखाद्य फसलें । खाद्य फसलों को पुन: तीन उप–समूहों में बांटा जाता है – (1) अनाज तथा मोटे अनाज, (2) दालें तथा (3) फल–सब्जी आदि (बागवानी कृषि) । अनाज, मोटे अनाज तथा दालों को सामूहिकरूप से खाद्यान्न कहा जाता है । अखाद्य फसलों में तिलहन, रेशे की फसलें, बागाती वाली फसलें तथा चरी की फसलें प्रमुख हैं । भारत की कृषि में खाद्यान्न सबसे महत्वपूर्ण हैं;

यद्यपि इनका सापेक्षिक महत्व घट रहा है । कुल कृषित भूमि में इनका हिस्सा सर 1950–51 में 73.82 प्रतिशत से घट कर सन् 2003–04 में केवल 65.48 प्रतिशत ही रह गया है । सबसे चिन्तनीय दालों का सापेक्षिक महत्व घटना है । इस अवधि में दालों का हिस्सा 15.48 प्रतिशत से घट कर 12.86 प्रतिशत ही रह गया । इनमें क्षेत्र और उत्पादन में चावल प्रथम और गेहूँ दूसरे स्थान पर है । (तालिका 154) । दालों में चना और तुअर मुख्य हैं । दालों की तुलना में तिलहन अधिक महत्वपूर्ण हैं जिनके अनतर्गत 13.79 प्रतिशत कृषित भूमि है तथा इनका हिस्सा काफी तेजौ से बढ़ा है ।

15.3.1 मुख्य फसलें (Major Crops)

फसलों का वितरण मुख्यरूप से जलवायु की दशाओं से प्रभावित होता है । प्राकृतिक वनस्पति की तरह फसलें भी अपनी वृद्धि के लिए ताप, जल और सूर्य प्रकाश पर निर्भर करती है किन्तु जलवायु की आदर्श दशायें अलग–अलग फसलों के लिए भिन्न–भिन्न होती हैं । साथ ही भारत देश में जलवायु की दशाओं में बहुत अधिक क्षेत्रीय अंतर है । यही क्षेत्रीय अंतर फसलों का चुनाव तथा उनके उत्पादन का काल–रबी अथवा खरीफ–निश्चित करता है । फसलों के चुनाव पर अन्य कारक जैसे – धरातल के स्वरूप तथा मिट्टी के गुण भी प्रभाव डालते हैं । भारत में जलवायु तथा मृदा की विभिन्नताओं के कारण देश के अलग–अलग भागों में विभिन्न प्रकार की फसलें पैदा होती है । उदाहरण के लिए जहाँ उष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में चावल पैदा होता है वही देश के शीतोष्ण कटिबंधीय क्षेत्रों में गेहूँ पैदा किया जाता है । वास्तव में भारत की स्थिति ऐसी है कि यहाँ ग्रीष्म ऋतु में उष्ण कटिबंधीय फसलें तथा शीत ऋतु में शीतोष्ण कटिबंधीय फसलैं पैदा की जाती हैं । इन भौतिक कारकों के अलावा सामाजिक, आर्थिक तथा संस्थागत कारक भी फसलों के वितरण को नियंत्रित करते हैं । इनमें खेतों का आकार एवं भूमि–स्वामित्व, संस्थागत सुविधायें, प्रौद्योगिकी का विकास, सरकारी नीतियाँ तथा किसानों की क्षमता तथा सामर्थ्य प्रमुख हैं ।

भारत में जलवायु की दशायें ऐसी है कि वर्ष भर कृषि होती रहती है । भारत में कृषि के तीन ऋतुएँ (seasons) पाई जाती हैं । ये खरीफ, रबी और जायद है । दक्षिण–पश्चिमी मानसून की फसल को खरीफ की ऋतु कहते हैं । इस ऋतु की फसलों के लिए अधिक ताप तथा अधिक आर्द्रता की आवश्यकता होती है । मुख्य खरीफ फसलों में चावल, मक्का, ज्वार, तुअर, मूंग, उड़द, कपास, लूट, मूंगफली, सोयाबीन आदि हैं । शीत ऋतु की फसल को रबी की फसल ऋतु कहते है । इस फसल ऋतु की प्रमुख फसलों में गेहूँ, जो, रूगर, राई, सरसों, अलसी, मसूर और चना हैं । जायद ग्रीष्मकाल की फसलों की ऋतु है । ऐसी फसल का उत्पादन अधिक तापमान और सिंचाई की सहायता से होता है । इस फसल ऋतु की प्रमुख फसलों में चावल, मक्का, साग – सब्जियाँ, मसाले तथा फल हैं । भारत में उष्ण और शीतोष्ण दोनों तरह की फसलें पैदा होती हैं । मौसम के अलावा इन फसलों के सकेन्द्रण में तकनीकी कारण भी प्रभाव डालते हैं, जिससे इन फसलों का विस्तार गैर–परम्परागत क्षेत्रों में होने लगा है जैसे कि पंजाब में कम वर्षा तथा कम तापमान होता है । अस्तु जलवायु की दृष्टि से यहाँ चावल की बड़े पैमाने पर कृषि नहीं

होनी चाहिए परन्तु चावल के उन्नत बीजों तथा सिंचाई की सुविधा के कारण ऐसा संभव हुआ है।

तालिका -15.4 : भारत में फसलों का बदलता प्रतिरूप,1950-51 से 2005-06

फसल	1950-51		2005-06	
	क्षेत्रफल	उत्पादन	क्षेत्रफल	उत्पादन
चावल	308.1	205.8	436.6	917.9
गेंहू	97.5	64.6	264.8	693.5
ज्वार	155.7	5.5	86.7	76.3
बाजरा	90	26	95.8	73.8
मक्का	31.6	17.1	75.9	147.1
सभी अनाज	782.6	424.1	992.1	1952.2
चना	75.7	36.5	69.3	56.0
तुअर	अनुपलब्ध	अनुपलब्ध	35.8	27.4
सभी दालें	190.9	84.1	223.9	133.8
सभी खाद्यान	973.20	508.3	1216.0	2086.0
सोयाबीन			77.1	82.7
राई-सरसों	20.7	7.6	72.8	81.3
मूँगफली	44.9	34.8	58.0	49.8
समस्त तिलहन	107.3	51.6	278.6	279.8
गन्ना	17.1	570.5	42.0	2811.7
कपास	58.8	30.4	86.8	185
जूट@	5.7	33.1	9.0	108.7

उत्पादन 170 किग्रा वाले लाख बेल्स में; @ उत्पादन 180 किग्रा वाले लाख वेल्स में

स्रोत : डाइक्टरेट ऑफ इक्नोमिक्स एंड स्टेटिस्टिक्स - एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स एट ए ग्लांस 2007

15.3.2 फसलो का बदलता हुआ प्रतिरूप

स्वतंत्रता के बाद भारत की कृषि में मूलभूत परिवर्तन हुए हैं । ये परिवर्तन समय के साथ निरंतर चले हैं जो कृषि तकनीकी, विशेषकर विज्ञान तथा तकनीकी के योगदान से हुआ है । प्रारंभ में ये परिवर्तन कुछ छोटे प्रदेशों मे हुए और धीरे–धीरे सम्पूर्ण देश में फैलते गये तथापि परिवर्तन देश के सभी भागों मे, तथा सभी फसलों में समान रूप से नहीं दिए हैं । अत: इन विभिन्न पक्षों का विश्लेषण आवश्यक हैं । विभिन्न अनाज फसलों के अन्तर्गत क्षेत्रफल तथा उत्पादन के आंकडे (15.5) देश में कृषि के विकास की पुष्टि करते हैं ।

तालिका - 15.5 : मुख्य अनाजों के अन्तर्गत भूमि, उत्पादन, उपज की प्रवृत्ति, 1950-2006

(क्षेत्र लाख हेक्टेयर, उत्पादन लाख टन, उपज किग्रा / हेक्टेयर)

वर्ष	चावल			गेहूँ			कुल अनाज		
	क्षेत्रफल	**उत्पा.**	**उपज**	**क्षेत्रफल**	**उत्पा.**	**उपज**	**क्षेत्रफल**	**उत्पा.**	**उपज**
1950-51	308.1	205.8	668	97.5	64.6	663	973.2	508.2	522
1960-61	341.3	345.8	1013	129.3	110.0	841	1155.8	820.2	710
1970-71	375.9	442.2	1123	182.4	238.3	1307	1243.2	1084.2	872
1980-81	401.5	563.3	1336	228.2	363.1	1630	1266.7	1259.9	1023
1990-91	426.9	742.9	1740	241.7	551.4	2281	1278.4	1763.9	1380
2000-01	447.1	849.8	1901	257.3	696.8	2708	1227.8	2128.5	1734
2005-06	436.6	917.9	2102	264.8	693.5	2619	1216.0	2086.0	1715
1950-2006 के मध्य % परिवर्तन	41.7	346.0	2147	271.6	673.5	295.0	24.9	310.5	228.5

स्रोत : डाइक्टरेट ऑफ इक्नोमिक्स एंड स्टेटिस्टिक्स - एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स एट ए ग्लांस 2004 तथा 2007

उपरोक्त आकड़ों से ज्ञात होता है कि गेहूँ के अन्तर्गत भूमि की असाधारण वृद्धि हुई और प्रति हेक्टेयर उपज भी बढ़ी है । वास्तव में हरित क्रांति गेहूँ की कृषि में प्रारंभ हुई थी । प्रति हेक्टेयर अधिक उपज मिलने के कारण यह फसल किसानों के लिए लाभप्रद हो गई । देश में गेहूँ का बड़ा बाजार है । फलत: गेहूँ का उत्पादन तीव्र गति से बढ़ा ।चावल के अन्तर्गत भी समूचित भूमि बढ़ी है । इसका एक कारण यह भी है कि पंजाब, हरियाणा आदि में दुफसली क्षेत्र बढ़ा है । वर्षा ऋतु में चावन की फसल के बाद गेहूँ की फसल ली जाती है । सिंचाई के साधनों के विकास के साथ–इस क्षेत्र में अधिक वृद्धि हुई है । जब पर्याप्त वर्षा नहीं होती तब सिंचाई की सहायता से चावल पैदा किया जाता है । साथ ही भोज्य सामग्री की मांग निरंतर बड़ी हैं अत: जिस भूमि में अन्य कोई फसल बोयी जाती थी वहाँ अब चावल बोया जाने लगा है । इन श्रेष्ठ फसलों के विपरीत मोटे अनाजों का क्षेत्रफल एवं उत्पादन मद गति से बढ़ा है । उदाहरण के लिए सन् 1950–51 से सन् 2005–06 के मध्य ज्वार का उत्पादन 38.7 प्रतिशत तथा बाजरा का 195.4 प्रतिशत ही बढ़ा जबकि कुल खाद्यान्नों में 310.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। मक्का का व्यापारिक महत्व होने के कारण इसका उत्पादन बहुत ही तेजौ से बढ़ा ।

गेहूँ और चावल की तुलना में दालों के क्षेत्रफल तथा उत्पादन मे बहुत मंद वृद्धि हुई (तालिका 15.6) । जबकि देश में प्रोटीन का मुख्य स्त्रोत होने के कारण दालों की माँग बढ़ती गई है । सन् 1950–51 से सन 2005–06 के मध्य कुल दालों का उत्पादन केवल 59.1 प्रतिशत ही बढ़ा जबकि कुल खाद्यन्नों में 310.5 प्रतिशत की वृद्धि हुई। क्षेत्रफल में वृद्धि तो और भी मंद रही है । चना सबसे प्रमुख दाल वाली फसल है जिसका क्षेत्र कम हुआ है, तथापि इसकी प्रति हेक्टेयर उपज दर बढ़ी परंतु तुअर की उपज दर काफी घटी ।

फसल – समूहों में सर्वाधिक वृद्धि तिलहनों में हुई है । इनके अन्तर्गत क्षेत्रफल सन् 1950–51 में 107.3 लाख हेक्टेयर तथा उत्पादन 51.6 लाख टन था जो सन् 2005–06 में क्रमश: 278.6 लाख हेक्टेयर राव 279.8 लाख टन हो गया । उन्नत बीजों के कारण भी उत्पादन में वृद्धि हुई है । इन दशकों में परंपरागत तिलहन, जैसे तिल, सरसों, मूंगफली आदि के साथ सोयाबीन की खेती लोकप्रिय हुई और इसके तेल का प्रचलन बढ़ा । अब यह तिलहनों में प्रथम स्थान पर आ गया है । इसके क्षेत्र एवं उत्पादन में मध्य प्रदेश अग्रणी है । भारत में सर 2005–06 में 77.1 लाख हेक्टेयर भूमि में सोयाबीन बोया गया एवं 82.7 लाख टन उत्पादन हुआ । इसमें से 42.6 लाख हेक्टेयर भूमि (55.25 प्रतिशत) मध्यप्रदेश में थी जिससे 45.0 लाख टन (54.41 प्रतिशत) उत्पादन हुआ अधिक आर्द्रता मौसम में बहुत सी भूमि पड़ती रहती थी जिसमें अब सोयाबीन बोया जाने लगा है। गन्ना तथा कपास क उत्पादन में वृद्धि भी नई किस्मों तथा सिंचाई के साधनों के विकास कारण हुई है।

तालिका 15.6 : मुख्य दालों के अन्तर्गत भूमि, उत्पादन, उत्पादकता की प्रवृत्ति, 1950-2006

(क्षेत्र लाख हेक्टेयर, उत्पादन लाख टन, उपज किग्रा / हेक्टेयर)

वर्ष	चना			तुअर			कुल दालें		
	क्षेत्रफल	उत्पा.	उपज	क्षेत्रफल	उत्पा.	उपज	क्षेत्रफल	उत्पा.	उपज
1950-51	75.7	36.5	482	21.8	17.2	788	190.9	84.1	441
1960-61	92.8	6.26	674	24.3	20.7	849	235.6	127	539
1970-71	78.4	5.2	663	26.6	18.8	709	225.4	118.2	524
1980-81	65.8	4.3	657	28.4	19.6	689	224.6	106.3	473
1990-91	75.2	5.36	712	35.9	24.1	673	246.6	142.6	578
2000-01	51.9	3.86	744	36.3	22.5	618	203.5	110.8	544
2005-06	69.3	56	808	35.8	27.4	765	223.9	133.8	598
1950-2006 के मध्य % परिवर्तन	-8.5	53.4	67.6	64.2	59.3	-2.9	17.3	59.1	35.6

स्रोत : डाइक्टरेट ऑफ इक्नोमिक्स एंड स्टेटिस्टिक्स - एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स एट ए ग्लांस 2004

समय के साथ देश के विकास के प्रमाण उसके द्वारा कुल उत्पादन में वृद्धि से सिद्ध होगा है। यही कारण है कि देश खाद्यान्नों के उत्पादन में लगभग आत्मनिर्भर है। खाद्य तेल तथा दालों के अतिरिक्त विदेशों पर निर्भरता नहीं है । जनसंख्या की असाधारण वृद्धि के बाद भी अकाल और कुपोषण की जो स्थिति स्वतंत्रता के समय थी वह आज नहीं है ।

यहाँ इस बात पर बल देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कृषि के विकास में अपने देश की जलवायु भी सहायक है । यहाँ के अधिकतर प्रदेशों में सालभर तापमान इतना ऊँचा रहता है कि यदि जल उपलब्ध हो तो वर्ष में दो से तीन फसलें ली जा सकती है। अधिक वर्षा वाले प्रदेशों में भी संभव हैं ।

15.4 कृषिय उत्पादन (Agricultural Production)

देश के सभी राज्य खाद्यान्न उत्पादन में समन रूप से योगदान नहीं करते है । खाद्यान के उत्पादन में अग्रणी राज्य उत्तरप्रदेश, पजाब, आन्ध्रप्रदेश, पश्चिम बगाल, कर्नाटक, मध्यप्रदेश तथा हरियाणा हैं। (तालिका 15.7) ।प्रथम पाँच राज्य मिलकर देश के कुल खाद्यान का आधे से अधिक हिस्सा उत्पादन करते हैं। कृषित भूमि के वितरण की असमानता के साथ उत्पादन में भी समुचित अन्तर है। राज्यों में उत्पादन का वही अनुपात नहीं है जो कि कृषित भूमि का है। उदाहरण के लिए पंजाब तथा हरियाणा में देश की केवल 5.20 प्रतिशत तथा 3.51 प्रतिशत कृषित भूमि है लेकिन इनका खाद्यान्न का उत्पादन क्रमश: 12.07 प्रतिशत तथा 6.23 प्रतिशत है। इसके विपरीत देश की कृषित भूमि में राजस्थान का हिस्सा 10.24 प्रतिशत है, परन्तु उत्पादन में केवल 5.49 प्रतिशत है। ऐसे ही महाराष्ट्र देश की 10.49 प्रतिशत कृषित भूमि से 5.49 प्रतिशत खाद्यान्न उत्पादन करता है। निम्नलिखित आँकड़े उपरोक्त तथ्य को स्पष्ट करते हैं ।

तालिका 15.7 भारत के प्रमुख राज्यों में कुल खाद्यान्नों के अन्तर्गत क्षेत्र एवं उत्पादन, 2005-06, (क्षेत्रफल लाख हेक्टेयर, उत्पादन लाख टन)

राज्य	**क्षेत्रफल**	देश के कुल **क्षेत्रफल का %**	उत्पादन	देश के कुल उत्पादन का %	कुल उत्पादन का समुच्चयी %
उत्तर प्रदेश	196.4	16.15	404.1	19.37	19.37
पंजाब	63.2	5.20	251.8	12.07	31.44
आंध्रप्रदेश	71.7	5.90	169.5	8.13	39.57
पश्चिम बंगाल	64.4	5.30	156.1	7.48	47.05
कर्नाटक	76	6.25	134.9	6.47	53.52
मध्य प्रदेश	116.8	9.61	132.0	6.33	59.85
हरियाणा	42.7	3.51	130.0	6.23	66.08
महाराष्ट्र	127.5	10.49	120.9	5.80	71.87
राजस्थान	124.5	10.24	114.5	5.49	77.36
बिहार	65.5	5.39	85.9	4.12	81.48
उड़ीसा	54.6	4.49	73.6	3.53	85.01
गुजरात	39.7	3.26	61.5	2.95	87.96
तमिलनाडू	33.2	2.73	61.3	2.94	90.90
छत्तीसगढ़	51.5	4.24	57.1	2.74	93.63
आसाम	26	2.14	36.8	1.76	95.40
झारखण्ड	19.3	1.59	20.7	0.99	96.39
उत्तरांचल	10.03	0.85	15.9	0.76	97.15

अन्य	32.7	2.69	59.4	2.85	100.00
भारत	1216	100.00	2086.00	1000.00	

स्रोत : डाइक्टरेट ऑफ इक्नोमिक्स एंड स्टेटिस्टिक्स - एग्रीकल्चरल स्टेटिस्टिक्स एट ए ग्लांस 2007

विभिन्न फसलों के प्रधान उत्पादकों का आभास तालिका 15.8 से मिल जाता है ।

15.4.1 कृषिय उत्पादन में वृद्धि (Growth of Agricultural Production)

खाद्यानों का उत्पादन सर 1950–51 में 5.08 करोड़ टन से बढ़कर सर 2000–01 में 19.59 करोड़ टन परन्तु सन् 2005–06 में 20.86 करोड़ टन हो गया है । परिणाम स्वरूप खाद्यान्नों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता जहाँ सन् 1951 में 395 ग्राम थी वही सन 2003 में बढ़कर 436 ग्राम हो गई है । खाद्यान्नों में अनाज तथा मोटे अनाजों का उत्पादन काफी तेजौ से बढ़ा है । यह सन 1950–51 में यह 4.24 करोड़ टन था जो सन् 2005–06 में बढ़कर 19.52 करोड़ टन हो गया हैं । अनाजों के उत्पादन में यह उर्वरक, सिंचाई एवं उन्नत बीजों के उपयोग के फलस्वरूप हुई है किन्तु दलहन का उत्पादन में वृद्धि मंदगति से हुई है । इसी समय में दालों का उत्पादन 84.7 लाख से बढ़कर 133.8 लाख टन हो पाया है (तालिका 154) ।

अखाद्या फसलों में, कपास, जूट तथा तिलहन फसलों का उत्पादन में वृद्धि मंद गति से हुई है किन्तु तिलहनों का उत्पादन काफी तेजौ से बढ़ा है । समस्त तिलहनों का उत्पादन सन 1950–51 में 51.5 लाख टन था जो सन् 2005–06 में बढकर 279.8 लाख टन हो गया है । इसी तरह से कपास का उत्पादन सन् 1950–51 में 30 लाख गाठों से बढ़कर सन् 2005–06 मे 185 लाख गाठें हो गयी है । बताती कृषि की फसलों का उत्पादन भी बढ़ा है । उदाहरण के लिए चाय का उत्पादन सन् 1950–51 में 278.2 हजार टन से बढ़कर सन् 2000–01 में 848 हजार टन हो गया है । इसी तरह से कहवा का उत्पादन 301 हजार टन से बढ़कर 630 हजार टन हो गया है ।

तालिका - 15.8 : प्रमुख फसलों के तीन सबसे बड़े उत्पादक राज्य, 2005-06 (दस लाख टन में)

फसल	राज्य	उत्पादन	भारत का %	समुच्चयी %	फसल	राज्य	उत्पादन	भारत का %	समुच्चयी %
चावल	प.बंगाल	14.51	15.81	15.81	सोयाबीन	मध्य प्रदेश	4.5	54.41	54.41
	आन्ध्र प्रदेश	11.70	12.75	28.55		महाराष्ट्र	2.53	30.59	85.14
	उत्तर प्रदेश	11.13	12.13	40.68		राजस्थान	0.86	10.40	95.41
गेंहू	उत्तर प्रदेश	24.07	34.71	34.71	सूर्यमूखी	कर्नाटक	0.79	54.86	54.86
	पंजाब	14.49	20.89	55.60		आन्ध्र प्रदेश	0.3	20.83	75.69
	हरियाणा	8.86	12.78	68.38		महाराष्ट्र	0.21	14.58	90.28

मक्का	आन्ध्र प्रदेश	3.09	21.01	21.01	कुल तिलहन	राजस्थान	5.96	21.30	21.30
	कर्नाटक	2.73	18.56	39.56		मध्य प्रदेश	5.72	20.44	41.74
	बिहार	1.36	9.25	48.81		गुजरात	4.68	16.73	58.47
मोटे अनाज	कर्नाटक	6.56	19.25	19.25	गन्ना	उत्तर प्रदेश	125.47	44.62	71.93
	महाराष्ट्र	6.09	17.87	37.13		महाराष्ट्र	38.85	13.82	36.59
	राजस्थान	4.53	13.30	50.43		तमिलनाडु	35.11	12.49	53.68
कुल दालें	मध्य प्रदेश	3.23	24.14	24.14	कपास @	गुजरात	6.77	36.59	66.65
	उत्तर प्रदेश	2.23	16.67	40.81		महाराष्ट्र	3.16	17.08	74.82
	महाराष्ट्र	2.01	15.02	55.83		पंजाब	2.4	12.97	87.64
कुल खाद्यान्न	उत्तर प्रदेश	40.41	19.37	19.37	जूट - मेस्ता $	प.बंगाल	8.11	74.82	91.88
	पंजाब	25.18	12.07	31.44		बिहार	1.39	12.82	41.78
	आन्ध्र प्रदेश	16.95	8.30	39.57		आन्ध्र प्रदेश	0.46	4.24	72.99
मूँगफली	गुजरात	3.39	42.43	42.43	आलू	उत्तर प्रदेश	9.99	41.78	78.15
	आन्ध्र प्रदेश	1.37	17.15	59.57		प.बंगाल	7.5	31.22	72.99
	तमिलनाडु	1.1	13.77	73.34		बिहार	1.2	5.16	78.15
राई-सरसों	राजस्थान	4.42	54.37	54.37	प्याज	महाराष्ट्र	2.5	28.44	28.44
	उत्तर प्रदेश	0.91	11.19	65.56		गुजरात	2.1	24.51	52.94
	मध्य प्रदेश	0.85	10.46	76.01		कर्नाटक	0.9	10.02	62.97

उत्पादन @ 170 किग्रा वाले दस लाख बेल्स में $ 180 किग्रा वाले बेल्स में

15.4.2 कृषिय उत्पादकता (Agricultural Productivity) का प्रादेशिक प्रतिरूप

भारत की कृषि की दक्षता नापने के लिए कई भूगोलविदों ने प्रयास किया है जैसे कि उत्तरपरदेश की कृषि की दक्षता का आकलन करने के लिए शफी (1960) ने फसलों की उपज दर पर आवर्ग़रत कैंडाल की कोटि गुणांक विधि का उपयोग किया है। इस विधि में फसल के क्षेत्रफल पर विचार न करने के कारण उत्पन्न विसंगति को दूर करने के लिए सप्रे तथा देशपांडे ने (1964) औसत भारित कोटि गुणाक विधि का उपयोग करके महाराष्ट्र की कृषि की दक्षता के क्षेत्रीय व्ययिता का विश्लेषण किया। बाद में भाटिया (1967) ने उत्तर प्रदेश की कृषि की उत्पादकता की गणना दक्षता सूचकांक की, मदद से किया। सिन्हा (1968) ने देश की 25 फसलो की उपज दर ले कर प्रामाणिक विचलन विधि का उपयोग करके कृषि दक्षता ज्ञात किया। शफी (1971) ने एनएडी की विधि का उपयोग भारत कृषि की उत्पादकता ज्ञात करने के लिए किया। भूमि की बहन क्षमता के माध्यम से भी कृषि की उत्पादकता का निर्धारण शफी (1967)

तथा जसबीर सिंह (1972,1974) ने किया है। ईस्टर, एबिल तथा नॉटन ने (1977) उत्पादित चावल एवं गेहूँ के मूल्य के आधार पर भारतीय कृषि की उत्पादकता विश्लेषण किया है ।

इन विधियों से हट कर एडिसन दयाल ने (1984) सभी जिलों के 18 फसलों के कुल उत्पादन की कीमत ज्ञात किया तथा इसकी मदद से प्रति इकाई तथा प्रति श्रमिक उत्पादकता की गणना की । इन दोनों को मिला कर समग्र उत्पादकता की भी गणना की । इस गणना में तीन वर्षो – 1971–72 से 1973–74 तक के उत्पादन के औसत का उपयोग किया गया ।

इसी तरह उत्पादकता की गणना नूर मोहम्मद ने (2002) अपने लेख "भारत में खाद्य सुरक्षा का प्रादेशिक प्रतिरूप" में किया है । उन्होंने वर्ष 1994–05, 1995–6 तथा 1996–97 के सभी फसलों के जिलेवार औसत उत्पादन लेकर उसमें सम्बन्धित फसलों के औसत स्व का गुणा करके प्रत्येक जिले में उत्पादित फसलों का मूल्य निकाल लिया । उत्पादित फसल की कुछ मात्रा बीज रखने, ढोने तथा अन्य रूपों में नष्ट होने के कारण उपभोग के लिए उपलब्ध नहीं हो पाती । यह मात्रा कुल उत्पादन की 16.8 प्रतिशत अनुमानित (चक्रवर्ती 1971) है । चूँकि नूर मोहम्मद का लक्ष्य मूल्य के रूप में खाद्य की उपलब्धता का आकलन करना था, इसलिए उत्पादन के कुल मूल्ये में अनुपलब्ध मात्रा को घटाने पर प्राप्त गुणांक (100.16.8=83.2 अर्थात) 0.832 का जिले कें कुल उत्पादन के मूल्य से गुणा करके निरा उपलब्ध मात्रा ज्ञात किया । यह मूल्य खाद्य पदार्थो के क्रय की सामर्थ्य का द्योतक है । कृषि की उत्पादकता मापने के लिए भी एक मूल्य का उपयोग किया जा सकता है । इसे तालिका के रूप में निम्नानुसार प्रदर्शित किया है ।

तालिका–15.9 : मूल्य के रूप में प्रति हेक्टेयर निरा उत्पादकता, 1994–97 (औसत)

वर्ग	मूल्य का विस्तार	जिलो की संख्या	कुल जिलो का %
आधिक	10,000 से अधिक	114	26.67
औसत	10,000–7,500	165	38.74
कम	7,500–5,000	60	15.08
बहुत कम	5,000 से कम	87	20.42
सभी		426	100.00

स्रोत : नूरमोहम्मद (2002) पृ. 16.

इस तरह ज्ञात की गई उत्पादकता में बहुत अधिक क्षेत्रीय विभिन्नताएं एवं विषमताएं हैं । देश के एक–चौथाई जिलों में उत्पादकता अत्यधिक तथा अधिक (प्रति हेक्टेयर रु. 10,000 से अधिक) है । ये जिले चार प्रदेशों में फैले हैं । सबसे विस्तृत भाग उत्तर–पश्चिम भारत में स्थित है जिसका विस्तार सम्पूर्ण पंजाब तथा हरियाणा राज्यों, पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा राजस्थान के गंगानगर में है । यह भाग हरित क्रान्ति से सर्वाधिक लाभान्वित हुआ था तथा तकनीकी दृष्टि से अग्रणी, आधारभूत सुविधाओं में बहुत विकसित तथा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है । दूसरा अधिक उत्पादकता वाला क्षेत्र पश्चिम बंगाल, दक्षिण पूर्वी बिहार का मैदान

तथा ब्रहमपुत्र घाटी के कुछ जिला पर फैला है । इसकी उच्च उत्पादकता का कारण–चावल की गहन खेती, चाय के बागान तथा गावानी कृषि का होना है । तीसरा अधिक उत्पादकता का क्षेत्र आन्ध्रप्रदेश का तटीय मैदानी भाग है । डसी के तारतम्य में चौथा अधिक उत्पादकता का क्षेत्र स्थित है जिसका विस्तार सम्पूर्ण केरल तथा तमिलनाडु राज्यों और कर्नाटक के पश्चिमी जिलों पर है । चावल की गहन खेती तथा व्यापारिक बागाती कृषि के कारण यहाँ की उत्पादकता अधिक हो पाई है ।

कुल जिलों में से 39 प्रतिशत मध्यम उत्पादकता वाले जिले हैं । ये विभिन्न आकार के पाँच क्षेत्रों में फैले हैं । सबसे बडा भाग उत्तरप्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ तथा दक्षिण पूर्वी उड़ीसा के जिलों का है । इसका कारण अनुकूल भौतिक पर्यावरण, विशेषकर समतल धरातल, उपजाऊ मृदा तथा अनुकूल जलवायु का होना हे । ओसत उत्पादकता का दूसरा बड़ा क्षेत्र दक्षिणपूर्वी प्रायदुवपीय भारत में स्थित है जिसमें तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश तथा केरल राज्यों के जिले आते हैं । तीसरा क्षेत्र पश्चिम भारत में महाराष्ट्र तथा गुजरात राज्यों का तटीय नाग है । अन्य दो छोटे क्षेत्र हैं । एक पूर्व में ब्रहमपुत्र घाटी के पूर्वी भाग तथा मण्डिपूर्व और नागालैण्ड राज्यों में स्थित है तथा दूसरा उत्तराखण्ड और हिमाचल प्रदेश के दक्षिणी भाग पर फैला है ।

देश के 14 प्रतिशत जिलों में उत्पादकता कम है । ये क्षेत्र हैं : हिमाचल प्रदेश तथा उत्तराखण्ड के उच्च भाग, मध्यप्रदेश का बुंदेलखण्ड उच्च भूमि उत्तरपश्चिमी उड़ीसा, मेघालय तथा पूर्वी महाराष्ट्र में फैले हैं । बहु त कम उत्पदकता देश के एक–पचमांश जिलों में है । ये जिले लगभग सम्पूर्ण राजस्थान, गुजरात मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्नाटक तथा दक्षिणी छत्तीसगढ़ में फैले हैं । प्रतिकूल भौगोलिक दशाओं के कारण इन भागों में कम मूल्य वाली फसलें पैदा की जाती हैं । इस पेटी को देश की भूख पेटी कहा जाता है ।

बोध प्रश्न - 2

1. भारत में कुल कृषित भूमि का कितना हिस्सा सिंचित है?
   ....
   ....
2. देश के सर्वाधिक सिंचित तथा अल्पतम सिंचित राज्य कौन से हैं ?
   ....
   ....
3. खाद्य फसलों को किन तीन समूहों में बांटा जाता है ?
   ....
   ....
4. खरीफ और रबी की फसल ऋतु किन्हें कहते हैं ?

....

....

5. चावल एवं गेहूँ में क्षेत्रफल, उपज दर तथा उत्पादन में वर्ष 1950 से 2006 के मध्य तीव्रतर वृद्धि किसमें हुई ?

....

....

6. देश के तीन सबसे बडे खाद्यान्न उत्पादक राज्य कौन से हैं ?

....

....

15.5 भारत मे हरित क्रान्ति (Green Revolution in India)

भारत में नवीनतम हीरतक्रान्ति का आरम्भ बीसवीं शताब्दी के छठवें दशक में हुआ। यह विपुल उत्पादन देने वाली बीजों के उपयोग के साथ प्रारम्भ हुआ। उस समय देश में स्वतंत्रता के बाद से सबसे खराब आर्थिक स्थिति थी । प्रति व्यक्ति आय न्यूनतम हो गई थी । प्रति व्यक्ति उद्योग मंदी के शिकार हो गए थे ।

बेरोजगारी बहुत बढ़ गई थी । देश खाद्यान्नों के आयात के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका पर बहुत ही निर्भर हो गया था, जिसके लिए उसे राजनयिक कीमत चुकानी पड़ती थी । विश्व में भी अनिश्चय का वातावरण था । खाद्यान्न–आधिक्य वाले देश खाद्यान्न कमी वाले देशों की आवश्यकता को कहां तक पूरा कर सकते थे । इसी समय पडाक बन्धुओं का यह विचार भी प्रकाशित हुआ कि सर 1975 तक विश्व के विभिन्न भागों में भयंकर अकाल आ सकते हैं और उन लोगों ने भारत को सबसे अधिक प्रभावित होने वाले देशों की सूची में रखा । फलत: विश्व बाजार में स्थितियां भारत के प्रतिकूल हो गई ।

ऐसी दशा में भारत को खाद्य वस्तुओं के उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने का प्रयास करने के अलावा कोई और चारा नहीं रहा । खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने के दो ही रास्ते हो सकते थे । एक, खाद्यान्नों के अन्तर्गत क्षेत्रफल बढ़ाकर, दूसरे प्रति हेक्टर उपज बढ़ाकर । क्षेत्र के विस्तार की संभावनाएं क्षीण थीं, क्योंकि सभी कृषि योग्य भूमि पर कृषि का विस्तार हो चुका था और तीन–चौथाई से अधिक कृषित भूमि खाद्यान्नों के अंतर्गत थी । इस कारण केवल एक ही विकल्प रह जाता था कि भूमि का उत्पादकता बढ़ाई जाए । इस पृष्ठभूमि में भारत में हरित क्रांति का शुभारंभ किया गया ।

15.5.1 हरित क्रांति के साधन

हरित क्रांति वास्तव में कृषिगत नए निवेशों एवं कृषि की विधा के पैकेज का नाम है । इस पुलिंदे का केन्द्रीय तत्व था "करामाती बीज" । इस प्रकार के बीज के कई गुण थे । नए बीज मैक्सिकों और फिलीपाइन्स से लाए गए और उनका तेजौ से बढ़ाया गया । इनकी कतिम बहुत

अधिक उपज देने की क्षमता के कारण ही इन्हें करामाती/चमत्कारी बीज (miracle seed) कहा गया । इन बीजों में फसलों के अच्छे गुणों का सम्मिश्रण किया गया था । इनके मुख्य गुणों का उल्लेख ए.के. चक्रवर्ती ने इस प्रकार किया है (चक्रवर्ती 1973, 319–30) :

1. इन बीजों पर उर्वरकों का शीघ्र प्रभाव होता है ।
2. उर्वरकों के प्रति इकाई मात्रा पर उपज ज्यादा होती है ।
3. पके अन्नों से भारी होने पर मई बालें नहीं गिरती हैं ।
4. चावल को छोड़कर अन्य बीज शुष्कता को सहने में सक्षम होते हैं और इनका उपयोग विस्तृत अक्षांशीय क्षेत्रों में किया जा सकता है ।
5. वे अल्पावधि में पकती हैं, जिससे वर्ष में रक से अधिक फसल पैदा करना संभव होता है
6. स्थानीय परम्परागत बीजों की तुलना में दो से चार गुना उपज देने में सक्षम होती हैं

इस चमत्कारी बीज से अधिकतम लाभ लेने के लिए इसके साथ अन्य निवेशों का उपयोग अनिवार्य है । पहली आवश्यकता है समय पर समुचित नियंत्रित जल की पूर्ति जो सिंचाई की व्यवस्था से ही संभव है । साथ ही बिना उर्वरकों के इस पैकेज का पूर्ण लाभ नहीं मिल सकता । उन्नत बीज, विशेषकर चावल के बीजों पर रोगाणुओं और खरपतवारों का प्रकोप बाधक होता है । अस्तु रोगाणुनाशक एवं खरपतवारनाशक दवाइयों का उपयोग भी आवश्यक हो जाता है । उन्नत बीजों के छोटे उत्पादन काल के कारण दो फसलें पैदा करना संभव होता है, परन्तु खेत की तैयारी के लिए ट्रैक्टर जैसे उपकरणों का उपयोग काम को सरल एवं शीघ्रता से कर देता है ।इन सभी निवेशों का एक साथ उपयोगों ही संभावित अधिक उत्पादन का लाभ दे सकता है जैसे कि नियमित जल की सुविधा रख उर्वरकों के बिना उत्पादन बढ़ना संभव नहीं । बिना कीटनाशक दवाओं के उत्पादन अधिक परिवर्तनशील हो । बिना मशीनों के एक खेत से कई फसलों के उत्पादन की संभावना का दोहन संभव नहीं अस्तु इन निवेशों का एक साथ उपयोग (Package approach) हरित क्रांति का मुख्य आधार है ।

इस क्रांति का दूसरा अंग है । नवीन कृषि की विधियों का पैकेज । ये दोनों अंग मिलकर ही "विपुल उत्पादन की तकनीक (High Yielding Technology) के नाम से जाने जाते हैं । उत्पादन काल छोटा होने के कारण किसान को नए "क्राप कैलेंडर" का अनुसरण करना पड़ता है । स्टथ ही प्रत्येक नए निवेश के उपयोग के लिए विविध नई विधियों का उपयोग भी आवश्यक हो गया । जैसे कि किसानों को यह जानना आवश्यक हो गया कि उसकी किस जमीन में किन तत्वों की कमी है और किन उर्वरकों की कितनी मात्रा किस समय देना चाहिए । अलग–अलग फसलों के लिए वांच्छित उर्वरक भी अलग–अलग है । इसी तरह कीटों की पहचान, उनको नष्ट करने वाली प्रभावी दवाइयाँ, उनके उपयोग की विधि रण समय तथा मात्रा का ज्ञान भी अपेक्षित है । इसी भाँति उन्नत उपकरणों–ट्रैक्टर और हारवेस्टर्स के उपयोग के लिए उनके उपयोग रण रखरखाव की मोलीक बातों का ज्ञान अनिवार्य होता है।

इस उत्पादकतावर्धक तकनीक की तीन प्रमुख विशेषताएं है :–

1. **बाजारोन्मूखता** – स्वयं के बीज, खाद, यंत्र, पारिवारिक श्रमिक के स्थान पर बाजारों से सभी निवेशों का क्रय ।

2. **अधिक लागत** – भूमि की प्रति इकाई लागत अधिक होती है । लागत के स्रोत सहकारी समितियां, भूमि विकास बैंक रख व्यावसायिक बैंक हैं । अस्तु हरितक्रांति के साथ इन संस्थाओं से धन प्राप्ति की समस्या पनपी है । ट्रैक्टर, हारर्वेस्टर तथा ट्यूबवेल जैसी चीजें छोटे किसानों से परे होती हैं । केवल बड़े किसान ही उन्हें प्राप्त कर पाते हैं । इसलिए उन पर छोटे रण सीमान्त किसानों की निर्भरता बढ़ती जाती है ।
3. **आयात पर आधारित पेट्रोरसायन तथा अधिक ऊर्जा –** यह तकनीक पेट्रोलियमृ और उसके उत्पादों पर अत्यधिक निर्भर है । उर्वरकों की भारी मात्रा अब भी आयात की जाती है, यद्यपि इनके उत्पादन में वृद्धि हुई है । मुख्य कच्चा माल पेट्रोलियम की भारी मात्रा के लिए देश विदेशों पर निर्भर है । साथ ही भारी मात्रा में पेट्रोलियम और डीजल की मांग टेक्टर, पम्प आदि के लिए भी है । इन सबका परिणाम है कि कृषि लगातार मँहगी होती जा रही हे । मँहगे होने और प्राप्ति की कठिनाई के कारण भारत में उर्वरकों का उपयोग कम है । उदाहरण के लिए सन 2003–04 में भारत में कृषित भूमि के प्रति हेक्टर उर्वरकों का 89.8 कि ग्रा. उपयोग हुआ जबकि पाकिस्तान में (सन् 2002 में) 139।1 कि ग्रा. बंगलादेश में 175 कि ग्रा. जापान में 287 कि ग्रा. और न्यूजौलैंड में 575.2 कि ग्रा. था ।

इस पैकेज प्रोग्राम के द्वारा खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता प्राप्त हो सकती है । इसके समर्थकों का दावा था कि उत्पादन बढ़ने के साथ देश की तमाम गरीबी, बेरोजगारी, असमान वितरण जैसी समस्याएँ अपने आप ही हल हो जाएगी । एक अध्ययन में तो यहाँ तक कहा गया कि सिंचित क्षेत्र में इस तकनीक के उपयोग से प्रति हेक्टर 10 टन तक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है ।

15.5.2 कृषि नीति (Agricultural Strategy)

कृषि उत्पादन और उत्पादकता बढ़ाने का प्रयास द्वितीय पंचवर्षीय योजना के उत्तरार्द्ध में ही आरम्भ हो गया था । फोर्ड फाडंडेशन की विशेषज्ञ समिति की चुने हुए क्षेत्रों के विकास पर ध्यान ने की अनुशंसा पर भारत सरकार ने सन् 1960 में गहन क्षेत्रीय विकास कार्यक्रम (IADP) चलाया गया । सन् 1965 तक यह कार्यक्रम देश के 114 जिलौ में फैलाया गया । इसे गहन क्षेत्रीय कृषि कार्यक्रम (IAAP) कहा गया । इन जिलों में उर्वरक, साख और बाजार की सुविधाएं बढ़ाई गई जिनकी उपज क्षमता काफी अधिक थी । उधर फिलीपाइन्स में चावल की विपुल उत्पादन देने वाले बीज तैयार किए गए । इन विपुल उत्पादक बीजों से अधिक से अधिक लाभ सिंचाई, उर्वरक, रोगनाशक एवं कीटनाशक दवाइयों के उपयोग से ही प्राप्त ही पाता था । ये सुविधाएं एवं निवेशों की पूर्ति सीमित थी । अस्तु इनके उपयोग के लिए एक रणनीति आवश्यक हो गई ।

कृषि में क्रांति लाने के लिए सन् 1965 में एक विशेष कृषि नीति अपनाई गई । इसको चयनात्मक (selective) नीति कहा गया । इस नीति के अनुसार हरित क्रांति की तकनीकी एवं विधियों के उपयोग के लिए ऐसे क्षेत्र चुने गए जहाँ सिंचाई जैसी सुविधाएँ पहिले से ही उपलब्ध थी । इन क्षेत्रों में भी नवीन सुविधाओं के लिए प्रगतिशील कृषकों को ही चुना गया । इस तरह के चुनाव के पीछे विचार यह था कि चूकि इस तरह की कृषि के लिए आवश्यक निवेशों की पूर्ति

सीमित थी; अस्तु ऐसे दुर्लभ निवेश उन क्षेत्रों और उन व्यक्तियों के हाथों में पहुँचे जो इनका अधिकतम उपयोग कर सकें । इस दृष्टि से अच्छी भूमि वाले सुविधा–सम्पन्न क्षेत्रों एवं कृषकों का चुनाव किया गया । कृषकों को सुविधाएं देने के लिए गहन कृषि–जिला कार्यक्रम (Intensive Agricultural District Programme) चलाया गया जिसके तहत कृषकों को आवश्यक सुविधाएँ जैसे–साख, बीज, उर्वरक, कीटनाशक एवं उपकरणों की सुविधाएँ सुलभ कराई गई । प्रारंभ में इनसे काफी लाभ हुआ परन्तु 1971 के बाद लाभ की मात्रा घटी । इसके तीन कारण थे: तकनीक का नवीन कम उपजाऊ क्षेत्रों पर प्रसार, निवेशों की कमी तथा उनके गुणों में अवनति ।

15.5.3 हरित क्रांति की उपलब्धियों (Achievements of Green Revolution)

हरित क्रांति के परिणामस्वरूप देश में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ा तथा वह इसमें आत्मनिर्भर हो गया । आयात पर निर्भरता घटी । यह बड़े हुए उत्पादकतावर्धक निवेशों के उपयोग द्वारा संभव हुआ ।

15.5.3.1 उत्पादन में तीव्र वृद्धि : हीरतक्रान्ति की सबसे प्रमुख उपलब्धि फसलों के उत्पादन में आशातीत वृद्धि का होना है । उदाहरण के लिए देश में सन् 1965–66 में 7.2 करोड़ टन कुल खाद्यान्नों का उत्पादन हुआ था जो बढ़कर सन् 1970–71 में 10.8 करोड़ टन तथा सर 2005–06 में 20.86 करोड़ टन हो गया । इस तरह यह 189.7 प्रतिशत की वृद्धि हुई है । सर्वाधिक वृद्धि (212.9 प्रतिशत) अन्नों में उत्पादन में हुई । अनाजों का कुल उत्पादन सर 1965–66 में 6.24 करोड़ टन था जो सन् 2005–06 में 19.52 करोड़ टन पहुँच गया । यह तीन गुनी वृद्धि है । इसके विपरीत दालों का उत्पादन 99 लाख टन से बढ़कर 133.4 लाख टन हो पाया । यह 34.6 प्रतिशत की वृद्धि है । इस अवधि में तिलहनों का उत्पादन चार गुना से अधिक हो । सर 1965–66 में नौ प्रमुख तिलहनों का उत्पादन 64 लाख था जो सर 2005–06 में 279.8 लाख टन तक पहुँच गया ।

विभिन्न फसलों के उत्पादन की वृद्धि में स्थानिक रख कालिक अंतर रहा है । खाद्यान्नों में गेहूँ का उत्पादन सबसे तीव्र गति से बढ़ा है । इसका उत्पादन सन् 1965–66 में 103.9 लाख टन से बढ़कर सर 2005–06 में 693.5 लाख टन हो गया । यह 567 प्रतिशत की वृद्धि है । यह वृद्धि मुख्यरूप से उपज दर के कारण संभव हुई है । गेहूँ की प्रति हैक्टर उपज सन् 1965–66 में 827 कि ग्रा. से बढ़कर सन 2005–06 में 2619 कि ग्रा. हो गई । इसकी तुलना में प्रथम क्रम की फसल चावल का उत्पादन अपेक्षाया मंद गति (200.1 प्रतिशत) से बढ़ा । यह सन 1965–66 में 306 लाख टन से बढ़ कर सर 2005–06 में 917.9 लाख टन हुआ । इनकी तुलना में मोटे अनाजों का उत्पादन स्थिर अथवा वृद्धि अति मंद रही है । इसी तरह दालों का उत्पादन भी उतनी तेजौ से (34.6 प्रतिशत) नहीं बढा ।

आरंभिक वर्षो में तिलहन को भी हरित क्रांति से लाभ नहीं पंहुचा था और सभी तिलहनों का उत्पादन सन 1965–66 में 121 लाख टन से घट कर सन् 1979–80 में 89 लाख टन हो

गया । तिलहनों का उत्पादन बढ़ाकर आत्मनिर्भरता प्राप्त करे का उद्देश्य से छठवीं योजना के अन्तिम वर्षो और सातवीं योजना काल में कई उपाय किए गए । जैसे कि सन 1985–86 में राष्ट्रीय तिलहन विकास प्रोजेक्ट (NODP), मई 1986 में तिलहन पर टेक्नोलॉजौ मिशन (TMO) और सन् 1987–88 में तिलहन उत्पादन केन्द्रित प्रोजेक्ट (OPTP) आरम्भ किए गए । इनके मूल्य निर्धारण पर भी ध्यान गया । फलत : नौ प्रमुख तिलहनों का उत्पादन सन् 1965–66 में 64 लाख टन से बढ़ कर सन् 2005–06 में 279.8 लाख टन हो गया । इस तरह सर 1965–66 से सन् 2005–06 के मध्य इनका उत्पादन 337.2 प्रतिशत बढ़ गया । खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ने के कारण इनके आयात में काफी कमी आई । सन् 1965 में कुल 103 लाख खाद्यान्नों का आयात हुआ था जौ घट कर सन 1983–84 में 24 लाख टन और सर 2003–04 में 34 हजार टन ही रह गया है ।

तालिका 15.10: भारत में हरित क्रांति के बाद प्रमुख फसलों के उत्पादन, क्षेत्रफल एवं उपज दर में हुए परिवर्तन, 1965-66 तथा 2005-06

मद/वर्ष	गेंहू	चावल	मक्का	ज्वार	बाजरा	अनाज	दालें	तिलहन
उत्पादन (लाख टन)								
1965-66	103.9	305.9	48.2	75.8	37.5	624	99.4	64
2005-06	693.5	917.9	147.1	72.4	76.8	1952.2	133.8	279.8
% वृद्धि	567.5	200.1	205.2	-4.5	104.8	212.9	34.6	37.2
क्षेत्रफल (लाख हेक्टर)								
1965-66	125.7	354.7	48	176.8	199.7	923.9	227.7	152.5
2005-06	264.8	436.6	75.9	86.7	95.8	992.1	223.9	278.6
% वृद्धि	110.7	23.1	58.1	-51.0	-52.0	7.4	-1.5	82.7
उपज दर (कि. ग्रा./ हेक्टर)								
1965-66	827	862	1005	429	314	675	438	419
2005-06	2619	2102	1938	880	802	1968	598	1104
% वृद्धि	216.7	143.9	92.8	105.1	155.4	191.6	36.5	163.5

स्रोत : आर्थिक एक सांख्यिकी संचालनालय, भारत सरकार- एग्रिकल्चर स्टेटिस्टिक्स ऐट ए ग्लांस 2007

उपज दर में वृद्धि – फसलों के उत्पादन में तीव्र वृद्धि मूलत: उनकी उपज बढ़ने के कारण हुई है जैसे गेहूँ की प्रति हेक्टर उपज सर 1965–66 में 827 कि. ग्रा. से बढ़ कर सन् 2005–06 में 2619 कि. ग्रा. हो गई । यह वृद्धि तीन गुनी से भी अधिक है । ज्वार और बाजरा की उपज दरों में भी वृद्धि हुई । चावल की उपज दर इस अवधि में 862 कि ग्रा. प्रति हेक्टर से बढ़कर 2102 कि. ग्रा. हुई । यह वृद्धि (143.9 प्रतिशत) गेहूँ की उपज दर की वृद्धि (216.7 प्रतिशत) की आधी है । अनाजों के विपरीत दालों की उपज में वृद्धि बहुत कम (36.5 प्रतिशत) है । यह सर 1965–66 में 438 कि. ग्रा. प्रति हेक्टर से बढ़कर सन् 2005–06 में केवल 598 कि. ग्रा. हुई । इसकी तुलना में तिलहनों की उपज दर सन् 1965–66 में 419 कि. ग्रा. से बढ़कर

सन 2005–06 में 1104 कि. ग्रा. हो गयी । इस तरह फसलों की उत्पादकता का बढ़ना हरित क्रांति की महत्वपूर्ण उपलब्धि है ।

15.5.3.2 बढ़ता निवेश (More Investment)

उत्पादन एवं उत्पादकता बढ़ाने के इस अभियान को सफल बनाने के लिए आधारभूत सुविधाएं बढ़ाई गई और उनके उपयोग को बढ़ावा दिया गया । इनमें उपजवर्धक तकनीक एवं निवेश मुख्य है ।

उन्नत बीज (HYV) – हरित क्रांति के आधार ही विपुल उत्पादन देने वाले बीज थे । आरम्भ में इनका आयात किया जाता था परन्तु अब इनका देश में ही उत्पादन होने लगा है । उन्नत बीजों के अंतर्गत कुल क्षेत्रफल सन् 1970–71 में 153.8 लाख हेक्टर था, जिसमें गेहूँ 64.8 लाख हेक्टर (35.5 प्रतिशत), चावल 55.9 लाख हेक्टर (15.9 प्रतिशत), तैर 8 लाख हेक्टर (4.6 प्रतिशत), बाजरा 20.5 लाख हेक्टर (15.9 प्रतिशत), मक्स 4.6 लाख हेक्टर (7.9 प्रतिशत) था। इन पांच प्रमुख खाद्यान्नों के अंतर्गत कुल केवल 16.7 प्रतिशत पर ही उन्नत बीजों का उपयोग हुआ था । इन फसलों के बीजों के अंतर्गत कुल क्षेत्रफल बढ़कर सन् 1994–95 में 71 लाख हेक्य होने का अनुमान है । (तालिका 15.1) । इस इन फसलों की आधे से अधिक (71.0 प्रतिशत) भूमि उन्नत बीजों के अंतर्गत है ।

सिंचाई (Irrigation) – इस अवधि में सिंचाई में काफी वृद्धि हुई । कुल सिंचित क्षेत्रफल सर 1950–51 में 226 लाख हेक्टर से बढ़कर सर 1960–61 में 280 लाख हेक्टर (कुल कृषित भूमि का 18.3 प्रतिशत), सन 1970–71 में 382 लाख हेक्टर (23 प्रतिशत), तथा सन् 2003–04 में 7.7 करोड़ हेक्टर हो गया है जो कुल कृषित भूमि का 40.3 प्रतिशत है । इस प्रकार 1960–2003–04 के बीच ढाई गुनी से अधिक वृद्धि हुई । वृद्धि की प्रवृत्ति तालिका 15.3 से स्पष्ट है ।

उर्वरक एवं कीटनाशक – उन्नत बीजों के अधिकतम लाभ के लिए रासायनिक उर्वरकों का उपयोग आवश्यक था । वास्तव में यह हरित क्रांति का अभिन्न अंग था । फलत: इसका उपयोग बढ़ा । सन् 1965–66 में कुल 7.6 लाख टन उर्वरकों का उपयोग किया गया था । इस तरह प्रति हेक्टर 5.05 कि. ग्रा. का औसत था । यह मात्रा बढ़कर सन 1970–71 में 21.8 लाख टन और सन् 2005–06 में 203.40 लाख टन हो गई । इस प्रकार कुल कृषित भूमि के प्रति हेक्टर उर्वरकों का उपभोग 5.05 कि. ग्रा. से बढ़कर 104.5 कि. ग्रा. हो गया । स्वतंत्रता के बाद देश में उर्वरकों का उत्पादन भी तेजौ से बढ़ा जैसे कि नाइट्रोजनयुक्त उर्वरक का उत्पादन सर 1955–56 में 80 हजार टन से बढ़कर 2005–06 में 113.54 लाख टन हो गया । इसी अवधि में फास्फोरस युक्त उर्वरकों का उत्पादन 12 हजार टन से 4221 हजार टन हो गया । तथापि मांग की पूर्ति के लिए उर्वरकों का आयात करना पड़ता है । सन् 2005–06

में कुल 5252 लाख टन उर्वरकों का आयात किया गया जो कुल उपभोग का 25.82 प्रतिशत है।

उन्नत बीज, सिंचाई तथा उर्वरकों के बढ़ते उपयोग के साथ कृषि की आधुनिक विधि का भी प्रचलन बढ़ा है । कीटनाशक, रोगनाशक तथा खरपतवारनाशक रसायनों का उपयोग बढ़ा जैसे कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरंभ में केवल 100 टन कीटनाशक दवाइयों का उपयोग कृषि क्षेत्र में हुआ था जो बढ़ कर सर 1995–96 में 73,650 टन हो गई । इस तरह यह कहा जा सकता है कि हरित क्रांति के पूर्व उत्पादन में वृद्धि प्रमुखत: फसलों के अंतर्गत क्षेत्रफल बढ़ने के कारण हुई, परंतु इसके बाद कृषि की नवीन विद्या और निवेशों के उपयोग से प्रति हैक्टर उपज बढ़ने से उत्पादन बढ़ा है ।

मशीनीकरण (Mechanization) – यद्यपि आज भी भारतीय कृषि प्रमुखत: पारम्परिक उपकरणों पर आधारित है तथापि हरित क्रांति के बाद आधुनिक उपकरणों एवं यंत्रों का उपयोग काफी बढ़ा है । ट्रैक्टर और हारवेस्टर जैसे कृषि यंत्रों का भी बड़े पैमाने पर उपयोग होने लगा । उदाहरण के लिए ट्रैक्टरों की संख्या सन् 1961 में 31 हजार मे बढ़कर सन 1970 में 1 लाख और सन 1992 में 122.18 लाख हो गई । इस तरह प्रति लाख कृषित भूमि पर ट्रैक्टरों का घनत्व सर 1961 में 20 ट्रैक्टर से बढ़कर सर 1988 में 6579 ट्रैक्टर हो गया था । इसी अवधि में डीजल इंजनों की संख्या 2.30 लाख से बढ़कर 457.74 लाख और टयूबवेल्स की संख्या 2 लाख से 70 लाख (1988 में) तक पहुंच गई । फलत: कृषि भूमि के प्रति हजार हेक्टर डीजल इंजन का घनत्व 1.51 से 246 और टयूबवेल्स का घनत्व 135 से 40 हो गया । इन सबसे संचालन के लिए ऊर्जा का प्रति हजार हेक्टर उपभोग भी सन् 1971–72 में 0.3 किवा घंटा से बढ़कर सन् 2003–04 में 1.4 किवा घंटा हो गया है । इन सबके बढ़ते उपभोग से फसलों की उत्पादकता रण उत्पादन बढ़ा साथ ही गहन कृषि संभव हुई तथा काम करने की दशा में सुधार हुआ ।

15.5.4 हरित क्रांति एवं असमानताएँ (Green Revolution and inequalities)

हरित क्रांति का खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाने में सराहनीय योगदान रहा है । परंतु इस क्रांति के प्रारंभ से ही आशंका की जा रही थी और अब क्षेत्रीय अध्ययनों से सिद्ध भी हो गया है कि उत्पादन वृद्धि के साथ–साथ इसे विषमताएं भी काफी बढ़ी है । (दासगुप्ता 1977) । यह पाया गया है कि यह क्रांति फसल–विशेष, क्षेत्र–विशेष और व्यक्ति–विशेष के लिए (crop specific, region specific, and person specific) ही उपयोगी रही है । इसका तात्पर्य है कि उससे न तो सभी फसलों को लाभ पहुँचा है और न ही देश के सभी भाग तथा सभी स्तर के व्यक्ति इससे लाभान्वित हुए है । ये बातें निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है ।

15.5.4.1फसलों पर असमान प्रभाव (Inequal impacts of Crops)

अगर तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो कहा जा सकता है कि एक समूह के रूप में खाद्यान्नों के उत्पादन की वृद्धि दर में हरितक्रांति के कारण कोई क्रांति नहीं आई । उदाहरण के लिए खाद्यान्नों के उत्पादन में सर 1949–50 से 1964–65 (पुरा हरितक्रांति काल) वार्षिक वृद्धि दर 2.82 प्रतिशत थी. परन्तु हरित क्रांति काल (सन् 1967–68 से 1995–96 । तक में यह वृद्धि दर 2.38 प्रतिशत ही रही । तालिका 15.11 से स्पष्ट है कि केवल गेहूँ और नौ प्रमुख तिलहनों के उत्पादन की वृद्धि दर हरितक्रांति में पुरा हरित क्रांति काल से अधिक रही । इन दोनों फसलों की वार्षिक वृद्धि दर पुरा–हरितक्रांति में क्रमश: 398 प्रतिशत और 3.12 प्रतिशत थी जो हीरत क्रांति में बढ़कर क्रमश: 4.11 प्रतिशत और 3.17 प्रतिशत हो गई । अन्य सभी प्रमुख फसलों के उत्पादन की वृद्धि की गति हरित क्रांति काल में कम हुई है । इसके विपरीत लगभग सभी फसलों की उत्पादकता पूर्व काल की तुलना में हरित क्रांति काल में तेली से बढ़ी है।

यद्यपि सिंचाई और उर्वरकों जैसे निवेशों का उपयोग अन्य फसलों के लिए भी हुआ है। परन्तु उन्नत बीज केवल चावल, गेहूँ और ज्वार, बाजरा और मक्का के लिए उपलब्ध हैं । अन्य अनाज, दलहन और तिलहन इस क्रांति से बहुत कम प्रभावित रहे । फलत: इनका उत्पादन बहुत मद गति से बढ़ पाया जिसका उल्लेख किया जा चुका है । अनाजों में भी सर्वाधिक लाभान्वित होने वाला गेहूँ रहा । उसकी तुलना में चावल को कम लाभ हुआ तथा अन्य अनाज तो बहुत कम प्रभावित हुए । यह इसी बात से स्पष्ट है कि गेहूँ के कुल क्षेत्रफल में से 90.0 प्रतिशत भूमि उन्नत बीजों के अंतर्गत है जबकि देश की प्रथम फसल–चावल के आधे भाग (57.6 प्रतिशत) पर ही उन्नत बीजों का उपयोग हो पाया है । बाजरा के क्षेत्र का 60.7 प्रतिशत, मक्का का आधा (55.7 प्रतिशत) तथा ज्वार के लगभग 53.5 प्रतिशत भाग ही उन्नत बीजों से लाभान्वित हुए । इसका स्पष्ट प्रभाव उनकी उपज दर पर पड़ा । यह तथ्य तालिका 15.3 से स्पष्ट है ।

इससे स्पष्ट है कि हरित क्रांति मूलत: "गेहूँ–क्रान्ति" होकर रह गई । वास्तव में गेहूँ की खेती शुष्क ऋतु में की जाती है । फलत: इस पर वर्षा जैसी जलवायु के तत्वों का नियंत्रण उतना नहीं होता जितना कि चावल पर, जिसकी खेती वर्षा ऋतु में को जाती है । शुष्क दशा में न केवल समय पर आवश्यकतानुसार सिंचाई द्वारा जल दिया जा सकता है बल्कि उर्वरकों का फसलों द्वारा अधिकतम उपयोग किया जा सकता है । यह बह नहीं पाता । दवाइयों के छिड़काव में भी सुविधा होती है । उनकी प्रभाविता अधिक होती है । फलस्वरूप गेहूँ की उपज बहुत तेजौ से बढ़ पायी । यहाँ तक कि इस बड़ी उत्पादकता का लाभ लेने के लिए गेहूँ के अंतर्गत भूमि भी अपेक्षया तेजौ से बढ़ी । सन् 1965–66 में गेहूँ के अंतर्गत कुछ कृषित भूमि का 81 प्रतिशत था। वह 2000–01 में 13.7 प्रतिशत हो गया । इसके विपरीत चावल के उत्पादन के समय मौसम को नियंत्रित नहीं किया जा सकता । यद्यपि चावल की भी कई उन्नत किस्में प्रचलन में आई, परंतु उनमें वह सफलता न मिल सकी जो गेहूँ को मिली । जैसे

कि. बी. एच फरमर ने (1979) दक्षिणपूर्वी एशिया के चावल– क्षेत्रों के संदर्भ में लिखा है कि चावल क्षेत्रों में उन्नत–बीजों पर आधारित हरित क्रांति लाने में सबसे बड़ी बाधा पर्यावरण है । गर्म आर्द्र वातावरण में रोग एवं जौव जंतुओं का असीमित विकास होता है । दूसरे, इन बौनी जातियों के पौधे को अनियंत्रित बाढ़ से नुकसान पहुँचता है ।
फसल की पकने की छोटी अवधि और वर्षा की लय का तालमेल नहीं हो पाता । विपुल उत्पादन वाली धान के बीज प्रकाश संश्लेषण की अवधि से नियंत्रित नहीं (insensitive to photoperiod) होते । अस्तु फसल 130 से 150 दिन के मध्य पक जाती है और पकते समय पर्याप्त वर्षा होती रहती है । इसके, विपरीत स्थानीय बीज प्राकाश–संश्लेषण अवधि से जुड़ा होता है, अस्तु उस समय पकता है जब बादल रहित आकाश तथा लम्बे प्रकाशयुक्त दिन आते हैं । वास्तव में स्थानीय विकसित बीज उस 'इकोसिस्टम' के अंग बन जाते है । पुन उन्नत प्रकार के बीज के खाद्यगुण (culinary) भी आकर्षक नहीं है । प्रमुख बात यह है कि अनियंत्रित बाढ़ की दशा में उर्वरकों का उपयोग नहीं किया जा सकता और न ही उसका लाभ फसल को मिल पाता है ।

चावल की असफलता के क्षेत्र प्रधानत: वे है जहां अनियंत्रित वर्षा ऋतु में इसकी खेती की जाती है । इसके विपरीत दक्षिण भारत में शुष्क ऋतु में सिंचाई की मदद से उन्नत बीजों का बड़े पैमाने पर उपयोग होता है । चावल के उन्नत बीजों के उपयोग में भी सर्वाधिक सफलता भी पश्चिमी उत्तरप्रदेश से हीरयाणा में फैले अर्धशुष्क जलोढ़ मैदान में मिली है जहां पर्याप्त सूर्य का प्रकाश. अनुकूल तापमान, न्यून आर्द्रता, फलत: कम कटि एवं रोगों को विकास तथा समय पर सिंचाई द्वारा समुचित जल देने का प्रबध है । इस कारण इन राज्यों में अधिकांश चावल उन्नत बीजों वाला होता है । सन 1982–83 में हरियाणा में 87.6 प्रतिशत, पंजाब में 94.2 प्रतिशत, जम्मू–कश्मीर में 84.8 प्रतिशत और उत्तर प्रदेश में 48.6 प्रतिशत चावल के क्षेत्र उन्नत बीजों के अंतर्गत थे । इसी तरह तमिलनाडु में, जहां यह शुष्क काल (दिसम्बर से मई) में बोया जाने लगा है, 82.5 प्रतिशत और आन्ध्र में 80.6 प्रतिशत चावल उन्नत बीजों से पैदा किया जाता है । इसके विपरीत उड़ीसा 30.9 प्रतिशत, पश्चिम बंगाल 35.20 प्रतिशत, असम 35.1 प्रतिशत, मध्यप्रदेश 30.3 प्रतिशत और केरल 54.1 प्रतिशत चावल की भूमि उन्नत बीजों के अंतर्गत थी (भल्ला, त्यागी, 1989, पृ. 12) । सन् 1982–83 में भारत का औसत 47.7 प्रतिशत था । इस प्रकार उर्वरक तथा उन्नत बीज पर आधारित यह तकनीकी चावल के लिए कम लाभप्रद सिद्ध हुई । फलत: चावल के अंतर्गत क्षेत्रफल बहुत मंद गति से बढ़ा । सन् 1965–66 में देश के कुल कृषित भूमि को 22.8 प्रतिशत इसके अंतर्गत था जो 1994–95 मेंकेवल 22.7 प्रतिशत ही रहा । इस तरह इसका सापेक्षिक महत्व घटा है ।

यहाँ एक तथ्य विचारणीय है । सम्पूर्ण हरितक्रांति काल में फसलों के उत्पादन रथ उत्पादकता में हुई वृद्धि को एक साथ देखने पर इस काल में आए परिवर्तन छिप जाते हैं । इस परिवर्तन को समझने के लिए इस अवधि को दो कालों में बांटा जा सकता है । – (1) पूर्वार्द्ध हीरत क्रांति

काल (1967–68 से 1980–81 तक) और (2) उत्तरार्द्ध हरितक्रांति काल (1980–81 से 2003–04 तक) । इन दोनों कालों में विभिन्न फसलों के उत्पादन और उत्पादकता की वार्षिक चक्रवृद्धि दर की गणना की गई है जो तालिका 15.4 में अंकित है ।

तालिका- 15.11 : भारत में हरितक्रान्ति के पूर्व एवं पश्चात् प्रमुख फसलों के उत्पादन एवं उत्पादकता की वार्षिक वृद्धि दर

फसल	1949-50 से 1967-68		1967-68 से 2003-04		1967-68 से 1980-81		1980-81 से 2003-04	
	उत्पादन	उपज	उत्पादन	उपज	उत्पादन	उपज	उत्पादन	उपज
चावल	2.60	1.87	2.62	2.1	1.54	1.12	1.10	1.86
गेहूँ	3.98	3.04	4.11	2.7	3.42	1.70	2.98	2.21
ज्वार	0.36	1.41	-0.40	1.4	0.16	0.83	1.53	0.68
बाजरा	1.62	1.93	1.15	2.8	-0.44	0.53	3.44	3.94
मक्का	2.46	1.38	2.19	1.9	0.45	0.14	3.26	2.34
सभी दालें	0.54	0.49	0.76	0.7	-0.56	-0.53	1.57	1.20
सभी खाद्यान्न	2.45	1.76	2.38	2.0	1.35	1.10	2.14	2.23
गन्ना	2.96	1.13	2.89	1.1	2.08	1.53	1.85	0.09
9 तिलहन	2.70	1.24	3.17	1.6	0.53	0.02	4.29	3.09

स्रोत : आर्थिक एक सांख्यिकी संचालनालय, भारत सरकार- एग्रिकल्चर स्टेटिस्टिक्स ऐट ए ग्लांस 2004

संदर्भित तालिका से स्पष्ट है कि चावल, बाजरा, मक्का और तिलहनों के उत्पादन एवं उपज में वृद्धि पूर्वाद्ध काल की तुलना में उत्तरार्द्ध काल में काफी अधिक रही है । उदाहरण के लिए चावल के उत्पादन में वार्षिक वृद्धि पूर्वाद्ध काल में 1.54 प्रतिशत से बढ़कर उत्तरार्द्ध काल में 2.10 प्रतिशत हो गई । इसी अवधि में चावल की उत्पादकता की वृद्धि दर 1.12 प्रतिशत से बढ़कर 1.86 प्रतिशत हो गई । सर्वाधिक वृद्धि तिलहनों के उत्पादन में हुई । इनका उत्पादन पूर्वार्द्ध काल में 0.53 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ा परंतु उत्तरार्द्ध काल में यह वृद्धि दर 4.29 प्रतिशत हो गई । उनकी उत्पादकता भी इसी अनुपात में 0.02 प्रतिशत से बढ़कर 3.09 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ी । यहां तक कि दालों के उत्पादन में भी उत्तरार्द्ध काल में काफी सुधार हुआ । इनका उत्पादन एवं उत्पादकता दोनों में पूर्वार्द्ध में नकारात्मक वृद्धि हुई, परन्तु उत्तरार्द्ध में वृद्धि दर क्रमश: 1.57 प्रतिशत एवं 1.20 प्रतिशत हो गई । इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरार्द्ध काल में हीरत क्रांति का प्रभाव अधिकाधिक फसलों पर पड़ रहा है । इसी कारण हनुमन्त राव ने कहा है कि हरित क्रांति का आरंभिक वर्षो में फसलों की वृद्धि में दिखने वाले असंतुलन में हाल के वर्षो से कुछ सुधार हुआ है । (हनुमन्त राव, 1992) ।

15.5.4.2 क्षेत्रीय विषमता

इस क्रांति का लाभ देश के सभी भागों को समान रूप से नहीं मिला । सन 1970 के दशक में किये गये अध्ययनों से स्पष्ट था कि इस तकनीक से केवल उत्तर पश्चिमी भारत विशेषकर पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश ही लाभान्वित हो पाये थे । इसके बाद यह तकनीक अन्य भागों में भी फैली । तथापि इससे हुई उत्पादकता में वृद्धि कुछ भागों में ही सकेन्द्रित है ।

भल्ला और त्यागी के सन 1962–65 से 1980–83 तक की अवधि में कृषि उत्पादकता में हुये परिवर्तन के जिलेवार अध्ययन (1989 पृ. 58–116) से स्पष्ट है कि इस अवधि में 23 ऐसे जिले थे जहाँ कुल कृषि उत्पादकता में 5 प्रतिशत से अधिक वृद्धि हुई। इनमें 10 जिलें पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और जम्मू कश्मीर हैं। अन्य 34 जिलों में वृद्धि 3.5 से 5.0 प्रतिशत तक हुई जिनमें भी 19 जिले इन्हीं राज्यों के हैं। इन दोनों वर्गो में गुजरात के 7, राजस्थान के 5 परन्तु मध्यप्रदेश के 2, आन्ध्र प्रदेश के 2, कर्नाटक के 2 और महाराष्ट्र का 1 जिला था। इन सभी 57 जिलों में सिंचाई की समुचित सुविधा थी। इन जिलों से देश का 28 प्रतिशत कृषिगत उत्पादन प्राप्त हुआ था।

कुल 76 जिले विकास की उच्च–मध्यम श्रेणी में हैं। इनमें से 24 उत्तरप्रदेश, 9 कर्नाटक, 8 महाराष्ट्र, 7 आन्ध्र प्रदेश, 7 मध्यप्रदेश, राजस्थान और गुजरात प्रत्येक के 5 जिलें, पश्चिम बगाल में 6 और आसाम में 4 जिलें हैं। कुल मिलाकर देश के 129 जिलों में देश के औसत (2.57 प्रतिशत प्रति वर्ष) से अधिक वृद्धि हुई। इसके विपरीत निम्न–मध्यम (66), न्यून वृद्धि वाले (65) तथा अवनति (17) वाले जिलों में निवेशों का बहुत कम उपयोग होता है। फलत: न केवल उत्पादकता बहुत कम है बल्कि उसमें वृद्धि बहुत मद हुई अथवा अवनति हुई है।

राज्य स्तर पर भी प्रति हेक्टर उत्पादकता की वृद्धि में काफी अतर है जैसे कि भारत में वर्ष 1962–65 से वर्ष 1980–83 में औसत वृद्धि दर 2.53 प्रतिशत। इससे अधिक पंजाब (4.39 प्रतिशत), हरियाणा (3.84 प्रतिशत), जम्मू–कश्मीर (3.77 प्रतिशत), उत्तरप्रदेश (2.76 प्रतिशत) और गुजरात में (2.76 प्रतिशत) थी। इनके विपरीत अत्यल्प वृद्धि (1 प्रतिशत से कम) – आसाम (1 प्रतिशत), बिहार (0.81 प्रतिशत), उड़ीसा (0.31 प्रतिशत), पश्चिम बंगाल (0.93 प्रतिशत), मध्यप्रदेश (0.91 प्रतिशत) और केरल (0.78 प्रतिशत) में हुई।
इस प्रकार यह स्पष्ट है कि–

1. अधिक सुविधा सम्पन्न सिंचित क्षेत्र में हरित क्रांति आई।
2. ये भाग स्वाभाविक रूप से अधिक उपजाऊ हैं।
3. इन्ही जिलों में उपजवर्धक निवेशों का उपयोग भी बढ़ा।
4. सन् 1980 के दशक के आरम्भ तक मध्य और पूर्वी भारत पर इसका अल्प प्रभाव रहा।

हरित क्रांति के असमान प्रभाव के कारण देश के कुल खाद्यान्नों के उत्पादन में विभिन्न क्षेत्रों के हिस्से में काफी अन्तर आ गया है। केवल उत्तरी क्षेत्र (पंजाब, हरियाणा, और उत्तर प्रदेश–उत्तरांचल) का हिस्सा सर 1960–62 के औसत 25.2 प्रतिशत से बढ़कर सर 2005–06 में 38.43 प्रतिशत हो गया है। इसके विपरीत पूर्वी राज्यों (उड़ीसा, बिहार–झारखण्ड, आसाम और पश्चिम बंगाल) का हिस्सा इसी अवधि में 23.2 प्रतिशत से घट कर 17.88 प्रतिशत, राजस्थान और मध्यप्रदेश–छत्तीसगढ़ का 17.9 प्रतिशत से 15.56 प्रतिशत; पश्चिमी राज्यों (महाराष्ट्र और गुजरात) कर 11.3 प्रतिशत से 8.75 प्रतिशत और दक्षिणी राज्यों (आन्ध्र प्रदेश,

कर्नाटक, तमिलनाडु और केरल) का 21.5 से 15.9 प्रतिशत रह गया है । हरित क्रांति काल के पूर्वार्द्ध एवं उत्तरप्रदेश कालों में देश के विभिन्न क्षेत्रों में खाद्यान्नों के उत्पादन में हुई वृद्धि का विश्लेषण करने वाले नवीन अध्ययनों (सावन्त एवं अचुतन, 1995 पृ. ए–2 से ए–13 तक) से स्पष्ट होता है कि मध्य क्षेत्र और पूर्वी क्षेत्र के राज्यों में पूर्वार्द्ध की तुलना में उत्तरार्द्ध काल में तेजौ से वृद्धि हुई है । इसका कारण है कि बाद की अवधि में चावल, तिलहन और दालों की उत्पादकता में काफी सुधार हुआ है । साथ ही इन क्षेत्रों में सिंचाई में काफी विस्तार हुआ जिससे नवीन निवेश एवं तकनीक का उपयोग उत्तरार्द्ध काल में काफी बढ़ा है । तथापि उत्तरपश्चिमी भारत अब भी सबसे आगे है । लेकिन दक्षिण के राज्यों और पश्चिमी दोनों राज्यों में उत्तरार्द्ध काल में भी सुधार नहीं हुआ है । उल्लेखनीय है कि दक्षिणी राज्यों में खाद्यान्नों के विपरीत अखाद्यान्नों के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई हे ।

15.5.4.3 छोटे किसानों को अल्प लाभ

चुनिंदा कृषि नीति के कारण सभी वर्ग के किसानों को लाभ नहीं मिल पाया । इस नीति के अनुसार अधिक से अधिक सुविधाएं प्रगतिशील किसानों को दी गई । इससे उत्पादन काफी तेजौ से बढ़ा । साथ हो यह भी महसूस किया गया कि खाद्य–समस्या को तब तक हल नहीं किया जा सकता जब तक इन नीति की सुविधा कम सुविधा वाले क्षेत्रों और कम सम्पन्न किसानों को न दीं जाये । परन्तु इस उर्वरक–उन्नत बीज प्रधान नीति के प्रसार: में कई समस्याएं थी । वास्तव मे इसका छोटे किसानों द्वारा उपयोग कर पाना संभव नहीं था । इस पैकेज प्रोग्राम के निवेशों के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है और सामान्यतया बड़े और मझोले किसान ही उतना व्यय कर सकते हैं । उनकी बचत अधिक होती है और उनकी साख भी अधिक होती है । वे अधिक जोखिम भी उठा सकते हैं । लघु राव सीमान्त किसानों की बचत सीमित होती है । इनको साख भी नहीं होती तथा इनकी मनोवृत्ति भी बहुत संकुचित हो जाति है । इन कारणों से भी सीमान्त और छोटे किसान इनका उपयोग नही कर सके । उनकी समस्याओं को दूर करने के लिए "लघु किसान विकास एजेन्सी" (SMFA) तथा सूखे क्षेत्रों के लिए "सूखोन्मूख विकास एजेन्सी " की स्थापना की गई । इनका कई अधिकतर लाभ बड़े किसानों को मिला । सीलिंग से बचने के लिए वे छद्म रूप में छोटे किसान बन बैठे हैं ।

15.3.4.4 नई तकनीक की समस्याएँ

उपर्युक्त विवरण के आधार पर भारत मे हरितक्रांति आने के साथ ही परिणामस्वरूप निम्न समस्याएँ उभर कर सामने आई हैं –

1. छोटे किसानों की समस्याएँ
2. सिंचाई कें विकास संबंधी समस्याएँ
3. निवेशों का अल्प प्रयोग
4. मशीनीकरण में कम प्रगति
5. भूमि–जल प्रबंधन अल्प विकसित
6. अधोसंरचना की कमी
7. पर्यावरण का अवनयन ।

जैसा कि पहले बताया गया है कि नर्द पद्धति के पैकेज की पहली शर्त सिंचाई का साधन है । इस वर्ग के लिये कुआं सबसे उपयुक्त साधन है, किन्तु उन्हें कुएं के लिए पर्याप्त ऋण भी मिल नहीं पाता । यदि पास की किसी छोटी' नदी या नाले से सिंचाई करना चाहते 'ले तब भी उन्हें किराये पर पम्प लेना पड़ता है । जो पुन: समय पर: नहीं मिल पाता । सीतान्त और छोटे किसानों की एक अन्य समस्या बाजार की है, विशेषकर यदि वे नष्ट होने वाली उपज, जैसे– अण्डे, डेरी उत्पाद अथवा सब्जियाँ और फल पैदा करते हैं । परिवहन का व्यय भी उन्हें भारी पड़ता हैं । यदि वे निकट की बस्ती में अपने उत्पाद बेचते हैं तो बहुत कम मूल्य मिलता है । छोटी जोत के किसान मशीनों का उपयोग भी नहीं कर पाते । ट्रेक्टर यदि किराये पर लेते है तो पूँजी की समस्या होती है । और यदि उनके पास स्वयं के बैल नहीं हैं तो ऋण पर जोतना और बोना कठिन हो जाता है ।

15.5.5 पंजाब में ही हरित क्रांति क्यों?

खाद्यान्न कर्मा वाला पंजाब राज्य देश का "अन्य–गोदाम" निम्न कारणों से बन सका–

1. भूमि सुधार से भूस्वामी कृषकों का वर्चस्व बढ़ा 1969–70 में 81 प्रतिशत।
2. समतल भूमि एवं उपजाऊ मिट्टी की उपस्थिति ।
3. बडी जोत और विकसित सिंचाई (सन् 2000–01 में 90.8 प्रतिशत)
4. **आधिक मशीनीकरण**–नवीन बीज के प्रवेश के पूर्व भी थ्रेशर (1964 में 20,000 सन 1970 में 80,000), ट्रेक्टर, ट्यूबवेल्स तथा अन्य कृषि उपकरणों का बहुत अधिक प्रयोग होता था ।
5. उपकरण आदि के सुधार की सुविधाएं ।
6. जलविद्युत की सुविधा ।
7. **यहां के सामाजिक**–आर्थिक जौवन की दो बातों का कृषि विकास के वित्तीय पक्ष पर गहन प्रभाव पड़ा है: (अ) गमनागप्रशीलता (migration propensity) तथा विदेशों से धन प्राप्त होना, तथा (ब) सेना में सर्विस एवं बचत की प्रवती, जिस धन का उपयोग मशीन खरीदने में हुआ । विदेश या सेना में रहते हुए गाँव से समर्क बनाए रखने के कारण सोच के दायरे में विस्तार हुआ, नए सम्पर्क तथा बेहतर जौवन के लिए प्रेरणा मिली ।
8. **तकनीकी सजगता** – सेना, परिवहन, व्यापार, अथवा विदेशों में कारखानों में स्वयं काम करने अथवा किसी रिश्तेदार के होने के कारण मशीनीकरण की प्रवृति ।
9. **साख की सुविधाएं** – प्रमुखत: छोटे किसानों को । इसी तरह की दशाएँ हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में पाई जाती हे ।

भारतीय कृषि की समस्यायें (Problems of Indian Agriculture)

विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में कृषि–विकास के लिए अथक प्रयास करने के बावजूद भारतीय कृषि उत्पादकता अन्य विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है । यह स्थिति कई कारकों का परिणाम है। इन समस्याओं को चार वर्गो में विभाजित कर सकते है: (i) पर्यावरणीय, (ii) आर्थिक, (iii) संस्थागत और (iv) तकनीकी समस्यायें ।

(i) पर्यावरणीय समस्यायें (Environmental Problems)

प्रमुख समस्या मानसून की प्रकृति का अनिश्चित होना है। तापमान वर्ष भर अधिक रहता है। इस कारण यदि पानी की पर्याप्त पूर्ति होती रहे तो साल भर फसलें पैदा की जा सकती हैं । किन्तु यह संभव नहीं है, क्योंकि भारत के अधिकांश भाग वर्षा काल के 3–4 महीनों में ही वर्षा प्राप्त करते हैं। वर्ष का अन्य भाग शुष्क रहता है। न केवल वर्षा कीं मात्रा बल्कि उसका मौसमी और क्षेत्रीय वितरण में भी समानता नहीं है। यह कृषि विकास को प्रभावित करती है। वर्षा की मात्रा की दृष्टि से भारत का अधिकांश भाग उपार्द्र. अर्द्धशुष्क तथा मरूस्थली है । ऐसे जहाँ वर्षा 1500 मिलीमीटर से कम होती है वे बहुत ही गंभीर समस्यायुक्त हैं । वहाँ निरंतर अकाल और सूखा पड़ता रहता है । वे क्षेत्र जहाँ वर्षा की मात्रा 750 से 1500 मिलीमीटर के बीच होती है । उनके की अकाल्ग्रस्त पेटी माना जाता है । इस क्षेत्र की उत्पादकता को सिंचाई के विकास तथा रेल हार्वेस्टिंग से बढ़ाया जा सकता । अधिक तापमान के कारण वाष्पीकरण बढ़ता है । फलस्वरूप पानी की मांग भी बढ़ती है । अधिक वाष्पीकरण फसलों के लिए वर्षा की प्रभाविकता को कम कर देती है । हरी तरफ अधिक वर्षा से कुछ क्षेत्रों में बाढ की समस्या बनी रहती है ।

हरित क्रांति के कारण पारिस्थितिकी तंत्र भी दुष्प्रभावित होने लगा हैं । पैकेज प्रोग्राम के माध्यम से कृषि के विस्तारीकरण और गहनीकरण के कारण पर्यावरण का निम्न रूपों में अवनयन होता है : (1) वन–विनाश रण भूमि उपयोग में परिवर्तन, (2) रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक, खरपतवारनाशक तथा अन्य रासायनों के बढ़ते उपयोग से (3) ।सिंचाई के विस्तार से तथा (4) जैविक समुदाय में परिवर्तन होने से । उपजवर्धक निवेशों के प्रयोग द्वारा सीमान्त भूमि पर कृषि करना लाभप्रद हो गया । इसका सर्वाधिक प्रतिकूल प्रभाव वनों पर पड़ा है जैसे कि राष्ट्रीय सुदूर संवेदन एजेंसी ने सैटेलाई इमेजरी के आधार पर गणना किया था कि देश में सर 1972–73 में कुल क्षेत्रफल के 16.89 प्रतिशत भाग पर वन थे, परन्तु सन् 1980–81 में इनका क्षेत्रफल घट कर 15.1 प्रतिशत रह गया है । इससे बहुत बन सम्पदा की कमी तो हो ही रही है, कई पारिस्थितिक तंत्र छिन्न–भिन्न हो गए हैं । बाढ़ अपरदन, जलाशयों में सिल्ट जमा होना आदि स्पष्ट दुष्परिणाम हैं ।साथ ही वन। पर निर्भर पशुधन की गुणवत्ता एवं कार्यशीलना में तेजौ से गिरावट आई है ।

रासायनिक उर्वरक हरितक्रांति का मुख्य अंग हैं । उपज बढ़ाने के लिए इनका भी भारी मात्रा में उपयोग किया जाता है । इन उर्वरकों का कुछ भाग मृदा में जमा होता रहता है । इससे मृदा में नाइट्रोजन बढ़ाव वाले सूक्ष्म जौवों का विनाश होता है । फलत: मृदा का बांझपन बढ़ना और बल धारण की क्षमता का कम होना आदि समस्याएँ बढ़ती है । कुछ वर्षो में मृदा अनुपजाऊ होने लगती है । उर्वरकों एवं रसायनों के अपशिष्ट भाग पानी के साथ बह कर जलाशयों में पहुंच जाते हैं, जिससे जल प्रदूषण आरंभ होता है । जल की रासायनिक बनावट में तेजौ से परिवर्तन होता हे और जलाशयों के पारस्थितिकी तंत्र को खतरा पैदा हो जाता है । जल में लगातार पोषक तत्व एकत्रित होते जाते हैं जिससे शैवाल जैसे अवांछनीय वनस्पति की वृद्धि होती है । उर्वरक एवं कीटनाशक तथा खरपतवारनाशक रसायन रिस कर भूमिगत जल में भी मिल जाते हैं । इस तरह बल एवं भूमि का प्रदूषण बढ़ता है । फलत: बिना साफ किए सतही तथा भूमिगत जल के

उपयोग से जौवन रख स्वास्थ्य को खतरा पैदा हो गया है । उर्वरकों एवं रसायनों के अवशिष्ट फसलों में भी उपस्थित रहते हैं जो मानव के लिए मंद विष का काम करते हैं ।

सिंचाई का विस्तार भी कृषि विकास से जुड़ा है । निर्विवाद सिंचाई के उपजदर बढ़ती है, साथ ही कई समस्याएं पैदा होती है । मृदा की संरचना में तेजौ से परिवर्तन, स्वणीकरण, क्षारीकरण तथा दलदल की समस्याएं मुख्य हैं । भारत में सिचति क्षेत्र का आधा भाग इस तरह की समस्याओं से ग्रस्त हैं । इसके अलावा भूमिगत जल के तल में उठाव की भी समस्या पैदा हो गई ।

(ii) आर्थिक समस्याएँ (Economic Problems)

आर्थिक समस्याएँ मुख्यरूप से कृषि में पूँजी लगाने से संबंधित हैं । कृषि में पूँजी निवेश उन्नत बीज, खाद, मशानों तथा आवागमन के साधनों के विकास के रूप में होता है । विपणन सुविधाओं का अभाव, कम ब्याज पर ऋण के अभाव के कारण कृषक कृषि में जरूरी निवेश भी नहीं कर पाता है । परिणामस्वरूप उत्पादकता कम होती जाती है जनसंख्या के लगातार तीव्र वृद्धि के कारण–कृषित भूमि पर दबाव बढ़ते जाने से प्रति व्यक्ति कृषित भूमि की उपलब्धता घटती जा रही है । उदाहरण के लिए प्रति व्यक्ति कृषित भूमि सन् 1921 में 0.444 हेक्टर से घटकर सन् 1961 में 0.296 हेक्टर और सन् 2001 में 0.193 हेक्टर रह गई है । उल्लेखनीय है कि देश की कुल जोतों में से सन 1995–96 में 61.6 प्रतिशत जोत सीमान्त अर्थात् एक हेक्टर से कम क्षेत्रफल वाली हैं । इन छोटे–छोटे खेतों में आधुनिक मशीनों का उपयोग संभव नहीं होता है ।

भंडारण और परिवहन – हरित क्रांति के साथ कृषि उत्पाद के सुरक्षित भडारण की समस्या अभी भी अपने देश में बनी हुई है । शासकीय व्यवस्था अभी भी अपर्याप्त है और सभी किसान लम्बे समय तक अपनी उपज कैसे सुरक्षित नहीं रख पाते हैं । इससे उपज का एक हिस्सा बर्बाद होता है ।

उपज क्षेत्रों से बाजार तक पहुँचने की भी समुचित व्यवस्था अभी तक नहीं हो पाई हैं। इसमें भी उपज का एक हिस्सा नष्ट होता है और किसानों को पूरा लाभ नहीं मिलता। लगभग प्रतिवर्ष गेहूँ के वितरण की बात सामने आती है। शासन के क्रय और विक्रय तंत्र के बाद भी बिचौलियों को खत्म नहीं किया जा सका है। तिलहन, गन्ना, चावल जैसी फसलों का मूल्य अभी भी शक्कर, तेल और चावल मिलों के मालिक निर्धारित करते हैं। इन फसलों की प्रगति बहुत हद तक इनसे जुडे उद्योग पर निर्भर करती है।

गन्ने के उत्पादन और उपभोग की समस्या शक्कर मिलों से जुड़ी है। किसानो को पूरा लाभ न मिल पाना इस फसल की गंभीर समस्या है। व्यापारिक फसलों जैसे चाय, काफी, तम्बाकू, नारियल, मेवे, मसाले, सब्जियों और फल हरितक्रांति के दायरे में पूर्णत: नहीं आ सके हैं। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की दृष्टि से इनका विशेष महत्व हैं।

(iii) संस्थागत समस्यायें (Institutional Problems)

गैर–कृषि धंधों के अभाव एवं तेजौ से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण खेती में आवश्यकता से अधिक लोग लगे हैं। कृषि पर इस अत्यधिक बोझ के कारण खेत बहुत छोटे–छोटे और कई टुकडों में बंटते जाते हैं जो कई समस्याओं को जन्म देते हैं। सन् 1961–62 में 52 प्रतिशत जोते ऐसी थी जिनका आकार 2 हैक्टेयर से कम था। यह अनुपात सर 1995–96 में 80.3 प्रतिशत हो गया है। इनमें से अधिकांश जोते छोटे–छोटे टुकड़ों में विभिक्त हैं जो दूर–दूर तक बिखरे हुए होते हैं। इस तरह के खेतों में सिंचाई करना, जोतना और पूंजो लगाना तथा वैज्ञानिक तरीके से खेती करना कठिन होता हैं। अधिकांश कृषित भूमि (40.1 प्रतिशत) मझोले एवं बड़े किसानो के पास है। ये किसान भूमिका अधिकतम दोहन तो करते हैं, किन्तु इसके विकास के लिए अधिक निवेश नही करते हैं। अधिकांश ऐसे कृषक जिनकी स्वत. को जमीन नहीं है वे भी कृषि विकास की ओर कम ही ध्यान देते है तथा कृषि में व्यय कार करते हैं ।

(iv) तकनीकी समस्यायें (Technoligical Problems)

भारत के आधिकांश भागों में तकनीकी पुरानी और अप्रभावित है । आज भी अधिकांश कृषक लकड़ी के हल और बैलों का उपयोग करते हैं । मशीनों का उपयोग बहुत कम होता है। उन्नत बीजों तथा रासायनिक उर्वरकों का उपयोग कम होता है। केवल 40 प्रतिशत कुषित भूमि पर ही सिंचाई की सुविधायें प्राप्त हैं । इसका वितरण भी असवान है। परिस्थतियों के कारण कृषि उत्पादकता और सघनता बहुत कम है । यह सत्य है कि तकनीकी, निवेश और विधियों की उपलब्धता से न केवल कृषि की उत्पादकता में वृद्धि होगी बल्कि कृषकों के जौवनस्तर में भी परिवर्तन आयेगा।

बोध प्रश्न - 3

1. हरित क्रांति का केन्द्रीय तत्व क्या है ?

   ....

   ....

2. हरित क्रांति के कारण उत्पादन में सर्वाधिक वृद्धि किस फसल–समूह में हुई ?

   ....

   ....

3. चावल के क्षेत्र में उन्नत बीजों पर आधारित हरित क्रांति आने में पर्यावरणीय बाधाएं कौन सी है ?

   ....

   ....

4. हरित क्रांति से सर्वाधिक लाभान्वित क्षेत्र कौन से हैं ?

   ....

   ....

5. भारतीय कृषि की सबसे प्रमुख संस्थागत समस्या क्या है?

   ....

   ....

15.7 कृषि का प्रबन्धन एवं नियोजन (Management and Planning of Agriculture)

उपर्युक्त वितरण से स्पष्ट है कि देश से गरीबी और असमानता मिटाने के लिए कृषि का विकास आवश्यक है । सर 1960 के दशक से कृषि विकास की दर 2 प्रतिशत से कम हो गई हैं जबकि इससे पूर्व 2.5–3.0 प्रतिशत थी ।

15.7.1 कृषि का प्रबन्धन (Management of Agricultural)

कृषि की समस्या को दूर करने के लिए भारत सरकार ने कई कदम उठाया है । कृषि नीति भारत सरकार के कृषि मंत्रालय द्वारा तौर कर लागू की जाती है । पंचवर्षीय योजनाओं में नीति के मोटे दिशा निर्देशक तत्व तथा वित्त का नियतन होता है । संविधान के अनुसार कृषि राज्य का विषय है, तथापि शोध एवं विकास अधोसंरचना तथा निवेश की व्यवस्था, साख एवं व्यापार आदि जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों पर केन्द्र सरकार निर्णय लेती हैं । कुछ आदर्शी कानून भी केन्द्र सरकार बनाती है जिसे राज्य सरकारें अंगीकार कर लेती हैं । सरकार को न्यूनतम विक्रय मूल्य पर सलाह देने के लिए सन 1965 में कृषि लागत एवं विक्रय मूल्य आयोग (Commission for Agricultural Costs and Prices, CACP) की स्थापना की गई । इसके अलावा एवं खाद्य नीतियों को लागू करने के लिए कई अन्य संस्थाएं स्थापित की गई । इनमें मुख्य हैं : भारतीय खाद्य आयोग (Food Coorporation of India, FCI) केन्द्रीय भंडारन आयोग (Central Warehousing Corporation), राष्ट्रीय कृषि सहकारिता एवं विपणन संगठन (National Agricultural Cooperative and Marketing Fedration), भारत कपास आयोग, भारत जूट आयोग आदि ।

देश की पहली राष्ट्रीय कृषि नीति जुलाई 2000 में घोषित की गई है । इसके मुख्य उद्देश्य कृषि का संपोषक, सतत तथा समान वृद्धि, कृषि विकास की दर अगले दो दशकों में 4 प्रतिशत से आगे पहुंचाना; मिट्टी, तथा जैव संसाधनों का कुशलतापूर्वक उपयोग तथा संरक्षण, खाद्य तथा पोषण की सुरक्षा को बढ़ाना, कृषि में पूँजी निर्माण के लिए अनुकूल वातावरण निर्मित करना, बाहरी तथा घरेलू बाजार का सुधार; विद्युतीकरण तथा सिंचाई कीं सुविधाएं बढ़ाना; बाजार की अधोसंरचना तथा संरक्षण, भंडारन तथा परिवहन की सुविधा बढ़ाना, किसानों को फसल बीमा की सुविधा देना तथा उनकी आर्थिक दशा सुधारने के लिए मूल्य का निर्धारण तथा व्यापार की विधि का सतत विश्लेषण करना आदि रखे गए हैं ।

कृषि विकास को विस्तृत आधार प्रदान करने के लिए कई विधिक, संस्थागत तथा प्रशासनिक कदम उठाए गए हैं । संस्थागत साख न मिल पाना सीमान्त तथा छोटे किसानों की सबसे गंभीर समस्या है। परिणामत : महाराष्ट्र जैसे बड़े राज्य के 55 प्रतिशत किसान ऋणग्रस्त हैं ।

खतरों से सुरक्षा का उचित प्रबन्ध नहीं है । मुश्किल से 10 प्रतिशत किसान फसल बीमा के अंतर्गत आ पाए हैं । इसकी दुर्भाग्यपुर्ण परिणिति किसानों द्वारा आत्महत्या है । इस समस्या के हल के लिए सरकार ने जून 2004 में समग्र साख नीति बनाई है । इसके अंतर्गत तीन साल में कृषिय साख को दोगुना करने का लक्ष्य था जो दो वर्ष में ही प्राप्त कर लिया गया । अप्रैल से दिसम्बर 2006 तक 53.3 लाख किसानों को संस्थागत साख कार्यक्रम में सम्मिलित किया जा सका था । ग्रामीण क्षेत्रों में साख उपलब्ध कराने के लिए इसके वितरण प्रणाली को सुधारा एवं बढ़ाया गया है । साथ ही राष्ट्रीय रेनफेड अथार्टी, नेशनल हार्टीकल्वर मिशन. नेशनल फिशरीज डेवलपमेंट बोर्ड जैसी संस्थाओं की स्थापना की गई हैं । अन्य कई कार्यक्रम, जैसे वाटरशेड डेवलपमेंट, सिंचाई का विस्तार, जल ससाघन का दक्षतापूर्वक उपयोग, कृषिय जैवविविधता तथा पर्यावरण सरक्षण, कृषि–वानिकी, पारम्परिक ज्ञान का उपयोग र खाद्य एवं सुरक्षा की क्षेत्रानुसार विकास रणनीति बनाना. सम्बन्धित आर्थिक कार्यो का विकास करना, यथा उद्यानिकी, पशुपालन तथा मछलीपालन में सुधार, तकनीकी विकास एवं हस्तान्तरण, सामयिक एवं सम्यक निवेशों की अक्र्ति, पौंधों के प्रकार का संरक्षण, की सुरक्षा का एकीकृत प्रबन्ध आदि । इसके साथ ही सिंचाई के विकास, ग्रामीण भंडारन, विपणन की अधोसंरचना तथा कृषि–प्रसंस्करण में लागत बढ़ाने पर भी जोर दिया गया ।

15.7.2 कृषि का नियोजित विकास (Planned Development of Agricultural)

सन् 1947 में स्वतन्त्र होने के बाद भारत में आर्थिक विकास के नियोजन की ओर ध्यान दिया गया । कृषि भारत की अर्थव्यवस्था का आधार है, एक बडी संख्या संख्या के लिए जौविका का साधन एवं उद्योग के लिए कच्चे माल तथा व्यापारिक सामग्री का स्रोत है । अत : कृषि के बहु मुखी विकास की योजनाओं की ओर ध्यान दिया गया । विकास के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार थे–

1. भूमि और लगान सम्बन्धी नीति एवं प्रणाली में परिवर्तन ।
2. कृषि पद्धतियां का विकास तथा आधुनिक वैज्ञानिक पद्धतियों का उपयोग

भूमि सम्बन्धी सुधारों में सबसे महत्वपूर्ण है जमीदारी प्रथा की समाप्ति । स्वतत्रता के पस्वभ ही जमीदारी प्रथा की समाप्ति की योजना लगभग सभी राज्यों में लागू की गई, जिससे सरकार एवं किसानों के बीच कोई मध्यस्थ न रह जाये और कृषि–सुधार सम्बन्धी योजनाओं में सफलता मिल सके । प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह कार्य प्रारम्भ किया गया तथा सन् 1964–65 तक लगभग सभी राज्यों में सम्पन्न हो गया । इस योजना के फलस्वरूप बड़ी संख्या में किसान भूमि के स्वामी हो गये । जमींदार, जमींदार व दनामदार, जो कुल मिलाकर देश की 43 प्रतिशत भूमि के मालिक थे, इस सुधार के परिणाम स्वरूप केवल 85 प्रतिशत भूमि के अधिकारी रह गये ।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में एक लक्ष्य यह भी था कि लगान की अधिकतम मात्रा एक चौथाई अथवा पाँचवें भाग से अधिक न हो । असम. गुजरात. महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश. उड़ीसा, तामिलनाडु,

उत्तरप्रदेश तथा आन्ध्रप्रदेश में ऊ योजना लागू की गई । ऐसे नियम भी लागू किये गये जिनसे भूमि– अधिकार अधिक सुरक्षित हो सकें । इस सुधार के परिणाम स्वरूप भूमि का स्वामित्व केवल दो प्रकार का रह गया (1) भूमिधारी, जिन्हें राज्यों द्वारा भूमि का स्वामित्व दिया गया था, तथा (2) किसान, जौ खेती के लिए भूमिधारियों की भूमि लेते हैं । इस प्रकार उस एक वर्ग की समाप्ति हो गई जो कृषि भूमि से लाभ उठाकर ऊँचे स्तर के रहन–सहन का आदी हो गया था और जिसके कृषि के विकास के प्रति कोई रुचि नहीं थी न ही वह कोई कृषि कार्य करता था । उत्तरप्रदेश में प्रथम योजना के लागू होने कं पूर्व ही भूमि के स्वामित्व पर रोक लगा दी गई तथा 1951 के बाद सभी राज्यों में इस प्रकार के नियम लागू कर दिये गये । अधिकतम भूस्वामित्व यद्यपि सभी राज्यों में एक समान नहीं है. तथापि साधारणतया 30 एकड़ अधिकतम भूमिस्वामित्व का नियम मन्दक राज्य में लागू किया गया । ऊपर यह बताया जा चुका है कि उत्तराधिकार के नियमों के कारण कृषि भूमि न केवल बहुत छोटे–छोटे खेतों में बँट गई थी वरन गाँव के विभिन्न भागों में बिखरी हुई भी थी । यह स्थिति कृषि के लिए बहुत असुविधाजनक थी । प्रथम योजना के अन्तर्गत लागू सभी राज्यों में नियम लागू किये गये जिससे भविष्य में भूमि के और छोटे–छोटो भाग न हो सकें । उतर प्रदेश में 65 एकड़ से छोटे विभाग नहीं हो सकते । आन्ध्र में 2.24 एकड़, दिल्ली में 8 एकड एवं मध्य भारत में व एकड़ । बिखरे हुए खेतों को एकत्रित करने की योजना चकबन्दी क्रियान्वित की गई । विभिन्न प्रांतों में चकबन्दी के भिन्न–भिन्न तरा अपनाये गये हैं । इस दिशा में पंजाब और उत्तरप्रदेश में बड़े पैमाने पर खड़कास हुआ है । यहाँ यह कार्य सरकारी संस्थाओं द्वारा किया गया है जबकि महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब एवं दिल्ली में पंचवर्षीय योजनाओं का यह एक भाग है ।

योजना आयोग ने सहकारी कृषि पर भी जोर दिया है । छोटी एवं मझोली जोत को मिलाकर सहकारी कृषि की जाये और ऐसी संस्था को सरकार से विशेष सुविधायें मिलें ऐसी योजना है । साथ ही नई कृषि भूमि तथा कृषि योग्य एवं पड़ती भूमि ऐसे किसानी को दी जाय जिनके पास भूमि नहीं है । इस प्रकार की सहकारी संस्थाएं उपयोग की दृष्टि से महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तरप्रदेश, तमिलनाडु, बिहार तथा आन्ध्र प्रदेश में बनाई गई है । कुछ राज्यों में सहकारी कृषि (Cooperative Farming) भी प्रारम्भ की गई ।

प्रथम पंचवर्षीय योजना (1951–52 से 1955–56 तक) – भारत के संसाधनों के संतुलित उपयोग एवं आर्थिक विकास को लक्ष्य बनाकर सर 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना लागू की गई थी । इसमें बहुमुखी विकास को लक्ष्य बनाया ना चूंकि कृषि देश का सबसे महत्वपूर्ण आर्थिक कार्य है, अत : इसके विकास हेतु अधिकतम विनियोग की योजना बनाई गई सन 1951–56 में कुल 2069 करोड़ रुपए विकास में लगाए गए जिसमें से 361 करोड़ कृषि तथा अन्य 168 और 255 करोड़ सिंचाई के लिए लगाए गए (तालिका 15.4) । इस विकास का मुख्य लक्ष्य वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाना, उर्वरकों तथा अच्छे बीज का उपयोग एवं सिंचाई की सुविधाओं द्वारा उत्पादन बढ़ाना था ।

नियोजित प्रयास तथा अनुकूल मौसम के कारण भूमि उत्पादन तथा खाद्य पूर्ति में आशातीत वृद्धि हुई । इस योजनाकाल में खाद्यान्न, तिलहन, कपास, जूट और गन्ने के अन्तर्गत भूमि में 11 से लेकर 37 प्रतिशत की वृद्धि हुई । फलत : इनके उत्पादन में क्रमश : 27,10,37,27 और 4.3 प्रतिशत की वृद्धि हुई (तालिका 15.5) । कुल कृषि उत्पादन लगभग 27 प्रतिशत बढ़ा । सन् 1953–54 में ही खाद्यान्नों का उत्पादन 6.69 करोड़ टन हो गया जो लक्ष्य से 0.42 करोड़ टन तथा सर 1950–51 के उत्पादन से 1.6 करोड़ टन अधिक था । इससे अन्न तथा दालों की आन्तरिक आपूर्ति क्रमश: 40 करोड़ टन से बढ़कर 5.16 करोड़ तथा 0.8 करोड़ टन से 1.01 टन हो गई । खाद्यान्नों का आयात 48 लाख टन से घटकर योजना के अन्त में 6 लाख टन रह गया । कृषि–उत्पादकता बढ़ाने की योजनाओं में सिंचाई को प्राथमिकता दी गई । लगभग 16 लाख हेक्टर अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई की सुविधा दी गई । विभिन्न उर्वरकों का उपभोग, भूमि सुधार आदि में भी लक्ष्य के अनुसार उपलब्धि रही ।

द्वितीय योजना काल (1956–57 से 1960–61) – द्वितीय योजना काल में उद्योगों के विकास पर अधिक जोर था । एतएवं सरकारी क्षेत्र के कुल योजना–व्यय का केवल 11.3 प्रतिशत कृषि तथा सम्बन्धित मदों पर व्यय किया गया, जबकि प्रथम योजना काल में यह 15.8 प्रतिशत था । मुख्य लक्ष्य उत्पादन में विविधता लाना, कृषिगत कच्चे मालों का उत्पादन बढ़ा न। तथा कृषि उत्पादों का निर्यात बढ़ाना लक्ष्य रखा गया । लक्ष्य तो काफी ऊँचे रखे गये. परन्तु कई ओर से असफलता ही हाथ लगी । प्रतिकूल वातावरण और निवेशों की कमी आदि के कारण समग्र कृषि उत्पादन 20 प्रतिशत बढ़ा, यद्यपि लक्ष्य 27 प्रतिशत वृद्धि का रखा गया था । खाद्यान्न, तिलहन, गन्ना, चाय, रबड़ तथा आलू के क्षेत्र तथा उत्पादन में वृद्धि हुई । इनके विपरीत कपास, जूट और तम्बाकू का क्षेत्र कम हुआ, फिर भी जूट को छोड़कर अन्य का उत्पादन बढा (तालिका 15.5) । इस योजना के अन्तमे अन्य की आपूर्ति में 1.03 करोड़ टन तथा दालों में 9 लाख टन की अतिरिक्त वृद्धि हुई । खाद्यान्नों का आयात 6 लाख टन से बढ़कर 349 लाख टन (1961) हो गया । विभिन्न प्रकार के निवेशों के उपयोग में वृद्धि हुई ।

तृतीय योजना काल (1960–61 से 1965–66) – द्वितीय योजना में सम्भावित उत्पादन न प्राप्त होने पर, साथ ही आयात के बढ़ने के कारण तृतीय योजना में पुन : कृषि के विकास की अनिवार्यता का एहसास हुआ । इस हेतु सरकारी आयोजना व्यय का 12.7 प्रतिशत कृषि तथा सम्बन्धित मदों में खर्च किया गया । समग्र कृषि–उत्पादन को 26 प्रतिशत बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया । परन्तु कृषि उत्पादन के सन्दर्भ में भी ये योजना विफल रही । जनसंख्या की वृद्धि दर नियोजकों द्वारा सम्भावित दर से अधिक होने से खाद्यान्न पूर्ति की समस्या बढ़ी । मौसम के प्रतिकूल होने तथा पाक और चीन से युद्ध आदि के कारण कृषि ने कार्यक्रमों को लागू करना कठिन हो गया । खाद्यान्नों को छोड़कर अन्य फसलों के अन्तर्गत भूमि बढ़ी परन्तु सभी के उत्पादन में कमी हुई । खाद्यान्न का उत्पादन 1960–61 में 82 करोड़ टन से घटकर 72

करोड़ टन रह गया । फलत : इनका आयात सन 1961 में 34.9 लाख टन से बढ़कर सन् 1966 में 108 लाख टन हो गया ।

तीन वार्षिक योजनाएँ (1966 से 1968–69) – इन तीन वार्षिक योजनाओं में कृषि पर .1166.6 करोड़ (17.2 प्रतिशत) रुपए व्यय हुए। सह राशि तृतीय योजना से अधिक थी फिर भी तृतीय योजना में निर्धारित लक्ष्य इस अवधि में नहीं प्राप्त किये जा सके । प्रथम वर्ष 1966–67 में सूखे के कारण उत्पादन कम हुआ। सन 1966 के करीब ऋतु से कृषि की 'हरितक्रांति' के नाम से प्रसिद्ध कृषि नीति अपनाई गई । इसके बाद 1967–68 में कृषि के विकास की नई नीति–उन्नत बीजों का अधिक उपयोग. रासायनिक उर्वरकों, कीटाणुनाशक दवाओं का प्रचार एवं प्रसार, सिंचाई में विस्तार तथा फसलों का उचित स्व निर्धारण द्वारा प्रोत्साहन के कारण उत्पादन तेजौ से बढ़ा । इस वर्ष मौसम भी अनुकूल रहा । यह होते हुए भी कई फसलों का उत्पादन वर्ष 1968–69 में तृतीय योजना (1960–61) के लक्ष्य से कम रहा । कुल खाद्यान्न उत्पादन 9.4 करोड़ टन हो गया । खाद्यान्नों का आयात सन 1966 में 108 लाख टन से घटकर सन 1969 में 38.7 लाख टन रह गया ।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजनाएँ 1969–70 से 1973–74 – इस अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र से कृषि सम्बन्धी मदों पर 2743 करोड़ रुपये रखा गया था जो कुल योजना व्यय का 16.9 प्रतिशत है । इस योजना का लक्ष्य विकास की गति एवं दिशा को स्थिरता देना रखा गया है । खाद्यान्नों के उत्पादन में विभिन्नता को कम करना भी लक्ष्य था । सन 1973–74 तक इनका उत्पादन 12.9 करोड तक पहुँचने का लक्ष्य रखा गया था, परन्तु वास्तविक उत्पादन 10.47 करोड़ टन ही रहा । इस योजना की सफलता गेहूँ के उत्पादन में बहुत तीव्र वृद्धि प्राप्त करने में है । चावल का उत्पादन भी संतोषजनक था, परन्तु दालों एवं तिलहन का उत्पादन आशा से कम रहा । खाद्यान्न की स्थिति कठिन बनी रही । सन 1973 में 36.14 लाख टन खाद्यान्न का आयात करना पड़ा ।

विकास योजनाएँ – सन् 1966–67 में कृषि की नीतियों में परिवर्तन किया गया । विकास योजनाओं को किसानों की आवश्यकताओं के अनुसार बनाने का प्रयास किया गया । उन्नत, अधिक उत्पादन देने वाले बीजों का उत्पादन और पूर्ति को बढ़ावा दिया गया । विज्ञान तथा तकनीकी के सुधारों को ग्रामीणों तक लाने का प्रयास किया गया । विभिन्न सीमांत कृषकों तथा कृषि में लगे श्रमिकों के लिए विशेष योजनाएँ बनायी गई । सघन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम तथा सघन कृषि जिला प्रोग्राम के अंतर्गत चुने हुए क्षेत्रों में कृषि उत्पादकता बढ़ाने का प्रयत्न किया गया । इन योजनाओं की चर्चा अध्याय पद्रह में की गई है । कृषि के विकास और आधुनिकीकरण की ओर उठाए कदम तीन प्रकार के है - (1) रासायनिक उवरकों का उत्पादन व उपयोग, (2) सिंचाई का विकास तथा (3) कृषि के वैज्ञानिक ढ़ंगों को अपनाना ।

मिट्टी की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए विविध रासायनिक उर्वरकों का उपयोग बहुत तेजौ से बढ़ा । फलत : देश में उनके उत्पादन पर भी जोर दिया गया (तालिका 15.6) । देश में रासायनिक उर्वरकों के सन 1950 में केवल 9 कारखाने थे जिनकी संख्या 1973 में 50 से आधिक हो गई । उत्पादन बढ़ने पर भी अभी भारी मात्रा आयात करने पड़ते है । उर्वरकों के साध ही विभिन्न प्रकार की खादों के निर्माण तथा उपयोग का प्रचार किया गया । नगरीय कम्पोस्ट, सीवेज. कूड़ा–कचरा, ग्रामीण कम्पोस्ट तथा हरी खाद की स्कीम उलेखनीय हैं । अनुमानत : सन् 1975 में नगरीय क्षेत्रों में 48 लाख टन तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 17 करोड़ टन कम्पोस्ट खाद तैयार की गई

पाँचवीं योजना (1974–75 से 1978–79) – कृषि के विकास पर विशेष ध्यान दिया गया । कृषि तथा उससे सम्बन्धित मदों तथा सिंचाई पर कुल आयोजन व्यय का 21.7 प्रतिशत व्यय किया गया । तिलहन तथा कपास को छोड़कर अन्य फसलों का उत्पादन लक्ष्य से अधिक हुआ । कुल सिंचित क्षेत्र 459.1 लाख (सन 1977–78) हेक्टर हो गया, जिसमें 226 लाख हेक्टर वृहद एवं मध्यम परियोजनाओं द्वारा सींचा गया । उर्वरकों और कीटाणुनाशक दवाइयों का भी लक्ष्य से अधिक उपयोग हुआ । उर्वरकों का उपयोग प्रती–हैक्टर बढ़कर 30.5 कि. ग्रा. हो गया । उन्नत बीजों का भी काफी विस्तार हुआ तथा चावल और गेहूँ की उपज पर इसका प्रभाव पड़ा । लघु तथा सीमान्त कृषकों का उत्पादन बढ़ाने तथा अन्य व्यवसाय प्रारंभ करने के लिए कई प्रकार की योजनाएं, प्रारम्भ की गई । जलवायु बाढ़ और मुदा के अपरदन की समस्याओं को हल करने के प्रयत्न किये गए ।

छठवीं योजना (1980–81 से 1984–85 तक) – इस योजनाकाल में पाँचवीं योजना की तुलना में निर्धारित व्यय की राशि बहुत अधिक थी । कृषि तथा सम्बन्धित कार्यो एवं सिंचाई पर कुल बजट का 26.3 प्रतिशत व्यय किये जाने का प्रस्ताव था । कृषि तथा ग्रामीण विकास का मुख्य लक्ष्य सामाजिक न्याय देने के उद्देश्य से विकास को प्रोत्साहित करना था । साथ ही आत्मनिर्भरता प्राप्त करना भी प्रमुख लक्ष्य था । तदर्थ सिंचाई के विकास को प्राथमिकता दो गई । मिश्रित कृषि को प्रोत्साहन दिया गया ताकि कृषि में पूँजी का निवेश बढ़ सके । साथ ही मत्स्योत्पादन को पशुपालन, वानकी तथा मत्स्योत्पादन से सम्बद्ध करना भी लक्ष्य था, जिससे सीमान्त तथा लघु कृषकों के उत्पादन के आधार में विविधता आ सके । अतिरिक्त भूमि के आवंटन के सभी प्रयास किये गए । कृषि के आधुनिकीकरण पर भी सम्यक ध्यान दिया गया । विभिन्न निवेशों के उत्पादन तथा उपयोग उपयोग को बढ़ाया गया । उन्नत बीजों की आपूर्ति के लिए बीज उत्पन्न करने वाले फार्मो को प्रोत्साहन दिया गया । खाद्यान्न उत्पादन बढ़ाने के साथ ही दालों, तिलहन तथा कपास के उत्पादन बढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया गया । लूट के उत्पादन में स्थिरता लाने के प्रयत्न किये गए । गावानी कृषि के विकास के लिये विशेष योजनाएँ लागू की गई ।

इस योजना की उपलब्धियाँ भी लक्ष्य से कम रही । कुल सिंचित क्षेत्रफल (1984–85) 605 लाख हेक्टर ही हो पाया जो कुल कृषित भूमि का 30.1 प्रतिशत है । कुल उर्वरकों का उपभोग 8.2 लाख टन हुआ । इसमें से 44 प्रतिशत (3.6 लाख टन) आयातित उर्वरक था । प्रति हेक्टर उर्वरक का उपभोग केवल 46.3 कि. ग्रा. हो पाया । कुल 541 लाख हेक्टर भूमि पर उन्नत बीजों का उपयोग किया गया । तिलहन को छोड़कर सभी का उत्पादन लक्ष्य से कम रहा हे । कुल खाद्यान्नों का उत्पादन 1462 लाख टन हो पाया जो लक्ष्य से बहुत कम था । सभी तिलहनों का उत्पादन 138 लाख हुआ ।

सातवीं योजना (1985–86 से 1989–90 तक) – इस योजना में कृषकों के सर्वांगीण विकास का लक्ष्य था । खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ाने के लिए सिंचाई पर विशेष ध्यान दिया गया । फलत : जल संसाधन के प्रबन्ध पर जोर दिया गया । सिंचाई की स्थापित क्षमता और वास्तविक सिंचित क्षेत्र के अंतर को घटाना भी उद्देश्य था । बागवानी की कृषि को प्रोत्साहन देने के लिए विशेष योजनाएँ बनाई गई । कमजोर वर्ग के कृषकों को निवेश प्रदान कराने की नीतियों पर प्रभावी ढ़ग से अमल करने का लक्ष्य था ।
इन प्रयत्नों के परिणामस्वरूप अनाजों का उत्पादन बढ़कर सर 1989–90 में 1710.4 लाख टन हो गया । इसी साल दालों का उत्पादन 128 लाख टन, कुल तिलहनों का 169 लाख टन और कपास का 1938 हजार टन तक पहुंच पाया । शुद्ध बोए गए क्षेत्र में शुद्ध सिंचित क्षेत्र सन् 1989–90 में 32.8 प्रतिशत हो गया तथा प्रति हेक्टर उर्वरकों का उपयोग 63.6 कि. ग्रा. तक पहुंच गया ।

दो वार्षिक योजनाएँ एवं आठवीं योजना (1992–93 से 1996–97 तक) – वर्ष 1990–91 से 1991–92 तक दो वार्षिक योजनाएं चलीं तथा सन् 1992–93 में आठवीं पंचवर्षीय योजना आरंभ हुई । इस योजना के अन्त तक में खाद्यान्नों का कुल उत्पादन 2100 लाख टन तक बढ़ाने का लक्ष्य रखा गया । इसी तरह तिलहनों का 230 लाख टन, कपास का 23.8 लाख टन तथा जूट का 17.1 लाख टन तक उत्पादन पहुँचाने का लक्ष्य था । इस हेतु सिंचाई की अर्जित क्षमता 893 लाख हेक्टर तक लाने का लक्ष्य था । उर्वरकों का उपभोग 183 लाख टन तक किया जाना था । इस अवधि में भी उपलब्धियां लक्ष्य से काफी नीचे रही । कुल सिंचित क्षेत्र 732 लाख हेक्टर हो पाया जे कुल कृषित भूमि का केवल 38.4 प्रतिशत है । कुल उर्वरकों का उपभोग सन् 1996–97 में 131.7 लाख टन ही था । फलत : खाद्यान्नों का कुल उत्पादन भी लक्ष्य से काफी कम केवल 1994 लाख टन तक ही पहुँच पाया । यह अवश्य है कि कपास और जूट का उत्पादन निर्धारित लक्ष्य से अधिक रहा ।

नवमीं पंचवर्षीय योजना (1996–97 से 2001–02 तक) – इस योजना–काल में कृषि सेक्टर की प्रगति पूरी अर्थव्यवस्था की प्रगति की तुलना में काफी मंद रही है । कृषि क्षेत्र की औसत वार्षिक वृद्धि पर आठवी योजना–काल के औसत 4.7 प्रतिशत से घट कर नवमी पंचवर्षीय

योजनाकाल में 2.1 प्रतिशत ही रह गई । यहाँ तक की नवमीं पंचवर्षीय योजना के पांच में से दो वर्षो में उत्पादन घटा है और रक वर्ष अत्यल्प वृद्धि (0.3 प्रतिशत) हुई । इसका फल यह हुआ कि इस योजना के अन्त तक आठवीं योजना के लक्ष्य भी पूरे नहीं हो पाए । कुल खाद्यान्नों का उत्पादन वर्ष 2001–02 में 2120 लाख टन हुआ जो आठवीं योजना के लक्ष्य (2100 लाख टन) के बराबर है । इसके विपरीत कुल तिलहनों (204.6 लाख टन) और कपास (18.2 लाख टन) का उत्पादन तो आठवीं योजना के लक्ष्य से काफी कर रहा । इस कारण भारी मात्रा में (वर्ष 2001–02 में कुल 4322 हजार टन) खाद्य तेलों का आयात करना पड़ा । उत्पादन में मंद वृद्धि तथा बढ़ती मांग के कारण इसी वर्ष 387 हजार टन कच्ची कपास और 79.6 हजार टन जूट का आयात किया गया । कृषि उत्पादन में आशानुकूल वृद्धि न होने के कारणों में प्रतिकूल जलवायु के साथ ही सिंचाई और उर्वरकों के उपयोग में समुचित वृद्धि न होना भी है ।

15.8 सारांश (Summary)

कृषि पर निर्भरता अत्यधिक होने के कारण सभी कृषियोग्य भूमि पर खेती की जा रही है । देश की आधी से अधिक (54.5 प्रतिशत) भूमि कृषित है जिसमें 46 प्रतिशत निरा कृषित भूमि हैं तथा 8.5 प्रतिशत पड़ती भूमि है । कृषित भूमि के विस्तार के साथ अन्य उपयोगों के अंतर्गत भूमि तेजौ से घटी है । भौतिक दशाओं कि विभिन्नता के कारण कृषित भूमि में बहुत अधिक प्रादेशिक विभिन्नता है । निरा कृषित भूमि उरुणाचल प्रदेश में 3.2 प्रतिशत से लेकर उत्तरी मैदानी राज्यों में 60 प्रतिशत से अधिक है । एक–तिहाई से अधिक (35.3 प्रतिशत) भूमि पर साल में एक से अधिक पैदा की जाती हैं । दुफसली क्षेत्र के विस्तार में सिंचाई का बड़ा योगदान है । देश के कुल कृषित भूमि का 40 प्रतिशत सिंचित है । मैदानी राज्य इसमें भी आगे हैं । पिछली आधी शताब्दी में सिंचाई का काफी विस्तार हुआ ।

फसलों में खाद्यान्न अब भी सबसे प्रमुख हैं, यद्यपि उनका सापेक्षिक महत्व घट रहा है । अनाज में क्रमश: चावल एवं गेहूँ का स्थान है । दालों का सापेक्षिक महत्व घटना चिन्तनीय है । दालों में चना और तुअर तथा तिलहनों में सोयाबीन मुख्य हैं ।

स्वतंत्रता के बाद भारत की कृषि में मूलभूत परिवर्तन हुए । फसलों के क्षेत्रफल एवं सापेक्षिक महत्व में बदलाव आया । व्यापारीकरण की प्रवृत्ति बढ़ी । फसलों की उपज दर अर्थात् उत्पादकता बढ़ी । फलत: खाद्यान्नों का कुल उत्पादन सर 1960–51 में 5.08 करोड़ टन से बढ़कर सन् 2005–06 में 20.9 करोड़ टन हो गया । खाद्यान्न उत्पादन में अग्रणी राज्य उत्तरपदेश, पंजाब, आन्ध्र प्रदेश, पश्चिम बंगाल, कर्नाटक, मध्यप्रदेश हरियाणा और राजस्थान है।

उत्पादन एवं उत्पादकता में आशातीत वृद्धि मुख्यरूप से हरित क्रांति के कारण हुई । हरित क्रांति कृषिगत नए निवेशों एवं कृषि की नवीन विधि के पैकेज का नाम है जिनके उपयोग से फसलों

की उपज दर और उत्पादन बहुत तेजौ से बढ़ा । इस क्रांति की शुरूआत सन 1960 के मध्य दशक में हुई । इसमें विपुल उत्पादन देने वाली बीजों के साथ सिंचाई तथा उर्वरकों का उपयोग बढ़ा । साथ ही आधुनिक उपकरणों एवं यंत्रो का उपयोग भी बढ़ा । उनके कारण देश में अनाजों का कुल उत्पादन सर 1965–66 से सन 2005–06 के मध्य तीन गुना बढ़ा । दालों का उत्पादन 0.5 गुना तथा तिलहनों का चार गुना बढ़ा । इस तरह हरित क्रांति का फसल समूहों पर अलग–अलग प्रभाव पड़ा । अनाजों में भी सर्वाधिक लाभ गेहूँ को हुआ । इसी तरह हरित क्रांति का लाभ देश के सभी भागों को समान रूप से नहीं मिला । वास्तव में पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश जैसे सुविधा सम्पन्न सिंचित क्षेत्र इस क्रांति से सर्वाधिक लाभान्वित हुए । अन्य भागों को उतना लाभ नहीं मिल पाया । इसी तरह पूँजी प्रधान होने के कारण इसका लाभ बड़े और मंझोले किसान ही ले पाए । यह सीमान्त एवं छोटे किसानों की क्षमता से बाहर हैं ।

हरित क्रांति के प्रयत्नों के बावजूद भी भारतीय कृषि काफी पीछे है । यहाँ फसलों की प्रति हेक्टर उपज दर विश्व के विकसित देशों की तुलना में बहुत कम है । स्वतंत्रता के बाद से उत्पादकता बढ़ाने के प्रयास किए जाते रहे हैं । विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में इस दिशा में प्रयत्न किये गए। देश के विभिन्न भागों तथा विभिन्न वर्गो को कृषि निवेश उपलब्ध कराने के प्रयत्न किए गए। खाद्यान्नों के साथ दलहनों तथा तिलहनों के उन्नत बीजों का वितरण, उन्नत उपकरण वितरण, कटिनाशक एवं खरपतवारनाशक दवाइयों का वितरण की योजनाएं संचालित की गई । कृषि के लिए आवश्यक निवेशों के वितरण के लिए गांवस्तर पर विपणन सहकारी संस्थाएं एवं मण्डियां स्थापित की गई तथापि कृषि की प्राकृतिक पर्यावरण पर निर्भरता अभी भी बहुत अत्यधिक है । साथ ही जोत का छोटा तथा बिखरा होना वैज्ञानिक विधियों के अपनाने में एक गंभीर बाधा है । परिवहन एवं विपणन की समस्याएं भी पूरी तरह से दूर नहीं हो पाई हैं । इनके साथ अब तो रसायन आधारित कृषि–विकास के विस्तार के साथ ही इनसे पर्यावरण प्रदूषण की समस्या भी उभर कर सामनें आने लगी हैं । अब तो इससे पर्यावरण प्रदूषण की भी समस्या होने लगी है ।

15.9 शब्दावली (Glossary)

भूमि उपयोग – विभिन्न कार्यो के लिए भूमि का उपयोग ।

कृषित भूमि – वह भूमि जिस पर एक वर्ष में कृषि की गई हो ।

शुद्ध बोया गया क्षेत्र – एक कृषि वर्ष में दुफसलीरहित कृषित भूमि ।

शस्य गहनता – शुद्ध बोए गए क्षेत्र के प्रतिशत के रूप में कुल कृषित भूमि शस्य गहनता है ।

हरित क्रांति – विपुल उत्पादन देने वाले कृषि के नवीन निवेशों एवं विधियों के उपयोग से फसलोत्पादन में आशातीत वृद्धि हरित क्रांति के नाम से जानी जाती है ।

15.10 संदर्भ ग्रंथ (Reference Books)

1. Bhalla, G.S. and D.S Tyagi (1989) Patterns in Agricultural Development–A District level Study, New Delhi: Institute for Studies in Induatrial Development.
2. Blakie, P.M. (1971) Spatial organization of some north India Villages, Transaction of the Instiute Of British Geographers, 52, 1–40
3. Blakie, P.M. (1978) The Theory of the Spatial Diffusion of innovations; a spaciour cut–dt–sac, Progress in Human geography, Vol. 2.2, pp 268–295.
4. Chakravotry, A.K. (1973) Green revolution in India, Ann. Ass. Am. Geogr.63, pp 319–330
5. Chauhan, D.S. (1966) Studies in the Utilisation of Agricultural Land. Agra : Shivlal and Co.
6. Dasgupta, B. (1977) India's Green Revolution, Economics & Political Weekly, Vol. 12, Nos. 6–8, pp 241–260
7. Dasgupta, K.A., ed. (1980) Atlas of Agricultural Resources of India. New Delhi: Wiley Eastern Ltd.
8. Dasgupta, S. (1989) Diffusion of Agricultural Innovations in Village India. New Delhi: Wiley Eastern Ltd.
9. Dayal, Edison (1984) Agricutural productivity in India: A spatial analysis, Ann. Asso. Am. Geogr., 74 (1), 98–123
10. Ester, K.W, Able, M.E. and Norton, G. (1977) Regional differences in agricultural productivity in India, American Journ Agr. Economics, 59, 258–265
11. Harvey, D.W. (1966) the theoretical concept and the analysis of agricultural landuse patterns in Geography, Ann.Ass.Am. Geogr., 56, 361–374
12. Mohammad, Noor (2002) Regional patterns of Food security in India, Annals of the Nat. Asso. Geogrs. India, 22.2, 10–21.
13. Rao. Hanumantha C.H.C. (1992) Agriculture: Policy and performance, in Bimal Jalan, ed, The Indian Economy: Problems and Prospects. New Delhi
14. Shafi, M. (1984) Agricultural Productivity and Regional inbalances. New Delhi Concept pub. Co.
15. Singh, Jasbir (1974) Agricultural Atlas of India. Kurukshetra : Vishal Publication
16. Singh Jasbir and S.S Dhillon (1984,1987,1994) Agricultural Geography, New Delhi : Tata McGraw - Hill Pub.

15.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न– 1

1. दो
2. 46 प्रतिशत
3. भौतिक बनावट तथा जलवायु की प्रकृति
4. समतल भूमि, उर्वर मिट्टी, अनुकूल जलवायु, सिंचाई की सुविधा तथा जनसंख्या का दबाव
5. कुल कृषित भूमि का निरा कृषित भूमि के प्रतिशत को शस्य गहनता का सूचक माना जाता है।

बोध प्रश्न– 2

1. 4.3 प्रतिशत
2. क्रमश: पंजाब तथा आसाम
3. (i) अनाज तथा मोटे अनाज, (ii) दालें तथा (iii) फल–सब्जी आदि ।
4. दक्षिण पश्चिम मानसून मौसम को खरीफ मौसम तथा शीत काल के मौसम को रबी मौसम करते है ।
5. गेहूँ में ।
6. उत्तर प्रदेश, पंजाब तथा आन्ध्र प्रदेश ।

बोध प्रश्न– 3

1. विपुल उत्पादक बीज
2. अनाज में ।
3. पर्यावरणीय विशेषकर जलवायुगत समस्याएं ।
4. पंजाब–हरियाणा–पश्चिमी उत्तर प्रदेश
5. जोत का अति छोटा तथा बिखरा होना ।

15.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में कृषित भूमि तथा शस्य गहनता के प्रादेशिक वितरण की व्याख्या कीजिए ।
2. भारत में सिंचित क्षेत्र के वितरण एवं वृद्धि का मूल्यांकन कीजिए ।
3. भारत में बदलते शस्य प्रतिरूप की समीक्षा कीजिए ।
4. भारत में कृषि उत्पादकता की क्षेत्रीय विभिन्नता एवं उसके कारणों की विवेचना कीजिए ।
5. भारतीय कृषि पर हरित क्रांति के प्रभावों की समीक्षा कीजिए ।
6. भारतीय कृषि के विकास में आने वाली समस्याओंकी विवेचना कीजिए ।

इकाई 16 : कृषि जलवायु प्रदेश : भारत एवं राजस्थान (Agro-Climatic Zones : Inda and Rajasthan)

इकाई कीं रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 कृषि जलवायु प्रदेश
16.3 भारत के कृषि जलवायु प्रदेश
16.4 कृषि जलवायु प्रदेशों की समस्याएँ एवं प्रस्तावित कार्यनीति
16.5 राजस्थान के कृषि जलवायु प्रदेश
16.6 पश्चिमी सिंचित क्षेत्र की बदलती कृषि पारिस्थितिकी
16.7 सारांश
16.8 शब्दावली
16.9 सन्दर्भ ग्रन्थ
16.10 बोध प्रश्नों के उत्तर
16.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

16.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरांत आप समझ सकेंगे :

- भारत में कृषि जलवायुविक दशाओं के अनुसार फसलों की उपयुक्तता की जानकारी,
- भारत में कृषि जलवायु प्रादेशिक नियोजन,
- राजस्थान के कृषि जलवायु प्रदेशों का विवरण,
- राजस्थान की बदलती कृषि जलवायु दशाओं का विवरण।

16.1 प्रस्तावना (Introduction)

पर्यावरणीय घटकों के रूप में जलवायु एक महत्वपूर्ण प्राकृतिक नियन्त्रक कारक है । यह अपनी निश्चित दशाओं के अन्तर्गत किसी भी वानस्पतिक घटक के विकास की सीमाएँ निर्धारित करती है । यही कारण है कि वर्षा एवं तापमान के साथ प्राकृतिक वनस्पति को जलवायु वर्गीकरण का अभिसूचक माना जाता है । कृषि फसलों के विकास में जलवायु दशाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जिनमें तापमान, वर्षा, आर्द्रता, पवन–प्रवाह आदि तत्व प्रमुख हैं । ये सभी तत्व अपना अस्तित्व एवं क्रियाविधि को क्षोभमण्डल तक सीमित रखते हैं । कृषि पर जलवायु के प्रत्यक्ष प्रभाव को दृष्टिगत रखते हुए कृषि नियोजन का प्रारूप तैयार किया जाना चाहिए ताकि कृषि विकास की गति को तीव्र किया जा सके । किसी भौगोलिक प्रदेश के विभिन्न क्षेत्रों के लिए

उपयुक्त फसल प्रारूप और सिंचाई के लिए कृषि जलवायुविक विशेषताओं की समुचित जानकारी आवश्यक है ।

16.2 कृषि जलवायु प्रदेश (Agro - Climatic Regions)

"कृषि जलवायु प्रादेशिक नियोजन (Agro-climatic Regional Planning) की संकल्पना पोषणीय उत्पादक कड़ी के रूप में विकसित की गई है जिसे एस्थ्यड़ी (F-Series) कहते हैं । ये चार एफ क्रमश : खाद्यान्न फसलें (Food crops), रेशेदार फसलें (Fibre crops), तथा ईधन (Fuel) के लिए लकड़ी (Fuel wood) प्राकृतिक पर्यावरण को ध्यान में रखते हुए इन चारों पहलुओं का वैज्ञानिक आधार पर विकास करना इसमें सम्मिलित है । इस संकल्पना के अन्तर्गत संसाधनों का समग्र मूल्यांकन क्षेत्रीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए कृषि विकास करना तथा सहायक क्रियाओं (पशुपालन, वानिकी आदि) को क्रियान्वित किया जाना है ताकि आय में वृद्धि हो सके । इन संकल्पनाओं के सन्दर्भ में योजना आयोग ने कृषि जलवायु प्रदेशों के निर्धारण के निम्न उद्देश्य ध्यान में रखे हैं :

1. प्राकृतिक संसाधनों के पोषणीय स्तर पर वैज्ञानिक उपयोग का आधार तैयार करना ।
2. भूमिहीन श्रमिकों के लिए अतिरिक्त रोजगार के अवसर उत्पन्न करना ।
3. कृषि की सहायक गतिविधियों के विकास द्वारा कृषकों की आय में अधिकतम वृद्धि करना ।
4. कृषि उत्पादन की माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करने का नियोजन ।

16.3 भारत में कृषि जलवायु प्रदेश (Agro-climatic Regions in India)

भारत को योजना आयोग द्वारा निर्धारित उद्देश्यों के लिए निश्चित मानकों के आधार पर 15 कृषि जलवायु प्रदेशों में बाँटा गया है, जो निम्नलिखित है

1. पश्चिमी हिमालय प्रदेश (Western Himalaya Region)
2. पूर्वी हिमालय प्रदेश (Eastern Himalaya Region)
3. गंगा के निम्न मैदानी प्रदेश (Lower Ganga Plain Region)
4. गंगा का मध्यवर्ती मैदानी प्रदेश (Middle Ganga Plain Region)
5. गंगा के ऊपरी मैदानी प्रदेश (Upper Ganga Plain Region)
6. गंगा पार मैदानी प्रदेश (Trans Ganga Plain Region)
7. पूर्वी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश (Eastern Plateau and Hills Region)
8. मध्यवर्ती पठार एवं पहाड़ी प्रदेश (Central Plateau and Hills Region)
9. पश्चिमी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश (Western Plateau and Hills Region)
10. दक्षिणी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश (Southern Plateau and Hills Region)
11. पूर्वी तटीय मैदान एवं पहाडी प्रदेश (East Coast Plain and Hills Region)
12. पश्चिमी तटीय मैदान एवं घाट प्रदेश (West Coast Palin and Ghat Region)
13. गुजरात के मैदानी एवं पहाडी प्रदेश (Gujrat Plain and Hills Region)
14. पश्चिमी शुष्क प्रदेश (Western Dry Region)

15. द्वीपीय प्रदेश (Island Region)

1. पश्चिमी हिमालय प्रदेश (Western Himalaya Region)

यह भारत का उत्तरतम कृषि जलवायु प्रदेश है, जिसका क्षेत्रफल लगभग 250000 वर्ग किलोमीटर है । इसमें जम्मू–कश्मीर, हिमाचल प्रदेश और उत्तराखण्ड के आठ जिले सम्मिलित हैं । इस प्रदेश में उच्चावच सम्बन्धी विषमता पायी जाती है । यह पूर्वी–पश्चिमी दिशा में समानान्तर श्रेणियों के मध्य स्थित घाटियों में विस्तृत है । सिंधु अपवाह तन्त्र की रावी, चिनाव, झेलम, किशनगंगा, सुरू, जास्कर आदि नदियों द्वारा कुछ उपजाऊ घाटियाँ निर्मित की गई है । उत्तर की ओर हिमाच्छादित श्रेणियाँ मिलती हैं । इस प्रदेश में ग्रीष्मकाल में औसत तापमान 5^0 से 30^0C तथा शीतकाल में 0^0 से 4^0C तक रहता है । यहों की औसत वार्षिक वर्षा 10 से.मी. से 250 से.मी. तक होती है, जिसका अधिकांश भाग सर्दियों में दिसम्बर से मार्च व ग्रीष्मकाल में जून से सितम्बर के मध्य बरसता है । सम्पूर्ण प्रदेश में हिमाचल प्रदेश एवं उत्तर प्रदेश के पवनमुखी भू–भाग वर्षा की सर्वाधिक मात्रा प्राप्त करता है जबकि दूरस्थ क्षेत्रों में वर्षा की न्यून मात्रा प्राप्त होती हैं । शीतकाल में उच्च पर्वतीय भागों में हिम वृष्टि होती है । इस प्रदेश में मृदा संसाधन के वितरण में भी सर्वाधिक विविधता मिलती है । उच्च भागों में हल्की भूरी पोडजोल मिट्टी मिलती है । दून घाटी में जलोढ मृदा विस्तृत है ।

पश्चिमी हिमालय कृषि जलवायु प्रदेश का 416.3 प्रतिशत भाग वनाच्छादित है । 18 प्रतिशत कृषि के अन्तर्गत है जबकि 13 प्रतिशत क्षेत्र कृषि के लिए अनुपलब्ध है । इस भूमि उपयोग प्रारूप में मृदा एवं जल संरक्षण की अपनाकर परिवर्तन करके कृषि क्षेत्र में वृद्धि की जा सकती है । यहाँ पर कृषि क्षेत्रों के 90 प्रतिशत भाग पर खाद्य फसलें उत्पादित की जातो हैं जिनमें गेहूँ मक्का, चावल तथा जौ मुख्य हैं । दून घाटी में चावल बोया जाता है । छोटे एवं मध्यम पर्वतीय क्षेत्रों में मीढ़ीदार खेत बनाकर सब्जियाँ, दालें आदि बोई जाती है । यहीं पर प्रति हेक्टेयर उलाटन अपेक्षानुरूप न होकर कम मिलता है जिसका प्रमुख कारण स्थानीय दशाओं के अनुसार फसलें एवं कृषि तकनीक न अपनाना है । फलों के उतशदन. में सेन का प्रमुख स्थान है जोकुल फलोत्पादनका 35 प्रतिशत है । अन्यख्तों में आम, बादाम, खुबानी, बेर, लीची, नाशपातीव अखरोट हैं । पशुपालन व्यवसाय की दृष्टि से यह प्रदेश समृद्ध है । यहाँ लगभग 150 करोड़ पशु पाले जाते है. किमें भेडों का प्रमुख स्थान है । जिनसे उत्तम किस्म की ऊन प्राप्त होती है । दुधारू पशु बकरियों भी पालीजाती है । यहाँ के जलीय भण्डारों (प्त050प्प01ाेाs)ए जैसे झीलों व नित्यवाही नदियों में मल्म पालन किया जाता है । इस प्रदेश में 1 .50 करोड़ लोग निधास करते हैं । जनसंख्या घनत्व 62 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है जिसका लगभग ४4 प्रतिशत भाग ग्रामीण है । कुल कार्यकारी मानव ससाधन का 76 प्रतिशत भाग कृषि व्यवसाय में संलग्न है ।

जल संसाधन की दृष्टि से यह प्रदेश गंगा सिन्धु अपवाह तन्त्र के अन्तर्गत है । इन नदियों का अच्छा विकास नहीं हो पाया है क्योंकि इनके अपवाह क्षेत्र में अधिकांश जल गार्ज बनाते हुए

प्रवाहित होता है । यहाँ अधिकांश सिंचाई नहरों द्वारा होती है जिसका वितरण क्रमश: जम्मू–कश्मीर में 95 प्रतिशत, हिमाचल प्रदेश में 16 तथा उत्तराखंड में 47 प्रतिशत है ।

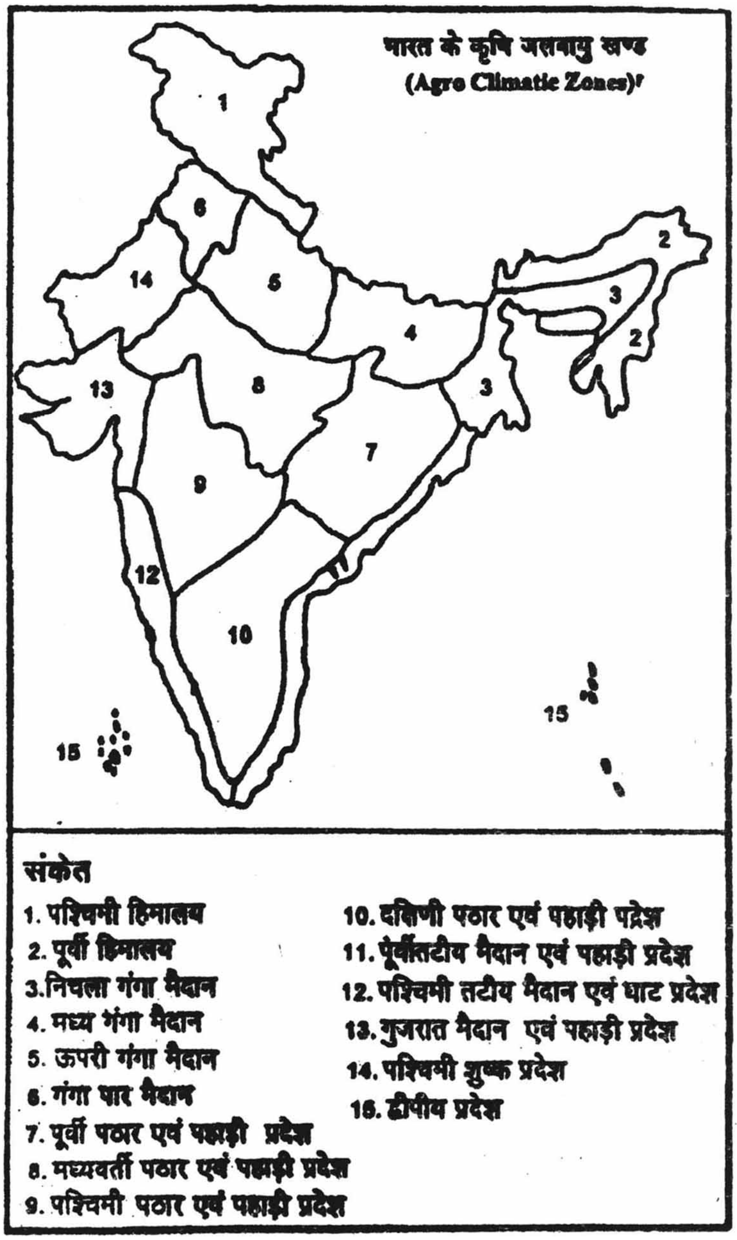

चित्र 16. 1 : भारत के कृषि जलवायु प्रदेश

2. पूर्वी हिमालय प्रदेश (Eastern Himalaya Region)

पूर्वी हिमालय कृषि जलवायु प्रदेश का विस्तार पश्चिमी बंगाल के दार्जिलिंग क्षेत्र, कूच बिहार, जलपाइगुडी, सिक्किम अरूणाचलन प्रदेश, असम की पहाड़ियाँ, नागालैण्ड, मणिपुर, त्रिपुरा, मिजोरम आदि क्षेत्रों तक है जिसका क्षेत्रफल 2.74 लाख वर्ग किलोमीटर है । यहाँ स्थलाकृतिक भिन्नताएँ काफी मात्रा में विद्यमान हैं, जिनमें हिमालय क्रम की पर्वत श्रृंखलाएँ घाटियाँ व नदी घाटियों में स्थित जलोढ़ मैदान मुख्य है । यहाँ पर धरातल का तीन –चौथाई भाग असमान

(ऊबड़ –खाबड़ व पर्वतीय) है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव जलवायु पर परिलक्षित होता है । मैदानों में उष्ण तथा पर्वतीय भागों में शीत जलवायुवीय दशाएँ विद्यमान है । ग्रीष्मकाल में औसत तापमान 25^0 – 33^0 से. (जुलाई) तथा शीतकाल (जनवरी) में 11^0-24^0 से तापमान व वार्षिक वर्षा का औसत 250 से मी. है । न्यूनतम वर्षा 134 सेमी. मैदानी भागों में जबकि अधिकतम पर्वतीय भागों हमें 400 सेमी. तक हो जाती है । विश्व की सर्वाधिक वर्षा प्राप्त करने वाले क्षेत्र (चेरापूँजी व म्वासिनराम) इसी प्रदेश में स्थित है।

पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण इस क्षेत्र में मृदाएँ अधिक गहरी नहीं हैं । नदी घाटियों में चीका, जलोढ़ व कंकरयुक्त मृदा की अधिकता है जिनमें अम्लता सीमा से कुछ अधिक मिलती है । तीव्र–ढाल होने के वर्षा की अधिक प्राप्ति से मृदा अपरदन की तीव्र समस्या जाती है । भूमि उपयोग प्रतिरूप की दृष्टि से इस प्रदेश में संर्वाधिक 45 प्रतिशत भाग वनाच्छादित है । मात्र 19 प्रतिशत भाग पर कृषि की जाती है । यहाँ पर स्थानान्तरित कृषि भी की जाती है जिसे यहाँ पर झूमिग (Jhooming) कहते हैं । इसे मुख्यत: आदिवासी जनजातियाँ वनों को जलाकर सम्पन्न करती हैं । कुल कृषिगत भाग के 80 प्रतिशत भाग पर खाद्यान्न फसलें (चावल, गेहूँ मक्का), 7 प्रतिशत भाग पर तिलहन, 4 प्रतिशील भाग पर रेशेदार फसलें (जूट) व 6 प्रतिशत भाग पर रोपण (Plantation) कृषि (चाय, फल, सुपारी) की जाती है । पशुपालन की कार्य भी विस्तृत पैमाने पर किया जाता है । यहाँ पर भैंसे, भेडें, व बकरियाँ पाली जाती हैं । इस क्षेत्र की कुल जनसंख्या 12 करोड़ है जिसका 84 प्रतिशत ग्रामीण है। विगत वर्षो में यहाँ पर कृषि व वनाधारित (Agro and forest based) उद्योगों का विकास हु आ है।

जल संसाधनों की दृष्टि से यह क्षेत्र सम्पन्न है लेकिन उचित प्रबन्धन के अभाव में प्रतिवर्ष प्राप्त जल संसाधनों की अधिकांश मात्रा (75 प्रतिशत) समुद्रों का भोग बन जाती है । ब्रह्मपुत्र प्रमुख अपवाह बेसिन है । यहाँ का धरातल अधिक ऊबड़–खाबड़ होने से इन नदियों का जल सिंचाई हेतु भी उपयोग में नही आता है । यहाँ के कुल कृषिगत क्षेत्र का मात्र 20 प्रतिशत भाग सिंचित है ।

3. गंगा के निम्न मैदानी प्रदेश (Lower Ganga Plain Region)

इस कृषि जलवायु प्रदेश के अन्तर्गत पश्चिमी बंगाल, पूर्वी बिहार का कुछ भाग व असमघाटीं का क्षेत्र सम्मिलित है । जिसका कुल क्षेत्रफल लगभग 70 हजार वर्ग किलोमीटर है । यह एक समतल मैदानी भू–भाग है जिसका निर्माण गंगा एवं उसकी सहायक नदियों द्वारा किया गया है। गंगा की सहायक नदियों में. दामोदर, कांगसाबती, मयूराक्षी, भैरव व दचामाती आदि प्रमुख हैं । इस प्रदेश का ढाल दक्षिण की ओर है; अत: ये सभी नदियाँ बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। इस प्रदेश में उष्णार्द्र जलवायु पायी जाती है । सागरीय प्रभाव (बंगाल की खाड़ी) के कारबार वार्षिक तापमान में असमानता नहीं मिलती है । शीतकाल (जनवरी) में 9^0 से 24^0C तथा ग्रीष्मकाल (जुलाई) में 26^0 से 40^0C तापमान पाया जाता है।इस क्षेत्र को 12 – 17 सेंटीमीटर वार्षिक वर्षा प्राप्त होती है । जिसका वितरण सम नहीं है । का तीन -चौथाई भाग मानसून काल में प्राप्त होता है ।

मृदा संसाधन के वितरण में कुछ स्थानीय भिन्नताएँ मिलती हैं। यहाँ पर लाल-पीली जलोढ़ एवं लेटेराइट मृदाएँ मिलती हैं । तटीय भागों में डेल्टाई कांप व दलदल के क्षेत्र हैं । यहाँ कुल क्षेत्र

के दो तिहाई भाग,पर कृषि की जाती है जबकि मात्र 11 प्रतिशत भाग ही वन क्षेत्र हैं । यहाँ पर गेहूँ चावल, दालें, सरसों, आलू व जूट की फसलें बोई जाती है । यह देश का सबसे अधिक जूट उत्पादन करने वाला क्षेत्र है । यहाँ पर शकरकन्द, नारंगी, मौसमी व काजू के उत्पादन की भी पर्याप्त दशाएँ व्याप्त हैं । इस प्रदेश में पशुधन की संख्या 26 लाख हैं जिनमें 50 प्रतिशत पशु मवेशी (Cattle) हैं । जलीय क्षेत्रों की उपलब्धता के कारण मत्स्य व्यवसाय की प्रबल संभावनाएँ हैं । यहाँ पर 30 हजार वर्ग किलोमीटर, महाद्वीपीय निमग्न तट के अतिरिक्त चावल के खेतों में भी मत्स्य पालन किया जाता है । यहाँ पर रेशम कटिपालन (Dericulture) व्यवसाय की भी विपुल संभावनाएँ हैं । यहां पर कुल 6.8 करोड़ जनसख्या रहती है, जिसका तीन–चौथाई ग्रामीण हैं । कुल कार्यशील जनसंख्या का 55% भाग कृषि कार्य करता है यह देश का सर्वाधिक घना बसा क्षेत्र है ।

जल संसाधन की उपलब्धता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध दक्षिणी–पश्चिमी मानसून पर निर्भर करता है । यहाँ पर वर्षाकाल में विनाशकारी बाड़े आती है जबकि ग्रीष्मकाल मे अनावृष्टि की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । धरातल समतल होने के कारण नहरी यन्त्र का अच्छा विकास हुआ है । दामोदर एवं मयूराक्षी नदियों से नहरों द्वारा सिंचाई का विकास किया गया है । भूजल की स्थिति अच्छी होने के कारण कुछ स्थानों पर कुओं द्वारा भी सिंचाई की जाती है

4. गंगा का मध्यवर्ती मैदानी प्रदेश (Middle Ganga Plain Region)

इस प्रदेश के अन्तर्गत पूर्वी उत्तरप्रदेश के 12 जिले एवं बिहार एवं झारखण्ड (छोटा नागपुर क्षेत्र के अतिरिक्त) सम्मिलित हैं जिसका कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 1.7 लाख वर्ग किलोमीटर है । यह हिमालय पर्वत के पदीय भागों में स्थित समतल मैदानी भाग है, जिसका निर्माण गंगा, गंडक, गोमती, घाघरा, काली, कोसी, सोन, रिहन्द आदि नदियों ने किया है । इस मैदानी प्रदेश का ढाल पूर्व व दक्षिण पूर्व में है, जहाँ ग्रीष्मकाल में 26^0–41^0C तथा शीतकाल में 9^0–27^0 C तापमान पाया जाता है और वार्षिक वर्षा 110 – 220 सेन्टीमीटर के मध्य प्राप्त होती है । इस प्रदेश में उपजाऊ जलोढ़ मृदा पायी जाती है । पर्वतपदीय क्षेत्र तराई भागों के अन्तर्गत हैं जहाँ दलदल (Swamps) पाये जाते हैं ।

इस प्रदेश के दो–तिहाई भाग पर कृषि कार्य किया जाता है जिसके 95 प्रतिशत भाग पर खाद्यान्न फसलें उत्पादित की जाती हैं । यहाँ पर रबी में गेहूँ, चना, जौ, मटर, सरसों व आलू तथा खरीफ में चावल, मक्का, ज्वार, बाजरा प्रमुखता से बोये जाते हैं । नकदी फसलों में गन्ना प्रमुख है । फल कृषि (Horticulture) में आम, अमरूद, अनानास, कटहल, लीची व रसदार फल सम्मिलित हैं । यहाँ जल संसाधन का उपयुक्त प्रबन्ध नहीं है तथा भूगर्भिक जल के अन्धाधुध दोहन से नई समस्याएँ खड़ी कर दी है ।

5. गंगा के ऊपरी मैदानी प्रदेश (Upper Ganga Plain Region)

इस प्रदेश के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश एवं दक्षिणी–पश्चिमी उत्तराखण्ड के 32 जिले सम्मिलित हैं, जो 1.4 लाख वर्ग किलोमीटर में विस्तृत है । इसमें हिमालय पर्वतपदीय क्षेत्र के समीप भाबर व तराई का विस्तार है । इसका पूर्वी भाग अपेक्षाकृत निम्न है । यहाँ की जलवायु उपार्द्र

महाद्वीपीय है जिसमें ग्रीष्मकाल का तापमान 26^0 – 41^0C व शीतकाल का तापमान 7^0 – 23^0C रहता है और वार्षिक वर्षा 80 से 150 सेन्टीमीटर के मध्य रहती है, जिसका तीन–चौथाई भाग मानसून काल में प्राप्त होता है । यहां की मृदा दोमट बलुई प्रकार की है, जिसमें मिश्रित कण पाये जाते हैं । इन मृदाओं में जलीय प्रवाह भूमिगत एवं अनियमित पाया जाता है। इस कृषि जलवायु प्रदेश का 70 प्रतिशत भाग कृषि के अन्तर्गत है । यहाँ केवल 5 प्रतिशत भाग पर वनावरण है । इसमें सबसे अधिक संभावित भूमि कृषि के अन्तर्गत लाई गई है । कुल कृषित भूमि के 83 प्रतिशत भाग पर खाद्यान्न फसलें बोई जाती हैं । यहाँ पर चावल, गेहूँ जौ, ज्वार, बाजरा, अरहर, सरसों, आलू व चना की प्रमुखता हैं ।

बागाती कृषि (Plantation) के अन्तर्गत आम, नाशपाती, आडू (फ्तालू), बेर, अमरूद,पपोता, लीची, जामुन, अंगूर व गन्ना प्रमुख रूप से उत्पादित किये जाते हैं । पशुपालन में इसका अधिक महत्वपूर्ण स्थान है । यहाँ की मुर्रा नस्ल की भैंसे प्रसिद्व है । इसमें लगभग 8.4 करोड़ जनसंख्या निवास करती है, जिसका 80 प्रतिशत भाग ग्रामीण है । यहाँ पर नित्यवाही नदियों द्वारा पूरित जल के अतिरिक्त भूगर्भिक जल के भी विस्तृत संचित भण्डार हैं । इस उपलब्ध जल संसाधन का उपयोग नहरों, नलकूपों एवं कूओं द्वारा किया जाता है । यहाँ पर अतिवृष्टि एवं जलप्लावन की समस्याएँ व्याप्त है ।

6. गंगा पार मैदानी प्रदेश (Trans Ganga Plain Region)

गंगा पार मैदानी प्रदेश का विस्तार पंजाब, हरियाणा, दिल्ली, चण्डीगढ़ व राजस्थान के गंगानगर व हनुमानगढ जिलों में है, जिसका कुल क्षेत्रफल 1.25 लाख वर्ग किलोमीटर है । यह शिवालिक की पहाड़ियो के दक्षिणी भाग में स्थित है जिसका उत्तरी भाग ऊँचा एवं शिवालिक की पर्वतपदीय ऊँचाई द्वारा निर्मित है । इसके दक्षिणी–पश्चिमी भाग में बालूका स्तूप (Stand dunes) पाये जाते हैं । यहाँ की जलवायु शुष्क व अर्द्वशुष्क से लेकर उपआर्द्र प्रकार की है । ग्रीष्मकाल में तापमान 26^0 – 42^0C व शीतकाल में 7^0–22^0C तथा औसत वार्षिक वर्षा 30 से 125 सेन्टीमीटर पाई जाती है, जिसकी मात्रा क्रमशः पूर्व से पश्चिम की ओर घटती जाती है । यहाँ ह्रूमसयुक्त पर्वतीय मृदाएँ मिलती हैं, जिनकी गहराई कम होती है । दक्षिणी–पूर्वी क्षैत्रों में पूरी जलोढ़ व दक्षिणी –पश्चिमी भागों में शुष्क बलुई मृदाएँ पायी जाती हैं ।

इस प्रदेश के कुल क्षेत्रफल का लगभग 80 प्रतिशत भाग कृषि के अन्तर्गत है, जो सभी कृषि जलवायु प्रदेशों में सर्वाधिक है । केवल 3 प्रतिशत भाग वनाच्छादित है । कुल कृषिगत क्षेत्र के 70 प्रतिशत भाग पर खाद्यान्न उत्पादित किए जाते हैं । यहाँ पर गेहूँ, चावल, दालें, तिलहन, गन्ना, चना, बाजरा आदि बोये जाते हैं । इस क्षेत्र में फसलों की उपज उच्च है, जिसके निम्न कारण है :

1. सिंचाई सुविधाएँ, 2. उपजाऊ मृदा की उपलब्धता, 3. कृषि में नवीनतम तकनीकी का समावेश, 4. उत्तम किस्म के बीजों का उपयोग. 16. खादों का उपयोग आदि । यहाँ पशुपालन व्यवसाय को कृषि के साथ विकसित किया जा रहा है । इस प्रदेश में लगभग 80 लाख पशु हैं, जिसमें 45 प्रतिशत भैंसे, 30 प्रतिशत मवेशी (Cattle), 15 प्रतिशत भेड़–बकरियाँ हैं । यहाँ

की जनसंख्या लगभग 5 करोड़ है, जिसका 70 प्रतिशत भाग ग्रामीण है । सम्पूर्ण कार्यशील जनसंख्या का 65 प्रतिशत कृषिगत कार्यो में संलग्न है ।

वर्षा की न्यूनतम मात्रा रख असमान वितरण को मद्देनजर देखते हुए इस प्रदेश में जल संसाधन का बहुत महत्व है । जहाँ एक ओर वर्षा कम मात्रा में प्राप्त होती है । वहीं वाष्पीकरण की भी ऊँची दर है । यहाँ सिंचाई का प्रमुख स्त्रोत भूमिगत जल है । धरातलीय प्रवाह के अन्तर्गत रावी, व्यास, सतलज, यमुना व घग्घर नदियाँ हैं । कृषि उत्पादन बढ़ाने की दौड़ में जल रख मृदा संसाधनों का अत्यधिक दोहन किया गया है । इस क्षेत्र में लवणता, क्षारीयता, भूगर्भिक जल के गिरते स्तर व जलप्लावन की समस्याएँ तीव्र गति से मजबूत तथा चुनौतीपूर्ण होती जा रही हैं ।

7. पूर्वी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश (Eastern Plateau and Hills Region)

यह भारत का सबसे बड़ा कृषि जलवायु प्रदेश है । इसमें झारखण्ड का छोटा नागपुर का पठार, राजमहल की पहाडियों, शिलांग पठार व दण्डकारण्य सम्मिलित हैं । इसका धरातल ऊबड़–खाबड़ एवं कटे–फटे पठारों व श्रेणियों के रूप में विस्तृत है, जिसका कुल क्षेत्रफल 4 लाख वर्ग किलोमीटर है । बघेलखण्ड, छोटा नागपुर, पारसनाथ व छत्तीसगढ़ के पठार इसमें स्थित है । इसमें स्थित श्रेणियों में केमूर, मैकाल, पारसनाथ, मलयगिरी. महेन्द्रगिरी प्रमुख है, जिनकी समुद्रतल से ऊंचाई 1000 मीटर से अधिक है । यहाँ की जलवायु अर्द्ध शुष्क प्रकार की है । शीतकाल में 10^0 – 27^0C व ग्रीष्मकाल में 26^0 – 34^0C तक तापमान रहता है । यह क्षेत्र 80–150 सेन्टीमीटर वर्षा प्राप्त करता है जिसका तीन–चौथाई भाग मानसून काल में प्राप्त होता है । यहाँ लाल व पीली मृदाएँ, कुछ भागों में लेटेराइट व जलोढ़ मृदाएँ तथा पठारी क्षेत्रों में काली चीकायुक्त मृदा भी मिलती है भूमि उपयोग प्रतिरूप की दृष्टि से कुल क्षेत्र के 35 प्रतिशत भाग वनाच्छादित हैं जबकि 36 प्रतिशत भाग कृषि के अन्तर्गत है । कृषि व्यवस्था में तकनीकी समावेश कम है । कुल कृषिगत क्षेत्र के 71 प्रतिशत भाग पर खाद्यान्न उत्पादन किया जाता है । यहाँ पर बोई जाने वाली फसलों में चावल, मक्का, सोयाबीन, ज्वार, चना, अरहर, कपास, मूंगफली, तिल, सरसों, सूरजमुखी अदि प्रमुख हैं ।

यहाँ लगभग 6 करोड़ लोग निवास करते हैं, जिसका 85 प्रतिशत भाग ग्रामीण है । कुल कार्यशील जनसंख्या का 85 प्रतिशत भाग कृषि कार्यो में संलग्न है । यहाँ पर पशु संख्या 45 करोड़ है, जिसमें 55 प्रतिशत मवेशी (Cattle) व 30 प्रतिशत भेड़–बकरियाँ हैं । जलीय भण्डारों की उपलब्धता के कारण मत्स्य–पालन बढ़ा है । जल संसाधन की दृष्टि से यह क्षेत्र सम्पन्न है । धराताल ऊबड़–खाबड़ होने के कारण तालाब–निर्माण की अधिक संभावनाएँ हैं । यहाँ पर सिंचाई में 52 प्रतिशत योगदान तालाबों का है । महानदी, ब्राह्मणी एवं इनकी सहायक नदियों व नहरी विकास किया गया है । कुल सिंचाई में 38 प्रतिशत योगदान नहरों का है । मात्र 10 प्रतिशत सिंचाई कुओं द्वारा की जाती है । इस प्रदेश की प्रमुख समस्याएँ वनोन्मूलन व मृदा अपरदन है ।

8. मध्यवर्ती पठार एवं पहाड़ी प्रदेश (Central Plateau and Hills Region)

भारत के मध्य में स्थित इस प्रदेश के अन्तर्गत बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड, भाण्डेर पठार, मालवा पठार एवं विन्ध्याचल की पहाड़ियाँ सम्मिलित हैं । यह प्रदेश आशिक रूप से राजस्थान, उत्तरप्रदेश व मध्य प्रदेश में विस्तृत है, जिसका कुल क्षेत्रफल 3.8 लाख वर्ग किलोमीटर है । यह सम्पूर्ण क्षेत्र ऊबड़–खाबड़ एवं कटा–फटा पठारी प्रदेश है, जिसमें नदी घाटियों का प्रमुख महत्व है।

इसके पश्चिमी भाग में अरावली पर्वत श्रृंखला है । इस प्रदेश की औसत ऊँचाई 1350 मीटर है । यहाँ की जलवायु महाद्वीपीय उपार्द्र किस्म की है, जिसमें ग्रीष्मकालीन तापमान 26^0–40^0C तथा शीतकालीन तापमान 7^0–24^0C के मध्य रहता है । यह प्रदेश 50 से 160 सेन्टीमीटर वर्षा प्राप्त करता है । यहाँ पर लाल, पीली एवं काली मृदाएँ मिलती है । कुछ स्थानों पर लेटेराइट प्रकार की मृदा भी मिलती है । पहाड़ी ढालों पर मोटे कणों वाली मृदाएँ हैं जिनकी नमी धारण करने की क्षमता अधिक होती है । भूमि उपयोग की दृष्टि से यहाँ पर 14 प्रतिशत भाग वनाच्छादित है जबकि 45 प्रतिशत भाग कृषि के अन्तर्गत है । 15 प्रतिशत भाग कृषि के लिए अनुपयोगी है । यहाँ पर बोई जाने वाली फसलों में गेहूँ (देशी का 16 प्रतिशत), मक्का, ज्वार, बाजरा, सोयाबीन, चावल, दालें, कपास, गन्ना आदि मुख्य हैं । फल सब्जियों में आलू प्याज, मिर्च, अमरूद, नारंगी, आम आदि प्रमुख हैं । यहाँ की जनसंख्या लगभग 6 करोड़ है, जिसका 80 प्रतिशत भाग ग्रामीण क्षेत्र में निवास करता है । कुल कार्यशील जनसंख्या का 75 प्रतिशत भाग कृषि के अन्तर्गत संलग्न है । पशुधन का भी अच्छा विकास हुआ है । यहाँ कुल 5 करोड़ पशु पाले जाते हैं । जलवायु की प्रतिकूलता व चरागाहों की खराब स्थिति के कारण पशुसंख्या निरन्तर घटती जा रही है जबकि मत्स्य उत्पादन बढ़ता जा रहा है । जल संसाधनों की दृष्टि से यह क्षेत्र अभावग्रस्त है । इसमें प्रवाहित होने वाली नदियों में नर्मदा, ताप्ती रख चम्बल प्रमुख हैं, जिनसे नहरी सिंचाई की जाती है । इसका मात्र 25 प्रतिशत भाग सिंचित है ।

9. पश्चिमी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश (Western Plateau and Hills Region)

इसमें महाराष्ट्र (दक्खन पठार क्षेत्र), मध्यप्रदेश (मालवा पठार का दक्षिणी भाग) तथा राजस्थान का झालावाड़ जिला समाहित है । इस प्रकार कुल 34 जिले सम्मिलित हैं, जिनका कुल क्षेत्रफल 3.3 लाख वर्ग किलोमीटर है । इसका विस्तार प्रायद्वीपीय पठार के काफी बड़े भाग पर है, जो पश्चिम में पश्चिमी घाट से आरम्भ होकर पूर्व में कृष्णा गोदावरी डेल्टाओं तक फैला है । यहाँ का तापमान ग्रष्मिकाल में 24^0–41^0C व शीतकाल में 6^0–23^0C रहता है तथा औसत वार्षिक वर्षा 60 से 120 सेण्टीमीटर के मध्य होती है,जिसका अधिकांश भाग मानसून (दक्षिणी–पश्चिमी) काल में प्राप्त होता है । शीत ऋतु शुष्क रहती है ।

यहाँ की मृदाएँ काली एवं रेगुर प्रकार की पायी जाती है । इसके कण बारीक होते हैं, जिनमें नमी धारण करने की क्षमता एवं उपजाऊपन अधिक होता है । इस प्रदेश का 60 प्रतिशत क्षेत्र कृषि के अन्तर्गत है जबकि मात्र 12 प्रतिशत भाग वनाच्छादित है । इस प्रदेश के अधिकांश भाग पर काली मृदा होने के कारण अधिक महत्वपूर्ण है । यहाँ पर बोई जाने वाली फसलों में गेहूँ, ज्वार, बाजरा, दालें, कपास, गन्ना आदि बोये जाते हैं । यहाँ की काली मृदा कपास के

लिए विशेष महत्व की है । फल एवं सब्जियों में आम, केला, अनार, अंगूर, काबू प्याज, भिण्डी, बेगन, मटर व मिर्च आदि प्रमुखता से बोई जाती है । यहाँ पर पशुओं की संख्या 4 करोड़ है । इस प्रदेश की जनसंख्या 6.5 करोड़ है, जिसका 75 प्रतिशत भाग ग्रामीण है तथा कुल कार्यशील जनसंख्या का 72 प्रतिशत भाग कृषि के अन्तर्गत संलग्न है । इस प्रदेश में जल संसाधनों की कमी पायी जाती है । कुल 34 जिलों में से 16 को सूखा प्रभावित क्षेत्र (Drought Prone Area) सीमांकित किया गया है । कुल कृषिगत क्षेत्र का 12 प्रतिशत भाग सिंचित है अतः इस प्रदेश में जल संसाधनों का विकास अति आवश्यक है ।

10. दक्षिणी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश (Southern Plateau and Hills Region)

इस प्रदेश के अन्तर्गत दक्षिणी महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश का पश्चिमी भाग, कर्नाटक व तमिलनाडु का उत्तरी भाग सम्मिलित हैं, जिसका कुल क्षेत्रफल 4 लाख वर्ग किलोमीटर है । यह प्रदेश प्रायद्वीपीय पठार के दक्षिणी भल में विस्तृत है । इसके दक्षिण में इलायची, अन्नामलाई व नीलगिरी की पहाड़ियाँ स्थित है, जिनकी औसत ऊँचाई 200 मीटर से अधिक है । यहाँ का तापमान ग्रीष्मकाल में 26^0–42^0C व शीतकाल में 13^0–21^0C के मध्य रहता है । वार्षिक वर्षा 50–100 सेण्टीमीटर के मध्य रहती है । तमिलनाडु के अतिरिक्त अधिकांश वर्षा दक्षिणी–पश्चिमी मानसून की अवधि में प्राप्त होती है जबकि तमिलनाडु में उत्तरी–पूर्वी मानसून से शीतकाल में वर्षा होती है, जिसे लौटता हुआ मानसून भी कहते हैं । इस प्रकार यहाँ की जलवायु अर्द्ध–शुष्क उष्णकटिबन्धीय प्रकार की है ।

मृदा के वितरण में भूआकृतिक लक्षणों का प्रभाव दृष्टिगत होता है । पहाड़ी एवं पठारी क्षेत्रों में मोटे कणों की लाल मृदा, नदी घाटियों में चीकायुग्त काली जलोढ़ मृदा व शेष भागों में लाल दुमट मृदा वितरित है । भूमि उपयोग प्रतिरूप की दृष्टि से इसका 48 प्रतिशत भू–भाग कृषिगत है जबकि मात्र 12 प्रतिशत भाग पर वन है, जो राष्ट्रीय औसत से काफी कम है । यहाँ बोई जाने वाली फसलों में चावल. ज्वार, बाजरा. मक्का, चना, तूर, गन्ना, मूंगफली, चाय व कहवा प्रमुख है । यहाँ आम, अंगूर व रसदार फलों के फलोद्यान (Orchard) मिलते हैं । मत्स्य व्यवसाय का भी निरन्तर विकास हो रहा है । कृषि–कार्यो के सहायक कार्यो में पशुपालन व कुक्कट पालन किया जाता है । यहाँ पर 9 करोड़ लोग निवास करते हैं, जिनका 74 प्रतिशत भाग ग्रामीण है व कुल कार्यशील जनसंख्या का 68 प्रतिशत भाग कृषि–कार्य करते हैं । पठारी भू–आवरण एवं न्यून वर्षा के कारण यह प्रदेश जल संसाधन की दृष्टि से निर्धन है । इसके अन्तर्गत कुल कृषिगत भाग का 22 प्रतिशत भाग सिंचित है । यहाँ पर सिंचाई मुख्यत: तालाबों, नहरों व नदियों पर बने जलाशयों द्वारा की जाती है ।

11. पूर्वी तटीय मैदान एवं पहाडी प्रदेश (East Coast Plain and Hills Region)

इस कृषि जलवायु प्रदेश का विस्तार कोरामण्डल से उत्तरी सरकार तट तक है, जिसमें आन्ध्रप्रदेश, तमिलनाडु व पाण्डिचेरी के 25 जिले सम्मिलित हैं । इसका कुल क्षेत्रफल 2 लाख वर्ग किलोमीटर है । यह पूर्वी घाट के सहारे फैला है, जिसका निर्माण प्रायद्वीगीय पठार मे बनने वाली नदियों द्वारा निक्षेपित जलोढ़ पदार्थो के परिणाम स्वरूप हुआ है अत: यह मैदान

डेल्टाई एवं तटीय लक्षणों का मिश्रित स्वरूप लिए है जिसकी अधिकतम ऊँचाई सह–तल से 150 मीटर है । यहाँ की जलवायु उपार्द्र है, जिस पर समुद्री प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है । यहाँ का तापमान ग्रीष्काल में 28^0–38^0Cव शीतकाल में 20^0–29^0C के मध्य रहता हैं । वर्षा की वार्षिक प्राप्ति 50 से 150 सेण्टीमीटर के मध्य होती है । इसके दक्षिणी भाग में दिसम्बर–जनवरी में लौटते हुए मानसून (शीतकालीन) द्वारा वर्षा होती है जबकि उत्तरी भाग मुख्यत: ग्रीष्मकालीन मानसून से ही वर्षा प्राप्त करता है।

यहाँ पर जलोढ़ दोमट एवं चीका मृदाएँ मिलती हैं। भूमि उपयोग प्रतिरूप के अनुसार यहाँ पर 43 प्रतिशत भाग पर कृषि को जाती है जबकि 10 प्रतिशत भाग पर वन क्षेत्र है । यहाँ पर बोई जाने वाली फसलों में चावल दालें, जूट, तम्बाकू, गन्ना. मक्का, ज्वार, बाजरा, मूंगफली व तिलहन प्रमुख है । यहाँ पर लगभग 3 करोड़ पशु भी विचरते है, जिनमें 45 प्रतिशत मवेशी हैं । तटीय क्षेत्रों मे मत्स्य व्यवसाय अच्छी अवस्था में विकसित है । साथ ही तट के सहारे रसदार फल, केले, आम, कालू आदि के फलोद्यान विकसित किये गये हैं । सम्पूर्ण प्रदेश डेल्टाई होने से जल संसाधन की दृष्टि से सम्पन्न है । कुल स्थानों पर जलप्लावन (Water Logging) की समस्या है । सिंचाई साधनों में नहरें, तालाब नलकूप प्रमुख है । इसकी जनसंख्या लगभग सात करोड़ है जिसका 75 प्रतिशत भाग ग्रामीण है । कुल कार्यशील जनसख्या का 80 प्रतिशत भाग कृषि रख सहायक कार्यो से जुड़ा हुआ है ।

12. पश्चिमी तटीय मैदान एवं घाट प्रदेश (West Coast Palin and Ghat Region)

इसके अन्तर्गत मालाबार. कोंकण व सह्यद्री पर्वत क्षेत्र सम्मिलित हैं. जो केरल, कर्नाटक व महाराष्ट्र राज्यों में स्थित है। इसका कुल क्षेत्रफल 1.2 लाख वर्ग किलोमीटर है । यहाँ तट के सहारे संकरा मैदानी भाग है जबकि दूसरी ओर समानान्तर रूप में सह्यद्री (पश्चिमी घाट) पर्वतमाला फैली है जिसका समुद्र तट की ओर ढाल तीव्र है । समुद्री प्रभाव के कारण आर्द्र जलवायु है जिसमें ग्रीष्मकाल का तापमान 26^0-32^0C व शीतकाल का तापमान 19^0–28^0C के मध्य रहता है । यह क्षेत्र 200-250 सेन्टीमीटर औसत वार्षिक वर्षा प्राप्त करता है । पश्चिमी घाट के पूर्वी भाग वृष्टिछाया प्रदेश के अन्तर्गत हैं । तटीय मैदान में जलोढ़ मृदा व पर्वतीय भागों में लाल दुमट व लेटेराइट मृदा पायी जाती है ।

भूमि उपयोग प्रतिरूप की दृष्टि से इस प्रदेश के 37 प्रतिशत भाग पर कृषि–कार्य किया जाता है जबकि 29 प्रतिशत क्षेत्र वनाच्छादित है । पर्याप्त मात्रा में वर्षा–प्राप्ति के कारण कृषि का विकास, अच्छा हुआ है । यहाँ पर चावल, ज्वार, तिलहन, दालें, मूंगफली व गन्ना प्रमुख रूप से बोई जाती हैं । बागाती कृषि (Plantationtillage) के अन्तर्गत कहवा, चाय, नारियल, रबड़ गरम मसाले उत्पादित किये जाते हैं । समुद्री, नम जलवायु व अच्छी वर्षा के कारण बागाती कृषि का विकास भी अच्छा हुआ है । यहाँ पर आम,केले, इलायची,, काबू ,अनानास, पपीता आदि उत्पादित किए जाते हैं । पशुधन विकास का अच्छा स्तर है। नीलगिरी पर्वतीय क्षेत्रों में उत्तम नस्ल की गायें पाली जाती है । सम्पूर्ण क्षेत्र में पशुधन विकास के लिए चारागाह विकास को प्राथमिकता दी जा रही है । मालबार एवं कोंकण तटीय क्षेत्रों में मत्स्य व्यवसाय किया जाता है । इस क्षेत्र में रबर, कहवा व गर्म मसालों की कृषि व्यवस्था को विकसित किया जाना चाहिए

। मानव संसाधन की दृष्टि से इस प्रदेश में 6 करोड लोग रहते हैं, ,जिनमें 64 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं । कुल कार्यशील जनसंख्या का 70 प्रतिशत भाग कृषि–कार्य करता है।

13. गुजरात के मैदानी एवं पहाडी प्रदेश (Gujrat Plain and Hills Region)

इस प्रदेश के अन्तर्गत काठियावाड़ पर्वतीय–पठारी क्षेत्र तथा साबरमती व माही नदियों का उपजाऊ क्षेत्र समाहित हैं जो गुजरात राज्य में स्थित हैं, जिसका क्षेत्रफल 2.1 लाख वर्ग किलोमीटर है । इस प्रदेश की तीन–चौथाई भाग मैदानी व एक–चौथाई भाग पहाड़ी है । इस प्रदेश पर समुद्री जलवायु का प्रभाव है जिसका तापमान ग्रीष्मकाल में 26^0–42^0C व शीतकाल में 13^0–29^0C के मध्य रहता है । वर्षा का वार्षिक औसत उत्तरी भाग में 30 सेन्टीमीटर व दक्षिणी भाग में 150 सेन्टीमीटर मिलता है ।

पठारी भोग में काली रेगर मृदा, तटीय भागों में काँप मृदा तथा जामनगरीय क्षेत्र में लाल व गीली मृदाएँ मिलती है । काली मृदा की उत्पत्ति शान्त–ज्वालामुखी के निक्षेप से मानी जाती है । भूमि उपयोग प्रतिरूप की दृष्टि से इस क्षेत्र के 51 प्रतिशत भाग पर कृषि की जाती है जबकि मात्र 11 प्रतिशत भाग ही वनाच्छादित है । यहाँ पर चावल, ज्वार–बाजरा, मूंगफली, कपास,तिलहन, गेहूँ,तम्बाकू आदि फसलें बोई जाती है । यहाँ लगभग 2 करोड़ पशु हैं, जिनसे कुल आय का 25 प्रतिशत भाग प्राप्त होता है! लम्बी तट रेखा (1600 कि मी.) होने के कारण पशु व्यवसाय का अच्छा विकास छुआ है । इस प्रदेश की कुल जनसंख्या लगभग 4 करोड़ हैं। जिनमें से 70 प्रतिशत लोग ग्रामीण हैं । वर्षा की न्यूनता के कारण जल संसाधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाता है । यहाँ पर मात्र 23 प्रतिशत भाग सिंचाई की सुविधाएँ प्राप्त करता है । कुओं द्वारा सिंचाई प्रमुखता से की जाती है। भविष्य में नर्मदा सागर परियोजना से जलापूर्ति हो सकेगी ।

14. पश्चिमी शुष्क प्रदेश (Western Dry Region)

इस प्रदेश के अन्तर्गत थार का रेगिस्तानी क्षेत्र (राजस्थान, पंजाब व हरियाणा) आता है, जो अरावली के पश्चिम में विस्तृत है, इसका क्षेत्रफल 1.77 लाख वर्ग किलोमीटर है । यह एक शुष्क रेतीला बालू का स्तूपोंयुक्त मैदान है । ये बालूका स्तूप तेज पवन के साथ स्थानान्तरित होते रहते हैं । यह क्षेत्र शुष्क मरूस्थलीय जलवायु की दशाओं में स्थित है, जिसका तापमान गीष्मकाल में 28^0-45^0C तथा शीतकाल में 5^0—22^0C के मध्य रहता है । वार्षिक वर्षा का औसत 10-25 सेन्टीमीटर के मध्य रहता है । इस क्षेत्र में पीली–भूरी व धूसर रंग की बलुई मृदाएँ मिलती हैं, ये मोटे कन्या से निर्मित होती हैं ।

भूमि उपयोग प्रतिरूप की दृष्टि से यहाँ के कुल क्षेत्र के 44 प्रतिशत भाग पर कृषि कार्य किया जाता है । यहाँ सबसे कम एक प्रतिशत भाग वनाच्छादित है । जल संसाधन की भारी कमी के कारण यहाँ शुष्क कृषि की जाती है । इन्दिरा गांधी नहर के विकास के कारण यहाँ अच्छा कृषि विकास हु आ है । अर्द्धशुष्क एवं नहरी क्षेत्र में ज्वार, बाजरा, गेहूँ, मक्का, दालें, मूंगफली, जार, चना, प्याज, सरसों, धनियाँ आदि फसलें बोई जाती है । इन्दिरा गांधी नहर के विकास के उपरान्त यह शुष्क पारिस्थितिक क्षेत्र हरित पारिस्थितिक क्षेत्र में परिवर्तित हो गया है । इस

प्रदेश में कृषि के साथ पशुपालन व्यवसाय को विकसित किया जा रहा है । यहाँ कुल पशुधन का 70 प्रतिशत भेड़–बकरियाँ हैं । इस प्रदेश में कुल 1.2 करोड़ लोग निवास करते हैं, जिनका 80 प्रतिशत ग्रामीण है । नियमित जल प्रवाह नहीं होने के कारण जल का अभाव रहता है । नदियाँ वर्षाकालीन है । वर्षा की प्रकृति अनियमित व सीमित रहती है अतः यहाँ जल संरक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है ।

116. द्वीपीय प्रदेश (Island Rgions)

द्वीपीय प्रदेश के अन्तर्गत बंगाल की खाड़ी में स्थित अण्डमान व निकोबा द्वीप समूह तथा अरब सागर में स्थित लक्षद्वीप समाहित है, जिसका कुल क्षेत्रफल 8 हजार वर्ग किलोमीटर हैं । द्वीपीय स्थिति के कारण सागरीय नम जलवायु पायी जाती हैं, जिसका तापमान अधिकतम 29^0–7^0C व न्यूनतम 23^0–7^0C पाया जाता है । यहाँ तटीय क्षेत्रों में बलुई व घाटियों व निम्न क्षेत्रों में चिकनी दोमट मृदा मिलती है । पर्वतीय क्षेत्रों में मोटे कणों से युक्त लाल मृदाएँ पायी जाती हैं । भूमि उपयोग की दृष्टि से इस प्रदेश का 88 प्रतिशत भू–भाग वनाच्छादित है । कृषि कार्य केवल 4 प्रतिशत भाग पर ही किया जाता है । यहाँ पर चावल, दालें, गन्ना, नारियल, पपीता, केले, सुपारी, कसावा व हल्दी आदि फसलें उगाई जाती हैं । जल संसाधन की दृष्टि से यह क्षेत्र सम्पन्न है । यहाँ वर्ष भर वर्षा होने से नदियों में नियमित प्रवाह रहता है । द्वीपीय स्थिति के कारण चारों और समुद्र होने से मत्स्य व्यवसाय अच्छी अवस्था में विकसित है । कृषि के साथ पशुपालन भी किया जाता है । इस प्रदेश में 4 लाख लोग निवास करते हैं । जिनका 71 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है । जंगली क्षेत्रों में जनजातियां रहती हैं ।

कृषि जलवायु प्रदेशों कीं मुख्य समस्याएँ एवं कार्यनीति

कृषि जलवायु प्रदेशों की मुख्य समस्याएँ एवं कार्यनीति इस प्रकार है :

क्र.सं.	कृषि जलवायु प्रदेश	प्रमुख समस्याएँ	प्रस्तावित कार्य नीति
1.	पश्चिमी हिमालय प्रदेश	भू–क्षरण और वर्षा जल का बहाव	जलग्रहण विकास, जैव सजाति विकास, भूजल का पुनर्भरण, बागाती फसल विकास एवं उद्यान कृषि
2.	पूर्वी हिमालय प्रदेश	मृदा अपरदन, बाढ़ों की पुनरावृति एवं भूजल सार में गिरावट	ग्रहण विकास लघु सिंचाई विकास, मृदा अपरदन योजना. जैव संहति (Biomass) विकास, उद्यान कृषि, मत्स्य व्यवसाय
3.	गंगा के निम्न मैदानी प्रदेश	वर्षा का समय सीमित, बाढ़ की समस्या, भूजल का अपर्याप्त उपयोग	तालाबों का निर्माण, जल ग्रहण विकास, भूजल –दोहन वृद्धि बागाती विकास, पशु धन
4.	गंगा का मध्यवर्ती मैदानी प्रदेश	भूजल क्षमताओं का अपर्याप्त उपयोग, बाढ़ की समस्या, लवणीयता, क्षारीयता की समस्या,	मृदा विकास प्रबन्धन, लघु सिंचाई विकास, समस्या ग्रस्त मुदाओं का सुधार,बाढ़ नियन्त्रण, भूजल का उपयुक्त

		जन निकास	उपयोग, बागाती कृषि,मत्स्य विकास
5.	गंगा का ऊपरी मैदानी प्रदेश	लवणीयता, क्षारीयता एवं जलप्लावन की समस्या, जल निकासी भूजल का अपर्याप्त उपयोग	मृदा प्रबन्धन, जल निकसी, बाढ नियन्त्रण, लघु सिंचाई विकास, उद्यान कृषि
6.	गंगा पर मैदानी प्रदेश	क्षारीयता, बाढ़ एवं जल निकासी की समस्या	जलग्रहण विकास तथा मृदा प्रबन्धन
7.	पूर्वी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश	जल का अवनयन रख व्यर्थ बहना, मृदा में अम्लीयता	जलग्रहण विकास कार्यक्रम तथा मृदा प्रबन्धन
8.	मध्य पठार एवं पहाड़ी प्रदेश	शुष्क भूमि पर कृषि, असमतल भूमि तथा मृदा अपरदन	जलग्रहण विकास
9.	पश्चिमी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश	क्षारीयता, लवणीयता तथा जल प्लावन की समस्याएं	मृदा प्रबन्धन तथा जल ग्रहण विकास, लघु सिंचाई योजना
10.	दक्षिणी पठार एवं पहाड़ी प्रदेश	मृदा अपरदन, लवणीयता, बाढ़ की समस्या तथा वर्षा जल का व्यर्थ बहाव	जलग्रहण विकास,लघु सिंचाई विकास तथा मृदा प्रबन्धन
11.	पूर्वी तटीय मैदान एवं पहाड़ी प्रदेश	बाढ़, जलप्लावन, अप्लीयता,लवणीयता क्षारीयता	जल निकास,मृदा प्रबन्धन, लघु सिंचाई विकास
12.	तटीय मैदान एवं पहाड़ी प्रदेश	भू–क्षरण, जलप्लावन तथा समस्या ग्रस्त मृदाएँ, वर्षा जल का व्यर्थ बहाव	मृदा प्रबन्धन एवं भूमि सुधार
13.	गुजरात के मैदानी एवं पहाड़ी प्रदेश	लवणीयता की समस्या, भूजल का उपयुक्त उपयोग न होना	भूमि सुधार, भूजल व वर्षा जल का भरसक उपयोग था जल ग्रहण विकास
14.	पश्चिमी शुष्क प्रदेश	वर्पा का अभाव, वायु द्वारा मृदा अपरदन, भूमि में लवणीयता	भूमि एवं जल संरक्षण, बालू का स्तूप स्थिरीकरण तथा वनरोपण, शुष्क कृषि विकास
15.	द्वीपीय प्रदेश	वर्पा जल का व्यर्थ वह जाना तथा भूमिगत जल का कम उपयोग	वर्षा जल का प्रबन्धन व भूजल का दोहन

बोध प्रश्न-1

1. एफ कड़ी (F-series) क्या है?

   ....

   ....

2. भारत को कृषि जलवायु प्रदेशों में कब विभाजित किया गया?

....

....

3. कृषि जलवायु प्रादेशीकरण का प्रमुख उद्देश्य क्या है?

....

....

4. कृषि जलवायु प्रादेशीकरण की पहल किसने की?

(अ) भारतीय कृषि आयोग (ब) योजना आयोग

(स) बाढ़ आयोग (द) भारतीय विकास परिषद्

5. कृषि विकास की सहायक क्रियाएँ कौनसी है?

....

....

16.5 राजस्थान के कृषि जलवायु प्रदेश (Agroclimatic Regions of Rajasthan)

सन् 1989 में राष्ट्रीय स्तर पर भारत को पन्द्रह कृषि जलवायु प्रदेशों में विभाजित किया जिनमें से प्रदेश संख्या जोन 6 में 6.3,8 में 8.5,8.6,9 में 9.4 तथा जोन 14 में 14.1 के अन्तर्गत राजस्थान का भूभाग सम्मिलित है । राष्ट्रीय आधार पर राजस्थान को पाँच प्रमुख कृषि जलवायु प्रदेशों में विभाजित करके इन पाँच खण्डों में से पाँच को पुन: 2-2 खण्डों में विभाजित करके राज्य को कुल 9 कृषि जलवायु प्रदेशों में विभाजित किया गया जिनका विवरण निम्नलिखित है:

1. पश्चिमी शुष्क मैदानी क्षेत्र (खण्ड I–ए)
2. उत्तरी सिंचित मैदानी क्षेत्र (खण्ड I–बी)
3. अन्तःस्थलीय जलोत्सारण का अंतवर्ती मैदानी क्षेत्र (खण्ड IV-ए)
4. लूनी नदी के संग्रहण क्षेत्र (खण्ड II–बी)
5. आर्द्र शुष्क पूर्वी मैदानी क्षेत्र (खण्ड III–ए)
6. बाढ़ सम्भाव्य पूर्वी मैदानी क्षेत्र (खण्ड III–बी)
7. अर्द्ध–आर्द्र दक्षिणी मैदानी क्षेत्र तथा अरावली की पहाड़ियाँ (खण्ड IV–ए)
8. आर्द्र दक्षिणी मैदानी क्षेत्र (खण्ड IV–बी)
9. आर्द्र दक्षिणी–पूर्वी मैदानी क्षेत्र (खण्ड V–ए)

उपर्युक्त कृषि जलवायु प्रदेशों का विस्तृत भौगालिक विवरण अग्रलिखित है :

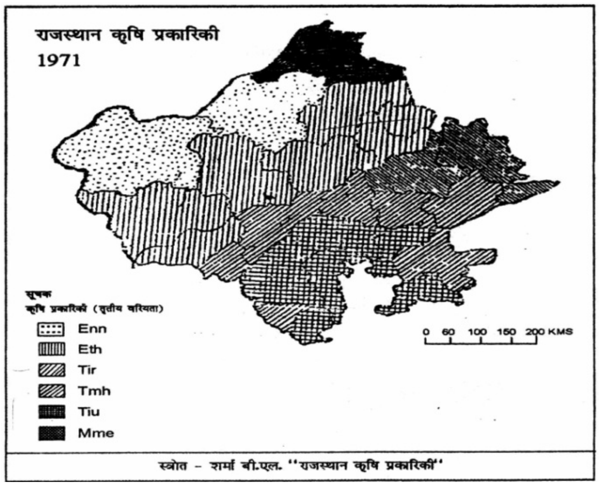

चित्र– 16.2 : राजस्थान के कृषि जलवायु प्रदेश.

1. पश्चिमी शुष्क मैदानी क्षेत्र (खण्ड 1–ए)

इस खण्ड में बीकानेर, जैसलमेर, पश्चिमी बाड़मेर जिला, जोधपुर जिले की शेरगढ़, औसियाँ तहसीलें चुरू जिले की सुजानगढ़, डूँगरगढ़, रतनगढ़, तहसीलें सम्मिलित हैं । बीकानेर, जैसलमेर व बाड़मेर जिले की इन्दिरा गाँधी नहर अधिकृत क्षेत्र सम्मिलित नहीं हैं । इस खण्ड का कुल क्षेत्रफल 97.2 लाख हैक्टेयर है । बहु प्रदेश शुष्क रेगिस्तानी प्रदेश है । जहाँ विस्तृत बालू का स्तूपों की प्रधानता है । कहीं–कहीं बंजर चट्टानें व अपरदित शैलें भी पायी जाती है । इसका ढाल पूर्व से पश्चिम व उत्तर से दक्षिण की ओर है और इस भाग की समुद्रतल से ऊँचाई 300 मीटर है । यह सम्पूर्ण प्रदेश शुष्क एवं अर्द्धशुष्क जलवायु प्रदेश के अन्तर्गत आता हैं । यहाँ का तापमान शीतकाल में 0^0-8^0C तथा ग्रीष्मकाल में 45^0–50^0C के मध्य रहता है जबकि औसत वार्षिक वर्षा 20 से 40 सेन्टीमीटर है । इस प्रदेश में रेतीली एवं भूरी मृदाएँ पायी जाती है ।

इस, भाग में कृषि बालूका स्तूपों के निम्न से मध्यम ऊँचाई वाले ढालू भागों में वर्षा ऋतु के दौरान की जाती है । वर्तमान में यहाँ शुष्क कृषि विधियाँ अपनाई जा रही हैं । जलीय स्त्रोत भूजल है, जिसका दोहन कुओं द्वारा किया जाता है । अन्य कार्यो हेतु वर्षा जल को परम्परागत जल संरक्षण विधियों द्वारा संग्रहित किया जाता है । यहाँ पर मुख्यत: बाजरा, दालें, ग्वार, मूंग– मोठ आदि फसलें बोई जाती हैं । इस संभाग में स्थित कृषि अनुसंधान केन्द्र, मण्डोर एवं उपकेन्द्र बीछवाल (बीकानेर) द्वारा शुष्क फसलों पर शोध किया जा रहा है, जिनमें मोठ, बाजरा, तिल, मूँग, मिर्च, तुम्बा, कैर, अरंडी आदि प्रमुख है । शुष्क बागवानी विकास की दिशा में खजूर फलवृक्ष को बढ़ावा दिया जा रहा है । पशुपालन यहाँ घुमक्कड़ प्रकृति का होता है जिसमें गुणवत्ता की जगह संख्या का महत्व होता है । इनमें भेड़, बकीरयाँ व गाय प्रमुख हैं, जिनको न तो उपयुक्त पोषाहार मिल पाता है और न ही उनसे औसत उत्पाद प्राप्त कर सकते हैं । इस कृषि जलवायु की प्रमुख समस्याओं में वायु द्वारा तीव्र मृदा अपरदन, जलाभाव के कारण कृषि विकास में बाधा एवं शुष्क पारिस्थितिक तन्त्र का प्रभाव आदि प्रमुख है ।

2. **पश्चिमी शुष्क मैदानी क्षेत्र (खण्ड I-बी)**

इसमें श्रीगंगानगर एवं हनुमानगढ़ जिले का लगभग 36.5 लाख हेक्टेयर क्षेत्र सम्मिलित है । यह सम्पूर्ण प्रदेश गंगनहर एवं घग्घर प्रवाह क्षेत्र में स्थित हैं, जहाँ का अधिकांश भाग रेगिस्तानी है । यह सम्पूर्ण क्षेत्र समतल मैदानी है । यहाँ पर अर्द्धशुष्क स्टेपी जलवायु पायी जाती है यहाँ का तापमान ग्रीष्मकाल में 36^0–42^0C व शीतकाल में 10^0– 17^0C के मध्य रहता है । यह क्षेत्र 20 से 35 सेण्टीमीटर औसत वार्षिक वर्षा प्राप्त करता है । इस प्रदेश में रेतीली चूना रहित, सीरोजम, लवणीय, क्षारीय मृदायें पायी जाती हैं । इन मृदाओं में घुलनशील लवणों एवं विनिमय योग्य सोडियम की मात्रा भी अधिक है । नहरी सिंचाई विकास के कारण भूमिं विकास अच्छा हुआ है । यहाँ पर बोई जाने वाली फसलों में गेहूं, कपास, गन्ना, सरसों, चना, चुक्कू व सूरजमुखी प्रमुख है । यहाँ पर किन्नों, माल्टा व आड़ू के फलोधान विकसित किये जा रहे हैं । इस क्षेत्र में स्थित कृषि अनुसंधान केन्द्र श्रीगंगानगर निरन्तर शोधरत रहते हुए कृषि विकास में अपना योगदान दे रहा है ।

जल संसाधन की दृष्टि से यह क्षेत्र सम्पन्न नहीं है । यहाँ सिंचाई मुख्यत: नहरों से की जाती है । हिमालय से निकलने वाली घग्घर मौसमी नदी है, जो केवल वर्षाकाल में प्रवाहित होती है । गंग नहर इस क्षेत्र में प्रमुख सिंचाई स्त्रोत है । भूजल दोहन की दृष्टि से यह सुरक्षित क्षेत्र (White Zone) के अन्तर्गत है ।

कृषि	जलवायु प्रदेश का नाम	क्षेत्रफल (लाख हे. में)	प्रदेश में समाहित जिलें	प्रदेश में बोई जाने वाली प्रमुख फसलें
1.	पश्चिमी शुष्क मैदानी क्षेत्र (खण्ड 1-ए)	97.2	बीकानेर,जैसलमेर,जोधपुर जिले की शेरगढ़,फलौदी औसियाँ तहसील ,चूरू की डूंगरपुर,सुजानगढ़,रतनगढ़ तथा सरदार शहर तहसीले	बाजरा,ग्वार,मूंग,मोठ,मिर्च आदि
2.	उत्तरी सिंचित मैदानी क्षेत्र (खण्ड 1 –बी)	36.5	हनुमानगढ़ एवं गंगानगर जिलें	गेहूं कपास, गन्ना, सरसों, तिलहन एवं दलहन
3.	अन्तःस्थलीय जलोत्सारण का अन्तवर्ती मैदानी क्षेत्र (खण्ड 2 –ए)	43.2	नागौर, सीकर, झुंझुनु जिला व चुरू जिले की तारानगर, चूरू व राजगढ़ तहसीलें	ग्वार बाजरा, मूंग, मोठ, व चारा फसलें
4.	लूनी नदी के संग्रहण क्षेत्र (खण्ड 2 –बी)	37.7	पश्चिमी सिरोही, पूर्वी बाड़मेर, जोधपुर, पाली एवं जालौर जिले	गेहूं सरसों, बाजरा, चना, ग्वार, जौरा तथा कपास
5.	आर्द्र शुष्क पूर्वी मैदानी क्षेत्र (खण्ड 3 –ए)	28.58	अजमेर, जयपुर, टोंक व उत्तरी सवाई माधोपुर जिले	गेहूं, जौ, मूँगफली, चना, बाजरा, मूंग, चावल, ज्वार, मक्का
6.	बाढ़ संभाव्य पूर्वी मैदानी क्षेत्र (खण्ड 3 –बी)	21.14	दीक्षणी–पूर्वी अलवर, भरतपुर, धौलपुर जिले तथा सवाई माधोपुर जिले की महुआ, टोडाभीम, हिण्डौन, नादोती, बामनवास, गंगापुर, करौली, सपोटारा तथा बौली तहसीलें	बाजरा, गेहं सरसों, चना, दालें, राई, अरहर आदि
7.	अर्द्ध– आर्द्र दक्षिणी मैदानी क्षेत्र तथा अरावली की पहाडियां (खण्ड 4 –ए)	31.8	भीलवाड़ा, उदयपुर जिले की धीरयावाद, ससर, सराडा के अतिरिक्त सभी तहसीलें, चितौड़गढ़ और आभूरोड़ व पिण्डवाड़ा तहसीलें।	मक्का, ज्वार, तिल, अरण्डी, जौ, उड़द, अरहर, चना, कपास तथा मूँगफली
8.	आर्द्र दक्षिणी मैदानी क्षेत्र (खण्ड 4	16.53	बांसवाड़ा, डूंगरपुर जिले, चितौड़गढ़	मक्का, उड़द, बीजीय मसाले,

	–बी)		की छोटी सादड़ी, बड़ी सादड़ी प्रतापगढ़ एवं अरनोद तहसीलें, उदयपुर जिले की धीरयावाद, सलूम्बर व सराड़ा तहसीले	ज्वार,मूंगफली,चना, कपास व सोयाबीन
9.	आर्द्र दीक्षणी–र्शली मैदानी क्षेत्र (खण्ड 5 –ए)	29.13	कोटा, बूंदी, झालावाड़, बाराँ जिले व सवाई माधोपुर की खण्डार और सवाई माधोपुर तहसीलें	गेहँ ज्वार, मक्का, अरहर, मूंगफली, सोयाबीन व धनिया

3. अन्त: स्थलीय जलोत्सारण (जल निकास) का अन्तर्वर्ती मैदानी क्षेत्र (खण्ड II –ए)

इस खण्ड में नागौर, सीकर, झुंझुनू जिला एवं चुरू जिले की तारानगर एवं राजगढ़ तहसीलें, अलवर जिले का उत्तरी–पश्चिमी भाग तथा उत्तरी जोधपुर जिला सम्मिलित है, जिसका भौगोलिक क्षेत्रफल लगभग 43.2 लाख हेक्टेयर है । इसका धरातल मध्यम एवं निम्न ऊँचाई के बालूका स्तूपों से युक्त रेतीला मैदान है । यह क्षेत्र स्टेपी व उपआर्द्र जलवायु भाग में स्थित है, जिसका तापमान ग्रीष्मकाल 28^0-36^0C में तथा शीतकाल में 12^0– 18^0C के मध्य रहता है । वर्षा की भिन्नता मिलती है । इसका उत्तरी–पश्चिमी भाग 20–40 सेण्टीमीटर व दक्षिणी व उत्तरी–पूर्वी भाग 40 से 60 सेण्टीमीटर वार्षिक वर्षा प्राप्त करते हैं ।

इस प्रदेश में रेतीली एवं भूरी चुनायुक्त रेतीली मृदाएँ मिलती हैं । यहाँ की मृदाओं में कुछ मात्रा में क्षारीयता की समस्या है । यहाँ पर बाजरा, दालें, ग्वार, मोठ, मूँगफली, गेहूँ ,जौ एवं चारा फसलें बोई जाती है । यहाँ पर मृदाओं की प्रकृति चट्टानी एवं कम गहरी होने के कारण कृषि सम्भावनाएँ सीमित हैं, जिससे शस्य गहनता कम पाई जाती है । जल प्रबन्ध की यहाँ असीम संभावनाएँ हैं । यहाँ पर कोई स्थायी नदी नहीं है, केवल छोटी–छोटी अन्त: स्थलीय धाराएँ हैं, जिनमें मेंढा, कान्ठली एवं रूपनगढ प्रमुख हैं । ये सभी धाराएँ मौसमी स्वभाव वाली होने के कारण केवल वर्षाकाल में ही प्रवाहित होती है अत: समुचित जलप्रबन्ध ही इस क्षेत्र के पारिस्थितिकीय सन्तुलन को स्थापित कर सकेगा । कृषि विकास के क्षेत्र में यहाँ पर कृषि अनुसंधान केन्द्र फतेहपुर शेखावटी प्रयासरत है । यह केन्द्र भूमि में नमी संरक्षण कर शुष्क कृषि फसलों का विकास कर रहा है ।

4. लूनी नदी का संग्रहण क्षेत्र (खण्ड II –बी)

इस प्रदेश का विस्तार पश्चिमी सिरोही, पूर्वी बाड़मेर, जोधपुर, पाली और जालौर जिलों तक है, जो 37.2 लाख हेक्टेयर में अरावली पर्वत श्रृंखला के पश्चिमी तलहटी वाले क्षेत्रों में फैला है । इसका अधिकांश भाग लूनी वेसिन में स्थित है । उत्तरी–पश्चिमी भाग मैदानी एवं दक्षिणी–पूर्वी भाग में अरावली की पहाड़ियाँ है । यह क्षेत्र अर्द्धशुष्क एवं शुष्क स्टेपी जलवायु में स्थित है, जिसका तापमान ग्रीष्मकाल मे 28^0–42^0C तथा शीतकाल में 10^0– 18^0C के मध्य रहता है तथा 30 से 50 सेमी. औसत वार्षिक वर्षा प्राप्त करता है ।

जोधपुर, जालौर, पाली, बाड़मेर जिले के क्षेत्र की लाल मरूस्थलीय व बाड़मेर की मरूस्थलीय मृदाएँ क्षारीय हैं । पाली जिले के मैदानी भागों में सीरोजेम्स मृदाएँ, पाली एवं सिरोही के अरावली पर्वतीय भागों में लीथोसायल्स प्रकार की मृदाएँ पायी जाती है । धरातलीय जल मौसमी नदी लूनी से प्राप्त होता है । इसकी सहायक नदियों में जवाई प्रमुख है । भूजल दोहन की दृष्टि इसके उत्तरी–पूर्वी भाग सुरक्षित क्षेत्र (White Zone) में, दक्षिणी मध्य भाग

अन्धकारमय क्षेत्र (Dark Zone) में तथा दक्षिणी–पूर्वी भाग धूमइल क्षेत्र (Grey Zone) के अन्तर्गत सम्मिलित है । यहाँ बोई जाने वाली फसलों में बाजरा, मक्का, तिल, गेहूँ, सरसों, जौ, चना, ग्वार, जीरा व कपास प्रमुख है । सिंचाई कुओं व नहरों द्वारा की जाती है । पशुधन विकसित अवस्था में नहीं है ।

5. **आर्द्र शुष्क पूर्वी मैदानी क्षेत्र (खण्ड III –ए)**

इस क्षेत्र के अन्तर्गत अजमेर, जयपुर, दीसा, टोंक और सवाई माधोपुर जिले का उत्तरी भाग सम्मिलित है, जिसका क्षेत्रफल 28.58 लाख हेक्टेयर है । अजमेर जिले का क्षेत्र पहाड़ी है, जयपुर व टोंक जिला मैदानी है । इस प्रकार इसका अधिकांश भाग मैदानी है, जिसकी समुद्रतल से ऊँचाई लगभग 150 से 300 मीटर एवं ढाल अधिकांशत: पूर्व की ओर है । इस मैदानी भाग का निर्माण लूनी, बनास, मानसी, डेन, सोहाद्रा, बाण्डी, ढूण्ढ व मोरेल नदियों ने किया हैं । इसके अधिकांश क्षेत्र में जलोढ मृदाओं के जमाव हैं । अजमेर जिले के पश्चिमी भाग और जयपुर जिले में सीरोजेप्स मृदाएँ है जबकि जयपुर जिले के पश्चिमी व उत्तरी–पश्चिमी भाग व अजमेर जिले की मृदाएँ जलोढ़ प्रकृति की हैं । टोंक जिले के कुछ भागों में पूरी मृदाएँ पाई जाती है।

यह मैदानी प्रदेश उपार्द्र जलवायु प्रदेश में स्थित है जिसका उच्चतम तापमान जनवरी में 22^0C से जून में 40^0C और निम्नतम तापमान जनवरी में $8^0–3^0C$ से जून में $27^0–3^0C$ के मध्य पाया जाता है । इस खण्ड में वर्षा पश्चिम में 50 से मी. से दक्षिण– पूर्व में 60 से मी. तक रहती है । इस क्षेत्र की कुल कृषि भूमि का 28 प्रतिशत भाग सिंचित है । सिंचाई मुख्यत: कुओं तथा नलकूपों द्वारा की जाती है । कुछ भागों में नहरी सिंचाई व्यवस्था है । यहां पर गेहूँ जौ, मूँगफली, चना, बाजरा, मूँग, चावल, ज्वार एवं मक्का आदि फसलें बोई जाती हैं । जल संसाधन की दृष्टि से सर्वसम्पन्न क्षेत्र नहीं है क्योंकि एक ओर सभी नदियाँ वर्षा कालिक है तो दूसरी ओर तीव्र भूजल दोहन से सम्पूर्ण क्षेत्र अन्धकारमय क्षेत्र (Dark Zone) की श्रेणी में आ गया है अत: इस क्षेत्र में जल प्रबन्धन समय की माँग है ।

6. बाढ़ सम्भाव्य पूर्वी मैदानी क्षेत्र (खण्ड II –बी)

इस प्रदेश में दक्षिणी –पूर्वी अलवर, भरतपुर, धौलपुर, सवाई माधोपुर एवं करौली जिले की सभी तहसीलें समाहित हैं, जिसका कुल क्षेत्रफल 21.14 लाख हेक्टेयर है । इस मैदानी भाग का निर्माण बनास एवं सहायक नदियों बाणगंगा, गम्भीरी, पार्वती आदि द्वारा निर्मित है । इस सम्पूर्ण भाग का ढाल पूर्व की ओर है । इसकी मृदाएँ मुख्यत: जलोढ़ प्रकृति की हैं । कहीं–कहीं इसमें चूने की मात्रा पाई जाती है । यह क्षेत्र आर्द्र जलवायु प्रदेश में स्थित है, जिसका तापमान $10^0–34^0C$ के मध्य रहता है । वार्षिक वर्षा 60 से 80 सेण्टीमीटर प्राप्त होती है । उत्तरी भागों में 65 सेण्टीमीटर जबकि दक्षिणी भागें में 80 सेण्टीमीटर वर्षा होती है ।

यह खण्ड पानी की पुन: प्राप्ति की दृष्टि से बाढ़ग्रस्त होते हुये भी इसका सम्पूर्ण उत्तरी भाग भूजल दोहन की दृष्टि से अन्धकारमय क्षेत्र (Dark Zone) की श्रेणी में है । मैदानी प्रकृति एवं जलोढ़ उपजाऊ मृदा संयोजन के कारण शस्य गहनता उच्च है । कुल कृषि भाग का 14

प्रतिशत सिंचित है । यहाँ पर बाजरा, अरहर, गेहूँ सरसों, चना, दालें, राई व कुछ स्थानों पर चावल बोया जाता है । यहाँ बाढ़ की प्रभावी दशाओं के कारण उचित जल प्रबन्धन आवश्यक है, जिसका वर्तमान में अभाव है।

7. उपार्द्र दक्षिणी मैदानी क्षेत्र तथा अरावली की पहाड़ियों (खण्ड IV–ए)

इस खण्ड में भीलवाड़ा, उदयपुर जिले की धीरयावाद सलूम्बर, सराड़ा के अतिरिक्त सभी तहसीलें, राजसमन्द जिले की सभी तहसीलें, चित्तौड़गढ़ जिले की छोटी सादड़ी,अरनोद. बड़ी सादड़ी के अतिरिक्त सभी तहसीलें तथा सिरोही जिले की आबूरोड एवं पिन्तवाडा तहसीलें सम्मिलित हैं, जिनका कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 31.8 लाख हेक्टेयर है । पश्चिमी भाग अरावली का पर्वतीय प्रदेश है तथा मध्य में मैदानी भाग है । पश्चिमी भाग में उदयपुर और चित्तौड़गढ़ जिलों की अरावली तलहटी वाली मृदाएँ लिथोसोल्स तथा मैदानी क्षेत्रों में पुरानी जलोढ़ मृदाएँ पाई जाती हैं । यह क्षेत्र आर्द्र तथा अति–आर्द्र जलवायु प्रदेशों में स्थित है । यहाँ उत्तरी–पश्चिमी भागों में 50 सेण्टीमीटर तथा दक्षिणी-पूर्वी भागों में 70 सेण्टीमीटर तथा दक्षिणी–पश्चिमी भागों में 90 सेण्टीमीटर तक वर्षा होती है । उच्चतम तापमान 24.2^0–38.6^0C व जनवरी में न्यूनतम तापमम 7.8^0–216.3^0C तक रहता है । भूजल की मात्रा एवं उपयोग की दर की दृष्टि से इसका अधिकांश क्षेत्र सुरक्षित क्षेत्र (White Zone) के अन्तर्गत, दक्षिणी–पूर्वी भीलवाड़ा जिला धूमिल क्षेत्र व चित्तौड़गढ़ जिला का मध्य पूर्वी भाग अन्धकारमय क्षेत्र के अन्तर्गत स्थित है । यहाँ बोई जाने वाली फसलों में मक्का, ज्वार, तिल, अरंडी, जौ, उड़द, अरहर, चना, गेहूँ कपास तथा मूँगफली प्रमुख है । कुल फसली क्षेत्र का 38 प्रतिशत क्षेत्र सिंचित है । सिंचाई सुविधाएँ कुओं तथा नहरों से प्राप्त करते हैं ।

8. आर्द्र दक्षिणी मैदानी क्षेत्र (खण्ड IV–बी)

इसके अन्तर्गत बांसवाड़ा, डूँगरपुर जिले व प्रतापगढ़ जिले की बड़ी–छोटी सादड़ी, प्रतापगढ़, अरनौद तहसीलें तथा उदयपुर जिले की धरियावाद सलूम्बर तथा सराड़ा तहसीलें समाहित हैं, जिसका कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 16.53 लाख हेक्टेयर है । यहाँ का मैदानी भाग माही एवं उसकी सहायक नदियों द्वारा निर्मित है. जिसके मध्य में छोटी –छोटी पहाड़ियों स्थित हैं । पहाड़ियों के मध्य संकीर्ण घाटियाँ व कहीं –कहीं विस्तृत समतल क्षेत्र है, जिसको छप्पन का मैदान भी कहत हैं । यह क्षेत्र अति–आर्द्र जलवायु प्रदेश में स्थित है । यहाँ का तापमान ग्रीष्मकाल में, 32^0–34^0C तथा शीतकाल में 12^0–19^0C के मध्य रहता है औसत वार्षिक वर्षा 80 से 100 सेन्टीमीटर के मध्य है ।

इस क्षेत्र में अधिकांश मृदाएँ लाल, मध्यम गठन एवं अच्छे जल निकास वाली चूनायुक्त है । पहाड़ी ढलानों वाले क्षेत्र की मृदाएँ कम गहरी तथा घाटियों वाली मृदाएँ अधिक गहरी हैं । यहां पर बोई जाने वाली फसलों में मक्का, उड़द, बीजीय मसालें. ज्वार, मूँगफली, चना, कपास, सोयाबीन आदि प्रमुख है । कुल कृषि क्षेत्र का 16 प्रतिशत भाग सिंचित है । यह क्षेत्र भूजल दोहन की दृष्टि से सुरक्षित क्षेत्र में स्थित है तथापि यहां असमान धरातल होने के कारण जल प्रबन्धन की असीम संभावनाएं व्याप्त हैं ।

9. **आर्द्र दक्षिणी–पूर्वी मैदानी क्षेत्र (खण्ड V)**

इस प्रदेश का विस्तार 29.13 लाख हेक्टेयर में है, जिसमें कोटा, बूंदी, बारा, झालावाड़, पूर्वी चित्तौड़गढ़, टोंक और सवाई माधोपुर का पश्चिमी भाग सम्मिलित है । इस मैदानी भाग में चम्बल तथा उसकी सहायक नदी कालीसिन्ध प्रवाहित होती है, जिस कारण इस कृषि जलवायु प्रदेश की मृदाएँ मूलत: जलोढ़ प्रकृति की हैं । इनमें अधिकांशत: काली, चिकनी व दोमट मृदा है कहीं–कहीं क्षारीयता की समस्या भी व्याप्त है । यह खण्ड आर्द्र एवं अति –आर्द्र जलवायु प्रदेश में स्थित है, जिसका तापमान ग्रीष्मकाल में 25^0–42.6^0C तथा शीतकाल में 10.6^0– 20^0C के मध्य पाया जाता है । यहाँ वाषिक वर्षा का औसत 80 – 100 सेण्टीमीटर रहता है ।

इस प्रदेश में ज्वार, गेहूँ,मक्का, अरहर, मूँगफली, सोयाबीन व धनिया मुख्य रूप से बोये जाते हैं। कुल कृषि क्षेत्र का 30 प्रतिशत भाग सिंचित है । सिंचाई के साधनों में कुऐं, नलकूप एवं नहरें प्रमुख हैं । सिंचाई की अच्छी व्यवस्था वाले स्थानों में कपास, चावल व गन्ना भी बोये जाते हैं । धरातलीय जल की अच्छी उपलब्धता हैं, अत: भूजल दोहन की स्थिति सुरक्षित है । धरातल असमतल होने के कारण प्रकृति प्रदत्त जल को उपयुक्त ढंग से संरक्षित न कर पाना प्रमुख समस्या है ।

16.6 पश्चिमी सिंचित क्षेत्र की बदलती कृषि पारिस्थितिकी

विगत चार दशकों से पश्चिमी राजस्थान के बीकानेर, बाड़मेर, जैसलमेर तथा श्रीगंगानगर जिलों के दक्षिणी व हनुमानगढ़ जिले के पश्चिमी भागों में इन्दिरा गाँधी नहर के द्वारा गहन सिंचाई किये जाने के बाद यहाँ की जलवायु में सूक्ष्म परिवर्तन देखा गया है, जिसके फलस्वरूप राज्य सरकार (1997) ने गंगा मारवाडा प्रणाली द्वारा सिंचित गंगानगर जिला वाले क्षेत्र से भिन्न प्रदेशों में "इन्दिरा गाँधी नहर सिंचित क्षेत्र कृषि जलवायु प्रदेश सृजित किया गया है । इस खण्ड में बीकानेर, जैसलमेर, श्रीगंगानगर, हनुमानगढ़ एवं बाड़मेर जिलों का 9.68 लाख हेक्टेयर सिंचित क्षेत्र समाहित है । यह सम्पूर्ण क्षेत्र समतल रेगिस्तानी क्षेत्र है, जिसमें बीच –बीच में बालूका स्तूप पाये जाते हैं ।

यह प्रदेश शुष्क जलवायु दशाओं में स्थित है, जिसका तापमान ग्रीष्मकाल में 45^0–50^0C तथा शीतकाल में 0^0-8^0C के मध्य रहता है । यहाँ पर दैनिक तापान्तर अधिक रहता है । इस प्रदेश की वार्षिक वर्षा का औसत 10 से 20 सेण्टीमीटर के मध्य रहता हैं, यहाँ की मृदाएँ रेतीली हैं जिनमें कहीं –कहीं चिकनी मृदाओं का अंश भी पाया जाता है । यहाँ नहरी सिंचाई सुविधा के कारण गेहूँ (18.91 प्रतिशत भाग पर), चना (11.90 प्रतिशत), चावल (2.74 प्रतिशत), बेजड (0.63 प्रतिशत), बाजरा (0.35 प्रतिशत) तथा शेष भाग में गन्ना, कपास, ग्वार, दलहन, तिलहन, चारा फसलें, मिर्च मसाले आदि बोई जाती है । सिंचाई सुविधाओं के विस्तार के कारण मूँगफली का फसल क्षेत्र विस्तृत हुआ है । यहाँ की शस्य गहनता सूचकांक 110 से 160 तक है । इस प्रदेश में नहरी पानी के असमान वितरण के कारण जल प्लावन, लंवणीयता व क्षारीयता की की तीव्र समस्याएँ सामने आई है।

बोध प्रश्न – 2

1. राजस्थान को कितने कृषि जलवायु प्रदेशों में विभाजित किया गया है ?

 ....

 ....

2. राजस्थान में सर्वाधिक जलवायुविक विविधता किस खण्ड में हैं?

 ....

 ....

3. पश्चिमी शुष्क मैदानी क्षेत्र की प्रमुख समस्या क्या हैं?

 ....

 ....

4. सर्वाधिक नहरी सिंचाई कहाँ होती है।

 ....

 ....

5. बाढ़ संभाव्य पूर्वी मैदानी क्षेत्र की प्रमुख फसलें कौन सी हैं?

 ....

 ....

16.7 सारांश (Summary)

भारत में जलवायु विविधता पायी जाती है अत: यहाँ जलवायु दशाओं के अनुसार कृषि विकास करना सतत् कृषि विकास की आवश्यकता बन गई । इस दृष्टि से भारत एवं राजस्थान का कृषि जलवायु प्रादेशिक नियोजन पोषणीय उत्पादक कड़ी (Sustainable Production series) के रूप में विकसित की गई जो लाभदायक सिद्ध हुई। भारत के प्राकृतिक पर्यावरण को मद्देनजर रखकर इस एफ कड़ी के चारों आधारों को वैज्ञानिक आधार पर विकसित किया गया तथा आज दो दशक बाद इसमें आशातीत सफलता मिली ।

बढ़ती जनसंख्या एवं खाद्यान्न संकट को ध्यान में रखते हुए अभी भी समय रहते कृषि जलवायुविक दशाओं के आधार पर कृषि को नई सोच की अनिवार्यता है, जिसमें छोटे खेतों के प्रवंधन में क्रांति लाने से ग्रामीण क्षेत्रों में काम और आय की सुरक्षा बढ़ेगी । केन्द्र सरकार ने कृषि विकास को बढ़ाने और खाद्य सुरक्षा को बनाए रखने की दृष्टि से 'राष्ट्रीय कृषि विकास योजना', 'खाद्य सुरक्षा मिशन', 'हार्टिकल्वर मिशन' जैसे कई कार्यक्रमों की शुरूआत की है । जमीन, पानी, श्रम और पूँजी के उपयोग में अभिसारिता और सहभागिता बढ़ाने की दृष्टि से तैयार किए गए इन कार्यक्रमों में क्षैतिज आयाम की कमी है । इसी कारण से लागत और परिणाम के बीच अंतर बढ़ रहा है । आगामी कृषि वर्षो में इस बारे में सक्रिय रहकर भूमिका निभानी है ।

16.8 शब्दावली (Glossary)

- **कृषि जलवायुविकी (Agro-climatology) –** विशेष रूप से कृषि को ध्यान में रखते हुए जलवायु दशाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करना जिससे विशिष्ट जलवायु में कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सकें ।
- **पोषणीय कड़ी (Sustainable Series) –** ऐसा कृषि विकास जिसके उत्पादों से वर्तमान जनसंख्या का भरण पोषण हो जायें तथा भविष्य के लिए भू सामर्थ्य बना रहें ।
- **कृषि मौसम विज्ञान (Agrometeorology) –** एक विज्ञान जिसमें कृषि व्यवस्था में भौतिक पर्यावरण के आंकलन एवं विश्लेषण में मौसम विज्ञान का अध्ययन करते हैं । मौसमी भविष्यवाणी भी इसमें सम्मिलित है ।
- **कृषि वानिकी (Agroforestry) –** कृषि तथा वनस्पति संवर्धन के लिए सम्मिलित भूमि उपयोग की कृषि वानिकी कहते हैं ।
- **कृमि पारिस्थितिकी (Agroecology) –** इसमें कृषि फसलों तथा उनके पर्यावरण के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन किया जाता है ।

16.9 संदर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. Shaff M. (2006) Agricultural Geography,Pearson Education ,New Delhi.
2. Husain,M.(2001) Agricultural Geography,Rawat Publication,Jaipur.
3. Gurjar R.K. and Jat B.C. (2008) Geography of Water Resources,Rawat Publication,Jaipur.
4. तिवारी, आर.सी. एवं सिंह बी.एन. (2004),कृषि भूगोल, प्रयाग पुस्तक भवन, इलाहाबाद ।
5. Singh,J. and Dhillon,S.S. (1995) Agricultural Geography,Tata McGr Hill Pub.,New Delhi.
6. Gurjar,R.K.(1993) Agricultural Ecology,Rawat Publication,Jaipur.

16.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न–1

1. कृषि जलवायु प्रादेशिक नियोजन की पोषणीय उत्पादक कड़ी, जिसमें चार एफ़; खाद्यान्न (Food) व रेशेदार (Fiber) फसलें, चारा एवं ईंधन (Fodder and Fuelwood) सम्मिलित हैं।
2. सन् 1989 में
3. कृषि उत्पादन की माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करना ।
4. (ब)

16. पशुपालन, वानिकी आदि ।

बोध प्रश्न–2

1. 9 – 10

2. खण्ड 1–ए

3. जल संकट

4. खण्ड 4–बी एवं 5–ए में

16. गेहूँ, बाजरा, सरसों, चना व दालें

16.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में कृषि जलवायु प्रादेशीकरण के उद्देश्य बताइये ।
2. भारत के प्रमुख कृषि जलवायु प्रदेशों का वर्णन कीजिए ।
3. राजस्थान के कृषि जलवायु प्रदेशों का वर्णन कीजिए ।
4. भारत में कृषि जलवायु स्वरूप की बदलती दशाओं का वर्णन कीजिए ।

इकाई 17 : भारत में कृषि नाति (Agricultural Policy In India)

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 कृषि नीति की प्राथमिकताएं
17.3 भारत में कृषि नीति का क्रमिक विकास
17.4 राष्ट्रीय कृषि विकास नीति
17.5 कृषि नीति के आयाम
17.5.1 भूमि नीति
17.5.2 उत्पादन नीति
17.5.3 आदान नीति
17.5.4 सहायक सेवाओं की नीति
17.5.5 मूल्य नीति
17.5.6 11वीं योजना में कृषि सम्बन्धी नीतियां
17.6 राष्ट्रीय किसान आयोग का मिशन वक्तव्य
17.7 कृषि नीति का विश्लेषण
17.7.1 कृषि सम्बन्धों में परिवतन
17.7.2 मूल्य नीति एवं बाजार समर्थन
17.7.3 शोध एवं विस्तार
17.7.4 आधारिक संरचना सुविधाओं का विस्तार
17.7.5 नई तकनीकी का विकास
17.7.6 वर्तमान की प्रवृत्तियां
17.7.7 क्षेत्रीय विभेदक व्यूरचना
17.7.8 अन्य देशों से तुलना
17.8 साराश
17.9 शब्दावली
17.10 सन्दर्भ ग्रन्थ
17.11 बोध प्रश्नों के उत्तर
17.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.0 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे :

- कृषि नीति में राष्ट्रीय प्राथमिकताएं,

- कृषि नीति का क्रमिक विकास,
- भारत में कृषि नीति के विभिन्न पहलू,
- कृषि नीति क्रियान्वयन की समीक्षा ।

17.1 प्रस्तावना (Introduction)

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का स्थान सर्वोपरि माना गया है । देश की आर्थिक क्रियाओं खाद्य पदार्थ, कच्चा माल, जनसंख्या के बडे भाग को रोजगार और राष्ट्रीय आर्थिक विकास को गति प्रदान करने में कृषि एक निर्णायक भूमिका का निर्वहन करती है । देश के सकल घरेलू उत्पादों में 1982–83 से निरन्तर गिरावट आ रही है । 1982 – 83 में सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा 36.40 प्रतिशत था, जो 2006 – 07 में घटकर 17.50 प्रतिशत ही रह गया है । इसके उपरान्त भी कृषि देश के आधे अरब से भी ज्यादा लोगों का सहारा बनी हुई है और 52 प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या को रोजगार प्रदान करती है । भारतीय कृषि का महत्व इस बात से और भी बढ़ जाता है कि यह प्रमुख उद्योगों जैसे कपास, जूट, वस्त्र, चीनी, चाय, खाद्य पदार्थ के कच्चे माल की आपूर्ति का स्त्रोत है । ये सभी उद्योग प्रत्यक्षत: कृषि पर आधारित है । हमारे अधिकाशं लघु एवं कुटीर उद्योग जैसे हथकरघा बुनाई, धान की भूसी आदि अपने कच्चे माल के लिये कृषि पर ही तो आधारित है । आधुनिक कृषि ढांचे पर वाणिज्य एवं व्यापार क्षेत्र भी प्रभावी रूप से आधारित है क्योंकि हमारे निर्यातों का लगभग 23.50 प्रतिशत कृषि से प्राप्त होता है । इन सबसे विदित होता है कि देश की अर्थव्यवस्था के विकास के लिये कृषि विकास एक आवश्यक तथा प्राथमिक शर्त है ।

किसी अन्य क्षैत्र की भाँति कृषि क्षेत्र के क्रमबद्ध विकास के लिये एक सुपरिभाषित नीति की आवश्यकता होती है । भारत में समय–समय पर इस दिशा में प्रयास किये गये लेकिन वे सीमित प्रकृति के थे । सरकार ने जनवरी 1946 में कृषि और खाद्य नीति पर एक बयान जारी किया था जिसका मुख्य उद्देश्य देश को अकाल की जोखिम से दूर रखकर समृद्धि की ओर ले जाना था । वस्तुत: देखा जाए तो 1946 की कृषि नीति स्वतंत्रता से लेकर अब तक ग्रामीण क्षेत्रों में समग्र विकास के लिए कृषि हेतु भारत सरकार की नीति नींव का आधार रही है । स्वतंत्रता से पहले दो दशकों में भारत में कृषि सम्बन्धी नीतियाँ अर्थव्यवस्था द्वारा सामना किये जाने वाली चुनौतियों के आधार पर विकसित की गई थी । उदाहरण के लिए पूर्व दशकों में सामुदायिक विकास एवं कृषि में शिक्षा प्रसार के लिए एक नीति पर जोर दिया गया था । बाद में खाद्य समस्या की जटिलता को देखते हुए गहन कृषि विकास कार्यक्रम के लिए एक आधारभूत कार्यक्रम तैयार किया । भारत सरकार ने कृषि शिक्षा एवं अनुसंधान उपलब्ध कराने के लिए कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना की ।

17.2 कृषि नीति की प्राथमिकताएं (Priorities of Agricultural Policy)

भारत में कृषि विकास अपनी बोधोन्मुखी परिभाषा के रूप में नियोजनबद्ध सामाजिक आर्थिक विकास का केन्द्र बिन्दु रहा है । कृषि राज्य का विषय होने के कारण केन्द्र सरकार की भूमिका

इतनी होगी कि वह राज्य सरकारों के प्रयासों के पूरक के रूप में कार्य करें तथा क्षेत्रीय असमानताओं को न्यूनतम करें । व्यापक आधार वाले तथा समान विकास को सम्बल प्रदान करने में कृषि की निर्णायक भूमिका रेखांकित किया जाना एक महत्वपूर्ण भूमिका मानी गयी है। कतिपय अन्य प्राथमिकताएं इस प्रकार है : –

1. कृषि का चहुमुखी विकास तथा बागवानी, पशुधन, मछली पालन एवं रेशम के कीड़े पालन सहित कृषि की आर्थिक व्यवहार्यता बढ़ाना ।
2. आधारिक संरचना में सार्वजनिक विनियोग के माध्यम से गत्यात्मकता फूंकना तथा कृषि क्षेत्र में निजी विनियोग की अभिप्रेरणा देना ।
3. कृषि क्षेत्र को आवश्यक सुविधाएं, प्रोत्साहन एवं प्रतिफल देना ताकि इस क्षेत्र का चहुमुखी विकास एवं कल्याण सुनिश्चित किया जा सके ।
4. कृषि विविधीकरण के माध्यम से ग्रामीण निर्धनता, अल्प बेरोजगारो तथा कुपोषण का उभूलन करने के साथ –साथ आय सृजक गतिविधियों को बढ़ावा देकर कृषि आधारित उद्योगों को क्रमोन्नत करना ।
5. फसलोत्तर तकनीकी के विकास के समानान्तर देश में कृषि उपज के विपणन की वर्तमान प्रणाली को सुधारना ताकि राज्य सरकारो द्वारा आधारिक संरचना के विकास से ग्रामीण क्षेत्रों में विपणन में सुधार एवं कृषि प्रक्रिया के माध्यम से किसानों द्वारा विनियोग करने के लिये आर्थिक जलवायु सृजित किया जा सके ।
6. प्राथमिक उत्पादकों के प्रतिफल को उपयुक्त रूप से बढ़ाया जाना ।
7. फलों, सब्जियों, मुर्गी पालन एवं पशु धन के उत्पाद के निर्यात पर विशिष्ट बल देकर इस तुलनात्मक लाभ को अधिकतम करना ताकि हमारे कुल निर्यातों में इस क्षेत्र को उल्लेखनीय रूप से बढ़ाया जा सके ।
8. विश्व व्यापार के प्रावधानों के अन्तर्गत कृषि को अधिक प्रतिस्पर्द्धा एवं कुशल बनाकर इसके निहित वास्तविक सम्भाव्य को प्रान्त करना ।

संक्षेप में कृषि नीति की प्राथमिकताओं का निहित सार यह हे कि कृषि के लिये एक ऐसा धनात्मक व्यापार एवं विनियोग पर्यावरण सृजित किया जाये जिससे इस क्षेत्र को औद्योगिक क्षेत्र के साथ वाणिज्यिक उपक्रम में परिवर्तित किया जा सके । पुन: इस संदर्भ में कृषि नीति का उद्देश्य प्रभावशाली व्यवस्था विकसित करना तथा उद्योग के समकक्ष सुविधाएं कृषि में भी उपलब्ध कराना है । कृषकों को सरकार की नियन्त्रणकारी एवं कर संग्रहण मशीनरी को शिकार न बनने देने कीं ओर भी पर्याप्त ध्यान आकर्षित हुआ है । घोषणीय विकास, रोजगार सृजन, आश्वस्त विपणन तथा गरीबी निवारण कृषि नीति की चार प्रमुख प्राथमिकताएं कही जा सकती है।

उपरोक्त प्राथमिकताओं को वास्तविकता में परिणित करने के लिये कुछ निम्नांकित अनिवार्य शर्तो की ओर भी ध्यान दिया गया :

- कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्रों में ऊँची विकास दर को प्राप्त करने हेतु देश में तथा उपभोक्ताओं के बीच कड़ियां स्थापित करना । यह रोजगार के अवसर बढ़ाने तथा कृषि उपज के बेहतर विपणन लिए आवश्यक है ।

- विपणन तथा दूसरी सहायक आधारिक संरचना के विस्तार पर विशेष ध्यान देना क्योंकि आर्थिक विकास की रणनीति उस स्थिति में सफल हो सकती है जब कृषि विकास के मूल में सहायक आधार कृषि क्षेत्र में विपणन नेटवर्क के समान विकास को ढूंढ सके।

17.3 भारत में कृषि नीति का क्रमिक विकास

भारत में पचास, साठ के दशकों के दौरान सरकार द्वारा कृषिनीति संबंधी बयान दिये गये अर्थात् कृषि पर नीतिगत घोषणाएं विभिन्न प्रकार के छोटे–छोटे अंशों में सामने आयी तथापि सन 1976 में राष्ट्रीय कृषि आयोग की रिपोर्ट के माध्यम से कृषि पर एक प्रमुख नीति दस्तावेज प्रस्तुत किया गया। इसके बाद कृषि की निर्णायक भूमिका को पहचानते हुए भारत सरकार ने दिसम्बर 1992 में एक कृषि नीति प्रारूप प्रस्तुत किया जिसमें मौटे तौर पर आठवीं पंचवर्षीय योजना में कृषि की रणनीति स्पष्ट रूप से पीरलक्षित हो रही थी। मार्च 1993 में मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन के सुझावों को सम्मिलित करने के बाद इस नीति प्रारूप को आगे और संशोधित किया गया और इस संशोधित प्रारूप को मई 1993 में संसद के सम्मुख प्रस्तुत किया गया जिसमें भारतीय कृषि के समक्ष उपस्थित चुनौतियों को दर्शाया गया था। इस बीच गैट (GATT) वार्ताएं चल रही थी और विकसित और विकासशील देशों के बीच गम्भीर मतभेदों के चलते गैट के तत्कालीन महानिदेशक आर्थर डंकल ने ब्यौरेवार प्रस्ताव बनाये जिसमें कृति को पहली बार बहुपक्षीय व्यापार प्रणाली में शामिल किया गया। इसके बाद 1995 में विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई और "कृषि पर समझौता" (AOA) को लागू करने का निर्णय लिया गया। इन सभी घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में भारत सरकार ने 28 जुलाई 2000 को राष्ट्रीय कृषि विकास नीति की घोषणा की।

17.4 राष्ट्रीय कृषि विकास नीति (National Agricultural Development Policy)

भारत सरकार द्वारा 28 जुलाई 2000 को घोषित राष्ट्रीय कृषि विकास नीति विश्व व्यापार संगठन के संदर्भ में कुछ सम्भावित समस्याओं का समाधान ढूढती है तथा कृषि क्षेत्र में 4 प्रतिशत से भी अधिक वार्षिक वृद्धि प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित करती है। साथ में विभिन्न क्षेत्रों एवं किसानों हेतु टिकाऊ कृषि विकास को परिकल्पित करती है । इस नीति में खाद्य एवं पोषणीय सुरक्षा प्रौद्योगिकी इनपुट प्रबन्धन के सृजन एवं हस्तान्तरण कृषि के लिये प्रेरणा, कृषि में विनियोग एवं आपदा प्रबन्धन जैसे महत्वपूर्ण कथन समाहित है। इस कृषि नीति की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि कम से कम समय में इस कथन को कार्य रूप में रूपान्तरित करने में हमारी क्षमता कितनी है। हम विश्वास करते हैं कि सभी के अथक प्रयासों विशेषकर किसानों तथा गैर कृषि क्षेत्र के उद्यमियों के प्रयासों द्वारा विशाल एवं बढ़ती हुई जनसंख्या से उत्पन्न चुनौतियों से प्रभावी रूप से निपटा जा सकेगा। आम आदमी के सुझाव भी भारतीय कृषि को प्रतिस्पर्द्धी बनाने और उदारीकत व्यापार प्रणाली से अधिकतम लाभ प्राप्त करने हेतु प्रभावी उपाय अपनाने से सहायक होंगे।

17.5 कृषि नीति के आयाम

भारत में कृषि संबंधी नीति के प्रमुख आयाम भूमि उत्पादन, निवेश, सहायक सेवाओं और मूल्य नीति से संबंधित है ।

17.5.1 भूमिनीति (Land Policy)

भूमिनीति का मुख्य उद्देश्य भूमि के गहन उपयोग को सुनिश्चित करना रहा है, इसलिये भूमि सुधारों का उद्देश्य था, विनौलियोन के प्रभाव को समाप्त करना और वास्तविक स्वामी को इसका हस्तान्तरण करना एवं भूमि अनुरक्षण के लिए निवेश प्रोत्साहन करना शामिल है । सरकार की भूमि नीति की रूपरेखा में निम्नांकित उद्देश्य सम्मिलित है : –

(i). भूमि का गहन उपयोग ।

(ii). काश्तकारों के हितों की रक्षा तथा काश्तकारों को स्वामित्व का दर्जा प्रदान करना ।

(iii). जोत भूमि पर सीलिंग का क्रियान्वयन ।

(iv). जौत की चकबंदी ।

(v). भूमि के उपविभाजन एवं अपखण्डन को रोकना ।

(vi). भूमि को गुणवत्ता में ह्यास को रोकना ।

(vii). रोजगार अवसरों का व्यापक सृजन ।

राष्ट्रीय किसान नीति में कहा गया है कि फसल पशुधन एकीकृत खेती पद्धतियों के माध्यम से बहु आजीविका अवसर पैदा करके छोटे फार्म की उत्पादकता बढ़ाना और साथ ही कृषि प्रसंस्करण भी एक आवश्यक कार्य हो गया है । छोटे किसानों को बड़ी शक्तियों प्रदान करने की विधियां सभी संबधितों के लिये लाभार्थ आधार पर विकसित करमे और लोकप्रिय बनाया जाना चाहिए । इस हेतु आयोग ने सहकारी खेती, स्वय समूहों द्वारा खेती, संविदा खेती, निगमित, कम्पनी खेती राजकीय कृषि फार्म की सिफारिश की है ।

17.5.2 उत्पादन नीपते (Production Policy)

उत्पादन नीति का लक्ष्य भूमि से खाद्यान्नों का अधिकतम उत्पादन करना और वैसे ही ऐसे ढंग से भूमि का आवंटन किया है ताकि कृषि की अन्य वस्तुओं के उत्पादन में भी वृद्धि हो । फिर भी कृषि में उत्पादन एक ऐसी प्रक्रिया है कि मृदाओं में उपजाऊपन की पुन: पूर्ति किये बिना भूमि का उपयोग अनिश्चित रूप से नहीं कर सकते । भारत में कृषि संबधी उत्पादन नीति निम्नलिखित कारकों पर आधारित है –

- अधिकतम समयावधि के लिए भूमि का उत्तम उपयोग सुनिश्चित करना तथा फसल पैदावार का नमूना ऐसा होना चाहिए जिससें पौषक तत्वों की पुन: पूर्ति सुनिश्चित हो सके ।
- दोहरी फसल पैदा करना एवं विविध फसल पैदा करना ताकि किसानों को अधिकतम उत्पादन की प्राप्ति हो सके ।
- फसल चयन में विविधीकरण भी भारत में उत्पादन नीति का अति अनिवार्य अंग है ।

- उत्पादन नीति का लक्ष्य फल, सब्जी तथा रेशेवाली फसलों से सहवर्ती वृद्धि करना है अत: इन फसलों के अन्तर्गत जो क्षेत्र है, उसे घटाया नही जाना चाहिए । फलों की फसल तो क्षेत्र की परिस्थितियों को सुधार देती है ।
- सरकार की नीति किसानों को वैज्ञानिक तरीके से पशुपालन को प्रोत्साहित करना है । इसके लिए भारत सरकार ने तथा राजा सरकारों ने भी किसानों को दुधारू पशुओं की उपयुक्त नस्लें उपलब्ध कराने के लिए भी कार्यक्रम आरम्भ किये हैं । अनेक भूमिहीन परिवारों ने भेड़ पालन को एक बड़े पैमाने पर अपनाया है । मुर्गी उत्पादन की ओर सरकार का ध्यान गया है । यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि अधिकांश राज्य सरकारों ने चारा उत्पादन को खरीफ एवं रबी की फसलों की ऋतु में अभियानों में अपनी नीति के एक भाग के रूप मे शामिल किया है ।
- भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए अन्त स्थलीय जलजीवन पालन तथा समुद्री जलजीवन पालन दोनों ही महत्वपूर्ण है अत: सरकार ने ताजे पानी की मछली के वृद्धित उत्पादन के लिए अन्य: स्थलीय मछलियों के साथ –साथ जिला में फिश फारमर्स डिवेलोपमंट एजेन्सियों का गठन किया है । सरकार की नीति खारे पानी के मछली उद्योगों के अन्तर्गत आने वाले क्षेत्र में वृद्धि करने और ताजे पानी दोनों की उत्पादकता में सुधार करने की है ।
- भारत सरकार तथा राज्य सरकारों ने कृषि वानिकी को प्रोत्साहन दिया है ताकि इमारती और ईंधन की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने की व्यवस्था हो सके । सरकार के पास वानिकी के लिए तीन दृष्टिकोण है – 1. वर्तमान वनों का पुन: उत्पादन करना, 2. सामाजिक वानिकी उन्नत करना तथा 3. कृषि वानिकी को प्रोत्साहन देना ।

17.5.3 आदान नीति (Input Policy)

भारत सरकार ने उत्पादन के लिये इनपुट उपलब्ध कराने को योजनाबद्ध प्रयास किया है, जैसे – भूजल का बेहतर उपयोग करके फसलों की समुचित सिंचाई करना । राष्ट्रीय आयोग ने सन् 1976 में सिंचाई नीति में चार उद्देश्यों को सम्मिलित करने की सिफारिश की थी– 1. भूमि की प्रति इकाई तथा साथ ही साथ पानी की प्रति बूंद का अधिकतम उत्पादन करना, 2. जलाभाव के अधिकतम क्षेत्र का संरक्षण, 3. संरक्षित और उत्पादक सिंचाई का अधिकतम उपयोग तथा तल–जल एवं भू–जल का संयुक्त उपयोग । सिंचाई के बहुत अधिक सरकारी एवं निजी निर्देशों की आवश्यकता है ।

सरकार ने अनुसंधान संस्थानों तथा कृषि विश्वविद्यालयों के प्रयोगात्मक केन्द्रों पर प्रमाणित बीजों की उपलब्धि सुनिश्चित करने हेतु, पौधा प्रजनन के अनुसंधान कार्यो को प्रोत्साहित किया है । सरकार की बीज नीति का मुख्य उद्देश्य लघु एवं सीमान्त किसानों को प्रमाणित बीजों की ओर प्रवृत करना और उन्हें बीज खरीदने के लिए समर्थ बनाना है । इस हेतु सरकार ने वाणिज्यिक तथा सहकारी बैंकों को अन्य इनपुटों सहित बीजों की खरीद के लिये फसल ऋण देने हेतु प्रेरित किया है ।

हरित क्रान्ति के आरम्भ होने के साथ किसानों में उर्वरकों के महत्व के बारे में जागति अवश्य आयी है और तब से उर्वरकों का उपयोग बढ़ा है । भारत सरकार ने उर्वरक का संतुलित उपयोग,

उर्वरक के स्वदेशी उत्पादन का विस्तार, उर्वरकों के अधिकतम उपयोग के बारे में शिक्षण तथा मृदा की गुणवत्ता के अनुरक्षण एवं सुधार पर बल दिया है ।
सरकार ने वाणिज्यिक फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहित करने के लिए पौधों के संरक्षण पर बल दिया है । और इस पर अपने वाले व्यय को खेती की लागत में शामिल किया । तदनुसार बैंको द्वारा वित्त के मानदण्ड तैयार किये हैं ।

17.5.4 सहायक सेवाओं की नीति

सहायक सेवाओं जैसे ऋण की उपलब्धि, प्रक्रिया के लिए मूलभूत आवश्यक तत्व, भण्डारण तथा विपणन व अनुसंधान कृषि में शिक्षण तथा प्रसार की वृद्धि एवं विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की हैं –

- कृषि ऋण नीति में संस्थागत ऋण का महत्वपूर्ण स्थान है । कृषि ऋण को बैंकों की ऋण नीति में प्रतमकता का दर्जा प्रदान किया गया है । लघु एवं सीमान्त किसानों को हरित क्रान्ति की मुख्य धारा में शामिल होने के लिए ऋण नीति में हमेशा जोर दिया जाता रहा है । अधिक से अधिक को लाभ देना तथा ब्याज की रियायती दरों पर ऋण देना इस नीति का आवश्यक तत्व है । "सेवा क्षेत्र दृष्टिकोण" के जरिये भी इन किसानों की ऋण आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयास किया गया है।
- भारत सरकार ने जून 2004 में कृषि क्षेत्र में संस्थागत साख को 3 वर्षों में दुगुना करने का लक्ष्य रखा था । यह लक्ष्य 2 वर्षो में ही पूरा कर लिया गया । इसका संस्थागत विवरण इस प्रकार है : –

तालिका– 17.1 : कृषि क्षेत्र को संस्थागत वित्त (रुपये करोड़ में)

संस्थाएं / वर्ष	2002-03	2003-04	2004-05	2005-06	2006-07
सहकारिताएं	23716.00	26959.00	31424.00	39404.00	33070.00
क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	6070.00	7581.00	12404.00	15223.00	15925.00
वाणिज्यिक बैंक	39774.0	52441.00	81481.00	125859.00	88765.00
कुल	**69560.00**	**86981.0**	**125309.00**	**180486.00**	**137760.00**

किसान क्रेडिट कार्ड योजना अगस्त 1988 में लागू की गई । इस योजना से फसल ऋणों के लिए आधार स्तरीय ऋण प्रवाह बढ़ाने में मदद मिली है ।

- देश में विपणन नीति किसानों को उनके विनियोग के लिए प्रतिफलदायक आय सुनिश्चित करने के लिए उन्मुख रही है । प्रात: फसल कटाई के बाद मूल्यों में गिरावट की प्रवृति दिखायी देती है तथा किसानों को व्यथाग्रस्त बिक्री का शिकार बनना पडता है । सरकार ने कृषि उपज मण्डियों के आधुनिकीकरण और कार बनाने का विचार किया जिसके माध्यम से किसानों को अपने उत्पाद का उचित मूल्य मिल सके । सरकार द्वारा केन्द्रीय भण्डारण निगम की स्थापना एक महत्वपूर्ण कदम था । इसी तरह सरकार ने विपणन एवं प्रसंस्करण में निजी हित को प्रोत्साहित किया है ।

  कृषि विपणन परिदृश्य में सुधार के लिए 15 राज्य सरकारों और 5 संघ शासित क्षेत्रों ने अपने कृषि उत्पादन विपणन समिति अधिनियमों में संशोधन किया है । मार्च 2006 के

अंत में पूरे देश में 7566 विनियमित और 21780 ग्रामीण / आवधिक कृषि बाजार चालू थे ।

- सरकार ने कृषि के लिए एक व्यापक नीति की शुरूआत की । इस श्रृंखला में शिक्षण, अनुसंधान और प्रसार सेवा की समेकिन प्रणाली के लिए कृषि विश्वविद्यालयों की स्थापना की । कृषि शिक्षण और अनुसंधान के बारे में भारत सरकार की नीति छात्रों को शिक्षित करना, अनुसंधान को प्रोत्साहित करना एवं कृषि में नये विकास और इस प्रकार कृषि उत्पादन में वृद्धि के बारे में किसानों में जागृति लाना है ।

17.5.5 मूल्य नीति

यह सुनिश्चित करने के लिए कि किसानों को उनकी मेहनत का उचित मूल्य मिले, सरकार ने समय–समय पर उत्पादों की प्राप्ति और तकईसंगत मूल्यों की घोषणा की । यह सत्य है कि सरकार के लिये मूल्यनीति अत्यधिक कठिन क्षेत्र है क्योंकि बहुसंख्यक ग्रामीण जनता उत्पादन में लगी हुई है, इसलिये खाद्यान्नों के न्यूनतम मूल्यों का निर्धारण करना अब सरकार की मूल्यनीति का एक अभिन्न अंग बन गया है । सरकार ने आदान के संबंध में अनिवार्य वस्तु अधिनियम के अन्तर्गत उर्वरकों और रसायनों को श्रेणीबद्ध कर दिया है और उनके भू सरकार द्वारा घोषित किये गये हैं । आर्थिक सुधारों के परिणामस्वरूप फॉसफोरस और पोटाश को नियंत्रण मुक्त कर दिया गया है । कोई भी नीति समय–समय पर परिवर्तन की अवस्थिति पर निर्भर करती है तथापि सरकार यह सुनिश्चित करने का प्रयास करती है कि किसानों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए ।

राष्ट्रीय किसान आयोग ने भी अपनी रिपोर्ट में कृषि नीति संबंधी नवीनतम आयामों को स्पर्श किया है । ये सभी किसान आयने के मिशन वक्तव्य में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होते हैं ।

17.5.6 11वीं योजना में कृषि संबंधी नीतियां

ग्यारहवीं योजना के दृष्टिकोण पत्र की संकल्पना के अनुरूप सकल घरेलू उत्पाद (सघउ) में चार प्रतिशत की वृद्धि आसान लक्ष्य नहीं है । वानिकी और मत्स्यपालन सहित दसवीं योजना के पहले तीन वर्षो के दौरान कृषिगत सघउ में वास्तविक वृद्धि महज 1 प्रतिशत थी और यदि वर्ष 2005–06 तथा 2006–07 के लिये बहुत ही गुलाबी तस्वीर पेश की जाए तो भी पांच वर्ष की कुल अवधि के लिये यह अनुमान 2 प्रतिशत के भीतर ही रह जाएगा । इस तरह अगली योजना में प्रस्तुत की गई चुनौती दसवीं योजना के दौरान हासिल वृद्धि दर के दोगुने से भी अधिक है । इसे हासिल करने के लिये मांग तथा आपूर्ति, दोनों ही पक्षों पर काम करना आवश्यक हो जाएगा ।

मांग पक्ष में हस्तक्षेप

मांग पक्ष में इस बात के प्रमाण हैं कि किसानों को विपरीत अर्थात अल्प मांग वाली स्थितियों से दो–चार होना पड़ता है । पिछले दशक के दौरान न केवल कृषिगत वृद्धि दर कम रही है, बल्कि कृषि उपज के लिये मिलने वली राशि भी न तो लागत के अनुरूप, न ही अन्य वस्तुओं के आम मूल्य स्तर के अनुरूप रही है । फलत: उनका लाभ कम हुआ है । अनेक आकल्पों से

जाहिर होता है कि जब तक सकल सघउ में वृद्धि 8 प्रतिशत के स्तर से भी काफी ऊपर न पहुंच जाए, तब तक कृषि क्षेत्र में 4 प्रतिशत की वृद्धि को बनाए रख पाना संभव नहीं होगा । हाल ही में आरंभ किए गए राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी कार्यक्रम जैसे कदमों से 11वीं योजना के दौरान मांग पक्ष को मदद मिलेगी । सरकारी स्कूलों के स्तरोन्नयन तथा उनके साथ –साथ स्वास्थ्य सेवाओं तक निम्न आय वर्ग के लोगों की पहुंच बढ़ाने से इन मदों पर निजी व्यय को कम करने में भी मदद मिलेगी और इनसे हुई बचत का एक हिस्सा लोग कृषि के लिये मांग बढ़ाने वाली मदों पर खर्च कर सकेंगे । 'भारत निर्माण' की परिकल्पना के अनुरूप गांवों के बीच संपर्क बढ़ाने से भी एकीकृत राष्ट्रीय बाजार के विकास को गति मिलेगी और गांववासी एक दूसरे की मांगों की पूर्ति कर पाएंगे ।

आपूर्ति पक्ष की रणनीति

कृषिगत विकास को दोगुना करने संबंधी आपूर्ति पक्ष की चुनौती भी काफी कठिन है । इसकी वजह यह है कि आज हीरत क्रांति जैसा नाटकीय परिणाम दे सकने वाली स्थितियां मौजूद नहीं हैं । मौजूदा प्रौद्योगिकी में निहित संभावनाओं का भी उपयोग नहीं कर रहे । वस्तुत: अनाजों, दालों तथा तिलहनों में अपेक्षित वृद्धि वर्तमान में कम उत्पादन देने वाले इलाकों की उपज बढ़ाकर ही संभव है । साथ ही कम उपज के लिये उत्तरदायी रूकावटों और नीतियों के विरूपण की पहचान भी जरूरी है ।

राष्ट्रीय कृषक आयोग के अनुसार किसानों को अज्ञानता के कारण कृषि उत्पादकता में कमी आती है । इससे निजात पाने के लिये विश्वविद्यालयों तथा अनुकरणीय पहलों के साथ किसानों के संपर्क को बेहतर बनाना होगा । संपर्क स्थापित करने का एक माध्यम बेहतर विस्तार प्रणाली हो सकती है, किंतु दुर्भाग्यवश अधिकांश राज्यों में विस्तार प्रणाली प्राय: धराशायी हो चुकी है । इसका हाल यह हुआ कि देश के बड़े भू–भाग में अपनाएं जाने वाले खेती के तरीके आदर्श नहीं रह गए हैं । भूमि की पोषण आवश्यकताओं के ठीक –ठीक आकलन के लिये भू–परीक्षण शायद ही कराया जाता हो । परिणामस्वरूप, उर्वरकों का काफी असंतुलित रूप से इस्तेमाल किया जाता है । प्राय: नाइट्रोजनयुक्त 'उर्वरकों का जरूरत से अधिक उपयोग किया जाता है जिसका दीर्घकाल में भूमि की उत्पादकता पर उल्टा प्रभाव पड़ता है । किसान प्राय: इस तथ्य से अवगत नहीं होते । कुछ सीमा तक इस तरह के असंतुलन की वजह उर्वरकों पर दी जाने वाली सब्सिडी है जो अपने आप में न केवल अतार्किक है, बल्कि उससे नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों के अधिकाधिक इस्तेमाल को बल मिलता है ।

देश के एक बड़े हिस्से में तर्कसंगत दरों पर ऋण की अनुपलब्धता लगातार बनी हुई है । सहकारी ऋण प्रणाली की असफलता से यह समस्या और घनीभूत हुई है । ऋण उपलब्ध कराने में संगठित ऋण प्रणाली की असफलता से अनौपचारिक ऋण स्रोतों पर निर्भरता काफी बढ़ी है । इन स्रोतों की ब्याज दर आमतौर पर काफी ऊंची होती है । यह किसानों के सकट की जड़ है जो अत्यधिक ऋणग्रस्तता के रूप में परिलक्षित होती है ।

कृषि वृद्धि की गति और तेज करने के लिए बागवानी तथा पुष्प उत्पादन की दिशा में इसका विविधीकरण जरूरी है । इसके लिये कृषि तथा गैर–कृषि कर्म में सरचनात्मक परिवर्तन अपेक्षित

हो जाएगा । विविधीकरण के लिये प्रभावशाली विपणन तथा आधुनिक बाजार व्यवहार भी जरूरी होंगे ।

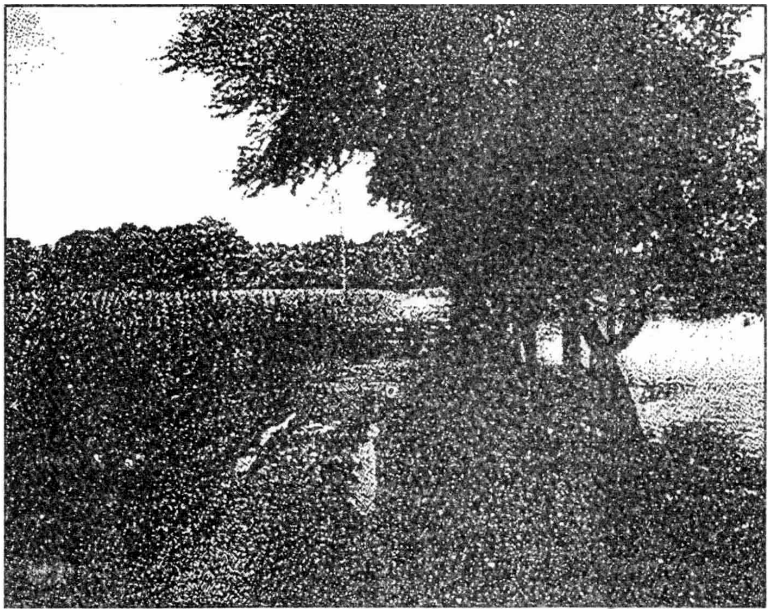

चित्र –17.1 : कृषि विविधीकरण का एक दृश्य

विविधीकरण के लिये विभिन्न प्रकार के बाजारों की विशिष्ट अपेक्षाओं पर खरा उतराना भी जरूरी होता है । ये अपेक्षाएं घरेलू उपयोंग कृषि संसाधनन तथा निर्यात के लिये अलग–अलग होती हैं । कांट्रैक्ट कृषि के द्वारा कॉरपोरेट निवेशकों को आकर्षित कर बाजार के साथ संपर्क बढ़ाने तथा कृषकों को कृषि विधि, विस्तार तथा अन्य सलाह देने के लिए कहा जा सकता है ।

नवीन और अपरीक्षित प्रौद्योगिकी इस्तेमाल करने के क्रम में किसानों के जोखिम भी बढ़ जाते हैं । इन जोखिमों को नये बीज और प्रौद्योगिकी की जरूरतों की जानकारी न होने के कारण प्राय वे ठीक तरह से समझ नहीं पाते । सभी किसान घाटे का जोखिम बर्दाश्त करने में सक्षम नहीं होते । इस तरह हमारे सामने नवीन बीजों के असफल हो जाने उनसे अपेक्षित उपज न मिलने अथवा नलकूपों के नाकाम हो जाने के अलावा बाजार मूल्य गिरने के कारण किसानों द्वारा आत्महत्या करने के मामलें आने लगते हैं । जरूरी कदम उठाकर किसानों को इस तरह के जोखिमों से सुरक्षा दिए जाने की जरूरत है । इसकी एक विधि बीमा है, लेकिन मौजूदा एवं प्रस्तावित फसल बीमा कार्यक्रमों की वित्तीय लागत काफी ज्यादा और बार–बार घटित होने वाली है । इसलिये ये योजनागत कार्यक्रम के लिये उपयुक्त उपाय नहीं हैं । 11 वीं योजना में इनसे और जोखिम प्रबधन से जुड़े मुद्दों का समाधान करना आवश्यक है ।

11वीं योजना की कृषिगत रणनीति विभिन्न कृषि–जलवायु क्षेत्रों की पहचान पर आधृत होनी चाहिए । तकनीकी अवरोधों तथा फसल विकास संभावनाओं की प्रकृति में विभिन्न क्षेत्रों के बीच काफी अतर होता है । इसलिये प्रत्येक क्षेत्र की विविधता को ध्यान में रखते हुए उसके लिये उपयुक्त नीतिगत पैकेज तैयार करना होगा । इसे भावी योजनागत कार्यक्रमों के प्रारूप में शामिल करना होगा तथा क्षेत्र–आधारित लाभों को बढ़ाने के लिये योजना क्रियान्वयन एवं प्रशासनिक संरचना में आवश्कतानुसार सुधान करते रहना होगा । ये रणनीतियां केन्द्र एवं राज्य

सरकारों के आपसी परामर्श से बनाई जा सकती हैं लेकिन इनको अमली जामा पहनाने की जिम्मेदारी लगभग पूरी तरह राज्य सरकारों की ही होगी ।

कृषिगत शोध

दीर्घकाल में कृषि उत्पादकता में वृद्धि को सतत् प्रौद्योगिकीय प्रगति के द्वारा ही जारी रखा जा सकता है । इसके लिये बुनियादी शोध को वरीयता देने की नीति अपनानी होगी । दुर्लभ प्राकृतिक संसाधनों, जलवायु परिवर्तन तथा अंतर्राष्ट्रीय सार्वजनिक अनुसंधान के लाभों की उपलब्धता निरंतर कम होते जाने के मद्देनजर यह अब काफी आवश्यक हो गया है । 11वीं योजना को बुनियादी शोध पर ध्यान देना और रणनीतिक शोध की दिशाओं की पहचान करना होगा । देश की व्यापक कृषि अनुसंधान प्रणाली को क्रमश: डॉ. स्वामीनाथन तथा डॉ. आर.ए. माशेलकर की अध्यक्षता वाली उच्चस्तरीय समितियों के परामर्शो के अनुरूप संशोधित एवं पुनर्गठित करना होगा ।

जल प्रबंधन एवं सिंचाई

कृषि का एक महत्वपूर्ण आदान जल होता है । जहां कहीं संभव हो, सिंचाई का विस्तार करने तथा जहां सिंचाई संभव न हो उन इलाकों में बेहतर जल प्रबंधन करने की आवश्यकता है । स्पष्टत: इस क्षेत्र में पूर्व के प्रयास अपर्याप्त रहे है । सिंचाई विस्तार के क्षेत्र में निष्पादन काफी शोचनीय रहा है क्योंकि हमारे संसाधन थोड़ा–थोड़ा अनेक परियोजनाओं पर बंटे होते हैं जिसके फलस्वरूप बड़ी संख्या में सिंचाई परियोजनाएं वर्षो से निर्माणधींन ही हैं ।

वर्ष 2005–09 की चार वर्ष की अवधि में भारत निर्माण कार्यक्रम के तहत एक करोड़ हेक्टेयर अतिरिक्त क्षेत्र को सिंचित करने की योजना है । यह लक्ष्य हासिल करने के लिये सिंचाई सुविधा निर्माण की मौजूदा 1.42 लाख हेक्टेयर प्रतिवर्ष की गति को बढ़ाकर 2.5 लाख हेक्टेयर प्रतिवर्ष करना होगा ।

बड़ी तथा मध्यम सिंचाई परियोजनाओं के लिये राज्य सरकारों को बड़ी मात्रा में संसाधन लगाने होंगे जिन्हें केन्द्रिय सहायता का समर्थन भी प्राप्त होगा । साथ ही इन परियोजनाओं का राज्यों द्वारा क्रियान्वयन भी महत्वपूर्ण है ।

कृषि सुविधाओं के विस्तार के साथ –साथ जल का समान वितरण तथा कुशल उपयोग भी सुनिश्चित किया जाना चाहिए । इसके लिये भागीदारी आधार पर सिंचाई प्रबंधन किया जाए जिसमें जनतांत्रिक रूप से गठित जलप्रयोक्ता संघों को जल कर निर्धारित करने, वसूलने तथा क्षेत्रीय जल प्रणालियों के रख–रखाव तथा सिंचाई क्षेत्रों के विस्तार के लिये उसका एक बड़ा हिस्सा अपने पास रखने का अधिकार दिया जाना चाहिए । ये संघ जल का एक समान वितरण करें तथा अंतिम प्रयोक्ता को भी पानी का उसका न्यायोचित हिस्सा दें । अनुभव बताते है कि इस तहर भागीदारी प्रबंधन वाले प्रयास काफी प्रभावी साबित होते हैं । 11वीं योजना को ऐसे संघों पर बड़े पैमाने पर अपनी विश्वसनीयता बढ़ानी होगी ।

60 प्रतिशत से भी अधिक कृषि योग्य भूमि पूर्णतया असिंचित तथा वर्षा जल पर निर्भर है । इस बड़े भू–भाग के लिये सिंचाई की व्यवस्था काफी महत्वपूर्ण है । इस क्षेत्र के लिये 11वीं योजना में भूजल प्रबंधन पर काफी ध्यान देना होगा ।

जल को हमें दुर्लभ संसाधन के रूप में स्वीकार करना होगा तथा इसकी प्रत्येक बूंद का कुशल उपयोग करना होगा । इस संदर्भ में यह भी स्वीकरणीय है कि राज्य सरकारों द्वारा क्रियान्वित की जा रही मौजूदा कुछ नीतियां समस्या को बढ़ाने वाली ही साबित हुई हैं । कुछ राज्यों में जल आज भी निशुल्क दिया जाता है जबकि बाकी सभी राज्यों में इस पर काफी ज्यादा सब्सिडी दी जाती है । इसके फलस्वरूप भूजल के अतार्किक दोहन के कारण भूमि में मौजूद जलस्तर की स्थिति गंभीर से गभीरतर होती जा रही है । देश के 29 प्रतिशत प्रखंड पहले भी गंभीर रूप से भूजल दोहित क्षेत्र की परिधि में आ चुके हैं ।

वर्षा जल पर निर्भर क्षेत्रों में वाटर शेड प्रबंधन, वर्षा जल संग्रहण तथा भूजल भराव के द्वारा जलस्तर को बढ़ाया जा सकता है । इस वर्ष गठित किए जा रहे राष्ट्रीय वर्षा जल क्षेत्र प्राधिकरण के द्वारा राज्य सरकारों के साथ मिलकर वर्षा जल क्षेत्रों के लिये समर्पित कार्ययोजना बनाई जा सकेगी ।

अनुमानित रूप से 8 करोड़ हेक्टेयर कृषि भूमि को उपचार की जरूरत है । इसमें से प्रति हेक्टेयर भूमि के उपचार पर करीब 10,000 रुपये खर्च होंगे । इस तरह, कुल भूमि के उपचार के लिये लगभग 80,000 करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी। 11वीं योजना अवधि के दौरान इस बड़े पैमाने पर धन की आवश्यकता की पूर्ति के लिये भूमि के नमी संरक्षण तथा भूजल भराव के स्थानीय कार्यक्रम को रोजगार गारंटी कार्यक्रम के साथ जोड़ना नितांत आवश्यक है ।

17.6 किसान आयोग का मिशन वक्तव्य

- मानव आयाम को सभी फार्म नीतियों और कार्यक्रमों की मुख्य धारा के साथ जोड़ना और कृषि में महिलाओं से संबंधित मुद्दों पर स्पष्ट रूप से ध्यान देना ।
- किसानों की आत्महत्याओं की प्रवृति को समाप्त करना और भारत की कृषि क्षमता में गर्व व विकास स्थापित करना ।
- भू–सुधारों के अपूर्ण कार्य को पूरा करना और ग्रामीण भारत में व्यापक परिसम्पत्ति और जलीय सुधार प्रारम्भ करना ।
- प्रौद्योगिकी, तकनीकी–अवस्थापना, सेवाओं और सार्वजनिक नीतियों के पैकेजों को परस्पर रूप से सुदृढ़ करना, कृषि, जनजातीय चरागाह और कृषि श्रमिक परिवारों की आय, आजौविका, पोषाहार और स्वास्थ्य सुरक्षा में वृद्धि करना ।
- प्रमुख खेती पद्धतियों की उत्पादकता, लाभप्रदत्ता और स्थिरता में संधारणीय प्रगति के लिए जरूरी भू –जल, जैव–विविधता और जलवायु संसाधनों को संरक्षित करना और सुधार करना और इस प्रकार देश की लगभग दो–तिहाई आबादी की आजौविका सुरक्षित करना ।
- ऐसे उपाय प्रारम्भ करना जिनसे युवाओं को खेती में आकर्षित किया जा सके और बनाए रखा जा सके तथा जिससे खेती के उत्पादन और फसलोत्तर दोनों स्तरों पर छोटे और

सीमान्त किसानों को बड़े पैमाने पर शक्ति प्राप्त हो सके और इस प्रकार उनकी आय औसत प्रतिस्पर्धात्मकता में वृद्धि हो सके ।

- कृषि और मछेरे परिवारों के कार्य और आय दोनों सुरक्षित रखने के लिये फसलों, कृषि पशुओं, मछलियों और वन वृक्षों की जैव–सुरक्षा और देश के स्वास्थ्य और व्यापार सुरक्षा को मजबूत बनाना ।

17.7 कृषि नीति का विश्लेषण (5 संदर्भों में) (Analysis of Agricultural Policy)

1. कुषिजन्य संबंधों में परिवर्तन
2. कीमत नीति एवं बाजार परिवर्तन
3. शोध एवं विस्तार नेटवर्क
4. आधारिक संरचना सुविधाओं का विस्तार तथा
5. नई तकनीक अपनाना

1. **कृषिजन्य सम्बन्धों में परिवर्तन** – 1950 के दशक के अन्तिम वर्षो में पुरानी प्रथाओं को समाप्त करने तथा भूमि जोतने वाले को अधिकार दिलाने हेतु सुधार नियमन के माध्यम से अनेक राज्यों में कृषि सुधार आरम्भ किये गये । बहु ल भूमि धारकों को एक सरलीकृत समरूप व्यवस्था से प्रतिस्थापित किया गया, जहाँ लगभग सभी किसानों को स्वामित्व का अधिकार प्रदान किया गया । जमींदारी प्रथा की समाप्ति समान कृषि संरचना की दिशा में प्रमुख कदम था, इसके अन्तर्गत 2 करोड़ काश्तकारों का सरकार से सीधा सम्बन्ध हो गया । इसके अतिरिक्त राज्यों में पड़ी 60 लाख हेक्टेयर बंजर, परती तथा अन्य श्रेणी की भूमि में से अधिकांश भूमि का वितरण भूमिहीनों एवं सीमान्त भू –स्वमियों में कर दिया गया । यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसने भूमि में विनियोग को प्रोत्साहित किया और उत्पादकता में लाभ सृजित किये । कृषि सुधारों की दिशा में दूसरा प्रमुख उपाय चकबंदी था जिससे अपखण्डन के दोष दूर हो गये और भूमि की उत्पादकता में भी सुधार हु आ । विभिन्न राज्यों के अनेक विधानों के द्वारा इस कार्य को सम्पन्न किया । निःसन्देह चकबंदी कृषि विकास में एक सर्वाधिक सफल कार्यक्रम रहा है । जिसने सभी स्तरों पर उत्पादकता को बढ़ाने में योगदान दिया हैं
2. **मूल्य नीत एवं बाजार समर्थन** – कृषि विकास को सरकार द्वारा अपनाई गई कृषि मूल्य नीति से अतिरिक्त प्रोत्साहन मिला, इसका उद्देश्य उत्पादक को उसके उत्पादन के लिये प्रतिफलदायक मूल्य दिलाना है ताकि कष्टप्रद बिक्री का कोई अवसर उत्पन्न ही न हो । इस नीति को लागू करने से किसान बड़े मूल्य उच्चावचनों से बच गये तथा साथ ही उनको अपने अतिरेक हेतु आश्वस्त बाजार भी मिल गया । लगभग 24 प्रमुख वस्तुओं के लिये कृषिगत लागत व मूल्य आयोग की सिफारिशों के आधार पर न्यूनतम समर्थन मूल्य निर्धारित किये जाते हैं तथा सरकार भारतीय खाद्य निगम, राष्ट्रीय कृषि सहकारी बिक्री

संघ, भारतीय कपास निगम एवं भारतीय जूट निगम के माध्यम से कीमत पीरचानलों को संगठित करती है ।

3. **शोध एवं विस्तार नेटवर्क** – विगत दशकों में हरित एवं अन्य क्रान्तियों को ईंधन प्रदान करने वाली अधिकतम प्रौद्योगिकी उन विभिन्न शोध तथा विस्तार सस्थागत संजाल (नेटवर्क) द्वारा सृजित एवं प्रसारित की गई है, जिन्हें विगत 50 वर्षो से भारी परिश्रम करके खड़ा किया गया है। आज भारतीय कृषि शोध व्यवस्था 30000 वैज्ञानिक सहित विश्व में विशालतम व्यवस्थाएं में से एक है । इस समय देश में 45 केन्द्रीय शोध संस्थान, 30 राष्ट्रीय शोध संस्थान तथा भारतीय कृषि शोध परिषद के अधीन कार्यशील कई अन्य उप–कार्यक्रम है । दो अन्तर्राष्ट्रीय कृषि शोध केन्द्र इन्टरनेशनल क्रोप रिसर्च इंस्टीट्यूट फॉर द से.मी ऐरिड ट्रॉपिक्स (ICRISAT) तथा इन्टरनेशनल सेन्टर फॉर जिनेटिक इन्जीनियीरंग एण्ड बायोटेक्नोलोजी (ICEGB) भी भारत में अवस्थित है । इसके अतिरिक्त देश में 28 राज्य कृषि विश्वविद्यालय तथा 262 कृषि विज्ञान केन्द्र है । ये संस्थाएं प्रौद्योगिकी के सृजन, मूल्यांकन तथा शुद्धीकरण में संलग्र है । किसानों को इन प्रौद्योगिकी के प्रसार हेतु राज्य सरकारों में लगभग एक लाख विस्तार कार्यकर्ता है । इसके अतिरिक्त एक राष्ट्रीय विस्तार प्रबन्धन संस्थान, चार क्षेत्रीय विस्तार शिक्षा संस्थाएं तथा राज्य स्तरीय किसान प्रशिक्षण केन्द्र एवं कृषि विद्यालय नई प्रौद्योगिकी से कृषक प्रशिक्षण संचालित करती है । प्रदर्शनियों, प्रिन्ट मीडिया तथा इलेक्ट्रोनिक मीडिया के माध्यम से कृषि विस्तार को मिलने वाली सूचना समर्थन भी विकसित किया गया है । किसानों के लिए आकाशवाणी, दूरदर्शन आदि के माध्यम से नियमित कार्यक्रम प्रसारित किये जाते हैं जिसमें समाचार, मौसम, कीमत, बुलेटिन तथा बाजार सूचनाएँ सम्मिलित होती है ।

4. **आधारिक संरचना सुविधाओं का विस्तार** – सिंचाई कृषि उत्पादन के लिये मूलभूत आवश्यकता है । भारत में देश के विभिन्न भागों में धरातल की भिन्न –भिन्न रचना होने के कारण कई प्रकार के सिंचाई साधनों को काम में लिया जाता है । उदाहरण के लिये उत्तरी भारत में नहरों एवं कुओं की सिंचाई की प्रधानता है तो दक्षिण में सिंचाई के लिये तालाबों का विशेष रूप से उपयोग किया जाता है । विगत 50 वर्षो से भारत में सिंचाई को उच्च प्राथमिकता दी गई है । परिणामस्वरूप सिंचित क्षेत्रफल 1950–51 में 2.26 करोड़ हैक्टेयर से बढ़कर 1996–97 में 8 करोड़ हैक्टेयर हो गया । भारत में कुल सिंचित क्षेत्रफल में लघु योजनाओं का अपेक्षाकृत योगदान अधिक पाया गया है । भारत में स्वतत्रता प्राप्ति के बाद वृहद मध्यम तथा लघु सिंचाई परियोजनाओं को विकसित करने पर जिसमें सतही राशि का विशाल सार्वजनिक क्षेत्र विनियोग हु आ है । नई तकनीक को अपनाने तथा कृषि उत्पादन में वृद्धि को सम्भव बनाने में सिंचाई सुविधाओं का विस्तार एक महत्वपूर्ण घटक माना जाता है । यहाँ पर इस तथ्य का उल्लेख किया जाना उपयुक्त होगा कि देश में सिंचाई की नई उत्पन्न की गई क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं हो पा रहा है । सरकार उत्पन्न क्षमता व वास्तविक उपयोग के अन्तर को कम करने का प्रयास अवश्य करती है । आवश्यकता इस बात की है कि किसानों को नई फसलों का ज्ञान एवं सुधरी हु ई कृषि

पद्धतियों की जानकारी कराई जानी चाहिए । जल के उपयोग में मितव्ययता की जानी चाहिए । साथ ही उन्नत बीज, खाद, साख. बिक्री, गोदाम, परिवहन आदि की व्यवस्था तीव्र गति से बढ़ाई जानी चाहिए ताकि सिंचाई का अधिकतम लाभ मिल सके । महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत में कृषि उत्पादकता बढ़ाने के लिए लघु, मध्यम तथा वृहद सिंचाई के साधनों का सन्तुलित एवं समन्वित सुनिश्चित करके इनके मध्य प्रभावपूर्ण तालमेल स्थापित किया जाना चाहिए ।

5. **नई तकनीक अपनाना** – यह स्वीकार किया जाना चाहिए कि भारतीय कृषक नई प्रौद्योगिकी को अपनाने में काफी चुस्त रहा है । उच्च उपज वाले बीज आधुनिक कृषि प्रौद्योगिकी के सारभाग का निर्माण करते हैं । राष्ट्रीय बीज निगम, भारतीय राज्य फार्म निगम तथा राज्य बीज निगम उन्नत बीजों के तथा पौध माल के उत्पादन एवं गुणीकरण में सलग्न है । इसके अतिरिक्त बहुत सी निजी कम्पनियाँ बीजों के शोध एवं उत्पादन तथा किसानों को बीज एवं पौधकरण माल की आपूर्ति करने में लगी हुई है । परिणामस्वरूप प्रमाणित / गुणवत्ता बीजों की मात्रा जो स्वतत्रता के समय वगण्य थी, ने भारी वृद्धि दर्शाई है और आज इसकी मात्रा 75 लाख किटल पर ऑकी गई है । उच्च उपज वाले बीजों को सिंचाई, उर्वरक तथा कीटनाशक जैसी सम्बद्ध इनपुटों की भी आवश्यकता होती है । सरकार ने उर्वरकों के उपयोग में कृषकों को प्रशिक्षित करने के लिए कई जिलों में कार्यक्रम आरम्भ किये हैं. जिसके आधार पर विभिन्न क्षेत्रों विभिन्न फसलों तथा विभिन्न प्रकार के कृषकों के मध्य उर्वरकों की खपत बढ़ाई जाने की अपेक्षा की जाती है ।

उच्च उपज देने वाली विभिन्न फसलों की किस्मों को आरम्भ करने के साथ ही कीटों से संबंधित समस्याएं भी काफी जटिल हो गई है । कीटों के खतरों से निपटने के लिये किसान अधिकाश रूप से कीटनाशकों पर विशेषकर रासायनकि कटिनाशको पर निर्भर रहे हैं । कीटनाशकों के इन दुष्प्रभावों को खत्म करने के लिये समन्वित कटि प्रबन्धन दृष्टिकोण को भारत सरकार ने एक गणनावाचक सिद्धान्त के रूप में अपनाया है । यह पौध सरक्षण पर सरकारी नीति का मुख्य ध्येय भी रहा है ।

भारत में 1951 के बाद कृषि क्षेत्र में फार्म मशीनरी एवं ट्रैक्टर का उपयोग भी बढ़ा है । विभिन्न राज्यों में कृषि उद्योग निगम स्थापित किये गये हैं, जो कृषिगत यंत्रों के वितरण की व्यवस्था करते हैं । निगमों को ट्रैक्टर रएवं अन्य फार्म मशीनरी को आसान शर्तो पर बेचने व किराये पर देने एवं अन्य सेवा केन्द्रों की व्यवस्था करने का कार्य सौंपा गया है । भारत में हरित क्रान्ति के बाद कृषि में व्यवसायीकरण की प्रक्रिया लागू की गई है । बड़े कृषक नई किस्मों के बीज. रासायनिक खाद, ट्रैक्टर पम्प सेट व खूब वैल आदि का उपयोग करने लगे हैं, जिससे उनकी आय में वृद्धि हुई है । ऐसा प्रतीत होता है कि भविष्य में फार्म मशीनरी व ट्रैक्टर आदि का उपयोग उत्तरोत्तर बढ़ेगा । यंत्रीकरण से मिलने वाले लाभों के कारण ही फार्म यंत्रीकरण की प्रक्रिया तीव्रता से बढी है ।

वर्तमान की प्रवृत्तियाँ – भारत में 1960 की दशाब्दी के मध्य में कृषिगत क्षेत्र में जिस नवीन तकनीक पद्धति का आविर्भाव हुआ, उसके कृषिगत विकास की नई व्यूह रचना अथवा हरित क्रान्ति कहा जाता है । हरित क्रान्ति के व्यापक प्रारूप से अधिक उपज देने वाली नई किस्मों,

सिंचाई, रासायनिक खाद / उर्वरक, कीटनाशक दवाइयों आदि का उपयोग कृषिगत क्षेत्र में द्रुगति से बढ़ाया गया । हरित क्रान्ति के प्रभावों को फसलों के उत्पादन एवं उत्पादकता तथा खेतिहर मजदूरों के लिये रोजगार एवं मजदूरी की दर के अतिरिक्त जब विभिन्न प्रदेशों के मध्य आय एवं वितरण तथा एक ही स्थान पर विभिन्न कृषकों एवं व्यक्तियों के बीच आय के वितरण पर देखते हैं, तो विदित होता है कि हरित क्रान्ति ने देश में खाद्यान्न उत्पादन को गत्यात्मकता प्रदान की है ताकि भारत को खाद्य अभाव की स्थिति से उभार कर आत्मनिर्भरता की अवस्था तक पहुचाया है लेकिन इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि हरित क्रान्ति देशं के सिंचित क्षेत्रों या जिन क्षेत्रों में सिंचाई एक प्राकृतिक देन है, तक सार्मित रही है । इससे क्षेत्रीय असमानताए बढ़ी है । इसने आर्थिक तथा भौतिक असन्तुलनों के रूप में अपने ही तनाव भी सृजित कर लिये है । समयपर्यन्त कुछ प्रमुख सिंचित उत्पादन प्रणालियों, विशेषकर उत्तर तथा उत्तर –पश्चिम में उत्पादन तथा उत्पादकता वृद्धि में कमी स्पष्ट रूप से देखी गई । अधिक सम्भाव्यता वाले फसल उत्पादन क्षेत्र (पूर्वी तथा केन्द्रीय राज्य) आज भी उत्पादकता वृद्धि प्रयासों में पीछे है । यही नहीं, कृषि शोध के क्षेत्र में सफलता केवल गेंहू एवं चावल जैसी फसलों में ही हासिल हो पाई है । साथ ही विभिन्न फसलों, सम्भावी उपज तथा वास्तविक उपज के बीच बढ़ती हुई असमानता परिलक्षित हो रही है, जिसका अर्थ यह है कि शोध तथा विस्तार एजेन्सियों के बीच अन्तराल बढ़ रहा है ।

आर्थिक वृद्धि का प्रारूप अतिरिक्त कृषि श्रम को द्वितीयक रख तृतीयक क्षेत्र में सम्मिलित करने / एकत्रित करने का सुचालक नहीं बन पाया । कृषि तथा गैर कृषि क्षेत्रों के मध्य असमानताओं का बढ़ता हुआ अन्तराल दिखाई दिया ।

सन्तुलित वृद्धि की कमी तथा विभिन्न क्षेत्रों में फसलों रख उपक्षेत्रों के मध्य विकिरण प्रगति बढ़ती रही । इस तथ्य के बावजूद भी कि 1980 के दशक में कृषि विकास में क्षेत्रीय असमानता घटी है । वर्षा पर आधारित कृषि जो कुल जोती गई भूमि के 63 प्रतिशत भाग का निर्माण करती है, केवल 45 प्रतिशत कृषि उत्पादन का योगदान दे रही है । इन कम अनुकूल क्षेत्रों में उपज न केवल कम है अपितु असामान्य भी है तथा सिंचित क्षेत्रों की तुलना में तकनीक हस्तान्तरण अन्तराल भी काफी विस्तृत है । शुष्क भूमि क्षेत्रों में आर्द्रता दबाव की समस्या तीक्ष्ण है, जिस पर संसाधनों एवं शोध प्राथमिकताओं के अर्थो में अधिक ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता है ।

जनांकीय दबावों के कारण भू–जोतों का अपखण्डन हो रहा है । भूमि का अपखण्डन बिना किसी रोक–टोक के हो रहा है । जिससे भू–जोतों का आकार दिन–प्रतिदिन छोटा हो रहा है । सहकारी संस्थाएं तथा अन्य राष्ट्रीय संगठन कमजोर हैं तथा पंचायती राज्य संस्थाओं अथवा स्वैच्छिक संस्थाओं अथवा कृषक संगठनों के माध्यम से ग्रामीण विकास में जन सहभागिता पर्याप्तता से कहीं दूर है।

जैसे –जैसे देश की जनसंख्या बढ़ रही है, वैसे –वैसे उसे खिलाने की आवश्यकता भी पड़ती है और वह भी टिमटिमाती हुई कृषि भूमि से अधिक खाद्यान्न उत्पन्न करके । इस बात पर प्राय: आम सहमति है कि उच्च उत्पादकता के प्रयास प्राकृतिक संसाधन आधार (जिससे कृषि को सहायता मिलती है) पर अधिक दबाव डाल रहे हैं । कृषि के लिये पाई गई अयोग्य भूमि पर

फसलों के विस्तार से भूमि क्षय हुआ है । इसी क्रम में प्राथमिक वानिकी की भी बलि चढ़ा दी गई । पशु धन द्वारा अत्यधिक चराई द्वारा चरागाहों की विकृति हुई है । फसल उत्पादन को सघन करने के लिये रासायनिक तत्वों के अत्यधिक उपयोग से व्यक्ति व पशु, दोनों पर ही जहरीला प्रभाव पड़ता है तथा जल एवं मृदा संसाधन दूषित होते हैं । सिंचाई के लिये जल पर बढ़ती हुई निर्भरता जल संसाधनों के ह्यास के रूप में दिखाई दे रही है जिससे अन्य उपयोगकर्ताओं के लिये जल की कमी आना स्वाभाविक है तथा साथ में ही भूमि में लवण का स्तर बढ़ता है । लगभग 173 मिलियन हैक्टेयर भूमि विकृति की विभिन्न मात्राओं में गुजर रही है ।

आधारिक संरचना का विकास संतोषजनक नहीं रहा है । कृषि में विनियोग की दर हरित क्रान्ति के बाद के दशक में ही बढ़ी और बाद में सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र, दोनों में ही गिरावट आई ।

क्षेत्रीयता–विभेदक व्यूह रचना – आज देश को इन सब विषयों का तत्काल प्रभाव से कुशलतापूर्वक हल निकालना है । इस दिशा में शुरूआत करने का सबसे सरलतम तरीका विकासगत व्यूह रचना को विस्तृत क्षेत्रीय विशेषताओं, प्रत्येक क्षेत्र की कृषि आर्थिक दशा के अनुसार विभेदात्मक स्वरूप देना है । नवीं पंचवर्षीय योजना ने क्षेत्रीय विभिन्नता के आधार पर व्यूह रचना आरम्भ करने का साहसी कदम उठाया है । यह व्यूह रचना कृषि, जलवायु, क्षेत्रीय आयोजन पर आधारित है तथा प्रत्येक क्षेत्र में विकास के पूर्ण सम्भाव्य को विदोहित करने, क्षेत्रीय एवं फसल असन्तुलन को कम करने के लिये जलवायु तथा अन्य पर्यावरणीय दशाओं का भी ध्यान रखा गया है ताकि कृषि वृद्धि को त्वरित किया जा सके और इस प्रकार खाद्य सुरक्षा को सुनिश्चित किया जा सके । नवीं पंचवर्षीय योजना की व्यूह रचना मूलतः खाद्य सुरक्षा पर आधारित है अर्थात् 10 वर्षो से खाद्य उत्पादन को दुगुना करना तथा देश को भूख से मुक्ति दिलाना । इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दृष्टिगत की गई कार्य योजना सन् 2007–08 तक खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाकर 300 मिलियन टन करना चाहती है । अन्य खाद्य मदों के उत्पादन में भी उल्लेखनीय वृद्धि की जायेगी । खाद्य सुरक्षा की व्यूह रचना, गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाली जनसंख्या तथा अभाव एवं दुर्गम क्षेत्रों पर त्रिफक्क व्यूह रचना के माध्यम से ध्यान केन्द्रित करती है । इस व्यूह रचना के तीन फलक है–

(i) कृषि उत्पादकता बढ़ाकर रोजगार तथा आय को बढ़ाना,

(ii) पूरक रोजगार का प्रावधान तथा

(iii) एक प्रभावी सार्वजनिक वितरण प्रणाली ।

पोषणीय कृषि – खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त कर लेने के बाद राष्ट्रीय स्तर प्राकृतिक साधनों के संरक्षण एवं विकास तथा पर्यावरण संरक्षण के अर्थो में पोषणीय कृषि पर बल दिया जाना चाहिए ।

देश की जैविक विविधता – को सुरक्षित एवं संरक्षित करने की आवश्यकता है । पर्यावरणीय चिन्तन का संधियोजन अब जीवन्त महत्व प्राप्त कर चुका है । मूलभूत संसाधनों, जिनमें भूमि,

जल, पर्यावरण तथा पारिस्थतिकी है, को इस तरह से प्रतिबन्धित किया जाये कि इससे विकास, रोजगार सृजन तथा गरीबी उन्मूलन को सहारा मिले ।

विकासोमुख कृषि व्यवस्था को प्राप्त करने की चुनौतियों का सामना करने के लिये दृष्टि, नीति पुनउर्न्मुखता तथा संसाधनों के पुनर्भरण की आवश्यकता है । इसे तकनीक सृजन एवं हस्तान्तरण के लिये आरम्भ किये गये उपायों के पैकेज प्रदान करके, इन्पुट (आदान) उपयोग कुशलता को सुधार कर, कृषि हेतु अभिप्रेरणा प्रदान कर, कृषि में विनियोग संवर्धन कर, संस्थागत आधारित संरचना को मजबूत कर, (संवर्धित आपदा कृषि) प्रबन्धन तथा प्रबन्धन सुधार आरम्भ करके प्राप्त किया जा सकता है । 1960 तथा 1970 की हरित क्रान्ति जिसने कृषि विकास तथा ग्रामीण क्षेत्र के रूपान्तरण हेतु प्रेरणा उत्पन्न की, को एक सदाबहार हरित क्रान्ति को आयोजना द्वारा टिकाऊ बनाना होगा । वस्तु उन्मुख विकास से व्यवस्था उन्मुख विकास की ओर प्रतिमान परिवर्तन करना होगा । टिकाऊ कृषि की औरर विकासगत तरीकों में समन्वित प्राकृतिक साधन प्रबन्धन तथा पारिस्थतिकी विकास के साथ–साथ किसान से उपभोक्ता तक साध्य से साध्य दृष्टिकोण अपनाना, उत्पादन प्रणाली का प्रबन्धन तथा किसान के पक्ष में फसलोत्तर परिचालन को आवश्यक रूप से शामिल करना होगा । इन प्रावधानों को अन्तर्देशीय एवं बाह्य व्यापार के अभिवृद्धित अवसरों, गरीबों तथा समाज के अभावग्रस्त वर्गो को साधन सम्पन्न बनाना, पोषणीय जीवन निर्वाह हेतु उपयुक्त ज्ञान प्रणाली, खाद्य एवं पर्यावरणीय सुरक्षा जैसे अतिरिक्त उपायों से समन्वित करके वस्तुत: एक आदर्श कृषि व्यूह-रचना निर्मित की जा सकती है ।

अन्य देशों से तुलना – यहां पर भारतीय कृषि की समान रूप से अवस्थित एशिया के दो बड़े देशों की कृषि उपलब्धियों की तुलना करना उचित होगा । खाद्य एवं कृषि संगठन की वार्षिक पुस्तक 1997 से विदित होता है कि भारत में 1980–97 के दौरान प्रति व्यक्ति खाद्य उत्पादन 7 प्रतिशत बढ़ा जबकि चीन में यह 52 प्रतिशत एवं इण्डोनेशिया 11 प्रतिशत बढ़ा । भारत की प्रति हैक्टेयर उपज सभी खाद्य –शस्यों में चीन की तुलना में 46 प्रतिशत थी, गेहूँ में चीन की 65 प्रतिशत तथा धान में 42 प्रतिशत थी । इण्डोनेशिया से तुलना करने पर भी कुछ ऐसे ही परिणाम देखने में आते हैं । भारत की प्रति हैक्टेयर उपज अन्न में इण्डोनेशिया की उपज का 55 प्रतिशत तथा धान में 63 प्रतिशत रहीं । हमें भारत में रहकर इस बात का अध्ययन करना चाहिए कि चीन तथा इण्डोनेशिया ने इतनी ऊँची दरें कैसे प्राप्त कर ली है ।

17.8 सारांश (Summary)

भारत में कृषि नीति के छुटपुट प्रयास 1946 में सरकार द्वारा कृषि और खाद्य नीति पर जारी में किये गये । इस नीति का उद्देश्य देश को अकाल की आपदा से दूर रखकर समृद्धि की ओर ले जाना था । स्वतंत्रता के बाद समस्या की जटिलता को देखते हुए गहन कृषि विकास कार्यक्रम तैयार किया गया तथा सरकार ने शिक्षा एवं अनुसंधान केन्द्रों की स्थापना की । कृषि नीति की प्राथमिकताओं कृषि का चहुँमुखी विकास, आधारित संरचना में सार्वजनिक विनियोग, कृषि क्षेत्र को

आवश्यक सुविधाएं प्रदान करना, कृषि का विविधीकरण, फसलोत्तर तकनीकी विकास, कृषि आधारित निर्यातों पर बल, उत्पादकों को प्रतिफलदायक मूल्य दिलाना एवं कृषि को अधिक प्रतिस्पर्द्धा बनाना सम्मिलित है । कृषि के लिये एक ऐसा धनात्मक व्यापार एवं विनियोग वातावरण सृजित किया गया जिससे वह वाणिज्यिक उपक्रम बन सके । भारत सरकार की 20 जुलाई 2000 को घोषित कृषि नीति में विश्व व्यापार संगठन के संदर्भ में सम्भावित समस्याओं का समाधान ढूंढती है ।

भारत में कृषि नीति के विभिन्न आयाम है जिसके अन्तर्गत भूमिनीति, उत्पादन नीति, आदान नीति, सहायक सेवाओं की नीति, मूल्य नीति आदि को प्रमुख स्थान मिला है । राष्ट्रीय किसान आयोग ने इस दिशा में महत्वपूर्ण सिफारिशे प्रस्तुत की है । ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार सृजन कृषि क्षेत्र के लिए नीति संबंधी उद्देश्यों का एक अभिन्न अंग है ।

कृषि नीति की आलोचनात्क समीक्षा करने से विदित होता है कि कृषिजन्य संबंधों में कुछ सीमा तक धनात्मक परिवर्तन हुआ है । चकबंदी कृषि विकास का एक सफल कार्यक्रम रहा है, जिसने सभी स्तरों पर उत्पादकता को बढ़ाने में योगदान दिया है । मूल्य नीति एवं बाजार समर्थन से किसान बड़े उचावचनों से बचे हैं तथा कष्टप्रद बिक्री से भी कुछ मात्रा में मुक्ति मिली है । आधारित संरचना के क्षेत्र में यद्‌यपि सरकार ने सराहनीय पहल की है, फिर भी इस दिशा में वांछनीय परिणाम अने बाकी है । नई तकनीकी के विकास से उत्पादन एवं उत्पादकता में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है । इस सबके उपरान्त भी तीन क्षेत्रों की ओर विशिष्ट ध्यान देना होगा । ये है कृषि उत्पादकता बढ़ाकर आय एवं हमें रोजगार बढ़ाना, पूरक रोजगार का प्रावधान तथा एक प्रभावी सार्वजनिक वितरण प्रणाली ।

बोध प्रश्न– 1

1. सन् 2006–07 में सकल घरेलू उत्पाद में कृषि की भागीदारी कितने प्रतिशत थी?

   ....

   ....

2. कृषि कितने प्रतिशत कार्यशील जनसंख्या को रोजगार प्रदान करती है?

   ....

   ....

3. देश के निर्यात में कृषि का कितना प्रतिशत हिस्सा है?

   ....

   ....

4. सरकार ने सबसे पहले कृषि एवं खाद्‌य नीति पर कब बयान जारी किया था?

   ....

   ....

5. राष्ट्रीय कृषि आयोग ने अपनी रिपोर्ट के माध्यम से कृषि पर एक प्रमुख नीति दस्तोज कब प्रस्तुत किया?

   ....

....

6. भारत सरकार ने कृषि नीति प्रारूप कब प्रस्तुत किया?

....

....

7. मुख्यमंत्रियों के सम्मेलन के सुझावों को सम्मिलित करके कृषि नीति प्रारूप में कब संशोधन किया गया ?

....

....

8. कृषि नीति के संशोधित प्रारूप को संसद के सम्मुख कब प्रस्तुत किया गया?

....

....

9. आर्थर डंकल कौन थे?

....

....

10. विश्व व्यापार संगठन की स्थापना कब हुई?

....

....

11. भारत सरकार ने राष्ट्रीय विकास नीति की घोषणा कब की थी?

....

....

12. कृषि नीति के मुख्य आयाम क्या है?

....

....

13. कृषि नीति का किन 5 संदर्भों में विश्लेषण किया जाता है ?

....

....

14. भारत में 1960 की दशाब्दी कें मध्य में कृषिगत क्षेत्र में किस नवीन तकनीक पद्धति का आविर्भाव हुआ ।

....

....

17.9 शब्दावली (Glossary)

- **कार्यशील जनसंख्या** : जनसंख्या का वह भाग जो कार्यो में संलग्न है ।
- **कृषि आधारित उद्योग** : कृषि फसलों के आधार पर चलने वाले उद्योग ।
- **कृषि शिक्षा** : कृषि से सम्बन्धी विषयों का अध्यापन कराना ।

- **कृषि विश्वविद्यालय** : कृषि सम्बन्धी विषयों का अध्ययापन व अनुसंधान करने वाले विश्वविद्यालय ।
- **टिकाऊ कृषि** : ऐसी कृषि जिससे लगातार कृषि उत्पाद प्राप्त होते रहे ।
- **भूमि नीति** : भूमि के गहन उपयोग को सुनिश्चित करने की विधि ।
- **खाद्य प्रसंस्करण** : खाद्य सम्बन्धी सामग्री तैयार करना ।
- **ICRSAT** : International crop research institute for the semi arid tropies.
- **ICEGB**: International centre for Genetic Engineering and biotechnology.
- **हरित क्रान्ति** : कृषिगत विकास की नई व्यूह रचना जिसमें 1960 की दशाब्दी के मध्य में नवीन कृषि. तकनीक का आविभर्ग्व हुआ ।

17.10 संदर्भ ग्रन्थ (Reference Books)

1. दातावाला एम एल, पावर्टी इन इण्डिया – दैन एण्ड नाउ 1970–1970 मैकमिलन इण्डिया बम्बई, 1973
2. भारत सरकार, राष्ट्रीय कृषि नीति आयोग, पी. पी. 28–87; 1976
3. महापात्र, राजेश “फार्मिग ए पॉलिसी" आब्जर्वर बिजौनेस पॉलिटिक्स " नवम्बर 7,1996
4. यादव, सुबहसिंह “ग्रामीण बैंकिंग एवं विकास " सब्लाइम प्रकाशन, जयपुर 2004
5. यादव, सुबहसिंह "कृषि विपणन " सब्लाइम प्रकाशन, जयपुर 1995
6. मिश्रा एवं पुरी "भारतीय अर्थव्यवस्था " 2007
7. वेबसाइट www.planningcommission.gov.in

17.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न – 1

1. 18.50 प्रतिशत
2. 52 प्रतिशत
3. लगभग एक चौथाई
4. 1946 में
5. 1976 में
6. दिसम्बर, 1992 में
7. मार्च 1993 में
8. मई 1993 में
9. गैर (GATT) के तत्कालीन महानिदेशक -
10. 1999 में
11. जुलाई 2000 में

12. भूमि उत्पादन, आदान, सहायक सेवाएँ एवं मूल्य नीति ।

13. कृषि जन्य सम्बन्धों में पीरवर्तन (2) मूल्य नीति एवं बाजार परिवर्तन (3) शोध एवं विस्तार जाल (4) आधारिक संरचना सुविधाओं का विस्तार (5) नई तकनीक अपनाना ।

14. कृषिगत विकास की नई व्यूह रचना अथवा हरित क्रान्ति का ।

17.10 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. भारत में कृषि–नीति की प्राथमिकताओं पर प्रकाश डालिये।
2. "भारतीय–कृषि नीति किसानों को प्रतिफल दायक मूल्य प्राप्त करने की ओर उन्मुख है" विवेचन किजिये।
3. स्वतत्रता के बाद हु ए कृषि जन्य परिवर्तनो की आलोचनात्मक समीक्षा किजिये।
4. भारतीय कृषि में आधारिक संरचना सुविधाओं ने उत्पादन तथा उत्पादकता को कहॉ तक प्रभावित कियाहै। इस दिशा में सार्वजनिक निजी सहभागिता कहां तक सार्थक हो सकती है।
5. विश्व व्यापार संगठन के प्रावधानों के संदर्भ में राष्ट्रीय कृषि नीति कहा तक प्रासंगिक है।

ISBN NO - 978 - 81 - 8496 - 208 - 6